

वाचक
उमास्वाति
विरचित



तत्त्वार्थसूत्र

हिन्दी विवेचन सहित

उपाध्याय श्री केवलमुनि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

॥ श्री महावीराय नमः ॥



णमो अरिहंताणं,
णमो सिद्धाणं,
णमो आयरियाणं,
णमो उवज्झायाणं,
णमो लोए सव्वसाहूणं,

एसो पंच णमोक्कारो, सव्व-पावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलम् ॥

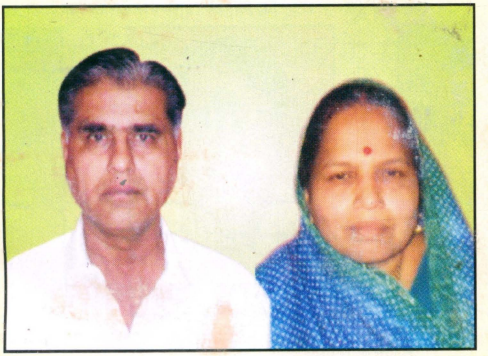


Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसूत्र इस द्वितीय संस्करण के लिए धर्मानुरागी दाता



श्री. मिठालालजी कांकरिया (अध्यक्ष श्री वर्धमान श्वे. स्था. जैन श्रावक संघ)
सौ. सुंदरबाई कांकरिया (औरंगाबाद)



श्री कन्हैयालाल मो. रूणवाल (अखिल भारतीय श्वे. स्था. जैन कॉन्फरन्स)
(महाराष्ट्र प्रांतीय उपाध्यक्ष) सौ. कलावती कन्हैयालाल रूणवाल (औरंगाबाद)



श्री. पोपटलाल लालचंद मुनोत - सौ. शशिकला पोपटलाल मुनोत (औरंगाबाद)

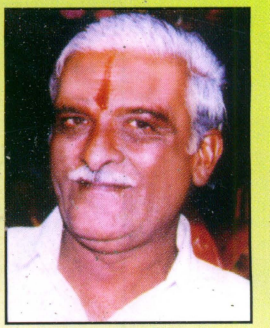
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसूत्र

इस द्वितीय संस्करण के लिए धर्मानुरागी दाता

मातोश्री : श्रीमती पानकंवरबाई घेवरचंदजी चोरडिया
पत्नी : श्रीमती गुणवंतीबाई उत्तमचंदजी चोरडिया
पुत्र : दिपक उत्तमचंदजी चोरडिया
सौ. मंजूश्री दिपक चोरडिया
योगेश उत्तमचंदजी चोरडिया
सौ. तृप्ती योगेश चोरडिया
लडकी : सौ. राजश्री संदिपजी पोफलिया, येरवडा, पूना
सौ. जयश्री ललितकुमारजी दुग्गड, नाशिक
पोता : यशकुमार, जयकुमार, दर्शन, दिया

२९८, घोरपडी पेठ, शारदा क्लिनीक हॉस्पिटल के सामने,
पूना-४११०४२. फोन : २६४५५४११, ५६२०७९७१,
५६२०७९७२, मो. ९८२२६४७२४०



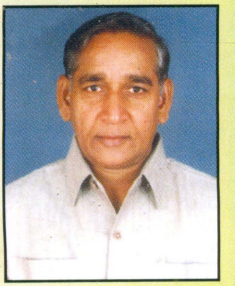
दानशुर, धर्मनिष्ठ
स्व. श्री. उत्तमचंदजी घेवरचंदजी चोरडिया
(जन्म : २-२-४७, स्वर्गवास ४-८-९९)



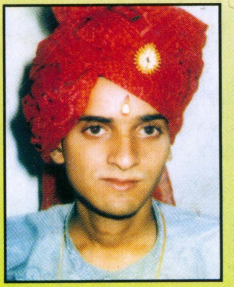
ॲड. सुभाष सकलेचा
(जालना)



श्री. इंदरचंद अमलोकचंद संचेती
(महामंत्री, वर्धमान श्वे.स्था.जैन
श्रावक संघ, औ'बाद.)



श्रीमान तेजराजजी नगावत
(म्हैसुर)



स्व. निलेशकुमार के
स्मृती में सुभाषचंदजी सुराणा
(औरंगाबाद)



श्री पन्नालालजी कोठारी
(बेंगलोर)
जैन दिवाकर संघटन समिती उपाध्यक्ष



श्री. ज्ञानचन्दजी मनोजकुमारजी
कोठारी (बेंगलोर)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वाचक उमास्वाति विरचित

तत्त्वार्थ सूत्र

(आगम पाठ समन्वय युक्त हिन्दी विवेचन)

* व्याख्याकार *

जैनदिवाकर प्रसिद्धवक्ता गुरुदेव

श्री चौथमल जी महाराज के सुशिष्य

उपाध्याय श्री केवल मुनि

पावनवर्ष २००५

औरंगाबाद नगरी में विराजित

स्व.मालव सिंहनी श्री कमलावती म.सा.

की सुशिष्या

प.पू. उपप्रवर्तिनी महासती

श्री सत्यसाधनाजी म.सा

आदि ठाणा ७

* सम्पादक *

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

✲ प्रकाशन वर्ष - द्वितीय संस्करण
वि. स. २५३१ श्रावण, दशमी
१५ अगस्त, २००५

✲ डीटीपी अॅण्ड डिझायनिंग
पत्रिका बुक सेटर,
दिवाण देवडी, औरंगाबाद. (महा.)
फोन : (०२४०) २३४०२५७
मोबा : ९३२६ २०३०५५

✲ प्रकाशक एवम् प्राप्ति स्थानः
श्री कमला साधनोदय ट्रस्ट
द्वारा : अभिजीत सतिशजी देसरडा
बंगला नं. १३, राजनगर सोसायटी
प्रेमनगर (गणपति मन्दिर के बाजू में)
पुना - ४११ ०३७. मो. ९८५०८१०१०१

श्रेयंस एजन्सी
नं. ७४/७५, कॉटन पेठ,
मेन रोड, वंदना हॉटेल के पास,
बैंगलोर - ५६० ०५३.
फोन : ५१२२ १९२२, ५१२२ ०२०४

लागत मूल्य रु. १५०/-
विशेष रियायती मूल्य रु. १००/-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समर्पणसुमन



जिन्होंने जैन आगमों पर
विद्वत्तापूर्ण विस्तृत टीकाएं लिखी ।
"तत्त्वार्थसूत्र जैनागम" समन्वय जैसे
आगम सन्दर्भ ग्रन्थ का प्रणयन कर
जैन विद्या के प्राचीन स्रोतों को समुद्घाटित किया,
रत्नत्रय की समुज्ज्वल-साधना कर
जिन शासन का गौरव बढ़ाया,
उन

श्री व. स्था. जैन श्रमणसंघ के
प्रथमाचार्य
आगम-रत्न महोदधि
आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज
की
पावन-स्मृति में समर्पित



- उपाध्याय केवल मुनि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक की ओर से

भगवान महावीर ने फरमाया है –

प्राणी किससे घबराता है ? – दुःख से ।

दुःख किसने किया ?– अज्ञान और मोह के वश स्वयं प्राणी ने ।

उस दुःख से छुटकारा कैसे मिले ?

सम्यगदर्शन–ज्ञान और चारित्र से । **स्थानांग**

सम्यगदर्शन–ज्ञान –चारित्र की आराधना कैसे करे ?

पहले इनका ज्ञान प्राप्त करें । फिर इन पर श्रध्दा करे । श्रध्दापुर्वक आचरण करे ।

बस इसे ही कहते है, मोक्षमार्ग या रत्नत्रय । इस मोक्षमार्ग एवं रत्नत्रय का परिज्ञान कराने वाला एक सारपूर्ण ग्रन्थ है – तत्वार्थ सूत्र ।

तत्वार्थ सूत्र की दिगम्बर–श्वेताम्बर दोनों ही जैन परम्पराओं में विशेष महिमा है । यह एक ही ग्रन्थ जैन–दर्शन, धर्म, आचार आदि का परिचय देने वाला आगम दर्पण है । मोक्षमार्ग के इच्छुक प्रत्येक जिज्ञासु को तत्वार्थ सूत्र का परिशीलन करना चाहिए ।

इसके सूत्र बहुत ही संक्षिप्त किन्तु सारपुर्ण है । जिन्हे समझने के लिए सरल व्याख्या या विवेचना की नितान्त आवश्यकता है ।

हमारे श्रध्देय उपाध्याय श्री केवल मुनिजी महाराज की बहुत समय से भावना थी कि तत्वार्थ सूत्र पर सरल विवेचन किया जाय और साथ ही जिज्ञासु पाठकों को यह भी बताया जाय कि इन सूत्रो व विवेचना का आधार प्राचीन आगम है । प्राचीन आगमो के आधर पर हि इनकी रचना हुई है, और उसी के अनुसार इसकी व्याख्या की गई है । आचार्य सम्राट श्री आत्मारामजी महाराज का 'तत्वार्थ सूत्र – जैनागम समन्वय' ग्र न्थ को आधार बनाकर इस सूत्र की प्रामाणिक सुन्दर व्याख्या की है ।

उपाध्याय श्री केवल मुनिजी का व्यक्तित्व बहु आयामी है । जैन श्रमणो में शायद वे ही एक ऐसे सन्त है जिन्होने प्राचीन अर्वाचीन जैन कथा साहित्य की कथा–विधा का सूत्र लेकर नये परिवेश में सर्वाधिक रोचक और विपुल मात्रा में साहित्य प्रस्तुत किया है । मुनिश्री द्वारा लिखित कथा, कहानी एवं उपन्यासों की पुस्तके चालीस के लगभग है । और प्रायः सभी के दो–तीन संस्करण हो चुके है । ललित गद्य में भी मुनिश्री को 'जीने की कला', 'दिव्य आलोक' आदि पुस्तके भी काफी लोकप्रिय हुई है ।

कहानी, उपन्यास, काव्य लेखन के बाद अब आपश्री ने तत्वार्थसूत्र जैसे जैनदर्शन के हृदय ग्रन्थ को उद् घाटित कर अपनी गंभीर अध्ययन–शीलता एवं बहुश्रूतता का स्पष्ट लाभ समाज को दिया है । यह ग्रन्थ मुनिश्री की प्रगाढ विद्वत्ता और आगमो के गहन ज्ञान व अक्षुण्ण श्रध्दा का अमर किर्ति स्तम्भ बनकर रहेगा ।

इस द्वितीय संस्करण प्रकाशन मे श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ औरंगाबाद , स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ पुना, श्री हरकचंदजी पारख, विजयकांतजी कोठारी, खुबीलालजी सोळंकी, सौ.राजश्री सुनीलकुमारजी पारख, योगेशजी चौरडीया, श्री सुखलालजी जैन, जालना, (कुकुंलोळ) श्री उदयराजजी पारसमलजी दक ,हुन्सुर (म्हैसूर), श्री छगनलालजी प्रकाशचंदजी प्रवीणकुमारजी नगावत, नंजनगुड (म्हैसुर), सौ.अनीता कान्तिकुमारजी जैन(पोलखोल) सौ. कलाबाई कचरुलालजी ओस्तवाल, औरंगाबाद , ॲड. सुभाष सकलेचा, जालना इनका अमुल्य सहयोग रहा ।

इस द्वितीय संस्करण के प्रणेता स्व.मालव सिंहनी श्री कमलावती म.सा.की सुशिष्या प.पू. उपप्रवर्तिनी महासती श्री सत्यसाधनाजी म.सा. है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्व-कथ्य

भगवान महावीर ने फरमाया है –

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणी य जंतुणो ।
माणुसत्त सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥

– उत्तरा० ३/१

अर्थात् इस अनादि – अनन्त संसार चक्र में परिभ्रमण करते हुए आत्मा को (मोक्ष प्राप्ति के लिए अत्यावश्यक) चार अंगों की प्राप्ति उत्तरोत्तर दुर्लभ है, वे अंग हैं – (१) मनुष्यत्व, (२) धर्मश्रवण (३) धर्मश्रद्धा और (४) संयम में पुरूषार्थ ।

मनुष्यत्व प्राप्त होने पर भी सद्धर्म का श्रवण बहुत दुर्लभ है। क्योंकि मनुष्य जन्म पाने के बाद भी जब तक आर्य क्षेत्र, उत्तम जाति, उत्तम कुल, सर्वांग परिपूर्णता, नीरोगता, पूर्ण पुण्य, परलोकप्रवण बुद्धि नहीं प्राप्त होती तब तक सम्यक् श्रुत श्रवण का अवसर उपलब्ध नहीं होता।

साथ ही यह भी सत्य है कि सम्यक्श्रुत का श्रवण सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के लिए अनिवार्य है। क्योंकि इनकी प्राप्ति के उपरान्त ही संयम में पराक्रम अथवा सम्यक्चारित्र का पालन किया जा सकता है।

सम्यक्चारित्र को व्यवहार में 'अहिंसा' शब्द से भी उपलक्षित किया जाता है, यानी अहिंसा चारित्र का संकेत–शब्द है।

इसीलिए भगवान ने कहा है –

पढमं नाणं तओ दया

अर्थात् { पहले ज्ञान प्राप्त करो, फिर दया का पालन }

'दया' से यहाँ सम्यक्चारित्र ही अभिप्रेत है।

इस प्रकार मोक्ष – मार्ग की पहली कड़ी है – सम्यक्ज्ञान । मध्य का बिन्दु जो दोनों को जोड़ता है, वह है – सम्यक् श्रद्धा (दर्शन) और अंतिम कड़ी है – सम्यक्चारित्र । यह त्रिकोण जुड़कर बनता है– मोक्षमार्ग।

मोक्षमार्ग की ओर गतिशील साधक, चाहे वह श्रमण हो या श्रावक, उसके लिए ज्ञान–प्राप्ति अनिवार्य है। ज्ञान चक्षु है, ज्ञान आलोक है, णाणं चक्खू,णाणं पयासयरं–आदि वचन यह बताते हैं कि साधना पथ पर बढ़ने वाले साधक को सर्वप्रथम ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) देवता की आराधना करनी पड़ती है।

प्राचीन जैन आगमों में श्रमणों को ही नहीं श्रावकों को भी ज्ञान का परम उपासक, साधक बताया गया है। भगवतीसूत्र में उल्लेख है कि भगवान महावीर के श्रावक ज्ञान के गहरे अभ्यासी होते थे–''अभिगय जीवा – जीवा, उवलद्ध पुण्ण–पावा, आसव–सं वर –निज्जर–किरियाहिगरणं–बंध–मोक्ख–कुसला''– यह–उन श्रावकों का वास्तविक परिचय है। जीव–अजीव, पुण्य–पाप,आस्त्रव –संवर, निर्जरा–क्रियाधिकरण, बंध–मोक्ष इन तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर वे कुशल तत्त्ववादी श्रावक के रूप में प्रसिद्ध थे ।

इससे यह भी ध्वनित हो गया है कि साधना के क्षेत्र में ज्ञान की दिशा –आत्माभिमुखी होती है। आत्म – स्वरूप अर्थात् जीव – अजीव आदि नवतत्त्व का ज्ञान ही साधक के लिए मुख्य अभिप्रेत है। साधक सर्वप्रथम नवतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर आगे साधना – क्षेत्र में कुशलतापूर्वक बढ़ सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राचीन समय में ज्ञान प्राप्ति के मुख्य स्त्रोत आगम थे । आगम का अध्ययन और श्रवण प्रत्येक श्रमण एंव श्रावक के लिए अनिवार्य था। आगमों के बाद प्रकीर्णक, चूर्णि, भाष्य आदि ग्रन्थों की भी रचना हुई। अनेक आचार्यों ने अपनी -अपनी सुझ बुझ के अनुसार स्वतंत्र ग्रन्थों की भी रचना की और अपने-अपने शिष्य समुदाय में उनके अध्ययन आदि की परम्परा चालू की।

भगवान महावीर के निर्वाण पश्चात् धीरे-धीरे प्राकृत भाषा के ज्ञान की धारा भी क्षीण होती गयी, आगम ज्ञान भी लुप्त-सा होने लगा और अन्य नये-नये ग्रन्थों की रचनाएँ होने लगीं । अतःश्रुतज्ञान के अभ्यासी को समग्र जैनदर्शन (नवतत्त्व) का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनेक ग्रन्थों को टटोलना पड़ता था। उनकी भाषा प्राकृत-शौरसेनी मिश्रित एवं प्रतिपादन शैली गम्भीर होने से प्रारम्भिक विद्यार्थियों (शैक्षों) के लिए बड़ी दुरूह व समझने में जटिल हो गई थी।

आवश्यकता आविष्कार की जननी है। तत्त्वार्थ सूत्र का प्रणयन भी युग की उक्त जटिल समस्या का स्थायी समाधान और महती आवश्यकता की सम्पूर्ति थी।

तत्त्वार्थ सूत्र जिसका पूरा नाम है-तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र (तत्त्वों का ज्ञान कराने वाला संक्षिप्त ग्रन्थ) श्वेताम्बर एंव दिगम्बर - दोनों ही परम्पराओं में यह ग्रन्थ मान्य है। यह समग्र जैन-दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है। इसकी शैली बहुत ही संक्षिप्त-सारपूर्ण तथा भाषा ललित-सुगम है। आइए, इसकी रचना एवं स्वरूप आदि विषयों की पहले संक्षिप्त जानकारी कर लें ।

ग्रन्थकार परिचय

तत्त्वार्थ सूत्र के रचनाकार है, वाचक उमास्वाति । जैन इतिहास में ये उमास्वामि या उमास्वाति के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है - उनकी माता का नाम'उमा' था पिता थे 'स्वाति'। प्रारम्भ में सम्भवतः उनका नाम कुछ अन्य रहा होगा, किन्तु माता-पिता के प्रति अनन्य भक्ति व उपकार - भावना की स्मृतिस्वरूप उन्होंने स्वयं को 'उमास्वाति' नाम से ही प्रसिद्ध कर दिया ।

तत्त्वार्थ सूत्र पर स्वयं रचित कारिकाओं में उन्होंने अपना परिचय 'उमास्वाति' के रूप में ही दिया है। ग्यारह अंगो के ज्ञाता घोषनन्दी क्षमा-श्रमण के पास उन्होने दीक्षा ग्रहण की, तथा वाचक वंश के मुख्य आचार्य 'शिवश्री' के पास विद्याध्ययन किया ।

आचार्य उमास्वाति बड़ी कुशाग्र मेधा के धनी थे। आगमों के अति रिक्त अन्य अनेक विषयों का गम्भीर ज्ञान भी उन्होंने प्राप्त किया। उस युग में जैन श्रमणों में संस्कृत भाषा का अध्ययन उपेक्षित-सा था, परन्तु आपने प्राकृत आदि भाषाओं के समान ही संस्कृत भाषा पर भी पूर्ण आधिकार प्राप्त कर उसमें ग्रन्थ रचना की ।

कहा जाता है-आपने ५०० ग्रन्थों की रचना की । वर्तमान में इनकी प्रशमरति (प्रकरण) एंव तत्त्वार्थ सूत्र दो रचनाएँ उपलब्ध हैं। तत्त्वार्थ सूत्र - एक ऐसी कृति है जो उमास्वाति के गम्भीर शास्त्रज्ञान, अद्भूत भाषा ज्ञान,रचना कौशल और उत्कृष्ट प्रतिभा का परिचय देने में पर्याप्त है। इस रचना ने न केवल उमास्वाति को अमर बना दिया, बल्कि भारतीय दर्शन साहित्य के गगन में उन्हें एक तेजस्वी नक्षत्र के समान सदा-सदा के लिए स्थापित कर दिया।

उनके पूर्व जीवन के विषय में अनेक विद्वानों ने खोज की है किन्तु कोई विशेष

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जानकारी उपलब्ध नहीं हुई । उनके समय के विषय में भी मत- भेद है। लम्बी चर्चाओं के बाद विद्वानों ने विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी का समय निश्चित किया है।

ग्रन्थ परिचय

तत्त्वार्थ-सूत्र : अन्तरंग -बाह्य परिवेश

तत्त्वार्थ सूत्र जैन -तत्त्वज्ञान का विशिष्ट संग्राहक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रत्नत्रयी का युक्तिपूर्ण निरूपण, छह द्रव्य और पाँच अस्तिकायों का विवेचन, भूगोल-खगोल सम्बधी जैन मान्यताएँ, ज्ञान और ज्ञेय की समुचित व्यवस्था तथा नव-तत्वों का सर्वांगीण विवेचन हुआ है। जैसे कोई कुशल कलाकार मुक्ता-मणियों को क्रमश: सजाकर अद्‌भुत हार बना देता है, वैसी ही संग्रह-कुशलता का दर्शन इस कृति में होता है। आपकी इस अद्‌भुत संग्रह-कुशलता से ही प्रभावित होकर आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है

उपउमास्वाति संग्रहीतार:

(जैन तत्त्वों के संग्राहक आचार्यों में उमास्वाति प्रथम (उत्कृष्ट और अनुपम) हैं।)

वास्तविक स्थिति यह है कि तत्त्वार्थ सूत्र में जैन तत्त्वज्ञान का कोई भी विषय छोड़ा नहीं गया है। लगभग सभी विषयों का सूत्र रूप में समावेश इस ग्रन्थ में बडी कुशलतापूर्वक कर दिया गया है।

इसके साथ ही इसकी रचना शैली भी विशिष्ट और सुबोध है।

तत्त्वार्थसूत्र की आन्तरिक विशेषताएं

कोई भी रचना लोकप्रिय तभी होती है, जब उसमें कुछ ऐसी आन्तरिक विशिष्टताएँ हों जो सर्वजनमान्य, विद्वद् समाज और सामान्य पाठकों के लिए ज्ञानवर्द्धक एंव सुबोध तथा सार्वकालीन तथ्यों से परिपूर्ण हों।

तत्त्वार्थ सूत्र में ऐसी अनेक विशेषताएँ हैं । इसमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है -

(१) **रचना शैली** - यह प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता है। यह ग्रन्थ सूत्र शैली में लिखा गया है । प्राचीन आचार्यों ने सूत्रों की अनेक विशेषताएँ बताई हैं, उनमें से प्रमुख विशेषताएँ हैं-सूत्र छोटे हों, व्याकरण-दोषों से रहित हों, उनका अर्थ स्पष्ट हो, परस्पर विसंवादिता न हो ।

इस कसौटी पर कसने से प्रस्तुत ग्रन्थ के सूत्र के सूत्र पूर्णतया खरे उतरते हैं,

इनमें कहीं भी वैषम्य, विसंवादिता और अस्पष्टता नहीं है। प्रत्येक सूत्र स्वयं में स्वतंत्र और पूर्ण होते हुए भी आगे-पीछे के सूत्रों से सम्बन्धित है।

दूसरी बात इसमें न तार्किक शैली अपनाई गई है और खंडन मंडन की ही प्रवृत्ती है अपितु सरल, सुबोध भाषा मे तत्त्वों का प्रमाण पुरस्सर निरूपण कर दिया है।

(२) **विषय-वर्णन**-प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय वीतराग अर्हन्तदेव द्वारा प्रणीत मोक्षमार्ग का निरूपण करना है। यह इसके प्रथम सूत्र से ही ज्ञात हो जाता है। इससे यह बात भी उजागर होती है कि जैसे 'कला' कला के लिए नही; जीवन के लिए है, वैसे ही 'ज्ञान' ज्ञान के लिए नही, वह जीवन कल्याण अर्थात् जीवन का चरम लक्ष्य-मोक्ष प्राप्त करने के लिए है।

जैन दर्शन की विशेषता है कि इसमें विचार और आचार को समान महत्त्व दिया गया है। एक के अभाव में दूसरी कार्यकारी नहीं होता। दोनों के समन्वय से ही कार्य अथवा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लक्ष्य प्राप्ति मे सफलता प्राप्त होती है.

इस दृष्टि से विषय को ज्ञान-मीमांस, ज्ञेयमीमांसा और चारित्र मीमांसा-इन तीन भेदों में विभाजित किया जा सकता है।

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में वर्ण्य विषय को दस अध्यायों मे विभाजित किया है। इनमें से प्रथम अध्याय में ज्ञान-मीमांसा का विवेचन है, दुसरे से पाँचवे अध्याय तक मे 'ज्ञेय-मीमांसा'और छठे से दसवें तक के अध्यायों में 'चारित्र-मीमांसा' विवेचित है।

प्रथम अध्याय में जीवन के भाव (परिणाम), भेद प्रभेद, इन्द्रिय, मृत्यु और अगले जन्म के बीच का काल (विग्रह गति), शरीर, जाति, जीव की टूटने और न टूटने वाली आयु का वर्णन है।

तीसरे अध्याय में नरक गति तथा अधोलोक का परिचय, मध्य लोक में मनुष्य क्षेत्र का वर्णण तथा मनुष्य एवं तिर्यंच जीवों की आयु आदि का विवेचन प्राप्त होता है।

चौथे अध्याय में देव गति तथा ऊर्ध्व वर्णित है।

पाँचवे अध्याय में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पाँच द्रव्यों का विस्तृत वर्णन हुआ है।

इस प्रकार तीसरे-चौथे-पाँचवें अध्याय में सम्पूर्ण लोक विचारणा प्राप्त होती है।

यह तीनों अध्याय आधुनिक विज्ञान और भौतिक द्रव्यों के अनुसंधाताओं के लिए भी पथ-प्रदर्शक की भूमिका निभा सकते हैं।

छठवें से दसवें अभ्यास तक चारित्र -मीमांसा है।

चारित्र-मीमांसा में जीवन की हेय प्रवृत्तियों, उनके हेतु, मूल बीज,परिणाम आदि का विचार किया गया है, साथ ही उन हेय प्रवृत्तियों के त्याग त्याग के उपाय, उपादेय प्रवृत्तियों के ग्रहण और इनसे होने वाले परिणाम विचारणीय विषय हैं ।

छठवें अध्याय में आस्त्रव का बहु आयामी विवेचन है।

सातवें अध्याय में विरति अर्थात् हिंसा आदि पापों से विरमण-व्रत का विवेचन है। इसी में गृहस्थ साधक के १२ व्रतों का अतिचार सहित वर्ण है। साथ ही व्रतों की स्थिरता हेतु २५ भावनाएँ भी बताई गई हैं ।

आठवें अध्याय में कर्म-प्रकृतियों का सांगोपांग वर्णन है ।

नवें अध्याय में संवर-निर्जरा यह दो तत्त्व वर्णित हैं । संवर-निर्जरा के लक्षण, इनके उपाय,साधन, भेद-प्रभेद आदि का भी वर्णन किया गया है। अन्त में विभिन्न स्थितियों के जीवों की निर्जरा की तरतमता बता दी गई है।

दसवें अध्याय में मुक्त जीवों (जीवनन्मुक्त -अरिहंत और अशरीरी सिद्धों) का वर्णन हुआ है।

इस प्रकार सम्पूर्ण तत्त्वार्थ सूत्र में रत्नत्रयी (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) रूप सम्पूर्ण मोक्षमार्ग विवेचित हुआ है । इसी के अन्तर्गत सात किंवा नव तत्व (Fundamental Elements) जीव,अजीवन, आस्त्रव, संवर, बंध, पुण्य, पाप, निर्जरा, और मोक्ष-इन नौ तत्त्वों का सम्पूर्ण विवेचन हुआ है।

तत्त्वार्थ सूत्र का आधार

यहाँ प्रमुख प्रश्न यह है कि आचार्य उमास्वाति ने जो नव तत्वों का तथा मोक्षमार्ग का विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है, उसका आधार क्या है? क्या यह उनकी स्वतन्त्र रचना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है, अथवा उन्होंने अपने द्वारा निर्मित सूत्रों के लिए कोई सबल, सुपुष्ट और सर्वमान्य आधार रखा है ?

सम्यकश्रुत का आविर्भाव तीर्थंकर की वाणी से हुआ, जिसे गणधरों ने बारह अंगों में गूंथा तथा उसका अनुसरण करते हुए अन्य श्रुतज्ञानी आचार्यों ने अन्य ग्रन्थों की रचना की । फिर भी द्वादशांग वाणी प्रत्येक जैन के लिए, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का हो, मान्य है, विश्वसनीय है और श्रद्धा करने योग्य है। इन ग्रन्थों को आगम कहा गया है। इनकी संख्या बत्तीस है। जैसे –११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल, ४ छेद और आवश्यक सूत्र। इनका पारायण करना, हृदयंगम करना सम्यग्ज्ञान प्राप्ति के लिए आवश्यक है और इनमें वर्णित तत्त्वों पर श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन है तथा इनमें बताये गये चारित्र धर्म का पालन करना सम्यक्चारित्र है। और यही मोक्षमार्ग है।

आचार्य उमास्वाति ने इन्ही आगम ग्रन्थों के आधार पर अपने सूत्रों की रचना की है। कहीं–कहीं तो उन्होने आगमों के मूल प्राकृत शब्दों को ही संस्कृत भाषा में रख दिया है और कहीं उन्होंने आगमों के भावों को लेकर सूत्र रचना की है। एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे।

भाषारूपान्तर मात्र–

सम्मद्दंसणे दुविहे पण्णते,तं जहा–णिसग्गसम्मद्दं सणे चेव अभिगम सम्मद्दंसणे चेव । – स्थानांग, स्थान २, उ.१,सू.७०

तन्निसर्गादधिगमाद्वा । – तत्त्वार्थ १,३

पंचविहे णाणे पण्णत्ते, तं जहा–आभिणिबोहियणाणे, सुयनाणे,ओहिनाणे, मणपज्जवणाणे, केवलणाणे ।

– स्थानांग,स्थान ५ उ. ३, सू. ४६३ ; अनुयोगद्वार सूत्र १; – नन्दी सूत्र १; भगवती श.८, उ.२,सू.३१८

मतिश्रु तावधिमन:पर्यायकेवलानि ज्ञानम् । –तत्त्वार्थ १,३

उपरोक्त आगम शब्दो में तथा तत्त्वार्थ में भाषागत अन्तर के सिवाय और कोई अन्तर नहीं है। प्राकृत के शब्द ज्यों की त्यों संस्कृत भाषा में सूत्र की संक्षिप्त शैली में रख दिये गये हैं ।

अब एक ऐसी उदाहरण देख लीजिए जिसमें आगम के भावों के अनुसार **सूत्र–रचना की गई है–**

उज्जुमईणं अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ पासइ ते चेव विउलमई, अव्वहियतराए विउलतराए विसुद्धतराए वितिमितरतराए जाणइ पासइ ।

– नन्दी सूत्र, सू. १८

विशुद्ध यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेष: – तत्त्वार्थ १/२५

यहाँ ऋजुमति और विपुलमति मन:–पर्यायज्ञान का अन्तर बताया गया है। आगमोक्त उद्धरण में जिस बात को विस्तार से कहा गया है, उसी भाव का अनुसरण करते हुए सूत्रकार ने सूत्र की संक्षिप्त शैली में उसे रख दिया है।

संपूर्ण ग्रन्थ (तत्त्वार्थ सूत्र) की रचना इन्हीं दो शैलियों में हुई है। कही आगम शब्दों का संस्कृत रूप दिखाई देता है तो कहीं उनके भावों के अनुसरण के आधार पर सूत्र रचे गये हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस तथ्य को पाठक प्रस्तुत संस्करण में स्पष्ट देखेंगे ।

तत्त्वार्थसूत्र की रचा का उद्देश्य

सहज ही यह प्रश्न मस्तिष्क में आ सकता है कि जब आगमों में सब कुछ था तो उनके आधार पर तत्त्वार्थ सूत्र की रचना ही क्यों की गई ? जिज्ञासू पाठक आगमों से ही सब कुछ जान लेते । ऐसी दशा मे तत्त्वार्थ की रचना से क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? इसकी रचना का उद्देश्य क्या है ?

इसका समाधान यह है कि तत्त्वार्थ की रचना स–प्रयोजन हुई और इसकी रचना का विशिष्ट उद्देश्य था –

(१) **देश–काल की परिस्थिती** – वीर निर्वाण की आठवी, नवीं शताब्दी मे देश मे गुप्त सम्राटो के उत्कर्ष के कारण संस्कृत भाषा का प्रभाव बढ़ रहा था। संस्कृत के विद्वानों का अधिक आदर होता था, उन्हें राजा लोगो भी विशेष सम्मान देते थे । संस्कृत–भाषा को राज्याश्रय भी प्राप्त हो गाया था । गुप्त सम्राट संस्कृत प्रेमी थे । इसी कारण जनता के हृदय में भी संस्कृत के प्रति विशेष आदर था। संस्कृत भाषा को लोग देव–वाणी कहने लगे थे।

ऐसी परिस्थितियों में जैन वाङ्मय में भी ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी जो संस्कृत भाषा में हो और सम्पूर्ण जैन सम्प्रदायों द्वारा मान्य हो ।

इस कार्य को तत्त्वार्थ सूत्र ने किया ।

(२) इस समय तक कणाद का वैशेषिक सूत्र, बादरायण का ब्रह्मसूत्र पतंजलि का योगसूत्र आदि कई ग्रन्थ रचे जा चुके थे । इनमें अपने – अपने दर्शन के मूल सिद्धान्त सूत्रशैली में दिये जा चुक थे । जनता में और विद्वानों में इनकी मान्यता भी बहुत थी ।

जैनदर्शन में भी ऐसे ही ग्रन्थ की आवश्यकता थी और यह आवश्यकता तत्त्वार्थसूत्र की रचना द्वारा पूरी हुई ।

(३) आगम बहुत ही विस्तृत हैं और इनके शब्दों में बड़े गुरू–गम्भीर रहस्य भरे पड़े हैं । उनको जानकर हृदयंगम कर लेना साधरण जन तो क;या, बडे– बड़े मनीषियों के लिए भी कठिन है। फिर आगमों में कोई विषय कहीं, कोई कहीं यों फूलों की तरह विकीर्ण था । फिर आगमों में कोई विषय कहीं, कोई कहीं यों फूलों की तरह विकीर्ण था। एक विषय को समझने के लिए अनेक आगम टटोलने पड़ते थे । भाषा भी दुरूह हो चुकी थी।

दूसरी बात, आगम तीर्थंकर देव की देशना (प्रवचन) हैं । उनमें एक विषय नहीं है, अनेकानेक विषय अलग–अलग आगमों में है। इससे एक सम्पूर्ण विषय को क्रमबद्ध पढ़ने में अनेक आगम पढ़ने पड़ते हैं ।

किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में तत्त्व की बहुत –सी बातें क्रमबद्ध सूत्ररुप में एक जगह संक्षिप्त शैली में संग्रहीत कर दी गई हैं । अत:इसका पारायण भी सरलता से हो सकता है, यह जल्दी ही समझ में आ जाता है। साधारण जन और विद्वाण मनीषी सभी इससे लाभ उठा सकते हैं ।

इसका (मात्र सूत्रों का) आवर्तन ३० मिनट में किया जा सकता है। अत:यह न समयसाध्य है, न श्रमसाध्य । भाषा भी सरल और सुबोध है। यह इसकी रचना का सर्वप्रमुख प्रयोजन और उद्देश्य हैं ।

तत्त्वार्थ सूत्र, इन्हीं विशेषताओं के कारण अत्यधिक लोकप्रिय हुआ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थ सूत्र के टीकाकार

पूज्यपाद, अकलंक आदि दिगम्बर विद्वानों ने इस पर विस्तृत टीकाएँ लिखीं । पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धी अकलंक की राजवार्तिक टीकाएँ प्रसिद्ध हैं । श्लोकवार्तिक नाम की भी इसकी एक विस्तृत टीका है।

आचार्य उमास्वाति ने स्वयं इस पर स्वोपज्ञभाष्य लिखा, जो तत्त्वार्थाधिगम भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है । इसमें स्वयं आचार्य ने सूत्रों का रहस्य प्रांजल संस्कृत गद्य में उद्घाटित किया है।

प्रसिद्ध तर्कशिरोमणि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इस भाष्य को आधार बनाकर वृत्ति लिखी जो सिद्धसेनीया टीका के नाम से प्रसिद्ध हुई।

दूसरी वृत्ति के रचयिता आचार्य हरिभ्रद हैं । इसे लघुवृत्ति कहा जाता है। हरिभद्र की वृति को उनके शिष्य यशोभद्र ने पूर्ण किया है।

हिन्दी भाषा में पण्डित खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री ने विवेचन लिखा है जिसे 'सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' के नाम से रायचन्द जैन शास्त्र माला, बम्बई ने प्रकाशित किया । इस संस्करण में मूल सूत्र, उमास्वाति कृत स्वोपज्ञ सम्पूर्ण भाष्य तथा उसका सरल हिन्दी भाषा में अनुवाद दिया गया । साथ ही आवश्यकतानुसार सिद्धसेनीया और श्रुतसागरीयावृत्ति के मत टिप्पणक में दिये गये है, जिससे विषय स्पष्ट हो गया है।

प्रज्ञाचक्षु पंडित प्रवर सुखलालजी संघवी का तत्त्वार्थ सूत्र विवेचन सहित भी प्रकाश में आया । इसमें मूल सूत्र, उनका हिन्दी अनुवाद और आवश्यकतानुसार विवेचन एवं स्पष्टीकरण किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक को स्थानकवासी समाज ने बहुत आदर के साथ अपनाया है। इसी का अंग्रेजी अनुवाद भी छपा है।

श्री वर्द्धमान स्थानकवासी श्रमण संघ के प्रथम आचार्य सम्राट पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज का 'तत्त्वार्थ सूत्र- जेनागम समन्वय'नाम का ग्रन्थ अत्यन्त परिश्रमपूर्वक तैयार किया गया है। इसमें आचार्यश्री ने यह स्पष्ट सूचन कर दिया कि तत्त्वार्थ का कौन-सा सूत्र किस आगम के पाठ के आधार पर रचा गया है । यह इस ग्रन्थ की बहुत बड़ी विशेषता है । ग्रन्थ में तत्त्वार्थ सूत्र के सूत्र, फिर उसका आगमोक्त आधार तथा आगम उद्धरण का सरल हिन्दी में अनुवाद दिया गया है ।

आचार्य सम्राट के इस सत् प्रयास ने तत्त्वार्थ सूत्र के महत्त्व व प्रामाणिकता को और भी सम्पुष्ट किया है। विद्वज्जगत में इसकी भूरि-भूरि सराहना हुई है.

तत्त्वार्थ सूत्र की विशिष्ट स्थिती

जैन वाङ्मय में तत्त्वार्थ सूत्र की विशिष्ट स्थिति और महत्व है। आगमों के बाद इस ग्रन्थ की मान्यता है। इसमें जैन-दर्शन के अगाध सागर को मात्र ३४४ सूत्रों में भर देने का सफल प्रयास किया गया है।

यह प्रयास गागर में सागर भरने जैसा है । ऐसा भी कहा जा सकता है कि-जैन आगमों के विशाल सागर को तत्त्वार्थसूत्र रूपी एक बूँद में समाने का प्रयास किया गया है ।

ऐसा प्रयास आचार्य उमास्वाति जैसे गम्भीर आगमज्ञ और उद्भट विद्वान् द्वारा ही सम्पन्न हो सकता था।

सामान्य ज्ञान के स्तर से तनिक ऊपर उठे हुए प्रत्येक व्यक्ति इस से लाभ उठा सकते हैं, उनको ज्ञान जिज्ञासा के लिए इसमें उन्हे यथेष्ट सामग्री प्राप्त हो सकती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दस अध्यायों और मात्र ३४४ सूत्रों के इस अति लघुकाय ग्रंथ के केन्वास में आचार्यश्री ने नवतत्त्वों के जो रंग भरे हैं, वे अनूठे हैं, अनुपम हैं, विशिष्ट हैं। इन्द्रधनुष से भी अधिक शोभायमान हैं, अलौकिक आभा से प्रदीप्त हैं ।

अनुयोगद्वार सूत्र जैनागमों की कुंजी कहलाता हैं । इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र को जैनागमों के विशाल भवन के प्रवेश द्वार से उपमित किया जा सकता है। जो जिज्ञासु तत्त्वार्थ सूत्र को समझ लेंगे, इसमें वर्णित विषय को हृदयंगम कर लेंगे, उन्हे जैनागमों के रहस्य को समझने में सरलता हो जायेगी।

तत्त्वार्थ सूत्र के लघु आकार के कलेवर में ज्ञान का विशाल भण्डार छिपा हैं । आँख की पुतली (कीकी) कितनी छोटी-सी है ! किन्तु उसके द्वारा हम विशाल आकाश, अगणित चमकते तारे, ज्योतिपुंज सूर्य और स्निग्ध शीतल चाँदनी बिखेरता चन्द्र सभी कुछ देखते हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र जैन तत्त्वाज्ञान और विशाल आगमज्ञान के लिए आँख की कीकी के समान है तत्त्वार्थ सूत्र के सूत्र हीरे के छोटे - छोटे कण हैं जिनकी अपनी अनुपम आभा है, दीप्ति है, ज्योति है और इन सभी सूत्रों की समन्वित ज्योति से आत्मा शुभ्रज्ञान से ज्योतित-प्रकाशित हो उठता है, अज्ञान का तिमिर हट जाता है ।

प्रस्तुत सम्पादन

यद्यपि तत्त्वार्थ सूत्र पर संस्कृत में बड़ी गम्भीर टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं । अनेक प्रसिद्ध विद्वानों ने हिन्दी में भी सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है, फिर मैंने यह लघु प्रयास क्यों किया-यह एक प्रश्न उठता है।

तत्त्वार्थसूत्र की संस्कृत टीकाएँ बहुत विस्तृत हैं, गम्भीर हैं और पण्डित प्रवर सुखलालजी का विवेचन बहुत सरल है, संक्षिप्त है,सारपूर्ण भी है किन्तु बहुत से ऐसे स्थल भी हैं जहाँ विवेचन अपेक्षित था,स्पष्टीकरण की

आवश्यकता थी । सबसे महत्वपूर्ण बात, तत्त्वार्थ सूत्र स्वयं में कोई स्थापना नहीं है। आगम नहीं है, आगम आधारित संग्रह ग्रन्थ है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम इसके साथ ही यह भी जानकारी प्राप्त कर लेवें कि अमुक विषय आगम में कहाँ किस रूप में वर्णित है। यानि तत्त्वार्थ को हम आगम का प्रवेशद्वार बनायें, और उसके अध्ययन के साथ-साथ आगम ज्ञान की धारा को और अधिक विस्तृत करते जाएँ । इसलिए मैंने प्रारम्भ में आचार्य श्री आत्माराजी महाराज द्वारा सम्पादित 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम समन्वय' के आधार पर आगम वचन मुख्य रखा है, उसका उद्धरण देते हुए फिर तत्त्वार्थ के सूत्र देकर विवेचन किया है । इससे तत्त्वार्थ सूत्र का महत्त्व कम नहीं हुआ, बल्कि उसकी प्रामाणिकता की आधारभूमि सुदृढ़ हुई है। इससे पाठक आगमों में अमुक-अमुक विषयों का विशद वर्णन देख सकते हैं । आगम अध्ययन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा।

मेरी यह भी भावना थी कि आगमों के उद्धृत सभी पाठों का मूल पाठांश शुद्ध है या नहीं यह देख लूं और उनके सन्दर्भ स्थल वर्तमान में उपलब्ध किसी एक प्रति से मिलाकर संशोधित कर लूं । इसके लिए अनेकशः प्रयत्न किये । मुनिश्री जम्बूविजय जी द्वारा संपादित (महावीर विद्यालय बम्बई) द्वारा प्रकाशित, जैन विश्व भारती लाडनूं द्वारा प्रकाशित तथा आगम समिति ब्यावर से प्रकाशित-तीनों संस्थाओं के आगम ग्रन्थ मंगाये, पाठ मिलाये । यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि इन संस्थाओं के गाथांक, सूत्रांक परस्पर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काफी भिन्न हैं । फिर किसी एक ही संस्था से प्रकाशित सम्पूर्ण बत्तीस आगम भी उपलब्ध नहीं है। यदि दो भिन्न-भिन्न संस्करणों के सूत्रांक दिये जायें तब भी सम्पूर्ण आगम नहीं मिलते । ऐसी स्थिति में जो आगम उपलब्ध नहीं है, उनके सूत्रांक तो आगमोदय समिति के ही रखने होंगे, यों 'आधा तीतर आधा बटेर' वाली कहावत बन सकती है। इस समस्या का समाधान आखिर यही सोचा कि आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज ने आगमोदय समित रतलाम के पाठ दिये हैं, उन्हे ही मान्य रखा जाय।

आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्र का जो मूल पाठ दिया है उसमें पंडित सुखलाल जी के मूल पाठ से कहीं-कहीं भिन्नता है। जिसकी चर्चा मैंने विवेचन में की है। पंडित सुखलाल जी अपने पाठों को श्वेताम्बर परम्परा मान्य पाठ बताते हैं, किन्तु दो चार सूत्र ऐसे हैं जो

आचार्यश्री द्वारा उद्धृत पाठ आगमों के अधिक नजदीक हैं, पंडित जी द्वारा उद्धृत पाठ आगम से दूर पडते हैं । उदाहरण स्वरूप

आचार्य श्री ने पाठ लिया है-

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयःस्थावरा :। -२/१२

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः -२/१३

वहाँ पंडित जी ने निम्न पाठ लिया है-

पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः ।१३।

तेजोवायूद्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ।१४।

अर्थात्-पृथिवी, जल और वनस्पति--यह तीन स्थावर हैं ।१३। तथा अग्नि, वायु और द्वीन्द्रिय आदि त्रस हैं।१४।

यद्यपि इन तीन स्थावर और तीन त्रस के सूत्र ठाणं ३,३,२१५; और जीवाभिगम १,२२ आदि तथा उत्तराध्ययन ३६/६०-७० में भी प्राप्त होते हैं । किन्तु ठाणं ५/१/३६४ में ही पृथिवी, अग्नि, जल, वायु और वनस्पति-इन पाँचो को स्थावरकाय बताया तथा जीवाभिगम १/२७ में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों को त्रस कहा है।

यह दोनों प्रकार के स्पष्ट आगम प्रमाण होते हुए भी मैंने प्रस्तुत कृति में ५ स्थावर वाला कथन ही प्रमाण मानकर स्वीकृत किया है।

उसका प्रमुख कारण तो आगम का (५ स्थावर वाला पाठ) प्रमाण ही है। साथ ही परम्परा में भी, थोकड़ों आदि में भी और सर्वत्र ५ स्थावर बताये गये हैं । अतः लोगों की श्रद्धा व धारणा को ठेस न लगे, वे व्यर्थ भ्रम में न पड़ें, इसलिये भी ५ स्थावर का पाठ मान्य किया गया ।

इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थ सूत्र के ही इसी अध्याय के सूत्र २३ में सूत्र पाठ है **वाय्वान्तानामेकम्** । इसका अभिप्राय है-पृथिवी, जल, वनस्पति, अग्नि और वायुकायिक जीव एकेन्द्रिय होते हैं। इस सूत्र का मेल मिलाने के लिए भी पांच स्थावर वाला सूत्र अधिक संगत है, अंतः वही मान्य किया गया है।

इन सभी कारणों से यह पाठ स्वीकार किया गया । इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण इन सूत्रों (१३ वाँ, १४ वाँ सूत्र) के विवेचन में आचार्य सिद्धसेन आदि का मत देकर कर दिया गया है।

दूसरा विशेष स्पष्टीकरण अध्याय ६/३६ **शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः** के बारे में किया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गया है। आगमोक्त उद्धरणों तथा अन्य दृष्टांतों से **पूर्वविद** :शब्द का विशेष स्पष्टीकरण कर दिया गया है कि 'पूर्वविद: का अभिप्राय पूर्वानुसारी ज्ञान के धारण करने वाला साधक है।

इसी प्रकार से अन्य स्पष्टीकरण जहाँ भी आवश्यक प्रतीत हुए वहाँ आगमोक्त उद्धरणों और प्रमाणों से स्पष्ट कर दिये गये हैं ।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत संपादन – अनुवाद–विवेचन में अपनी चिरपरिचित मध्यम शैली का अनुसरण किया है। अधिक तुलनात्मक अध्ययन का समावेश करके ग्रन्थ को न तो शोध ग्रन्थ जैसा बोझिल और उबाऊ ही बनाया है कि पाठक भूल –भुलैया में ही उलझ कर रह जाये, कुछ समझ ही न सके और इतना सरल भी नहीं रखा है कि तत्त्वजिज्ञासु–पिपासु पाठक को इसमें कुछ मिले ही नहीं, उसकी प्यास ही शांत न हो।

अपितु प्रयास ऐसा किया गया है कि जिज्ञासु पाठक इसको पढ़कर तत्त्वों से परिचित हो, भगवान की वाणी का रसास्वादन करने में सक्षम हो । विवेचन को अधिक सुबोध व ग्राह्य बनाने के लिए प्रत्येक विस्तृत विषय के भेद –प्रभेद का चार्ट–एक तालिका भी बना दी गई है।

प्रस्तुत संपादन में सर्वप्रमथ आगम वचन–मूल प्राकृत पाठ, उसका सरल हिन्दी में अनुवाद, तत्पश्चात् तत्त्वार्थसूत्र का सूत्र, उसका सरल हिन्दी अनुवाद और फिर विवेचन दिया गया है।

विवेचन में मूलाधार आचार्य उमास्वाति के स्वोपज्ञभाष्य को रखा गया है ।

इसके अतिरिक्त कुछ आधुनिक विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकों तथा जैनागम और तत्त्वज्ञान सम्बन्धी पुस्तकों का भी मैंने उपयोग किया है।

जिन–जिन पुस्तकों तथा विद्वान् मनीषियों की रचनाओं, कृतियों का प्रस्तुत लेखन विवेचन में किंचित् भी उपयोग हुआ है, उन सबके प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन, विवेचन, अनुवाद के गुरूतर कार्य में मुझे सर्वाधिक सहयोग आत्मीयबंधु श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' एवं डॉ. बृजमोहन जैन से प्राप्त हुआ है। इन्होंने मेरी कल्पना को साकार रूप दिया । ग्रन्थ को सुन्दर एवं सारभूत बनाने में अपना बहुमूल्य समय तथा अथक श्रम दिया । यह कहना अत्युक्ति न होगी कि उनके सहयोग के बिना इस ग्रन्थ का इस रूप में पाठकों के समाने आना असम्भव ही था।

आत्मीयबन्धु सुरानाजी का सहयोग सुन्दर, सूरचिपूर्ण और त्रुटि रहित मुद्रण में भी प्राप्त हुआ है। प्रुफ संशोधन आदि का सारा भार उन्होंने संभालकर मेरा कार्य सुगम कर दिया।

इस द्वितीय संस्करण का प्रुफ शंशोधन का कार्य साध्वी अरहत ज्योतीजी म.सा., साध्वी हर्षप्रज्ञाजी म.सा.ने किया है , इस प्रुफ में, प्रिटींग मे कोई त्रुटी होतो हम क्षमायाचना करते है ।

सुधी पाठकों के कर–कमलों में प्रस्तुत ग्रन्थ देते हुए मुझे आत्मपरितोष है और यही मंगल कामना है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का पठन–पाठनकरके पाठकगण जैन तत्त्वों का परिज्ञान प्राप्त करेंगे और मोक्षमार्ग की ओर गति–प्रगति करेंगे।

इसी शुभ भावना के साथ–

बाबा खादीधारी

तपस्वी गणेशमल जी म. की पुण्य तिथि

–उपाध्याय केवल मुनि

* * *

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रमणिका

अध्याय १ : **मोक्षमार्ग** १-७७

सुख के विभिन्न प्रकार १, मोक्ष के साधन-रत्नत्रय ४, रत्नत्रय की प्राप्तिक्रम ५, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान का स्वरूप ६, सम्यक्चारित्र का स्वरूप ८,सम्यग्दृष्टि की वृत्ति प्रवृत्ति १०, सम्यक्त्व के लक्षण और भेद ११, पाँच लब्धियाँ १४, निसर्गज और अधिगमज सम्यक्त्व की उपलब्धि की प्रक्रिया १५ सम्यक्त्व के अन्य भेद १७, सम्यग्दर्शन की विशुद्धि २०, अष्ट अंग २१, सम्यक्त्व के बाह्य लक्षण २६, दर्शन विशुद्ध का चार्ट २७,२९, नव तत्व ३०, तत्वज्ञान के साधन निक्षेप ३२,प्रमाण-नय ३४, निर्देश आदि ३५, अनुयोग द्वार ३७, जीवादि की अन्वेषणा के साधन-मार्गणास्थान ३९, गुणस्थान जीव की शुद्धता के सोपान ४०, गुणस्थान सम्बन्धी विशेष बातें ४३, सम्यग्ज्ञान के प्रकार ४४, ज्ञानों की प्रामाणिकता ४५, मतिज्ञान के अन्य नाम ४७, उत्पत्ति के कारण ४८, भेद ४९, उपभेद ५०, विषय एवं भेद ५२, श्रुतज्ञान के लक्षण और भेद ५५, अवधिज्ञान के भेद और स्वामी ५७, मनःपर्यायज्ञान के भेद ५९, अवधिज्ञान और मनः- पर्यायज्ञान में भेद ६०, मति-श्रुतज्ञान के विषय ६२, अवधि-मनः- पर्याय केवलज्ञान के विषय ६३, एक साथ कितने ज्ञान सम्भव ६४, विपरीत ज्ञान और विपरीतता के हेतु, ६५, ज्ञान के चार्ट ६६-६७, नयों के नाम और प्रकार ६८, नयों का प्रमाणत्व ७३, सप्तभंगी ७५, ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय २: जीव विचारणा ७८-१३१

जीवों के भाव ७८, औपशमिक भाव के भेद ८०, क्षायिक भावों के भेद ८२, क्षायोपशमिक भावों के भेद ८३, औदयिक भावों के भेद ८५, पारिणामिक भावों के भेद ८५, पारिणामिक भावों के भेद ८७, भाव (सान्निपातिक भावों) की तालिका ८८-८९-९०,जीव का लक्षण-उपयोग ९१, जीवों के मूल दो भेद ९३, संसारी जीवों के भेद ९४, त्रस और स्थावर जीवों के भेद ९६, इन्द्रियों की संख्या ६८, इन्द्रियों के भेद ९९, विषय १०१, मन का विषय १०२, इन्द्रियों के स्वामी १०३, संज्ञी -असंज्ञी विचारणा १०५, विग्रह गति सम्बन्धी विचारणा १०८, जन्म के प्रकार ११०, योनियों के प्रकार १११, तालिका ८४ लाख योनि और १९७११ लाख कुल क्रोड़ी की ११२, गर्भजन्म के प्रकार ११३, उपपाद जन्म वाले जीव ११४, संम्मूर्च्छन जीव, १४, शरीर के प्रकार ११५, शरीरों की विशेषताएँ ११६, तैजस और कार्मण शरीर का आत्मा के साथ सम्बन्ध ११९, कार्मण शरीर की निरुपभोगिता १२१, औदारिक शरीर किनको १२१, वैक्रिय शरीर की उपलब्धि १२३, तेजस् शरीर और तेजोलेश्या १२४, आहारक शरीर की विशेषताएँ १२५, वैद-विचारणा १२६, सोपक्रम-निरूपक्रम आयु विचारणा १२८।

अध्याय ३: अधोलोक तथा मध्यलोक १३२-१५९

नरकों के नाम १३३, नरकों का विशेष वर्णन १३४, अधोलोक का चित्र १३५, नरकों की अवस्थिति १३७, लोक संस्थान आकृति (चित्र) १४०, लोक का विस्तार १४१, नारकियों के दुःख, परिणाम आदि १४३, नारकी जीवों की उत्कृष्ट आयु १४६, नारकी जीव (तालिका) १४९, तिर्यक् (मध्य) लोक के द्वीप समुद्र १५०, जंबूद्वीप १५२, मनुष्य क्षेत्र १५४, मनुष्यों के भेद १५७, मनुष्य एवं तिर्यंचो की आयु १५७।

अध्याय ४: ऊर्ध्वलोक-देवनिकाय १६०-२१८

देवों के भेद १६०, ज्योतिषी देवों की लेश्या १६१, चारों प्रकार के देवों और उपभेदों की तालिका १६२, देवों की श्रेणियाँ १६४, व्यंतर और ज्योतिष्क इन्द्र १६६, चौंसठ इन्द १६७, भवनवासी व्यंतर देवों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की लेश्याएँ १६८, देवों की वासना–तृप्ति १६९ भवनवासी और व्यन्तर देवों के उपभेद एवं विशेष वर्णन १७१, तालिका १७४, व्यंतर देवों के प्रति भ्रान्त धारणाओं का निरसन १७७, व्यंतर देवों के उपभेदों की तालिका १७८–७९, ज्योतिषी देव–चर–अचर और उनके द्वारा किया गया काल विभाग १८०, ग्रह–नक्षत्र आदि की तालिका १८२, व्यवहार काल की तालिका १८४, आधुनिक विज्ञान की भूगोल खगोल सम्बन्धी मान्यताएँ १८५, सौर मण्डल की उत्पत्ति १८६, जीवन–विकास १८७, पृथ्वी मण्डल १८८, चन्द्रमा सम्बन्धी जानकारी १८८, सूर्य सम्बन्धी विशेष वर्णन १८९,पृथ्वी की स्थिरता –पश्चिमी विद्वानों के मत १९१, वैमानिक देव वर्णन १९३ बारह कल्प १९४, अवस्थित १९५, नवग्रैवेयक और अनुतर विमान १९५, देवों के कुल १९८,भेद १९६, देवों सम्बन्धी विशेषताएँ १९७, लोकान्तिक देव वर्णन तथा इनकी विशेष स्थिती २०३, अनुत्तर विमानवासी देवों की विशिष्टता २०५, तिर्यंच यौनिक जीवों का लक्षण २०६, देवों की उत्कृष्ट जघन्य आयु २०७, पल्योपम का माप २१५, सागर का प्रमाण २१६, पल्य और सागर के विषय में आधुनिक गणित २१६, योजन का प्रमाण २१७, रज्जु का माप २१७, रज्जु के विषय में आधुनिक वैज्ञानिकों का गणित, वान ग्लास नेप्पिक द्वारा प्रस्तुत रज्जु का माप २१८।

अध्याय ५ : अजीव तत्त्व वर्णन २१९–२५४

अजीवकाय के भेद २१९, द्रव्य का लक्षण २२२, पुद्गल का रूपित्व २२२, द्रव्यों की विशेषता २२३, द्रव्यों में प्रदेश संख्या २२५, द्रव्यों का अवगाह २२५, द्रव्यों के कार्य और लक्षण २३३, धर्म द्रव्य और ईथर २३४, आकाश के गुण २३५, काल के उपकार २३६, पुद्गल का विवेचन २३८, पुद्गलों के गुण २३९, पुद्गलों के पर्याय २४०, अणु एवं स्कन्ध के निर्माण आदि के हेतु २४२, द्रव्य का विवेचन २४३, अर्पित–अनर्पित का अर्थ २४५, बन्ध के हेतु अपवाद आदि २४६, श्वेताम्बर दिगम्बर बन्ध सम्बन्धी मान्यता के भेद२४७, द्रव्य का लक्षण २४९, काल २५०, गुण और परिणाम का स्वरूप,भेद और विभाग २५२ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय ६: तत्त्व विचारणा २५५-२९२

योग के भेद २५५, आस्रव का लक्षण २५६, आस्रव के दो भेद २५७, नौ प्रकार के पुण्य २५७, अठराह पापस्थानक २५८, क्रिया की अपेक्षा आस्रव के भेद २५८, सांपरायिक आस्रव के भेद २६०, पच्चीस क्रियाएँ २६१, तेरह क्रियाएँ २६२, क्रियाओं की तालिका २६४, आस्रव में विशेषता के कारण २६५, अधिकरण के दो प्रकार २६७, जीवाधिकरण के भेद २६७, अजीवाधिकरण के भेद २६९, ज्ञानावरणीय और दर्शनवरणीय कर्म के आस्रव द्वार (बंध हेतु) २७१, असातावेदनीय कर्म के आस्रवद्वार २७३, सातावेदनीय कर्म के आस्रवद्वार २७४, दर्शनमोहनीय कर्म के आस्रवद्वार २७६, चारित्रमोहनीय (कषाय और नोकषाय मोहनीय) के आस्रवद्वार २७७, नरकायु बंध के कारण २७८, तिर्यंचायु बंध के कारण २८०, मनुष्यायु बंध के कारण २८१, चारों आयु ओं के समान्य बंध हेतु २८१, देवायुबंध के कारण २८२, शुभ और अशुभनाम कर्म के बंध हेतु २८४, तीर्थंकर प्रकृति के बंधहेतु २८६, उच्च और नीच गोत्र कर्म के आस्रवद्वार २८८, अन्तराय कर्म के आस्रव हेतु २८६, सात कर्मों का सतत बंध-प्रत्येक संसारी जीव के २९०, आयु बंध का अभिप्राय २९०, आयुबंध का समय २९१ ।

अध्याय ७: आचार-(विरति-संवर) २९३-३४८

उपोद्घात २९३, व्रतों के लक्षण और भेद २९३, व्रतों की स्थिरता के उपाय-भावनाएँ २९५, अहिंसाव्रत की ५ भावनाएँ २९७, सत्यव्रत की ५ भावनाएँ २९९, अस्तेय (अचौर्य) व्रत की ५ भावनाएँ २९९, ब्रह्मव्रत की ५ भावनाएँ ३०१, अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनाएँ ३०२, क्या पाँच व्रतों की २५ भावनाएँ श्रमण के लिए ही हैं, या श्रावक (अनुव्रती साधक) के लिए भी ३०३, भावनाओं की तालिकाएँ ३०४-३०५, पापविरति की अन्य भवनाएँ ३०७, योग भावनाएँ एवं शरीर संसार स्वरूप चिन्तन ३०८, हिंसा के लक्षण ३१०, असत्य आदि चार व्रतों के लक्षण ३१३, व्रती की अनिवार्य योग्यता ३१५, व्रती के भेद आगारी, अनगारी, ३१६, श्रावक के गुणव्रत और शिक्षाव्रत ३१८,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्तिम समय की आराधना ३२४, सम्यग्दर्शन के अतिचार ३२५, अहिंसा आदि पाँच अणुव्रतों के अतिचार ३२८, ब्रह्मचर्याणुव्रत के अति चारों का विशेष विवेचन ३३१, दिगव्रत, देशव्रत, अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार ३३६, सामायिक, पौषधोपवास, उपभोग-परिभोग, अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार ३३८, अणुव्रत-गुणव्रत-शिक्षाव्रतों के अतिचारों की तालिका ३४२-३४३,संलेखनाव्रत के अतिचार ३४४, दान का लक्षण ३४५, दान के दस भेद ३४६, दान की विशेषता ३४७।

अध्याय ८ : बन्ध तत्त्व **३४९-४००**

उपोद्घात ३४९, बंधहेतु ३४९, बन्ध हेतु की अन्य परम्पराएँ ३५०, मिथ्यात्व २५ प्रकार का ३५०, अविरति १२ प्रकार की ३५१, प्रमाद के १५ प्रकार ३५२, कषाय के २५ भेद ३५२, योग के १५ भेद ३५२, बंध का लक्षण ३५४, बंध के ४ भेद ३५५, कर्म की ११ अवस्थाएँ ३५६, तालिका ३६१, मूल और उत्तर कर्मकृतियाँ, कर्म प्रकृतियों के नाम, लक्षण, स्वभाव, भेद ३६२, तालिका ३६५, ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ ३६४, दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ ३६६, वेदनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ ३६८, मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ ३६९, तालिका (मोहनीय कर्म) २७३, आयुष्य कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ ३७४, नामकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ ३७५, नाम कर्म की तालिका ३८७-२८९, गोत्र कर्म के भदे ३९०, अन्तराय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ ३९२, आठों कर्मों की स्थिति ३९३, तालिका ३९५, अनुभाव बंध ३९६, प्रदेशबंध ३९६, पुण्य और पाप प्रकृतियाँ ३९९॥

अध्याय ९ : संवर तथा निर्जरा **४०१-४६०**

उपोद्घात ४०१, संवर-निर्जरा के लक्षण और संवर के उपाय तथा भेद ४०२, गुप्ति का लक्षण ४०३, समितियों का नामोल्लेख और लक्षण ४०४, धर्म के प्रकार ४०५, वैराग्य भावनाएँ उनके लक्षण, भेद और स्वरूप ४०८, परीषहों के नाम और सहने के कारण ४११, परीषहों के अधिकारी,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कारण और एक साथ संभाव्यता ४१५, चारित्र के प्रकार और लक्षण ४१८, संवर के ५७ भेद तालिका ४२१, बाह्यतपों के भेदोपभेद, लक्षण और स्वरूप ४२१, बाह्य तप की तालिका ४२६, आभ्यन्तर तप के भेद और लक्षण तथा स्वरूप ४२७, प्रायश्चित तप के प्रकार (उपभेद) ४२८, विनय तप के उपभेद ४२९, वैयावृत्त्य तप के भेदोपभेद ४३२, स्वाध्याय तप के उपभेद ४३२, धर्मकथा के चार प्रकार ४३३, व्युत्सर्ग तप के उपभेद ४३४, द्रव्य व्युत्सर्ग तप ४३४, भाव व्युत्सर्ग तप ४३५, ध्यान का लक्षण और उसका अधिकतम समय ४३६, ध्यान और ध्यान प्रवाह ४३७, ध्यान के चार भेद ४३८, प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यान ४३८, आर्तध्यान के चार भेद और उनकी संभाव्यता ४३९, रौद्रध्यान के चार भेद और उसकी संभाव्यता ४४२,रौद्रध्यानी के लक्षण ४४२, धर्मध्यान के चार भेद और उसकी संभाव्यता ४४३, धर्म ध्यान के चार भेद और उसकी संभाव्यता ४४३, धर्म ध्यान के लक्षण, अवलम्बन और भावनाएँ ४४४-४४५, शुक्लध्यान स्वरूप, लक्षण, भेद और अधिकारी ४४६, 'पूर्वविद' शब्द का अभिप्राय ४४७, 'एकाश्रये' शब्द का अर्थ ४४७, शुक्लध्यान के चारों भेदों का स्वरूप ४४८, शुक्लध्यान के चार लिंग और चार अवलं बन ४४९, शुक्लध्यान की चार भावनाएं ४५०, आभ्यन्तर तप की तालिका ४५१, ध्यान तप की तालिका ४५२-४५३, कर्म निर्जरा का क्रम ४५४, श्रमणों के भेद और भिन्नता विषयक विकल्प ४५६, निर्ग्रन्थ शब्द का निर्वचन ४५६, निर्ग्रन्थों की विशेषताएँ ४५७, स्थान (संयम स्थान) ४६० ।

अध्याय १० : मोक्ष **४६१-४७४**

उपोद्घात ४६१, केवलज्ञान-दर्शन उपलब्धि की प्रक्रिया ४६२, मोक्ष का स्वरूप ४६३, केवली समुद्घात-कारण, स्वरूप और प्रक्रिया ४६५, मुक्ताजीवों के भावों का अभाव और सद्भाव ४६६, मुक्त जीव का ऊर्ध्वगमन और गति क्रिया के हेतु ४६८, लोकान्त का अभिप्राय ४६८, ऊर्ध्वगमन के दृष्टान्त ४६९, सिद्धों के विकल्प अथवा भेद ४७०, प्रति समय सिद्ध होने वाले जीवों की संख्या ४७३ ।

* * *

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थ सूत्र

प्रथम अध्याय

मोक्षमार्ग

(SALVATION PATH)

उपोद्घात

संसार के प्रत्येक प्राणधारी का एकमात्र लक्ष्य है सुख । सभी प्राणी, जीव, भूत एवं सत्त्व सुख-साता चाहते हैं, दुःख उनको अप्रिय है ।

आगम की भाषा में-

सव्वे पाणा, सव्वे जीवा, सव्वे भूया, सव्वे सत्ता...
सुहसाया, दुक्खपडिकूला ।

किन्तु सुख की धारणा सभी प्राणियों में अलग-अलग होती है । कोई किसी वस्तु में सुख मानता है तो किसी को अन्य वस्तु में सुख की अनुभूति होती है । प्रत्येक की रुचि-प्रवृत्ति भिन्न है ।

इस दृष्टि से प्राणियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - प्रथम भवाभिनन्दी और दूसरे मोक्षाभिनन्दी ।

भवाभिनन्दी जीव भौतिक सुखों की इच्छा करते हैं, उनकी प्राप्ति में ही सुख मानते हैं और उनका वियोग होते ही दुःखी हो जाते हैं ।

सभी अविकसित प्राणी इसी कोटि के हैं ।

किन्तु मानव जो विकसित प्राणी हैं, उनमें से अधिकांश भी इसी कोटि के हैं, वे भी भौतिक सुखों की ओर लायायित रहते हैं ।

भौतिक सुखों के अनेक प्रकार हैं । किन्तु इन्हें सुविधा की दृष्टि से नौ वर्गो में वर्गीकृत किया जा सकता है ।

(१) **ज्ञानानन्द** - ज्ञान से अभिप्राय यहाँ भौतिक ज्ञान है । बहुत से वैज्ञानिक नई-नई खोज शोध करने में ही आनन्द मानते हैं । कुछ लोग शक्ति प्राप्त करके दूसरों का अहित करते हैं और आनन्द मानते हैं । कुछ लोग नित नये घातक शस्त्र, संहारक सामग्री के आविष्कार में ही जीवन खपा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देते हैं । इसी प्रकार बहुत से मानव बौद्धिक शक्ति प्राप्त करके दूसरों को ठगते हैं, धोखा देते हैं, जासूसी करते हैं, और इस प्रकार वे अपने प्राप्त ज्ञान (इसे मात्र जानकारी कह सकते हैं) में आनन्द मानते हैं ।

(२) **प्रेमानन्द** – मानव चाहता है कि सभी उसे प्रेम करें । जब तक माता-पिता, पति, पत्नी तथा समाज के अन्य व्यक्ति उसे प्रेम करते हैं ,तब तक वह अपने को सुखी मानता है और प्रेम में थोड़ी भी कमी हुई तो दुखी हो जाता है ।

(३) **जीवनानन्द** – व्यक्ति जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओं का उपभोग करके आनन्द मानता है । वह चाहता है कि सुख-सुविधा के सम्पूर्ण साधन उसे उपलब्ध हों । वह किसी भी कीमत पर जीवनरूपी खिलौने से खेलकर आनन्द उठाना चाहता है । इनमें कमी आते ही हीनभावना से ग्रस्त होकर स्वयं को संसार का सर्वाधिक दुखी व्यक्ति मान कर झूरता है ।

(४) **विनोदानन्द** – कुछ व्यक्तियों को खेल-कूद, मनोरंजन, हास-परिहास आदि में आनन्द आता है । विनोद में व्यक्ति ऐसे शब्द कह देता है, ऐसे व्यंग बाण अपनी जबान की कमान से छोड़ देता है कि सुनने वाला आहत हो जाता है, पर इससे उसे क्या, वह तो मन में सुख मानता है ।

विनोदानन्द का एक रूप गप्पबाजी भी है । मनुष्य कल्पना के घोड़े पर चढ़कर दूसरों को झूठी-सच्ची बातें सुनाकर खुश होता है ।

जब विनोद के लिए व्यक्ति ताश-चौपड़-द्यूत आदि खेलता है तो हार हो जाने पर स्वयं दुखी होता है, मार-पीट तक की नौबत आ जाती है और यदि यह विनोद व्यसन बन गया तो सम्पूर्ण जीवन ही दुःखी हो जाता है, बरबाद हो जाता है, पतन के गर्त में गिर जाता है ।

(५) **रौद्रानन्द** – तब होता है जब व्यक्ति दूसरे प्राणियों को दुःख देकर सुख मानता है । बहुत से व्यक्ति ऐसे क्रूर और आतातायी होते हैं, जिन्हें दूसरों को तड़पता देखकर सुख की अनुभूति होती है ।

(६) **महत्वानन्द** – प्रत्येक मानव की भावना होती है कि समाज के, परिवार के, जाति के और यहाँ तक कि संसार में सभी लोग उसे महत्वपूर्ण मानें, उसका आदर करें, उसकी आज्ञा का पालन करें, सभी उसकी प्रशंसा करें, विरोध में कोई एक भी आवाज न निकालें ।

यदि किसी ने उसकी आज्ञा की अवहेलना कर दी तो वह दुखी हो जाता है, अपने को अभागा समझने लगता है ।

(७) **विषयानन्द** – यह सुख सभी भौतिक सुखों से बड़ा है । इस आनन्द में लगभग सभी संसार प्राणी ग्रस्त हैं । विषयानन्द का अभिप्राय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है – पाँचों इन्द्रियों और मन के सुख को सुख मानना, इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति की अभिलाषा । इन्द्रिय-सुखों को सुख मानने वाले, उसमें आनन्द की अनुभूति करने वाले मानव नीति-अनीति, धर्म, सदाचार आदि सभी से विमुख हो जाते हैं ।

इस आनन्द का दायरा इतना विस्तृत है कि सभी प्रकार के भौतिक सुख इसमें समा जाते हैं ।

किन्तु इस सुख की प्राप्ति के लिए सबल शरीर, इन्द्रिय, धन आदि आवश्यक हैं । यही कराण है कि आज के युग में धन के लिए आपाधापी मची हुई है, आज का मानव बेतहाशा इन्द्रिय-सुखों के पीछे भाग रहा है ।

(८) **स्वतन्त्रतानन्द** – मानव ही नहीं, पशु भी स्वतन्त्रता चाहता है और इसी में आनन्द मानता है, वह किसी भी प्रकार का बन्धन, मर्यादा नहीं चाहता, बन्धन उसे दुःखदायी कष्टकर लगता है ।

किन्तु अतिशय स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता बन जाती है और यह परिणाम में दुःखदायी बनती है ।

इसी प्रकार कोई धन-सम्पत्ति आदि में सुख मानता है ।

किन्तु ये सभी सुख वास्तविक सुख नहीं हैं, सुखाभास हैं, दुख के बीज इनमें छिपे हैं, इनका परिणाम दुःख, कष्ट और पीड़ा ही हैं ।

(९) **सन्तोषानन्द** – इसे आत्मानन्द भी कह सकते हैं । प्राप्त वस्तु में ही सन्तुष्ट रहकर जो त्याग मार्ग की और बढ़ता रहे, अथवा आत्म-चिन्तन, प्रभुभजन, स्वाध्याय आदि में सुख तथा आनन्द की अनुभूति कर संसार की लालसा/वासना से मुक्त रहे । ऐसे व्यक्ति बहुत विरले होते हैं [इनका लक्ष्य मोक्षाभिमुखी होता है]।

प्राणीमात्र का जितना भी प्रयास है, जितना भी वह पुरुषार्थ करता है, उसकी दो ही दिशा है – काम अथवा मोक्ष । यही दो केन्द्रबिन्दु हैं जिन्हें लक्ष्य में लेकर प्राणियों की सभी गतिविधियाँ होती हैं ।

कामना-पूर्ति पतन का मार्ग है और (कामना आदि से मुक्ति पाने का प्रयास उन्नति का मार्ग है, विशुद्धि का मार्ग है, सिद्धि का मार्ग है) मोक्ष का मार्ग है, शाश्वत सुख का मार्ग है ।

इसी शाश्वत सुख अर्थात् आत्मानन्द की प्राप्ति का उपाय प्रस्तुत शास्त्र में बताया गया है ।

अनन्त अव्याबाध आत्मिक सुख की प्राप्ति का मार्ग है – धर्म ।

धर्म त्रिविध है – सच्चा-विश्वास, सच्चा ज्ञान और सच्चा आचरण ।

इसी त्रिविध मोक्षोपाय की ओर सूत्रकार संकेत कर रहे हैं –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम वचन –

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गई ॥(–उत्तरा. २८/३)

(ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के मार्ग का अनुसरण करने वाले जीव उत्कृष्ट सुगति (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं ।)

मोक्ष के साधन–

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः । १ ।

अर्थ – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र – ये तीनों सम्मिलित रूप से मुक्ति प्राप्त करने के मार्ग (साधन) हैं ।

विवेचन – तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के प्रस्तुत प्रथम सूत्र में मोक्ष–प्राप्ति के साधन बताये गये हैं । यह साधन हैं – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र । यह तीनों सम्मिलित रूप से अथवा मिलकर मोक्षमार्ग किंवा मोक्ष प्राप्ति का साधन बनते हैं ।

आगम में, जैसा कि उक्त उद्धरण से स्पष्ट है, तप की पृथक रूप से गणना करके मोक्ष–प्राप्ति के चार साधन कहे गये हैं । किन्तु प्रस्तुत सूत्र में तप का अन्तर्भाव चारित्र में ही कर लिया गया है । जैसाकि 'पंचाचार' में तपाचार को भी आचार अथवा चारित्र का ही एक भेद माना है ।

प्रस्तुत सन्दर्भ में विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य बात है कि इन तीनों – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र–में से पृथक्–पृथक् कोई भी एक अथवा दो मोक्ष की प्राप्ति नहीं करा सकते, तीनों का साहचर्य, अति आवश्यक है, तीनों ही मिलकर मोक्षमार्ग हैं ।

ऐसा ही प्रस्तुत आगम गाथा से ध्वनित होता है –

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना व हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥
(–उत्तरा २८/३०)

(सम्यग्दर्शन रहित जीव को सम्यग्ज्ञान नहीं होता, (सम्यक्) ज्ञान के बिना (सम्यक्चारित्र) चारित्रगुण नहीं होता, अगुणी (चारित्रगुण से विहीन) जीव को (सर्वकर्मक्षय रूप) मोक्ष नहीं होता और मोक्ष हुए बिना (शाश्वत सुख रूप) निर्वाण नहीं होता ।

इस विषय को आगे और स्पष्ट किया गया हैं–

नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥ (–उत्तरा २८/३५)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

– आत्मा ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) से जीवादि पदार्थों (द्रव्य, गुण, पर्यायों, तत्वों) को जानता हैं, दर्शन (सम्यग्दर्शन) से उन पर यथार्थ विश्वास/श्रद्धा करता हैं, चारित्र (सम्यक्चारित्र) से उनका (नवीन आते हुए और आत्मा के साथ बँधते हुए कर्मों का संवर) निरोध करता हैं तथा तप से परिशुद्ध (पूर्वसंचित कर्मपुद्गलों की आत्यन्तिक निर्जरा–क्षय) होता है ।

उपर्युक्त गाथाओं के प्रकाश में सहज ही यह विश्वास दृढ़ होता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र–तीनों ही पृथक्–पृथक् रूप से मोक्ष–प्राप्ति के साधन नहीं बन पाते ।

साधन बनना तो दूर की बात है, यही तीनों (दर्शन, ज्ञान और चारित्र) सम्यक् विशेषण से विशेषित होने योग्य भी नहीं बन पाते । इनको सम्मिलित रूप से रखने के लिए ही आचार्य ने 'सम्यक्' एक ही विशेषण 'दर्शन–ज्ञान–चारित्र' तीनों विशेष्यों के लिए दिया है और 'मोक्षमार्गः' इस प्रकार सूत्र की रचना एकवचनान्त की है ।

अभिप्राय स्पष्ट है कि यह तीनों सम्मिलित रूप से मोक्ष के साधन हैं।

प्राप्तिक्रम

इस विवेचन के उपरान्त सहज ही यह जिज्ञासा उठती है कि जब यह तीनों ही सम्मिलित रूप से मोक्ष के साधन है तो जीव को इनकी प्राप्ति एक साथ ही होती है अथवा एक के बाद दूसरे की ? अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र–सहभावी हैं अथवा क्रमभावी ? यदि यह तीनों क्रमभावी हैं तो इनका क्रम क्या है ?

इस विषय मे दो प्रकार के मत हैं –

(१) पहले दर्शन सम्यक् होता है, बाद में ज्ञान तथा तदुपरान्त चारित्र सम्यक् होता है ।

(२) दर्शन और ज्ञान तो युगपत् (एक साथ) सम्यक् होते हैं किन्तु चारित्र बाद में सम्यक् होता है। यानी सम्यग्दर्शन–ज्ञान तो सहभावी हैं और चारित्र क्रमभावी हैं ।

इस विषय में उत्तराध्ययन सूत्र की निम्न गाथा द्रष्टव्य है –

नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं दंसणे उ भइयव्वं –
सम्मत्त–चरित्ताइं जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥ (२९/२६)

सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) के बिना चारित्र (सम्यक्चारित्र) नहीं होता किन्तु सम्यक्चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन हो सकता है । सम्यक्त्व और चारित्र एक साथ (युगपत्) भी होते हैं । किन्तु चारित्र से सम्यक्त्व पहले होता ह।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस गाथा से स्पष्ट है कि सम्यक्चारित्र तो सम्यग्दर्शन के उपरान्त ही होता है ।

यदि कर्मग्रन्थ की भाषा में विचार किया जाय तो सम्यक्त्व अथवा सम्यग्दृष्टि का चतुर्थ गुणस्थान है; जबकि चारित्र-सम्यक्चारित्र का प्रारंभ पाँचवें गुणस्थान से होता है । जीव चौथे गुणस्थान के अनन्तर ही पाँचवे तथा अन्य आगे के गुणस्थानों का स्पर्श करता है ।

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान

सम्यग्दर्शन का अभिप्राय है- जो वस्तु जैसी है, जिस रूप में अवस्थित है, उसकी वैसी ही श्रद्धा-यथार्थ विश्वास करना ।

सम्यग्दर्शन में दो शब्द हैं-सम्यक् और दर्शन । दर्शन का अर्थ दृष्टि, देखना, विश्वास करना भी है और निश्चय करना भी है । साथ ही इसका प्रयोग विचारधारा के लिए भी किया जाता है, जैसे-वैदिक दर्शन, बौद्ध दर्शन, जैनदर्शन आदि ।

दृष्टि विपर्यास भी होता है, निश्चय भ्रान्त भी होते हैं और विचारधाराएँ मूढ़ता से भी ग्रसित होती हैं ।

'सम्यक् शब्द इनमें संशोधन, परिमार्जन के लिए, यथार्थता के लिए और मोक्षाभिमुखता के लिए प्रयुक्त हुआ है। अतः वह यथार्थश्रद्धा जो सत्य-तथ्य पूर्ण होने के साथ-साथ मोक्षाभिमुखी हो, जीव की गति-प्रगति मोक्ष की ओर उन्मुख करे, सम्यग्दर्शन है ।

व्याहारिक दृष्टि से **तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं** जिन सर्वज्ञ भगवान ने जैसा वस्तु का स्वरूप बताया है, उसमें किसी भी प्रकार की शंका न करना, सम्यग्दर्शन है ।

किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से, जिसे निश्चयदृष्टि भी कहा जाता है, इस दृष्टि की अपेक्षा शुद्ध आत्मभाव, आत्मस्वरूप की अनुभूति, प्रतीति, रुचि, यथार्थ विश्वास और उसका दृढ़ श्रद्धान, निश्चय सम्यग्दर्शन है ।

यह आत्म-प्रतीति और दृढ़श्रद्धान कैसे होते है इस प्रक्रिया को समझना है । आचारांग (१/५/५/१७१) में कहा गया है-

जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया।
जेण वियाणइ से आया, तं पडुच्च पडिसंखाए।

- जो आत्मा है, वह विज्ञाता है । जो विज्ञाता है वह आत्मा है । जिससे (जिसके द्वारा) जाना जाता है, वह आत्मा है। जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि तब तो सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन से पूर्ववर्ती हुआ क्योंकि ज्ञान से जाना और आत्मा की प्रतीति हो गई, सम्यग्दर्शन को उपलब्धि हो गई ।

किन्तु वास्तव में ऐसी स्थिती है नहीं। सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन से पूर्ववर्ती नहीं है । दोनों ही युगपत् हैं ।

इस जिज्ञासा के विशेष स्पष्टीकरण के लिए सम्यग्ज्ञान को स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है।

यद्यपि सम्यग्ज्ञान का सामान्य रूप से लक्षण यह बताया गया है कि नयों और प्रमाणों से जीवादि तत्वों का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है; किन्तु वह ज्ञान संशय-विभ्रम-विपर्यय विरहित होना चाहिए । अतः सम्यग्ज्ञान का व्यावाहारिक लक्षण यह बताया गया है -

संशय-विभ्रम-विपर्ययविरहितं ज्ञानं. सम्यग्ज्ञानमिति ।

संशय, विभ्रम और विपर्ययरहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

सामान्य रूप से अनेक वस्तुओं में घूमता हुआ अनिश्चित ज्ञान संशय है।

जिसमें कोई निश्चय न हो सके, 'कुछ है' इतना ही बोध हो, वह 'विभ्रम' है। जैसे पाँव में कोई चीज चुभ गई किन्तु यह निश्चय न हो सके कि वह नुकीला कंकर था, काँच का टुकड़ा था, अथवा किसी काँटे की नोंक थी।

अंधेरे में रस्सी को साँप या साँप को रस्सी अथवा चाँदी को सीप या सीप को चाँदी समझ लेना 'विपर्यय' विपरीत ज्ञान है ।

संशय और विभ्रम में इतना अन्तर है कि संशयात्मक ज्ञान अस्थिर होता है, अनेक पदार्थो पर घूमता रहता है, किसी एक पदार्थ पर स्थिर नहीं होता, अनिश्चय की अवस्था रहती है ।

अनिश्चय की दशा तो विभ्रम में भी होती है; किन्तु इसमें ज्ञान की भ्रमणा नहीं होती विमूढ़ जैसी दशा होती है ।

ज्ञान के यह तीनों दोष सम्यग्दर्शन के स्पर्श से नष्ट हो जाते है और वह पहले का सामान्य ज्ञान सम्यक् विशेषण से विशेषित होकर तत्क्षण हीं सम्यग्ज्ञान में परिणत हो जाता है । उस समय उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णित स्थिति बन जाती है -

नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे ।

- ज्ञान से भावों को (पदार्थों को) जानकर दर्शन से उन पर श्रद्धा करता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचारांग तथा उत्तराध्ययन सूत्र के उपर्युक्त उद्धरणों में निहित तथ्य का स्पष्टीकरण आचार्य वीरसेन के मत से भलीभाँति हो जाता है । उनका मत है कि ज्ञान में जो सशंय आदि दोष दिखाई देते हैं वे मिथ्यात्वमोहनीय कर्म की प्रतिच्छाया हैं । मिथ्यात्व के नष्ट होते ही ये दोष भी समाप्त हो जाते हैं और ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है ।

यहाँ वे एक तर्क देते हैं कि यदि ज्ञान स्वयं ही विकारी हो जाय तो सम्यक्त्व से पूर्व वह आत्मा के अपने शुद्ध स्वरूप को जानेगा कैसे ? और यदि जाना ही नहीं तो शुद्ध आत्म-स्वरूप की प्रतीति भी नहीं हो सकेगी । तब तो मोक्षमार्ग ही रुक जायेगा; क्योंकि सम्यग्दर्शन के अभाव में मोक्ष की कल्पना आकाशकुसुमवत् व्यर्थ ही रह जायेगी ।

सम्यग्ज्ञान के सम्बन्ध में इतना जान लेना आवश्यक है कि आत्मलक्ष्यी या मोक्षलक्ष्यी ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है । जिस ज्ञान के साथ आत्मा एवं मोक्ष के प्रति यथार्थ श्रद्धा होती है, वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है ।

अतः सम्यग्ज्ञान को एक शब्द में या **विद्या सा विमुक्तये** (विद्या अथवा ज्ञान वही है जो मुक्ति प्रदान करे) कहा जा सकता है ।

सम्यक् चारित्र

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि सम्यक्चारित्र भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ ही होता है अथवा बाद में ?

इस विषय में आगमिक मान्यता का उल्लेख किया जा चुका है ।

किन्तु इस प्रश्न को आत्मा की आध्यामिक भाव परिणति से भी समझना आवश्यक है । इसके लिए हमें आत्मा की अतल गहराइयों में उतरना पड़ेगा, देखना पड़ेगा कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से पूर्व जब आत्मा मिथ्यात्व दशा में था तब, उसकी किस प्रकार की प्रवृत्तियाँ थीं, अन्तरंग में कैसी धाराएँ बह रही थीं और सम्यक्त्व-प्राप्ति के साथ तथा उसके बाद इन धाराओं में कैसा और किस प्रकार का परिवर्तन हो जाता है ।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा जीव है और जीव एक द्रव्य है । निरुक्त के अनुसार द्रव्य का लक्षण है - **'यद् द्रवति तद् द्रव्यम्'** - जो बहता है, वह द्रव्य है । द्रव्य में बहाव की शक्ति अथवा प्रवाहशीलता- धारा आवश्यक है और वह द्रव्य में अवश्यमेव रहती है ।

आत्मा में भी अनेक धाराएँ प्रतिपल-प्रतिक्षण निरंतर बह रही हैं । कषायधारा, लेश्याधारा, मिथ्यात्वधारा आदि अनेक प्रकार की धाराएँ आत्मा *को हर समय उद्वेलित कर रही हैं ।*

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इनमें से प्रत्येक धारा आत्मा के किसी न किसी गुण को आच्छादित करती हैं । जैसे–कषायधारा आत्मा को अपने निजी सुख स्वभाव या समता भाव की अनुभूति नहीं होने देती, स्थिरता को प्रभावित करती हैं (मिथ्यात्व धारा सुख की हानि तो करती ही है) आत्मा की अपने स्वरूप की ओर रुचि भी नहीं होने देती, सत्य–प्रतीति में भी बाधक बनी रहती है ।

सम्यक्त्व अथवा सम्यक्दर्शन की प्राप्ति में यही मिथ्यात्वधारा सबसे बड़ा अवरोध है, साथ ही तीव्र कषायदारा भी । यही वह मिथ्यात्व और कषाय की ग्रन्थि है जिसके टूटने पर आत्मा की अपनी स्वयं की ओर रुचि तथा प्रतीति होती है और सम्यक्त्व सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

आत्मा अपने तीव्र अध्यवसाय से जब इस मिथ्यात्व एवं कषाय धारा पर प्रबल प्रहार करता है, इनके मूल स्त्रोत (ग्रन्थि) (point of origin) को तोड़ देता है तब यह धाराएँ विश्रृंखिलत हो जाती है ।

मूल स्त्रोत अथवा ग्रन्थि टूटने से इनका प्रवाह समाप्त हो जाता ह। कभी वह प्रवाह समाप्त नहीं होता, सिर्फ रुक जाता है, आगे का प्रवाह बह जाता है और स्त्रोत के रुके होने को कारण पीछे का प्रवाह आता नहीं; इस प्रकार बीच की भूमि साफ–मिथ्यात्व एवं कषाय से रहित हो जाती है ।

कभी ऐसा भी होता है कि यह पूर्णरूप से समाप्त न होकर अत्यन्त क्षीण हो जाती है, सूखने जैसी हो जाती है; किन्तु इस रूप में भी उसकी शक्ति समाप्तप्राय होती है, वह सम्यक्त्व की धारा को अवरुद्ध नहीं कर पातो।

मिथ्यात्वधारा के समाप्त होते ही उसी क्षण (at the very moment) आत्मा की सहज ज्ञान ज्योति जगमगा उठती है । इस स्थिति में (सम्यक्त्व का स्पर्श होंते ही) जीव को अनिर्वचनीय आत्मिक आनन्द ही अनुभूति होने लगती है, उसका प्रत्येक प्रदेश आत्मा के नैसर्गिक सहज सुख–रस में विभोर हो जाता है, ज्ञान के प्रकाश से भर उठता है । वह अपनी आत्मा की – निज की दर्शन धारा (श्रद्धा–सम्यक्त्व धारा) में अवगाहन करने लगता है । उसमें समत्व का सहज आनन्द और उल्लास स्फुरित हो जाता है।

इस स्थिति में संसार के धन, वैभव, परिवार, भोग्य सामग्री, शरीर के सुख–दुःख आदि सब परभावों में नश्वरता, क्षणभंगुरता का बोध होने लगता है । इससे ममत्व का बंधन ढीला होता है और अमनोज्ञ एवं वियोगजनित पीड़ा से मन क्षुब्ध नहीं होता । संयोगों से उन्मत्त नहीं होता ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यही वह बिन्दु है जहाँ भेदविज्ञान की जागृति होती है । आत्मानन्द के आस्वादन में निमग्न जीव के अन्तस्तल में **'जीवोऽन्यद् शरीरमन्यद्'** की धारणा यथार्थ रूप ग्रहण करती है ।

ऐसा जीव जो स्वयं अपने साथ लगे हुए शरीर और पर-पदार्थाश्रित स्वयं अपने ही भावों (परिणामों) को भी अपने शुद्ध स्वभाव से पृथक् अनुभव करता है तो धन-धान्य, स्त्री-पुत्र-मित्र आदि तो उसे प्रत्यक्ष ही परपदार्थ दिखाई देते हैं, उन्हें वह बंधन समझने लगता है ।

सम्यग्दृष्टि की वृत्ति-प्रवृत्ति

अब सम्यग्दर्शन का जीव की वृत्ति-प्रवृत्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है? उसमें किस-किस प्रकार का परिवर्तन होता है? इस पर विचार करना आवश्यक है ।

सम्यग्दृष्टि जीव की वृत्ति-प्रवृत्ति के विषय में एक प्राचीन आध्यात्मिक् कवि का दोहा प्रसिद्ध है -

जे समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल ।
अन्तर्गत न्यारा रहे, ज्यूँ धाय खिलावे बाल ।

धाय (बालक-शिशु का पालन-पोषण करने वाली स्त्री) जिस प्रकार सावधानी तथा जागरूकता के साथ बालक का लालन-पालन करती है, उसके और माता के व्यवहार में बाह्य रूप से कोई अन्तर नहीं दिखाई देता, लोग उसे माता ही समझ लेते हैं, लेकिन वह अपने हृदय में कभी भी स्वयं को उस शिशु की माता नहीं समझती, अपितु उसे पराया-पुत्र ही मानती है ।

इसी प्रकार सम्यक्त्वी जीव भी कुटुम्ब का पालन-पोषण करता है, अपने योग्य कर्तव्य का निर्वाह करता है, किन्तु करता है सब कुछ कर्तव्य भावना से ही; कुटुम्ब को अपना नहीं मानता, अपना तो वह सिर्फ आत्मा को ही मानता है ।

उसकी दृष्टि ऐसी ही विलक्षण हो जाती है, भेदविज्ञान जागृत होने स।

भेदविज्ञानी अथवा सम्यग्दृष्टि जीव में इन पर-पदार्थों और पर-भावों के प्रति अन्तरंग विरक्ति हो जाती है । पहली बात, तो वह उन्हें नाशवान क्षणभंगुर मानता है, इसलिए उनमें आसक्त ही नहीं होता, फिर उसकी लालसा आसक्ति को वह बन्धन भी मानता है, वह इन्हें बन्धन या पर-स्वरूप जानकर छोड़ देना चाहता है, इसके अन्तर् में इन समस्त बंधनों को तोड़ देने की तड़प होती है, उसे दृढ़ विश्वास हो जाता है कि यह सब तो पर हैं, वियोगधर्मा हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जिस प्रकार व्यक्ति किराये के मकान को अपना घर नहीं मानता, उसमें स्वामित्व भाव नहीं रखता, उसी प्रकार सम्यक्त्वी भी अपने शरीर को निश्चित अवधि के लिए मिला हुआ किराये का घर समझता है, अपना असली घर नहीं मानता । वह समझ लेता है कि मेरा असली घर तो सिद्धिस्थान है, जहाँ मैं शाश्वत अव्याबाध सुख में अनंतकाल तक निमग्न रहूँगा ।

एक लौकिक उदाहरण लीजिए –

एक बहन है । वह बढ़िया साडी पहनकर बाजार में जा रही है । लांड्री से आज ही धुलकर आयी है । वह उस साड़ी को मगन मन पहने है । इतने में सामने से दूसरी महिला आई । उसने उस साड़ी को देखा । और बोली बहन जी ! यह साड़ी तो मेरी है।

बहन चौंकी । दूसरी महिला ने लाण्ड्री का निशान दिखाकर बताया देखिए, मेरे कपडों पर लाण्ड्री ऐसा निशान लगाती है ।

उस बहन ने भी देखा, विचार किया मेरे कपड़ो पर तो लाण्ड्रीवाले दूसरा निशान लगाते हैं । विश्वास हो गया कि यह साड़ी मेरी नहीं है, इस महिला की ही है ।

लेकिन क्या वह बहन उस साड़ी को बाजार में ही उतारकर उस महिला को दे सकती है ? कभी नहीं; सामाजिक मर्यादा, लज्जा आड़े आ जायेगी, वह उसे पहने रहेगी; किन्तु मन में यही विचार चलता रहेगा कि यह साड़ी इस महिला की है, मेरी नहीं है; कब घर पहुँचूँ और कब इस साड़ी को उतारकर इस महिला के घर भिजवाऊँ ।

दूसरा उदाहरण लीजिए –

एक युवती है । उसका विवाह हो गया; किन्तु अभी द्विरागमन (गौना) नहीं हुआ । पिता के घर रह रही है । किन्तु विवाह होते ही उसके मन में यह भावना जम गई कि यह (पिता का) घर मेंरा नहीं है, मेरा घर तो मेरे पति जहाँ रहते हैं, वह है ।

इस भावना के साथ ही उसकी वृत्तियाँ बदल गई । पिता का घर अब उसके मन–मस्तिष्क में पीहर (पराया) बन गया, उसकी अधिकार भावना कम हो गई, संकोच वृत्ति आ गई, सोचती है– माँ से अमुक वस्तु माँगू या नहीं, कहीं इंकार न कर दे ।

वह युवती पिता के घर रह रही हैं, हंसती है, बोलती है, खाती हैं, छोटे भाई–बहनों से प्यार भी करती हैं, माता–पिता की आज्ञा भी मानती है, सब काम करती है; किन्तु उसका मोह ममत्व कम हो गया, कल तक जिस घर को अपना मानती थी, वह पराया हो गया ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु अभी वह पति के घर जा नहीं सकती, क्योंकि गौना नहीं हुआ, पति लिवाने नहीं आया, निमित्त नहीं मिला ।

बस यही स्थिति सम्यक्त्वी की होती है । इसकी अन्तर रुचि तो व्रत ग्रहण की, अणुव्रत-महाव्रत स्वीकार करने की, संयम-साधना की है; किन्तु उसके व्रत ग्रहण में कुछ बाधक तत्व आड़े आए हुए हैं जिससे रुचि क्रियान्वित नहीं हो पाती ।

इन तत्वों में प्रथम और सबसे प्रभावशाली है अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी कषाय । जब तक इन कषायों का क्षयोपशम न हो तब तक वह अणुव्रत-महाव्रतों का पालन नहीं कर पता । यदि मौखिक रूप में स्वीकार भी कर ले तो भी आत्मा से उन गुणों का स्पर्श नहीं कर पाता ।

अन्य परिस्थितियाँ ऐसी हो सकती हैं जो सांसारिक अथवा सामाजिक दृष्टिकोण से आवश्यक हों । जैसे पारिवारिक उत्तरदायित्व, छोटे बच्चों का पालन-पोषण, सामाजिक तथा अन्य सभी प्रकार से दायित्व ।

अतः सम्यक्चारित्र क्रमभावी होता है ।

यह संभव है कि जीव सम्यक्त्व प्राप्त होते ही संयम-साधना के मार्ग पर चल पडे और यह भी संभव है कि संख्यात-असंख्यात वर्षों तक कोई भी व्रत-नियम ग्रहण न कर सके । किन्तु कभी न कभी संयम ग्रहण अवश्य करता है, क्योंकि सम्यक्त्व प्राप्त करते ही वह परीतसंसारी और शुक्लपक्षी बन जाता, अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्त काल तक संसार में रहता है और फिर अवश्य मुक्त हो जाता है ।

अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग हैं । यही इस सूत्र का अभिप्रेत है ।

आगम वचन -

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसेणं ।
भावेणं सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥ (-उत्तरा २९/१५)

(वास्तविक (तथ्यभूत) भावों से सद्भाव (अस्तित्व) के निरूपण में उसी भाव से (जैसे वे तत्त्व उपस्थित है, जैसा उनका स्वरूप है, उसी प्रकार यथातथ्य रूप से) उन तत्त्वों का श्रद्धान (रुचिपूर्वक विश्वास) करना, सम्यग्दर्शन हैं ।)

सम्यग्दर्शन का लक्षण -

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं । २ ।

अर्थ - तत्व (वस्तु स्वरूप) का अर्थ सहित (निश्चयपूर्वक) श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शन है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन – तत्त्व रूप से श्रद्धान करने का अभिप्राय भावपूर्वक निश्चय करना है । तत् शब्द सामान्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और उसमें 'त्व' प्रत्यय लगा है । अतः तत्त्व का अभिप्राय है पदार्थ का स्वरूप; अर्थ शब्द का प्रयोग निश्चय के लिए हुआ है । जैसा कि निरुक्त में कहा गया है – **'अर्थते निश्चीयते इति अर्थः'** अर्थात् जिसका निश्चय किया जाय वह अर्थ हैं । सरल शब्दों में – तत्त्वों/पदार्थों का उनके अपने-अपने स्वरूप के अनुसार जो श्रद्धान (भाव और रुचिपूर्वक निश्चय) होता है, वह सम्यग्दर्शन है ।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ द्रव्य और भाव (अर्थात् पर्याय) से समन्वित होता है । अतः पदार्थ का यथातथ्य ज्ञान द्रव्यदृष्टि एवं पर्यायदृष्टि दोनों ही प्रकार से विचार करने पर प्राप्त होता है । यहाँ द्रव्य का अभिप्राय है सामान्य और पर्याय का अर्थ है विशेष ।

अतः इस सूत्र का एक आचार्य ने यह भी अर्थ किया है कि तत्त्व का द्रव्य और भाव (अर्थ) दोनों ही प्रकार से भलीभाँति जानकर श्रद्धान (दृढ़ विश्वास) करना, सम्यग्दर्शन हैं ।

किसी भी वस्तु के बारे में भलीभाँति जानने के लिए सामान्य विशेष का यह सिद्धान्त सर्वव्यापी है । पश्चिमी जगत में इसे General & Special Theory सामान्य-विशेष विधि कहा जाता है । Spearman द्वारा प्रचलित इस विधि को संक्षेप में G. S. Theory कहते हैं और यह सभी पदार्थों को जानने में प्रयुक्त की जाती है ।

अतः संक्षेप में सम्यग्दर्शन का लक्षण इस प्रकार दिया जा सकता है

किसी भी पदार्थ (तत्त्व) अथवा (सूत्र ४ में वर्णित) सभी तत्त्वों का भलीभाँति (द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि दोनों से) जानकर श्रद्धान (निश्चय पूर्वक दृढ़ विश्वास) करना, सम्यग्दर्शन है ।

आगम वचन

सम्मद्दंसणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-
णिसग्गसम्मद्दंसणे चेव अभिगमसम्मद्दंसणे चेव ।

(-ठाणं, ठाण २, उ. १, सु. ७०)

(सम्यग्दर्शन दो प्रकार का होता है- एक, निसर्गज सम्यग्दर्शन और दूसरा, अभिगमज सम्यग्दर्शन।)

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के प्रकार-

तन्निसर्गादधिगमाद्वा । ३ ।

अथ -वह (सम्यग्दर्शन) दो प्रकार से प्राप्त होता है-एक स्वभाव से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(नैसर्गिक रूप से) और दूसरा पर (दूसरे) के निमित्त से । प्रथम निसर्गज-सम्यग्दर्शन कहलाता है और दूसरा अधिगमज।)

विवेचन – निसर्ग का अर्थ है परिणाम मात्र जो सम्यग्दर्शन जीव को स्वयं के परिणाम (आन्तरिक भाव) के निमित्त से उत्पन्न होता है, वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है । इसमें पर के उपदेश की अपेक्षा आवश्यकता नहीं होती ।

अधिगमज सम्यक्त्व वह कहलाता है, जिसमें पर अर्थात् किसी अन्य साधु-साध्वी, शास्त्र स्वाध्याय आदि निमित्त की अपेक्षा रहती है । दूसरे शब्दों में, अधिगमज सम्यक्त्व किसी दूसरे का निमित्त पाकर उत्पन्न होता है ।

सम्यक्त्व प्राप्ति की प्रक्रिया – (कर्मग्रन्थ के अनुसार) कर्म ग्रन्थों में, विशेष रूप से कर्मग्रन्थ २ (रचयिता देवेन्द्रसूरि) में विस्तार से सम्यक्त्व उत्पत्ति की प्रक्रिया समझाई गई है । इसके अनुसार, सम्यक्त्व-प्राप्ति के लिए पाँच लब्धियों का होना आवश्यक है ।

(१) **क्षयोपशमलब्धि** – जब आयु कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की स्थिति घटकर एक अन्तःकोटाकोटि सागरोपम प्रमाण रह जाती है, तब उन कर्मों के क्षयोपशम से आत्मा की वीर्यशक्ति प्रस्फुटित हो जाती है । संक्षेप में, आत्मा में सम्यक्त्व धारण की योग्यता उत्पन्न हो जाती है । यही क्षयोपशमलब्धि कहलाती है ।

(२) **विशुद्धिलब्धि** – क्षयोपशमलब्धि के उपरान्त आत्मा के परिणामों में भद्रता होना, विशुद्धिलब्धि कहलाती है ।

(३) **देशनालब्धि** – गुरु-उपदेश, शास्त्र-श्रवण आदि सुनने और समझने की क्षमता देशनालब्धि है ।

(४) **प्रायोग्यलब्धि** – संज्ञित्व, पर्याप्तता, आदि कर्म क्षयोपशम से उत्पन्न जीव की योग्यताएँ-क्षमाताएँ प्रायोग्यलब्धि हैं ।

(५) **करणलब्धि** – यह अन्तिम लब्धि है ।

आत्मा के परिणामों को 'करण' कहा जाता है । इन परिणामों के तीन क्रम हैं – (१) यथाप्रवृत्तिकरण (२) अपूर्वकरण और (३) अनिवृत्तिकरण ।

चारों लब्धियों और पाँचवीं लब्धि के यथाप्रवृत्ति तथा अपूर्वकरण; दो करण प्राप्त होने पर भी जीव को सम्यक्त्व नहीं प्राप्त हो पाता है किन्तु तीसरे करण-अनिवृत्तिकरण के प्राप्त होने पर जीव को अवश्य ही सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनिवृत्तिकरणरूप आत्मा के तीव्र परिणामों की शक्ति से मिथ्यात्व–मोह की ग्रन्थि टूट जाती है, साथ ही अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ–इन चारों कषायों का क्षय अथवा उपशम हो जाता है । मिथ्यात्व की ग्रन्थि टूटते ही या तो उसका संपूर्ण क्षय हो जाता है अथवा उसके तीन खण्ड हो जाते हैं– (१) मिथ्यात्वप्रकृति (२) मिश्रप्रकृति (३) सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति। मिथ्यात्व की इन तीन और अनन्तानुबन्धी चार–इन सातों प्रकृतियों को **'दर्शन सप्तक'** कहा जाता हैं ।

इस दर्शन सप्तक के क्षय, अथवा उपशम के अनन्तर सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है ।

निसर्गज और अधिगमज सम्यक्त्व उपलब्धि की प्रक्रिया में अन्तर

निसर्गज और अधिगमज दोनों ही प्रकार के सम्यक्त्व में अन्तरंग कारण तो समान हैं, दोनों में ही 'दर्शन सप्तक' का क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम होता है । यहाँ तक दोनों सम्यक्त्वों की प्राप्ति में समानता है ।

किन्तु अन्तर है केवल परनिमित्त निरपेक्षता और सापेक्षता का । निसर्गज सम्यक्त्व में बाहरी निमित्त नहीं पड़ता जबकि अधिगमज सम्यक्त्व में बाहरी निमित्त–यथा गुरु–उपदेश आदि पड़ता है ।

इस तथ्य को एक उदाहरण द्वारा यो स्पष्ट किया जा सकता है कि जिस प्रकार नदी में बहता हुआ नुकीला पत्थर रगड़ खाते–खाते स्वयं गोल हो जाता है, उसी प्रकार अनादि मिथ्यादृष्टि जीव भी संसार के अनेकविध कष्ट और संकट भोगते हुए स्वंय ही उसके परिणाम सम्यक्त्व–प्राप्ति के योग्य हो जाते हैं और बिना किसी उपदेश के ही उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जातीहै

किन्तु यहां यह जिज्ञासा प्रबल रूप से उठती है कि जिस जीव ने अनादि काल से आत्मा, पुद्गल, पुण्य–पाप आदि शब्द सुने ही नहीं, वह आत्मा के स्वभाव को, स्वरूप को कैसे जानेगा, कैसे उस पर श्रद्धा करेगा ? अरिहंत, सिद्ध, साधु, धर्म–अधर्म कुछ भी तो नहीं सुना उसने ।

इस जिज्ञासा का समाधान आचार्यअमृतचन्द्र सूरि ने तत्वार्थसार नामक ग्रन्थ में इस प्रकार किया है ।

भेदः साक्षादसाक्षाच्च– अर्थात् निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन की उपलब्धि में परोपदेश की अपेक्षा भेद केवल असाक्षात् और साक्षात् का ह।

इसका भाव यह है कि निसर्गज सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के समय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो देशना–धर्मोपदेश नहीं मिलता; किन्तु पहले कभी–किसी पूर्व जन्म में भी उसे धर्मोपदेश प्राप्त हो चुका होता है; यह बात दूसरी है कि उसने उस समय सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया और अब, जबकि साक्षात् गुरु से धर्म का उपदेश न सुनकर, किन्तु पहले सुने हुए धर्मोपदेश के संस्कारों के प्रभाववश, स्वंय ही अपने परिणाम से, निसर्ग रूप में उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाय यही निसर्गज सम्यक्त्व कहलाता है ।

'भेदः साक्षादसाक्षाच्च' का हार्द इस दृष्टान्त से स्पष्ट हो जायेगा

एक प्रौढ़ व्यक्ति है, ५० वर्ष की आयु है, उसके दाँत में या दाढ़ में दर्द हो रहा है, असह्य दर्द है, तड़प रहा है, बहुत दुःखी है, मन में एक ही इच्छा है, किसी तरह दर्द मिटे, चैन आये, शांति मिले ।

वेदना की तीव्रता ने उसके मन–बुद्धि को झकझोर दिया, नाड़ी संस्थान को उद्वेलित कर दिया, चेतना का प्रवाह पीछे की ओर चलने लगा, बडे तीव्र वेग से । अचानक ही उसके मस्तिष्क में कौंधा– जब मैं दस वर्ष का था, तब भी दाढ़ में ऐसा ही दर्द हुआ था । पिताजी नें लोंग का तेल लगा दिया था, दर्द ठीक हो गया था ।

उपाय मिल गया, उसका दर्द ठीक हो गया ।

इस समय उसके पिता भी नहीं हैं, वैद्य–डाक्टर भी नहीं है, कोई सलाह देने वाला भी नहीं है, उसे नैसर्गिक रूप से ४० साल पहले की घटना याद आगई, इसका दाँत का दर्द मिट गया ।

इसी प्रकार ४ या ४० लाख अथवा कितने ही जन्म पहले उसने किसी सद्गुरुदेव से, तीर्थंकर से धर्म का, आत्मा का स्वरूप सुना किन्तु उस समय ग्रहण नहीं किया, धर्म का स्पर्श नहीं हुआ । फिर किसी निमित्त से हजारों लाखों जन्मों के बाद भी वह धर्म सन्देश आत्मा में स्वयं ही नैसर्गिक रूप से उभर आया – ठीक उसी प्रकार जैसे सोमिल के हृदय में श्मशान में ध्यानस्थ मुनि गजसुकमाल के प्रति ९९ लाख भव पहले के वैर बंध के कारण क्रोध की ज्वाला धधक उठी थी ।

बस, यही साक्षात्–असाक्षात् धर्मोपदेश का रहस्य है ।

इसी प्रकार नैसर्गिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है ।

निसर्गज और अधिगमज सम्यकत्व के अतिरिक्त सम्यक्त्व के और भी भेद है । उनकी भी जानकारी यहाँ अपेक्षित है ।

सम्यक्त्व अथवा सम्यग्दर्शन के प्रमुख भेद हैं –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१) व्यवहार सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्दर्शन

(२) सराग एवं वीतराग सम्यग्दर्शन

(३) क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक सम्यग्दर्शन

(४) वेदक सम्यक्त्व

(५) सास्वादन सम्यक्त्व

(६) पौद्गलिक और अपौद्गलिक सम्यक्त्व

(७) द्रव्यसम्यक्त्व और भावसम्यक्त्व

(८) रुचि की अपेक्षा से निसर्गज आदि दस प्रकार का सम्यक्त्व

(९) कारक, रोचक, दीपक सम्यक्त्व

सम्यक्त्व के कितने भी भेद हों; पर उनकी उत्पत्ति का मूल कारण दर्शनसप्तक का क्षय, क्षयोपशम या उपशम ही है ।

वीतराग और निश्चय सम्यग्दर्शन एक ही बात है । यह भेद आध्यात्मिक अथवा आत्मिक परिणामों की मुख्यता की अपेक्षा से है ।

इस वीतराग अथवा निश्चयसम्यग्दर्शन का लक्षण इस प्रकार है –

शुद्ध जीवास्तिकायरुचिरूपस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य ।

– नियमसार गाथा ३ टीका

– शुद्ध आत्मा की ओर जीव की रुचि निश्चयसम्यक्त्व है ।

इसी प्रकार के अन्य लक्षण भी अन्य आचार्यों ने दिये हैं किन्तु सभी का हार्द आत्मरुचि–शुद्धात्मरुचि है ।

व्यवहार सम्यग्दर्शन के प्रमुख लक्षण दो हैं –

(१) तत्वार्थ श्रद्धान, जो स्वयं इसी ग्रन्थ का दूसरा सूत्र है और (२) दूसरा लक्षण है – सच्चे देव–गुरू–धर्म पर दृढ़ श्रद्धा[1] ।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक आचार्यों ने विभिन्न लक्षण दिये हैं, किन्तु सबका समावेश इन्हीं दो लक्षणों में हो जाता है ।

कारक सम्यक्त्व – इस सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जीव स्वयं तो दृढ़

---

१. अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इय समत्तं मए गहियं ॥ – **आवश्यक सूत्र**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रद्धावान बनकर सम्यक्यचारित्र का पालन करता ही है, साथ ही अन्यों को भी प्रेरणा देकर उन्हें भी सदाचरण में प्रवृत्त करता है ।

रोचक सम्यक्त्व – इसे प्राप्त जीवा स्वयं भी सिर्फ श्रद्धान ही कर पाता है, किन्तु तदनुकूल आचरण–सम्यक्चारित्र का पालन नहीं कर पाता। यह सिर्फ सम्यग्बोध की दशा है ।

दीपक सम्यक्त्व – का धारक जीव दीपक के समान होता है । जैसे दीपक के नीचे अंधेरा रहता है, उसी प्रकार इसे भी तत्वों के प्रति श्रद्धा नहीं होती; किन्तु इसे तत्वज्ञान बहुत होता है । यह तत्वों का विवेचन करके अन्य लोगों को तो सम्यक्त्वी बना देता है, वे लोग इससे लाभ उठा लेते हैं किन्तु यह स्वयं कोरा ही रह जाता हैं । उसका सम्यक्त्व केवल वाणीविलास तक ही सीमित रहता है ।

क्षायिक सम्यक्त्व – दर्शनसप्तक के क्षय होने से आत्मा में प्रस्फुटित होता है । इसकी विशेषता यह है कि एक बार प्राप्त होने के बाद यह नष्ट नहीं होता और **तच्चं भवं नाइक्कमइ**– इस मान्यता के अनुसार ऐसा जीव अधिक से अधिक ३ भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व – दर्शनसप्तक से छह प्रकृतियों के क्षय तथा सातवीं सम्यग्मिथ्यात्व नाम की प्रकृति का उपशम होने पर उपलब्ध होता है ।

इस सम्यक्त्व का काल ६६ सागरोपम का है । ऐसा जीव १५–१६ भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है । एक अपेक्षा से इसका उत्कृष्ट काल १३२ सागरोपम का भी माना गया है, किन्तु भव संख्या उतनी ही है ।

औपशमिक सम्यक्त्व – दर्शनसप्तक के उपशम होने से उपलब्ध होता है । उपशम का अर्थ है – दब जाना । जैसे एक गिलास में मिट्टी मिला जल भरा है । निर्मली (फिटकड़ी) आदि डालने से मिट्टी नीचे जम जाती है और जल निर्मल दिखाई देने लगता है, वही दशा औपशमिक सम्यक्त्व की है । किन्तु जैसे ही गिलास को धक्का लगा कि पुनः पानी गंदला हो जाता है, इसी प्रकार मिथ्यात्व अथवा अनन्तानुबन्धी कषाय का आवेश आते ही यह सम्यक्त्व भी विनष्ट हो जाता है ।

किन्तु इसकी इतनी विशेषता अवश्य है कि एक बार इसका स्पर्श करनेवाले जीव का संसार मात्र अर्द्ध पुद्गल परावर्तन शेष रह जाता है । इस सम्यक्त्व का काल मात्र एक मुहूर्त है । इसके उपरान्त या तो जीव को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, अथवा नीचे गिर जाता है । पतित होने की दशा में या तो अपनी शुद्ध श्रद्धा में मिथ्यात्व का अंश मिला लेता है, अथवा पुनः मिथ्यात्वी बन जाता है ।

वेदक सम्यक्त्व – जीव को उस समय प्राप्त होता है जब वह क्षायोंपशमिक सम्यक्त्व की भूमिका से ऊपर उठकर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर होता है । इस समय वह सम्यग्मिथ्यात्व नामक प्रकृति के शेष दलिकों का वेदन करके क्षय करता है । इस वेदन के आधार पर ही इसका नाम वेदक सम्यक्त्व पड़ा है ।

सास्वादन सम्यक्त्व – जब जीव औपशमिक अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का वमन (त्याग) करके मिथ्यात्व की ओर गिरता है, उस अंतराल में जब तक मिथ्यात्व का उदय न हो तब तक जो सम्यक्त्व का आस्वादन रहता है, वह सास्वादन सम्यक्त्व कहलाता है ।

उदाहरणार्थ, आम पेड़ की डाली से गिरा किन्तु अभी जमीन पर पहुंचा नहीं, गिर ही रहा है; बस यही दशा सास्वादन सम्यक्त्व की है, जीव सम्यक्त्व से छूट चुका है किन्तु मित्थात्व का स्पर्श नहीं हुआ, इस गिरावट के समय में होने वाले आत्म–परिणाम सास्वादन सम्यक्त्व नाम से अभिहित किये गय है।

इस सम्यक्त्व का काल छह आवलिका और ७ समय मात्र है ।

रूचि की अपेक्षा दस प्रकार का सम्यक्त्व – उत्तराध्ययन सूत्र (२८/१६) में दस रुचियों के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं –

निसग्गुवएसरुई, आणारुई सुत्तबीयरुइमेव ।
अभिगम–वित्थाररुइ, किरिया संखेव धम्मरुइ ॥

(१) निसर्ग रुचि, (२) उपदेश रुचि, (३) आज्ञा रुचि, (४) सूत्र रुचि, (५) बीज रुचि, (६) अभिगम रुचि, (७) विस्तार रुचि, (८) क्रिया रुचि, (९) संक्षेप रुचि, (१०) धर्म रुचि

इन रुचियों अथवा रुचिरूप सम्यक्त्व का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

(१) **निसर्ग रुचि** – परोपदेश के बिना ही सम्यक्त्व का आवरण करनेवाले कर्मों की विशिष्ट निर्जरा होने से समुत्पन्न होने वाली तत्वार्थ श्रद्धा

(२) **उपदेश रुचि** – अरिहन्त भगवान के अतिशय आदि को देखकर अथवा इनकी वाणी या उनके अनुयायी श्रमणों के वैराग्यवर्द्धक उपदेश

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुनकर उत्पन्न होने वाली तत्व रूचि ।

(३) **आज्ञा रुचि** – वीतराग अरिहंत देव तथा श्रमण संतों की आज्ञा की आराधना से होने वाली तत्व-रुचि ।

(४) **सूत्र रुचि** – अगंबाह्य तथा अंगप्रविष्ट श्रुत, शास्त्रों के तन्मयतापूर्वक अध्ययन से जीवादि तत्वों के श्रद्धान रूप होने वाली रुचि ।

(५) **बीज रुचि** – जिस प्रकार जल में तेल की बूँद फैल जाती हैं, उसी प्रकार जो सम्यक्त्व एक पद (तत्त्वबोध) से अनेक पदों में फैल जाता हैं, वह बीज रुचि रुप सम्यक्त्व है ।

(६) **अभिगम रुचि** – अंगोपांगों (ग्यारह अंग, प्रकीर्णक, दृष्टिवाद आदि श्रुतज्ञान) के अर्थ रूप ज्ञान को अर्थ सहित जानने से और अन्यों को ज्ञानाभ्यास कराने से होनेवाला तत्त्व रुचि रुप सम्यक्त्व ।

(७) **विस्तार रुचि** – छह द्रव्य नौ तत्व, द्रव्य-गुण-पर्याय, प्रमाण, नय-निक्षेप आदि का विस्तारपूर्वक अभ्यास करने से होने वाला विस्तार रुचि रूप सम्यग्दर्शन ।

(८) **क्रिया रुचि** – दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य समिति, गुप्ति आदि क्रियाओं में भावपूर्वक रुचि क्रिया रुचि कहलाती है ।

(९) **संक्षेप रुचि** – अल्पज्ञान से होने वाली रुचि । ऐसे जीव की विशेषता है कि यद्यपि उसे विशेष ज्ञान नहीं होता फिर भी इसमें हठाग्रह और कदाग्रह का अभाव होता है ।

(१०) **धर्म रुचि** – वीतराग भगवान द्वारा प्ररूपित श्रुतधर्म और चारित्रधर्म में श्रद्धा करना धर्मरुचिरूप सम्यक्त्व हैं ।

इस दस रुचि रूप सम्यक्त्व को सराग सम्यग्दर्शन के अंतर्गत बताया गया है । जैसा कि इस पाठ से स्पष्ट हैं –

दसविहे सराग सम्मद्दंसणे पण्णत्ते, तं जहा–

निसग्गुवएसरुइ आणारुइ सुत्त-बीयरुइमेव ।

अभिगम वित्थाररुई, किरिया संखेव धम्मरुई ॥

–स्थानांग १०।३।७५१)

सराग सम्यग्दर्शन का अभिप्राय क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन से है ।

सम्यग्दर्शन की विशुद्धि

सम्यग्दर्शन मोक्ष का मूल है । इसी के कारण ज्ञान और चारित्र भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक् होते हैं तथा मोक्ष के साधनभूत उपाय बनते हैं । अतः निर्दोष अथवा विशुद्ध सम्यग्दर्शन का स्वरूप भली भाँति जान लेना आवश्यक है ।

ग्रंथों में कहा गया है कि २५ दोषों से रहित सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है । एक श्लोक में इन २५ दोषों का उल्लेख इस प्रकार है –

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ, तथाऽनायतनानि षट् ।
अष्टौ शंकादयश्चेति, दृग्तोषा पंचविंशतिः ॥

– ३ मूढ़ताएँ, ८ मद, ६ अनायतन और ८ शंकादि दोष–ये सम्यग्दर्शन के २५ दोष हैं ।

आठ शंकादि दोष

शंकादि दोषों के विपरीत सम्यक्त्व के आठ अंग भी माने जाते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मैल निकल जाने से वस्त्र में उज्ज्वलता या सफेदी आती है और उससे शुभ्रता–चमक बढ जाती है, उसी प्रकार दोषों के निकल जाने से सम्यक्त्व में जो विशुद्धि आती है, वह आठ गुणों अथवा अंगों के रूप में प्रगट होती है । इसी रूप में आत्मा इन अंगों का अनुभव करता है ।

जिस प्रकार शरीर के आठ मुख्य अंग हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्व के ये आठ अंग भी प्रमुख हैं । जैसे शरीर में आँख, नाक आदि एक भी अंग की कमी होने से शरीर की सुन्दरता एवं उपयोगिता ही कम हो जाती है उसी प्रकार सम्यक्त्व का एक भी अंग कम होने से सम्यक्त्व की महिमा और उसकी तेजस्विता क्षीण हो जाती है ।

इसी कारण अनेक ग्रंथों में इन अंगों का वर्णन किया गया है ।

उत्तराध्ययन सूत्र (२८/३१) में इन अंगों के नाम इस प्रकार हैं –

निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववूह थिरीकरणे वच्छल–पभावणे अट्ठ ॥

(१) **निस्संकिय** (निःशंकता) – इसका अभिप्राय है, तीर्थंकरों के वचनों में, देव–शास्त्र–गुरू के स्वरूप में किसी प्रकार की भी शंका न करना। शंका के दो अर्थ किये गये हैं –१. संदेह तथा २. भय ।

यदि गहराई से देखा जाय तो भय भी शंका से ही उत्पन्न होता है, तथा यह अविश्वास का द्योतक है । भय उसी व्यक्ति को होता है, जिसे अपनी आत्मशक्ति तथा कर्मसिद्धान्त के प्रति पूरा विश्वास नहीं होता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव पूर्ण रूप से आत्मविश्वासी होता है, उसके हृदय में न अपनी आत्म-शक्ति के प्रति शंका होती है और न जिन प्रवचनों के प्रति।

समयसार (गाथा २२८) में भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये गये है -

सम्मद्दिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया चेव ।

- सम्यग्दृष्टि जीव निर्भय और शंकारहित होते हैं ।

स्थानांग सूत्र (स्थान ७) में भय के सात प्रमुख भेद बताये हैं ।

(१) **इहलोकभय** - इस लोक अर्थात् सजातीय मानव-समाज से - स्वजन, शत्रु आदि से भयभीत होना ।

(२) **परलोकभय**-विजातीय, पशु, पक्षी, देव आदि से भयभीत रहना।

(३) **अत्राणभय** - सम्यक्त्वी संसार में पुत्र आदि परिवारीजनों, धनसम्पत्ति आदि भौतिक वैभव को कभी अपना रक्षक या त्राता नहीं मानता, इसीलिए उसे अत्राण भय नहीं सताता । वह तो अपनी आत्मा, पंचपरमेष्ठी और धर्म की शरण ग्रहण करके सदा निर्भय रहता है ।

अत्राणभय में ही आजीविका अथवा आदानभय भी गर्भित है। सम्यक्त्वी जीव इस बात का भय नहीं करता कि नौकरी छूट जायेगी तो क्या होगा, अथवा व्यापार में नुकसान हो जायेगा तो क्या होगा ? क्योंकि उसे कर्मों पर पूरा विश्वास होता है, जानता है-अन्तराय आयेगी तो नौकरी भी छूटेगी और व्यापार में भी नुकसान होगा और जब अन्तराय टूटेगी, पुण्य का उदय होगा तो स्वयमेव आजीविका के साधन बनेंगे, धनागम होगा यानि कि संकट की घड़ियों में भी उसका आत्म-विश्वास डगमगाता नहीं ।

(४) **अकस्मात् भय** - मानव जीवन में एक्सीडेंट आदि अचानक ही दुखदायी घटनाएँ हो जाती हैं । किन्तु ऐसी घटनाओं की पूर्वकल्पना करके सम्यक्त्वी जीव कभी भयभीत नहीं होता । किसी प्रकार की अनागत की दुष्कल्पना से वह विचलित नहीं होता ।

उसके मस्तिष्क में यह विचार ही नहीं आते कि कहीं एक्सीडेंट न हो जाय, कहीं कोई पाकिटमार मेरी जेब साफ न कर दे, चोर-डाकू मेरे धन का अपहरण न कर लें, अन्य कोई आकस्मिक घटना न हो जाय ।

(५) **वेदनाभय** - वेदना अथवा पीड़ा किसी शारीरिक-मानसिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याधि अथवा रोग से उत्पन्न होती है। पीड़ा की आशंका से मिथ्यात्वी भयभीत रहता है, किन्तु सम्यक्त्वी ऐसा भय नहीं पालता । वह जानता है अशुभ कर्म या असाता के उदय से वेदना होती है । अतः वह अधिकतर शुभ कर्म ही करता है । फिर भी यदि पूर्वकर्मों के कारण वेदना हो भी जाय तो हर समय उसी का चिन्तन करके आर्तध्यान नहीं करता, अपितु समभावों से उसे भोगकर कर्मों की निर्जरा कर लेता है । सम्यक्त्वी सहिष्णु होता है ।

(६) **अपयश या अश्लोकभय** – यद्यपि सम्यक्त्वी मनुष्य ऐसा कोई कार्य नहीं करता जिससे समाज में उसकी निन्दा हो, किन्तु फिर भी यदि लोग ईर्ष्या अथवा द्वेषवश उसकी निन्दा करते हैं तो उस निन्दा से वह भयभीत भी नहीं होता और नही उन लोगों को प्रसन्न करने के लिए वह अपनी शुद्ध श्रद्धा के विपरीत कोई आचरण करता है । वह किसी से प्रशंसा पाने की इच्छा भी नहीं करता और निन्दा से डरता भी नहीं, दोनों ही स्थितियों में समताभाव रखने का प्रयास करता है ।

(७) **मरणभय** – सांसारिक दृष्टि से मरण का भय सबसे बड़ा ह। संसार का कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता, मृत्यु से सदैव भयभीत रहता है, मृत्यु उसे महाभयंकर मालूम होती है ।

मृत्युभय का मूल कारण है–शरीर के प्रति आसक्ति, जीने का मोह । जीव अपने शरीर को अपने से अभिन्न मानता है । इसीलिए उसे शरीर छोड़ने में घोर कष्ट होता है ।

किन्तु सम्यक्त्वी तो शरीर को आत्मा से अलग मानता है। वह मानता है कि मेरी आत्मा अजर, अमर, शाश्वत है और शरीर विनाशधर्मा है । इसके साथ मेरा संयोग तभी तक है, जब तक आयु कर्म की स्थिति है; ज्यों ही आयु पूरी हुई कि यह शरीर छूट ही जायेगा, फिर मृत्यु का भय क्यों करना, इससे क्यों डरना ?

सम्यक्त्वी मृत्यु से डरता नहीं, अपितु वीर योद्धा की भाँति उसका स्वागत करता है । इसका कारण यह है कि सम्यक्त्वी जीव अपने सम्यक्त्व के बल पर जीवन–कला और मृत्यु–कला दोनों को ही भली भाँति जानता है ।

वास्तविकता यह है कि यह सातों भय शरीरासक्ति के कारण होते हैं और सम्यक्त्वी शरीरासक्ति से मुक्त रहते की साधना करता है, इसलिए वह निःशंक और निर्भय रहता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निःशंक होना सम्यक्त्व का मूल आधार है और इस गुण से निर्भयता की भावना स्वतः उद्भूत एवं दृढ़ होती हैं ।

(२) **निक्कंखिय** (निष्कांक्षता) – अन्य दर्शनों के आडम्बर–वैभव आदि से आकर्षित होकर उन्हें स्वीकार करने की इच्छा न करना तथा अपने धर्माचरण के फलस्वरूप इस लोक अथवा परलोक के भौतिक सांसारिक सुखों की इच्छा न करना ।

(३) **निव्वितिगिच्छा** (निर्विचिकित्सा)– अपने द्वारा आचरित धर्म के फल में सन्देह नहीं करना कि मुझे अमुक धर्मक्रिया का फल मिलेगा या नहीं और रत्नत्रय की साधना से शुचिभूत पवित्र–साधुओं के मलिन वस्त्र व शरीर को देखकर जुगुप्सा न करना तथा देव–गुरु–धर्म की निन्दा न करना–यह सम्यक्त्व का तीसरा निर्विचिकित्सा अंग है ।

(४) **अमूढदिट्ठि** – इसका अभिप्राय है – मोहमुग्ध दृष्टि या विश्वास न रखना । मूढ़ता का अर्थ मुग्धता अथवा मूर्खता दोनों ही हैं । संसाराभिनन्दी जीव ऐसी अनेक मूर्खताओं में मुग्ध बना रहता है । कुछ प्रमुख मूढ़ता इस प्रकार है –

(क) **देवमूढ़ता** – राग–द्वेषयुक्त देवों की उपासना करना, उनके निमित्त हिंसा आदि पाप करना ।

(ग) **गुरुमुढ़ता** – निन्द्य या पतित आचार वाले साधुओं को गुरु मानना ।

(ख) **लोकमूढ़ता**– लोक प्रचलित कुप्रथाओं, कुरूढ़ियों का पालन धर्म समझकर करना, जैसे गंगा में स्नान करने पर पाप धुल जाते हैं आदि ।

(घ) **शास्त्रमूढ़ता** – हिंसा, इन्द्रिय–विषय, जुआ, चोरी, राग–द्वेषवर्धक असत्य कल्पना वाले ग्रन्थों को धर्म शास्त्र समझना ।

(च) **धर्ममूढ़ता** – आडम्बर, डोंग, प्रपंचयुक्त धर्मों को सच्चा तथा कल्याणकारी, मोक्षदायी धर्म मानना ।

(५) **उववूहण (उपवृहण अथवा उपगूहन)** – गुणीजनों के गुणों की प्रशंसा करना, उनके प्रति प्रमोद भाव रखना तथा अपने गुणों को यथासंभव गुप्त रखना, उनका प्रचार न करना ।

(६) **थिरीकरण (स्थिरीकरण)** – सम्यक्त्व अथवा चारित्र से डिगते हुए साधर्मी भाइयों को धर्म में पुनः स्थिर करना तथा स्वयं अपनी आत्मा के परिणाम भी यदि पर–भावों, राग–द्वेष रूप परिणमें तो उनका पुनः आत्म–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भाव में स्थिर करना, अपनी आत्मा का स्थिरीकरण है ।

(७) **वच्छलता (वात्स्ल्य)** – साधर्मी भाइयों के प्रति निःस्वार्थ स्नेहभाव रखना, जीव मात्र के प्रति करुणा व निजत्व की अनूभूति करना । जैसे गौ अपने वत्स (बछड़े) के प्रति स्नेह रखती है उसी प्रकार अपनी आत्मा के हितकारी ज्ञान–दर्शन–चारित्र आदि भावों के प्रति विशेष अनुराग रखना स्वात्म–वत्सलता है ।

(८) **पभावणा (प्रभावना)** – धर्म एवं संघ की उन्नति/अभ्युदय के लिए चिन्तन करना, ऐसे प्रयत्न करना जिससे धर्म का प्रचार हो, अन्य लोग प्रभावित हों तथा रत्नत्रय की प्रकृष्ट भावना से अपनी आत्मा को भावित प्रभावित करना ।

(इन आठों अंगों से सम्यक्त्व को शक्तिशाली बनाया जा सकता है)

आठ मद

१. कुल (पितृपक्ष), २. जाति (मातृपक्ष), ३. बल (शारीरिक मानसकि–बौद्धिक शक्ति), ४. रूप (शरीर सौन्दर्य), ५. लाभ (अधिक वस्तु की प्राप्ति), ६. वैभव (ऐश्वर्य आदि सामग्री तथा पूर्वजों द्वारा संचित धन, रत्न आदि), ७. तप और ८. ज्ञान–इन बातों का तथा अन्य किसी भी उपलब्धि का घमंड सम्यक्त्वी नहीं करता । यदि उसे किसी बात का गर्व हो जाता है तो वह सम्यक्त्व का मल अथवा दोष बन जाता है । सम्यक्त्वी गंभीर होता है उसमें छिछोरापन नहीं होता ।

कर्मसिद्धान्त के अनुसार स्थिति यह है कि सम्यक्त्वी नीच गोत्र का बन्ध नहीं करता और अभिमान से नीच गोत्रकर्म का बन्ध होता है। अतः इस तथ्य को जानकर सम्यक्त्वी कभी भी गर्व नहीं करता ।

(लौकिक दृष्टि से भी अभिमान पतन का कारण है)।

षट् अनायतन

आयतन का अर्थ होता है–आश्रयस्थान अथवा संग–साथ, तथा अनायतन का अर्थ इसका विलोम उलटा है अर्थात् जो आश्रय स्थान नहीं है । सम्यक्त्वी के लिए शास्त्रों में ऐसे ६ अनायतन – आश्रय न लेने योग्य स्थान बताये गये हैं –

(१) मिथ्यादर्शन (२) मिथ्याज्ञान (३) मिथ्याचारित्र और इन तीनों के अनुयायी – (४) मिथ्यादर्शनी (५) मिथ्याज्ञानी (६) मिथ्याचारित्री ।

सम्यक्त्वी को न तो इनकी प्रशंसा ही करनी चाहिए और यहां तक कि इनका साथ भी छोड़ देना चाहिए, अन्यथा संगति–दोष से उसके सम्यक्त्व के दूषित होने की संभावना हो सकती है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन २५ मल-दोषों से अपने सम्यक्त्व को बचाकर उसे विशुद्ध रखना सम्यक्त्वी का परम कर्तव्य है । विशुद्ध सम्यग्दर्शन तीर्थकर गोत्र बंधने का निमित्त भी बनता है ।

(देखिये तालिका पृष्ठ २७ से ३० पर)

सम्यक्त्व के बाह्य लक्षण

कोई मनुष्य सम्यक्त्वी है या नहीं, यह उसके बाह्य व्यवहार से भी जाना जा सकता है ।

तथ्य यह है कि सम्यक्त्व के प्रभाव से आत्मा में जों आंतरिक परिवर्तन होते हैं, वृत्ति-प्रवृत्ति-रुचियों में जो अन्तर आता है, वह उसके बाह्य व्यवहार में परिलक्षित होने लगता है । शास्त्रों में ऐसे पांच प्रमुख लक्षण बताये गये हैं - (१) प्रशम, (२) संवेग, (३) निर्वेद, (४) अनुकम्पा और (५) आस्तिक्य ।

(१) **प्रशम** - 'शम' शब्द प्राकृत के 'सम' शब्द का संस्कृत रूपान्तर है । प्राकृत 'सम' के संस्कृत में तीन रूप बनते हैं - सम, शम और श्रम।

'सम' का अभिप्राय है समता, सभी प्राणियों को अपने ही समान समझना । 'शम' का अभिप्राय क्रोधादि कषायों का निग्रह, उनकी ओर रुचि का अभाव तथा मिथ्याग्रह, दुराग्रह का शमन और सत्यग्राही मनोवृति का निर्माण । 'श्रम' यहां पुरुषार्थ और परिश्रम दोनों ही रूपों को द्योतित करता है । सम्यक्त्वी अपनी आत्मा की उन्नति के लिए किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा न करके, स्वयं ही पुरुषार्थ करता है और परिश्रम करके मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होता है ।

सम्यक्त्वी में 'सम' शब्द से द्योतित तीनों गुण होते हैं ।

(२-३) **संवेग और निर्वेद** - संवेग का अभिप्राय है - मोक्ष प्राप्ति की इच्छा, आत्म-परिणामों का वेग मोक्ष-मार्ग की ओर होना तथा निर्वेद संसार एवं सासंसारिक क्रिया-कलापों की ओर विमुखता-अरुचि का भान कराता ह।

सम्यक्त्वी भी सांसारिक क्रियाओं को कर्तव्य समझकर करता हैं, उसकी आंतरिक रुचि उधर नहीं होती, अपितु उसके हृदय में तो सदैव अपनी मुक्ति की भावना चलती रहती है ।

(४) **अनुकम्पा** - अन्य पीड़ित प्राणियों को देखकर सम्यक्त्वी के हृदय में कम्पन हो उठता है, वह उनकी पीड़ा मिटाने का प्रयास करता है, चाहता है, यह सुखी हो ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International

For Personal & Private Use Only

www.jainelibrary.org

विशुद्ध सम्यग्दर्शन (दर्शनविशुद्धि)

अष्ट अंग	मदरहितता	छह अनायतन	अमूढ़ता	अतिचार रहितता
१. निःशंकित	१. जातिमदवर्जन	कुदेव मान्यता त्याग	देवमूढ़ता त्याग	१. शंकारहितता
२. निष्कांक्षित	२. कुल मदवर्जन	कुगुरु मान्यता त्याग	गुरुमूढ़ता त्याग	२. कांक्षारहितता
३. निर्विचिकित्सा	३. बल मदवर्जन	कुधर्मसेवन त्याग	लोकमूढ़ता त्याग	३. दुगंछारहितता
४. अमूढ़दृष्टित्व	४. रूप मदवर्जन	कुदेवानुयायी संसर्ग बर्जन		४. परपषंडप्रशंसा त्याग
५. उपगूहनत्व	५. लाभ मदवर्जन	कुगुरुअनुयायी संसर्ग वर्जन		५. परपाषंडसंस्तुति त्याग
६. स्थिरीकरण	६. ऐश्वर्य मदवर्जन	कुधर्म अनुयायी संसर्ग वर्जन		
७. वत्सलता	७. ज्ञान मदवर्जन			
८. प्रभावना	८. तपस्या मदवर्जन			

सम्यग्दर्शन शुद्धि के निमित्त (६७ बोल)

(आधार–सम्यक्त्वसत्तरी, पृ. १३८
धर्मसंग्रह, अधि. १, गुण. १३)

(१) श्रद्धा (४)

१. परमार्थ संस्तव
२. परमार्थ सेवना
३. सम्यक्त्वभ्रष्ट परिहार
४. मिथ्यादर्शनी परिहार

(२) लिंग (३)

१. परमागम शुश्रूषा
२. धर्मसाधना में उत्कृष्ट अनुराग
३. गुरू वैयावृत्य नियम

(३) विनय (१०)

१. अरिहंत विनय
२. अरिहंतप्ररुपितधर्म विनय
३. आचार्य विनय
४. उपाध्याय विनय
५. स्थविर विनय
६. कुलविनय
७. गणविनय
८. संघविनय
९. धार्मिकक्रिया विनय
१०. साधर्मिक विनय

(४) शुद्धि (३)

१. मनशुद्धि
२. वचनशुद्धि
३. कायशुद्धि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शन शुद्धि के निमित्त (६७ बोल)

क्रमशः

(५) दूषण (अतिचार) (५)

१. शंका
२. कांक्षा
३. विचिकित्सा
४. मिथ्यादृष्टि प्रशंसा
५. मिथ्यादृष्टि संस्तव

(६) प्रभावना (८)

१. प्रवचन द्वारा
२. धर्मकथा द्वारा
३. वादशक्ति द्वारा
४. निमित्तज्ञान द्वारा
५. तपस्या द्वारा
६. विद्याबल द्वारा
७. सिद्धि द्वारा
८. कवित्व शक्ति द्वारा

(७) भूषण (५)

१. जिनशासन कुशलता
२. प्रभावना
३. तीर्थसेवना
४. स्थिरता
५. भक्ति

(८) लक्षण (५)

१. उपशम
२. संवेग
३. निर्वेद
४. अनुकंपा
५. आस्तिक्य

(९) यतना (५)

१. वन्दना
२. नमस्कार
३. दान
४. अनुप्रदान
५. आलाप
६. संलाप

(१०) आगार (७)

१. राजाभियोग
२. गणाभियोग
३. बलाभियोग
४. देवाभियोग
५. गुरुनिग्रह
६. वृत्तिकान्तार

(११) भावानाएँ (६)

१. सम्यग्दर्शन धर्म रूपी वृक्ष का मूल है
२. " " " नगर का द्वार है
३. " " " महल की नींव है
४. " " " धार्मिक जगत का आधार है
५. " " " धर्मरूपी वस्तु को धारण करने का पात्र है
६. " " गुणरत्नों को रखने की निधि है

(१२) स्थानक (६)

१. आत्मा है
२. आत्मा नित्य है
३. आत्मा अपने कर्मों का कर्ता है
४. आत्मा कृतकर्मों के फल का भोक्ता ह
५. आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है
६. मुक्ति का उपाय है

इसी प्रकार वह अपनी आत्मा के भाव राग-द्वेष कषायों के प्रवाह में बहते देखकर कंपित हो उठता है, जानता है ये भाव मेरी आत्मा के लिए दुःख के कारण हैं, अतः वह अपनी निज की परिणति को कषायों से हटाकर, स्वात्मभाव में लगाता हैं । यह उसकी स्वात्म अनुकंपा अथवा स्वदया है ।

(५) **आस्तिक्य** – इसका अभिप्राय है अस्तित्व अथवा सत्ता में विश्वास करना, किन्तु वह अस्तित्व मिथ्या, कल्पना की उड़ान मात्र न हो, सत्य हो, तथ्य हो, वास्तविक हो ।

आस्तिक्य गुण को पूरी तरह प्रगट करने के लिए आचारंग (१।१) में एक सूत्र आया हैं –

से आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी ।

– वह जीव आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी, क्रियावादी होता है ।

सम्यक्त्वी लोक-परलोक, पुनर्जन्म, आत्मा-परमात्मा, आस्त्रव बंध मोक्ष आदि तत्वों के बारे में जिन-प्रणीत सिध्दांतो दृढ विश्वास एवं आस्था करता है यही उसका आस्तिक्य गुण है । इस प्रकार सम्यक्त्व के क्षायिक, औपशामिक, क्षायोपशमिक, वीतराग, सराग, निश्चय, व्यवहार, पौद्गलिक, अपौद्गलिक आदि अनेक भेद हैं, किन्तु प्रमुख भेद दो ही हैं – निसर्गज और अधिगमज । शेष सभी प्रकार इन्ही के उपभेद हैं । इसीलिए आचार्य ने सूत्र में इन दो का ही नाम गिनाया हैं, इन्ही दो में सभी प्रकार के सम्यक्त्व गर्भित हो गये हैं ।

आगम वचन –

जीवाजीवा य बन्धो य पुण्णं पावासवो तहा ।
संवरो निज्जरा मोक्खो सन्तेए तहिया नव ।

– उत्तरा. २८/१४

(जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्त्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष – यह नौ तत्व है ।)

नव सब्भावपयत्था पण्णत्ता, तंज हा–
जीवा अजीवा पुण्णं पावं आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खा।

– ठाणं. ठा. ९, सु. ६६५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(सद्भाव पदार्थ नौ प्रकार के कहे गये हैं – (१) जीव, (२) अजीव, (३) पुण्य, (४) पाप, (५) आस्त्रव, (६) संवर, (७) निर्जरा, (८) बंध और (९) मोक्ष ।)

तत्वों के नाम –

जीवाजीवास्त्रव–बंध–संवर–निर्जरा–मोक्षास्तत्त्वम् ।४।

(१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्त्रव, (४) बंध, (५) संवर, (६) निर्जरा, (७) मोक्ष–यह सात तत्त्व है ।

विवेजन – आगम में ९ तत्त्व अथवा पदार्थ बताये हैं; जबकि प्रस्तुत सूत्र में इनकी संख्या ७ दी गई है । इनमें मौलिक भेद कुछ भी नहीं हैं। कथन शैली का ही भेद है ।

सूत्र की रचना संक्षिप्त शैली में होती है अतः पुण्य और पाप दो पदार्थों को आस्त्रव में गर्भित कर लिया गया है ।

सात और नौ तत्त्वों (पदार्थों) के लिए इन दो संख्याओं का व्यवहार आगमानुमोदित है ।

नौ तत्त्व कहे जायें अथवा नौ पदार्थ, या सात तत्त्व ही कहे जायें सभी का वाच्यार्थ समान है, कोई अन्तर नहीं है ।

(१) **जीव** – इसका लक्षण चेतना है, अर्थात् जिसमें चेतना है, वह जीव है ।

(२) **अजीव** – जिसमें चेतना का अभाव है, वह अजीव कहलाता है । अजीव तत्त्व पांच हैं – (१) पुद्गल, (२) धर्म, (३) अधर्म, (४) आकाश और (५) काल । इनमें से पुद्गल रुपी (रूपवान) है और शेष सब अरूपी हैं । रूपी का अभिप्राय हैं जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण हो।

(३) **आस्त्रव** – शुभाशुभ कर्मों के आने के द्वार को आस्त्रव कहते है ।

(४) **बंध** – आत्मा के प्रदेशों में कर्म–दलिकों का प्रवेश हो जाना, सम्बद्ध हो जाना बन्ध है ।

(५) **संवर** – आस्त्रवों (कर्मों के आगमन) का रुकना।

(६) **निर्जरा** – आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्मदलिकों का फल देकर पृथक् हो जाना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(७) **मोक्ष**– समस्त कर्मों का आत्मा से सर्वथा पृथक् हो जाना । इस सात तत्त्वों का ही इस ग्रंथ में विवेचन हुआ है ।

अजीव आदि तत्त्वों को जानने की उपयोगिता – यहां कोई व्यक्ति प्रश्न उठा सकता है कि ग्रंथकार ने तो मोक्षमार्ग बताने की प्रतिज्ञा की है, जीव का लक्ष्य भी मुक्ति–प्राप्ति है फिर वह पुद्गल आदि अजीव तत्त्व तथा आस्त्रव, बंध आदि की चर्चा में क्यों समय बर्बाद करें, सीधी अध्यात्म, साधना करके क्यों न मुक्ति प्राप्त कर ले ।

इस प्रश्न का समाधान सम्यक्त्व के अमूढ़दृष्टि अंग से मिल जाता है। अमूढ़दृष्टि का अभिप्राय है, त्यागने योग्य, जानने योग्य और ग्रहण करने योग्य (हेय, ज्ञेय, उपादेय) का यथार्थ ज्ञान होना ।

(जब व्यक्ति हेय, ज्ञेय, उपादेय तत्त्वों को जानेगा ही नहीं तो ग्रहण और त्याग भी कैसे कर सकेगा)? उसकी विवेक दृष्टि कैसे निर्मल होगी ? विवेक के बिना वह धर्म की, आत्मा की साधना भी कैसे कर सकेगा ?

इसी दृष्टिकोण से इन तत्त्वों की उपयोगिता है । यही हेतु है – इनके विवेचन वर्णन का ?

आगम वचन –

जत्थ य जं. जाणेज्ञा निक्खेवं निक्खिवें निरवसेसं ।
जत्थ वि अ न जाणेज्ञा चउक्कगं निक्खिवं तत्थ ॥
आवस्सयं चउविहं पण्णत्तं, तं जहा–
नामावस्सयं. ठवणावस्सयं, दव्वावस्सयं, भावावस्सयं ।

–अनुयोगद्वार सूत्र, सूत्र ८

– जिसका ज्ञान हो उसे पूर्ण रूप से निक्षेप के रूप में रखे । किन्तु यदि किसी का ज्ञान न हो तो उसका भी निम्न चार प्रकार से वर्णन करे ।

आवश्यक चार प्रकार के कहे गये हैं – (१) नामावश्यक, (२) स्थापनावश्यक, (३) द्रव्यावश्यक, और (४) भावाश्यक ।

निक्षेपों के नाम –

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यास : । ५ ।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से इन सात तत्त्वों और सम्यग्दर्शनादि का न्यास अर्थात लोकव्यवहार होता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन – न्यास अथवा निक्षेप वस्तु–तत्त्व के कथन तथा हृदयंगम करने की एक शैली है । इससे वस्तु का स्वरूप भली भाँति समझ में आ जाता है ।

न्यास अथवा निक्षेप का शाब्दिक अभिप्राय 'रखना' अथवा उपस्थित करना' या 'वर्णन करना' है । जैन शास्त्रों में वस्तु का वर्णन करने के चार प्रकार बताये हैं । वे ही ये चारों न्यास अथवा निक्षेप हैं ।

(१) **नाम निक्षेप** – गुण आदि का विचार किये बिना किसी वस्तु या व्यक्ति को संबोधित करने अथवा व्यवहार चलाने के लिए जो संकेत निश्चित कर दिये जाते हैं, वे नाम निक्षेप कहलाते हैं । जैसे किसी बालक की चार भुजाएँ नहीं किन्तु उसका चतुर्भुज नाम रख देना, अथवा अन्धे का नाम नयनसुख रख देना ।

(२) **स्थापना निक्षेप** – इसमें व्यक्ति या वस्तु की प्रतिकृति अथवा असली वस्तु व्यक्ति का आरोप किया जाता है । इस अपेक्षा से इसके दो भेद हैं (१) तदाकार स्थापना (२) अतदाकार स्थापना ।

तदाकार स्थापना मूर्ति अथवा चित्र को कहते हैं और अतदाकार स्थापना मे व्यक्ति अपने मन से इष्ट का आरोप कर लेता है । उदाहरणार्थ, गोल पत्थर को शालिग्राम मान लेना अतदाकार स्थापना है और श्रीकृष्ण, श्रीराम, गांधीजी आदि के चित्र अथवा मूर्तियां तदाकार स्थापना है ।

(३) **द्रव्य निक्षेप** – इसमें भूत अथवा भविष्य काल को घटनाओं या स्थितियों की प्रमुखता होती है। उदाहरणार्थ, इन्जीनियरिंग के छात्र को इन्जीनियर कहना अथवा जो व्यक्ति पहले सेना में कर्नल रह चुका है उसे कर्नल कहना ।

(४) **भाव निक्षेप** – इसमें वर्तमान पर्याय की प्रमुखता होती है; जैसे– लकड़ी को लकड़ी कहना, जलकर जब वह कोयला बन गई तब कोयला कहना, और कोयला भी जब राख बन जाये तब राख कहना ।

यह चारों भेद ज्ञेय पदार्थ की अपेक्षा से हैं ।

आगम वचन –

दव्वाणं सब्भावा, सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धा ।
सव्वाहिं नयविहीहिं, वित्थाररुइ त्ति नायव्वो ॥

– उत्तरा. २८/२४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

((जिसमें) द्रव्यों के सब भाव सब प्रमाणों और सब नयों से ज्ञात कर लिए हैं, (उसको) विस्तार रुचि जानना चाहिए ।

तत्त्वज्ञान के साधन –

प्रमाणनयैरधिगमः । ६ ।

प्रमाण और नयों से (तत्त्वादि का विस्तारपूर्वक) ज्ञान प्राप्त होता है।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में तत्त्वादि तथा सम्यग्दर्शनादि को जानने के दो साधन बताये गये हैं – प्रमाण और नय ।

प्रमाण तथा नय का भेद – प्रमाण द्वारा किसी वस्तु का सामान्य समग्र कथन किया जाता है और नयों द्वारा विशेष कथन होता है। अतः प्रमाण से विचार करने के बाद वस्तु के स्वरूप को भली-भांति समझने के लिए विभिन्न नयों द्वारा भी विभिन्न अपेक्षाओं से विचार करना चाहिए ।

प्रमाण का लक्षण और भेद – सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है, इसका कारण यह है कि जो वस्तु के सत्य स्वरूप का वर्णन कर सकता है, वही ज्ञान प्रमाण होता है ।मिथ्या ज्ञान प्रमाण नहीं होता ।

प्रमाण के दो मुख्य भेद हैं – (१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष ।

यद्यपि प्रमाण के चार भेद भी प्ररूपित हैं – (१) प्रत्यक्ष (२) परोक्ष, (३) अनुमान और (४) आगम । किन्तु इन चारों का समावेश उपरोक्त दो भेदों में हो जाता है ।

(जो ज्ञान सीधा आत्मा से होता है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है)और जिसमें मन, इन्द्रियों आदि की सहायता अपेक्षित होती है, वह परोक्ष प्रमाण है ।

नय का लक्षण और भेद – प्रमाण द्वारा कहे हुए सामान्य स्वरूप का नय विशेष कथन करता है । जैसे 'मनुष्य है' यह सामान्य कथन प्रमाण है । इसके दो हाथ हैं, दो पांव, दो आंख, नाक आदि एक-एक अंग-उपांग की अपेक्षा विशेष-विशेष कथन नयों का विषय हैं ।

यद्यपि नैगम आदि नयों के अनेक भेद हो सकते हैं; जैसा कि कहा गया हैं –

जावइया वयणपहा, तावइया चेव होंति णयवाया

–सन्मति तर्क ३/४७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वचन के जितने प्रकार हैं, उतने ही प्रकार नयों के भी हैं । किन्तु प्रमुख नय दो हैं – (२) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक ।

द्रव्यार्थिक नय द्रव्य को प्रमुख और पर्याय को गौण करके कथन करता है तथा पर्यायार्थिक नय के कथन में पर्याय की प्रमुखता तथा द्रव्य की गौणता होती हैं, यह इन दोनों में अन्तर हैं ।

इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक ग्रन्थों में शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चय नय, सद्भूतनय, असद्भूतनय, उपचरितनय, अनुपचरितनय आदि और भी कई भेद बताये गये हैं ।

शुद्ध निश्चयनय, वस्तु को अखण्ड रूप में देखता है; जैसे आत्मा हैं; और अशुद्धनय इसमें भेद विवक्षा करता हैं; जैसे आत्मा में ज्ञान गुण है, दर्शन गुण है, वीर्य गुण है, चारित्र गुण है आदि–आदि ।

इसी प्रकार द्रव्यकर्मों तथा नोकर्मों का सम्बन्ध आत्मा के साथ अनुपचरित–असद्भूतनय की अपेक्षा है; क्योंकि सम्बन्ध आरोपित नहीं है, इसलिए अनुपचरित है किन्तु अशाश्वत है, विनाशशील है, कर्म बँधते और छूटते रहते हैं, बंध और निर्जरा दोनों ही हैं, इसलिए असद्भूत भी है।

किन्तु यह अध्यात्मप्रधान नय, इस ग्रन्थ में विशेष विवक्षित न होने से इनका विस्तृत वर्णन यहाँ अपेक्षित नहीं हैं । यहाँ तो तत्व का ज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा से नयों का वर्णन अभीष्ट है । नैगम आदि नयों का विस्तृत वर्णन इसी अध्याय के ३४–३५ वें सूत्र में किया गया हैं ।

आगम वचन –

निद्देसे पुरिसे कारण कहिं केसु कालं कइविहं ।

– अनुयोगद्वार सूत्र १५१

निर्देश, पुरुष, कारण, (कहाँ किस स्थान में), किन में, काल, कितनी प्रकार का है ।

तत्त्वों के सांगोपांग ज्ञान के उपाय –

निर्देश–स्वामित्वसाधनाधिकरण–स्थिति–विधानतः । ७ ।

(१) निदेश (२) स्वामित्व (३) साधन (४) अधिकरण (५) स्थिति (६) विधान इनके द्वारा तत्त्वों का विस्तृत सांगोपांग ज्ञान होता है ।)

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में जीवादि तत्त्वों के विस्तृत ज्ञान हेतु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विचारणा के उपाय बताये गये हैं ।

(१) **निर्देश** – वस्तु के नाम मात्र अर्थात् नाम का कथन करना; उदाहरणार्थ – यह अजीव है, यह जीव है आदि ।

(२) **स्वामित्व**– अर्थात् वस्तु का अधिकारी । उदाहरणार्थ – सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति किस जीव को हो सकती हैं, सम्यग्दर्शन का अधिकारी जीव ही बन सकता है, अजीव नहीं ।

(३) **साधन** – वस्तु (यथा–सम्यग्दर्शन) की उत्पत्ति का कारण ।

(४) **अधिकरण** – अमुक वस्तु (यथा–सम्यक्त्व) का आधार ।

(५) **स्थिति** – वस्तु (उदाहरणार्थ सम्यक्त्व) की काल मर्यादा; जैसे–सम्यक्त्व इतने समय तक ठहर सकता है ।

(६) **विधान** – वस्तु के भेद अथवा प्रकार; जैसे–सम्यग्दर्शन कितने प्रकार का होता है ?

इन छहों उपायों को सम्यग्दर्शन के सन्दर्भ में इस प्रकार घटित किया जा सकता है –

तत्त्व अथवा आत्मा के प्रति रुचि सम्यग्दर्शन का स्वरूप है, यही निर्देश शब्द से कहा गया है । जीव ही सम्यग्दर्शन का अधिकारी अथवा स्वामी बन सकता है, यह स्वामित्व है ।

साधन के दो भेद हैं, अन्तरंग और बाह्य ।

सम्यग्दर्शन के अन्तरंग कारण हैं, दर्शनमोहनीय कर्म की मिथ्यात्व आदि तीन तथा चारित्र–मोहनीय कर्म की अनन्तानुबन्धी क्रोध–मान–माया–लोभ–ये चार; कुल इन सात प्रकृतियों का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम।

बाह्य साधन शास्त्र पढ़ना, गुरु–उपदेश सुनना, जातिस्मरणज्ञान आदि हैं ।

सम्यग्दर्शन जीव का भाव अथवा परिणाम होने के कारण जीव में ही रहता हैं, अतः जीव ही इसका अधिकरण हैं ।

सम्यग्दर्शन की काल–मर्यादा स्थिति शब्द से द्योतित की गई हैं, जैसे–औपशमिक सम्यग्दर्शन का काल एक मुहूर्त मात्र है और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का उत्कृष्ट काल ६६ सागरोपम है । इसी प्रकार औपशमिक सम्यग्दर्शन सान्त हैं, क्योंकि वह होकर भी स्थिर नहीं रहता और क्षायिक सम्यग्दर्शन अनन्त हैं, क्योंकि वह एक बार होने पर छूटता नहीं, जीव के साथ सिद्धावस्था में भी रहता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शन के भेदों, यथा–निसर्गज, अधिगमज, निश्चय, व्यवहार, द्रव्य, भाव, पौद्गलिक, अपौद्गलिक, क्षायिक आदि को विधान अथवा प्रकार (Kinds) शब्द से कहा गया है ।

आधुनिक युग में भी किसी विषय, वस्तु अथवा समस्या पर विचार करने के लिए यही ६ साधन अथवा उपाय अपनाये जाते हैं । पश्चिमी देश के वैज्ञानिकों ने अपना ६ शब्दों का सूत्र दिया है ।

Who (कौन), Where (कहाँ), How (कैसे), What (क्या), When (कब) और Why (क्यों) ?

यदि विचार किया जाय तो विस्तृत एवं सर्वांगीण ज्ञान के लिए ग्रन्थ में दिये गये निर्देश आदि उपाय शाश्वत सिद्धान्त हैं और आध्यात्मिक तथा लौकिक सभी क्षेत्रों में इनकी उपयोगिता निर्विवाद है ।

आगम वचन –

अणुगमे नवविहे पण्णत्ते, तं जहा –

संतपयपरूवणया (१), दव्व पमाणे च (२), खित्त (३), फुसणा य (४), कालो य (५), अंतर (६), भाग (७) भाव, (८) अप्पाबहुँ (९) चेव ॥

– अनुयोग द्वार सूत्र ८०

(अनुगम (ज्ञान होने का प्रकार अथवा साधन) नौ प्रकार का कहा गया है –

(१) सत्पदप्ररूपणा, (२) द्रव्यप्रमाण, (३) क्षेत्र, (४) स्पर्शन, (५) काल, (६) अन्तर, (७) भाग, (८) भाव और, (९) अल्पबहुत्व ।

ज्ञान के अनुयोग अथवा विचारणा द्वार –

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च । ८ ।

(१) सत्, (२) संख्या, (३) क्षेत्र, (४) स्पर्शन, (५) काल, (६) अन्तर, (७) भाव और (८) अल्पबहुत्व– (इन अनुयोगद्वारों से भी तत्त्वादि का विचार किया जाता है ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में तत्त्व आदि के विस्तृत और तलस्पर्शी ज्ञान के साधनभूत उपायों का निर्देश किया गया है ।

आगम (अनुयोगद्वार) में इसके लिए 'अनुगम' शब्द दिया गया है । उसका आशय भी ज्ञानप्राप्ति के उपाय अथवा प्रकारों से हैं । वहां 'भाग'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द अधिक है अर्थात् ९ प्रकार बताये गये हैं, जबकि प्रस्तुत सूत्र में ८ ही दिये हैं । सूत्रकार नें संक्षेप में वर्णन करने के दृष्टिकोण से 'द्रव्यप्रमाण' के साथ 'संख्या' में आगमगत 'भाग' का अन्तर्भाव कर लिया है ।

वस्तुतः अनुयोगद्वार का अभिप्राय है प्रश्नअथवा जिज्ञासा के माध्यम से या उत्तर रूप में व्याख्या अथवा विवरण । वस्तु को भली भांति समझने के लिए प्रश्न उद्‌बुद्ध होना आवश्यक है और फिर उस प्रश्न के समाधान के लिए अनुयोग अथवा व्याख्या भी जरूरी है । इसीलिए 'सत् संख्या' आदि को अनुयोगद्वार भी कहा गया है क्योंकि ये वस्तु में प्रवेश के अर्थात् उसके विशेषज्ञान के द्वार उघाड़ने के लिए कुंजीस्वरूप हैं, इनके माध्यम से तलस्पर्शी ज्ञान होता है ।

सूत्रोक्त इन आठों उपायों का यद्यपि प्रत्येक वस्तु के गहन ज्ञान प्राप्ति के लिए उपयोग किया जाता है किन्तु इस ग्रन्थ में मोक्ष–मार्ग की प्रथम सीढ़ी के रूप में सम्यग्दर्शन की प्रमुखता है, अतः सम्यग्दर्शन के सन्दर्भ में इनका संक्षिप्त परिचय जानना उपयुक्त और उपादेय हैं ।

(१) **सत्** का अभिप्राय सत्ता अथवा अस्तित्व या अवस्थिति है । यद्यपि सम्यग्दर्शन की सत्ता (सत्) तो गुण रूप से, प्रत्येक जीव में विद्यमान है, किन्तु उसकी व्यक्ति या अभिव्यक्ति भव्य जीव में ही हो सकती है, यही यहाँ सत् का अभिप्राय हैं ।

(२) **संख्या** (गणना अथवा गिनती) की अपेक्षा विचार करनेपर भूतकाल में अनन्त जीवों ने सम्यक्त्व प्राप्त किया है और भविष्य में भी अनन्त जीव प्राप्त करेंगे अतः सम्यग्दर्शन संख्या की अपेक्षा अनन्त है ।

(३) **क्षेत्र** की अपेक्षा विचार करने पर सम्यग्दर्शन का क्षेत्र लोक का असंख्यातवां भाग ही हैं ।

(४) **स्पर्शन** – सम्यग्दर्शन का स्पर्शन–क्षेत्र लोक का असंख्यातवां भाग है; किन्तु यह क्षेत्र की अपेक्षा बडा होता है । इसका कारण यह है कि 'क्षेत्र' में तो आधेय का केवल आधारभूत आकाश ही परिगणित किया जाता है जबकि 'स्पर्शन' में जितने आकाश का आधेय (यहाँ सम्यग्दर्शन) स्पर्श करता हैं, उस सबको सम्मिलित कर लिया जाता है ।

(५) **काल** – काल की अपेक्षा सम्यग्दर्शन अनादि अनन्त है । भूतकाल में ऐसा कोई समय नहीं था जब सम्यग्दर्शन का अस्तित्व न रहा हो। इसी तरह भविष्य में भी सम्यग्दर्शन रहेगा और वर्तमान में तो है हो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(६) **अन्तर** – एक जीव की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का विरहकाल कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट से कम समय) और अधिक से अधिक अपार्द्धपुद्गल परावर्तन जितना समय है तथा अनेक जीवों की अपेक्षा विचार किया जाय तो विरहकाल बिल्कुल भी नहीं होता है ।

विरह काल का अभिप्राय है सम्यक्त्व का अभाव; जब या जिस काल में जीव को सम्यक्त्व न हो ।

(७) **भाव** –(भाव का अभिप्राय है जीव के परिणाम । यह प्रमुख रूप से तीन है (१) क्षायिक, (२) क्षायोपशमिक, (३) औपशमिक । सम्यक्त्व भी इन्हीं तीन रूपों में पाया जाता है तथा इन तीन भावों से ही सम्यक्त्व की शुद्धता का ज्ञान किया जाता है । अतः भाव यहां सम्यग्दर्शन–शुद्धि की तरतमता द्योतित करता है ।

(८) **अल्पबहुत्व** – का अर्थ है न्यूनाधिकता, कम और अधिक होना। इस अपेक्षा से औपशमिक सम्यग्दर्शन सबसे कम, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन इससे असंख्यातगुणा और क्षायिक सम्यग्दर्शन अनन्तगुणा होता है। यह विचार सम्यक्त्वधारी जीवों की अपेक्षा से है ।

क्षायिक सम्यग्दर्शन अनन्तगुणा होने का कारण यह है कि यह जीव के साथ सिद्ध अवस्था में भी रहता है और सिद्ध जीव अनन्त है । दूसरे शब्दों में क्षायिक सम्यग्दर्शन शाश्वत हैं, एक बार होने के बाद सदा रहता है ।

सूत्र ७ और ८ का हार्द जीव की अन्वेषणा है, अर्थात् जीव को कहाँ–कहाँ और किस–किस प्रकार खोजा जा सकता है । इसके लिए अनुयोगद्वार आदि आगमों में कई उपाय बतायें हैं और उन्ही का अनुसरण करते हुए तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी इन दोनों सूत्रों में १४ उपाय बताये हैं –

(१) निर्देश, (२) स्वामित्व, (३) साधन, (४) अधिकरण, (५) स्थिति, (६) विधान, (७) सत्, (८) संख्या, (९) क्षेत्र, (१०) स्पर्शन, (११), काल, (१२) अन्तर, (१३) भाव, (१४) अल्पबहुत्व ।

सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपाद ने इन दो सूत्रों की टीका करते हुए मार्गणास्थान और गुणस्थानों की अपेक्षा से भी विचार किया है ।

मार्गणास्थान हैं भी जीवादि पदार्थों की अन्वेषणा अथवा खोज के लिए ही । जैसा कि प्रवचनसारोद्धार (द्वार २२४) में कहा गया है – **जीवादीनां पदार्थानामन्वेषणं मार्गणा** । अतः मार्गणा द्वारा विचार करना यहां प्रासंगिक होगा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मार्गणाओं के मूलभेद १४ हैं तथा उत्तरभेद ६२ हैं –)

१. गति चार – (१) नरकगति (२) तिर्यचगति (३) मनुष्यगति (४) देवगति ।

२. इन्द्रिय पाँच – (१) स्पर्शन (२) रसना (३) घ्राण (४) चक्षु (५) श्रोत्र ।

३. काय छह – (१) पृथ्वीकाय (२) अप्काय (३) अग्निकाय (४) वायुकाय, (५) वनस्पतिकाय, (६) त्रसकाय ।

४. योग तीन – (१) मनोयोग (२) वचनयोग (३) काययोग ।

५. वेद तीन – (१) स्त्रीवेद (२) पुरुषवेद (३) नपुंसकवेद ।

६. कषाय चार – (१) क्रोध (२) मान (३) माया ४) लोभ

७. ज्ञान आठ – (१) मति (२) श्रुत (३) अवधि (४) मनःपर्यव (५) केवलज्ञान (६) मतिअज्ञान (७) श्रुत अज्ञान (८) कुअवधिज्ञान (विभंगज्ञान) ।

८. संयम सात – (१) सामायिक चारित्र (३) छेदोपस्थापनीय चारित्र (३) परिहारविशुद्धि चारित्र (४) सूक्ष्मसंपराय चारित्र (५) यथा-ख्यात चारित्र (६) देशसंयम (७) अविरत संयम ।

९. दर्शन चार – (१) चक्षुदर्शन (२) अचक्षुदर्शन (३) अवधिदर्शन (४) केवलदर्शन ।

१०. लेश्या छह – (१) कृष्ण (२) नील (३) कापोत (४) तेजो (५) पद्म (६) शुक्ल ।

११. भव्य दो – (१) भव्य और (२) अभव्य ।

१२. सम्यक्त्व छह (१) क्षायिक (२) क्षायोपशमिक (३) औपशमिक (४) मिश्र (५) सास्वादन (६) मिथ्यात्व ।

१३. संज्ञी दो – (१) संज्ञी (२) असंज्ञी ।

१४. आहारक दो – (१) आहारक (२) अनाहारक।

इन चौदह (उत्तरभेद ६२) मार्गणास्थानों में जीव की अवस्थिति पाई जाती है ।

मार्गणास्थानों के समान गुणस्थान भी चौदह हैं । इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है –

(१) **मिथ्यात्व गुणस्थान –** विपरीत श्रद्धा एवं विश्वास । सर्वज्ञकथित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वों पर ऐसा जीव श्रद्धा नहीं करता । जिस प्रकार पित ज्वर वाले मनुष्य को मीठा रस अच्छा मालूम नहीं होता, उसी प्रकार उसे यथार्थ धर्म रुचि कर प्रतीत नहीं होता ।

(२) **सास्वादन सम्यक्त्व** – औपशमिक सम्यक्त्वी जीव जब अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होने से सम्यक्त्व से पतित होता है, उस समय सास्वादन सम्यक्त्व होता है । जिस प्रकार कोई व्यक्ति खीर खाकर वमन करे तो उसके मुंह में खीर का स्वाद आता है इसी प्रकार इस गुणस्थान में भी जीव को सम्यक्त्व का स्वाद रहता है । इस अपेक्षा से इस गुणस्थान को सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है ।

इस गुणस्थान का काल ६ आवलिका और ७ समय मात्र है, इसके बाद वृक्ष से गिरे हुए फल के समान निश्चित रूप से मिथ्यात्व गुणस्थान में पहुंच जाता है ।

(३) **मिश्र गुणस्थान** – इसका पूरा नाम सम्यक्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान हैं । इसमें जीव को सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिला-जुला स्वाद आता है । उसकी श्रद्धा में शुद्धता और अशुद्धता का मिश्रण होता है, अर्थात् उसके परिणाम मिश्र होते है ।

(४) **अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान** – इस गुणस्थान में जीव की श्रद्धा शुद्ध होती है, वह सर्वज्ञकथित तत्त्वों पर विश्वास करता है, सच्चे देव-गुरू-धर्म की आराधना करता है ।

(५) **देशवरित गुणस्थान** – इस गुणस्थान वाला आत्मा श्रावक-व्रतों का पालन करता है । उसकी विरति आंशिक होती है ।

(६) **प्रमत्तसंयत गुणस्थान** – यह गुणस्थान सिर्फ मनुष्यों को ही होता है तथा इसके आगे के गुणस्थान भी मनुष्यों को ही होते हैं । इस गुणस्थान का धारक मनुष्य पूर्ण रूप से पाप क्रियाओं को त्याग देता है, पाँचों पापों, पाँचो इन्द्रियों के विषयों से विरत हो जाता है । वह सकल संयमी श्रमण, साधु मुनि बन जाता है ।

(७) **अप्रमत्तसंयत गुणस्थान** – इस गुणस्थान में ज्ञान आदि गुणों की और विशुद्धि हो जाती है, विकथा आदि प्रमाद नहीं रहते । साधुजी ज्ञान-ध्यान-तप में लीन रहते हैं ।

(८) **निवृत्तिबादर गुणस्थान** – इस गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानारवरण और प्रत्याख्यानावरण इन चौक रूपी बादर कषाय की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निवृत्ति शुरू हो जाती है । यहीं से श्रेणी–आरोहण होता है ।

यह गुणस्थान श्रेणी की आधार शिला है । श्रेणी दो हैं – (१) क्षपक श्रेणी और (२) उपशम श्रेणी

(९) **अनिवृत्तिबादर गुणस्थान** – इस गुणस्थान में स्थूल कषायों की निवृत्ति की मात्रा बहुत बढ़ जाती है ।

(१०) **सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान** – इस गुणस्थान में संज्वलन लोभ का सूक्ष्म उदय ही रहता है । जिस प्रकार धुले हुए कपड़े में लाल रंग के दाग की बहुत ही हल्की सी लालिमा शेष रह जाती हैं, इसी प्रकार इस गुणस्थान में भी सूक्ष्म लोभ ही शेष रह जाता है ।

(११) **उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान** – इस गुणस्थान में कषाय पूरी तरह उपशान्त हो जाते हैं । यद्यपि वे सत्ता में रहते हैं किन्तु उदय में नहीं आते ।

इस गुणस्थान से जीव आगे नहीं बढ़ सकता । उसका निशचित रूप से पतन होता है । पतन दो प्रकार से होता है (१) आयुक्षय से और (२) गुणस्थान का काल (अन्तर्मुहूर्त) पूरा होने से ।

यदि आयुक्षय से पतन होता है तो वह जीव अनुत्तर विमान में देव बनता है ।

गुणस्थान का समय पूरा होने पर उपशांत मोहनीयकर्म उदय में आ जाता है । कषायोदय के कारण जीव पतित होकर नीचे के गुणस्थानों में पहुंच जाता है ।

(१२) **क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान** – इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म का सम्पूर्ण रूप से क्षय हो जाता है ।

(१३) **सयोगिकेवली गुणस्थान** – चारो घाती कर्मों (मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय) के सम्पूर्ण क्षय से इस गुणस्थान की प्राप्ति होती है, वह जीव सर्वज्ञ, जिन बन जाता है । केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य प्रगट हो जाते हैं । वह जीवन्मुक्त परमात्मा होता है। तीनों लोक और तीनों काल उसके हस्तामलकवत् होते हैं । वह लोकालोकदर्शी और ज्ञानी होता है ।

(१४) **अयोगिकेवली गुणस्थान** – इस गुणस्थान में केवली भगवान योगों का निरोध करके शैलेशी अवस्था प्राप्त करते हैं और मुक्त हो जाते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं । वे सिद्धशिला में अविस्थत होकर शाश्वत आत्मिक आनन्द में निमग्न हो जाते हैं ।

गुणस्थानों सम्बन्धी विशेष[1] बातें – उक्त चौदह गुणस्थानों में से १,४,५,६,१३ –यह पांच गुणस्थान शाश्वत हैं; अर्थात् लोक में सदा रहत ह।

परभव में जाते समय जीव के १,२,४– ये तीन गुणस्थान होते हैं ।

३,१२,१३ – इन तीन गुणस्थानों में मरण नहीं होता ।

३,८,९,१०,११,१२,१३,१४– इन गुणस्थानों में आयु का बन्ध नहीं होता ।

१,२,३,५,११ – यह पाँच गुणस्थान तीर्थंकर नहीं फरसते ।

४,५,६,७,८– इन पाँच गुणस्थान में ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है ।

१२,१३,१४– यह तीन गुणस्थान अप्रतिपाती है, यानी इन गुणस्थांनों से जीव का पतन नहीं होता ।

१,४,७,८,९,१०,१२,१३,१४– इन नौ गुणस्थानों को मोक्ष जाने से पहले जीव एक या अनेक भवों में अवश्य फरसता है ।

इन चौदह गुणस्थानों के माध्यम से जीव की आन्तरिक विशुद्धि की खोज की जाती है ।

मार्गणास्थानों और गुणस्थानो में अन्तर हैं । गुणस्थानतो जीव के आध्यात्मिक विकास की अवस्था हैं, या विशुद्धि के सोपान हैं ।अतः एक समय में एक जीव किसी एक ही गुणस्थान में रह सकता है । किन्तु मार्गणास्थान जीव की केवल अवस्थिति को ही द्योतित करते हैं । अतः एक जीव एक समय में कई मार्गणास्थानों में रह सकता है ।

गुणस्थान एक जीव को एक समय में एक ही हो सकता है; जबकि मार्गणास्थान दस भी हो सकते हैं ।

आगम वचन –

नाणपंचविहं

(१) आभिणिबोहियनाणं (२) सुयनाणं (३) ओहिनाणं (४)

---

१ प्रवचनसारोद्धार २२५४, गा. १३०२; प्रवचन द्वार ८९–९० गा. ६९४–७०८ तथा चौदह गुणास्थान का थोकड़ा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मणपज्जवणाणं (५) केवलनाणं ।

–नन्दी सूत्र १; अनुयोगद्वार सूत्र १;
भगवतीसूत्र, श. ८, उ. २, सूत्र ३१८;
स्थानांग स्थान ५, उ. ३, सूत्र ४६३

ज्ञान पाँच प्रकार का है – (१) आभिनिबोधिकज्ञान (मतिज्ञान) (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्यवज्ञान (५) केवलज्ञान).

सम्यग्ज्ञान के मूल प्रकार (भेद)

मति–श्रुतावधि–मनःपर्यय–केवलानि ज्ञानम् ।९।

मूल भेदों की अपेक्षा सम्यग्ज्ञान पाँच प्रकार का है – (१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्ययज्ञान, (५) केवलज्ञान ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में सम्यग्ज्ञान के पाँच मूल भेदों का उल्लेख किया गया है । आगम में आया हुआ 'आभिनिबोधिक' शब्द और मतिज्ञान एकार्थवाची हैं, इनमें कोई अन्तर नहीं है ।

मतिज्ञान – मन एवं इन्द्रियों की सहायता से होता है । इसमे पाँचो इन्द्रियों में से कोई भी एक इन्द्रिय भी निमित्त हो सकती है । भाव यह है कि मतिज्ञान एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय सभी जीवों को होता है ।

मतिज्ञानपूर्वक **श्रुतज्ञान** होता है । यानि मतज्ञिान द्वारा जाने हुए पदार्थों को विशेष रूप से जानना अथवा उस ज्ञान से अन्य पदार्थो को जानना श्रुतज्ञान का कार्य है ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा तथा मर्यादा लिए हुए रूपी/स्पर्श, गन्ध, रस, वर्ण वाले) पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान जिसके द्वारा जीव को प्राप्त होता है, वह अवधिज्ञान कहलाता है ।

अन्य के मन में अवस्थित अथवा हृदयगत भावों को जिसके द्वारा जीव प्रत्यक्ष जानता है, वह मनःपर्यवज्ञान कहा गया है ।

केवलज्ञान – समस्त लोकालोक और तीनों काल (भूत, भविष्य, वर्तमान) के सभी पदार्थों को हस्तामूलकवत् प्रत्यक्ष जानता है ।

यह पाँचो ही ज्ञान सम्यक् है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम वचन –

दुविहे नाणे पण्णत्ते–
पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव ।
पच्चक्खे नाणे दुविहे पण्णत्ते –
केवलणाणे चेव, णोकेवलणाणे चेव
णो केवलणाणे दुविहे पण्णत्ते–
ओहिणाणे चेव, मणपज्जवणाणे चेव ।
परोक्खणाणे दुविहे पण्णत्ते –
आभिणिबोहिय णाणे चेव सुयणाणे चेव ।

–स्थानांग सूत्र, स्थान २, उ. १, सूत्र ७१

(ज्ञान दो प्रकार का है – (१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष ।
प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का है –
(१) केवलज्ञान और (२) नोकेवलज्ञान)
नोकेवलज्ञान दो प्रकार का है –
(१) अवधिज्ञान और (२) मनःपर्यवज्ञान ।
परोक्षज्ञान दो प्रकार का है –
(१) आभिनिबोधिकज्ञान और (२) श्रुतज्ञान ।)

ज्ञानों का प्रमाणत्व

तत् प्रमाणे ।१०।
आद्ये परोक्षम् ।११।
प्रत्यक्षमन्यत् ।१२।

वह पाँचो ज्ञान प्रमाण हैं । (तथा वह प्रमाण दो प्रकार का है।)
आदि के दो ज्ञान (मति और श्रुत) परोक्ष है ।
अन्य (मति और श्रुत से अतिरिक्त – अर्थात्–अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान) प्रत्यक्ष (प्रमाण) है ।

विवेचन – प्रस्तुत तीनों सूत्रों में ज्ञान के प्रमाणत्व की चर्चा की गई है । बताया गया है कि वे पाँचो ही ज्ञान प्रमाण हैं । साथ ही सूत्र में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'प्रमाण' शब्द को द्विवचन में रखकर यह द्योतित किया गया है कि वह प्रमाण दो प्रकार का है – (१) परोक्ष और (२) प्रत्यक्ष) ।

प्रमाण का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है – **प्रमिणोति, प्रमीयतेऽनेन प्रमिति-मात्रं वा प्रमाणं**– अर्थात् जिसके द्वारा अच्छी तरह मान किया जाय वह प्रमाण है । प्रमाण द्वारा वस्तु अथवा पदार्थ का भली भांति ज्ञान प्राप्त किया जाता है ।

'अक्ष' शब्द का एक अर्थ आत्मा होता है । मति, श्रुत, अवधि आदि ज्ञानों के होने का आधार तो आत्मा और उस उस कर्म का क्षयोपशम है ही किन्तु जिस ज्ञान के होने में इन्द्रिय-मन आदि बाह्य साधनों की आवश्यकता पड़ती है, उन्हें परोक्ष (परः+अक्ष=आत्मा के सिवाय पर ही सहायता से प्राप्त) ज्ञान कहा गया है । ऐसे ज्ञान मति और श्रुतज्ञान दो हैं ।

जो ज्ञान इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना ही सीधे आत्मा से (प्रति+अक्ष) होते हैं वे प्रत्यक्ष कहलाते हैं । अवधि, मनःपर्यव और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हैं, क्योंकि ये पर-निरपेक्ष हैं ।

ज्ञायक शक्ति की व्याप्ति की अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्यव ज्ञान देशप्रत्यक्ष हैं । देश का अभिप्राय अंश हैं, अर्थात् ये ज्ञान वस्तु को एक सीमा-मर्यादा के अन्दर ही जानते हैं ।

किन्तु केवलज्ञान सर्व प्रत्यक्ष हैं । वह सम्पूर्ण पदार्थों को और उनके संपूर्ण भावों को प्रत्यक्ष जानता है ।

नंदीसूत्र (सूत्र ३,४,५) में लोक व्यवहार और परमार्थ की अपेक्षा प्रत्यक्ष के दो भेद बताये गये हैं – (१) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और (२) नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष । इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान तो है ही मन द्वारा होने वाला ज्ञानभी इसी में गर्भित हैं ।

नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष में 'नो' निषेध का सूचक है । इसका अभिप्राय है जिसमें इन्द्रियों की सहायता अपेक्षित न हो ।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से अभिप्राय मति; श्रुत ज्ञान से है और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष अवधि, मनःपर्यव, केवलज्ञान के लिये प्रयुक्त हुआ है ।

लोक व्यवहार की दृष्टि से इन्द्रियप्रत्यक्ष को 'सांव्याहारिक प्रत्यक्ष' भी कहा गया है; क्योंकि सामान्यजन अपनी इन्द्रियों से प्रत्यक्षप्राप्त ज्ञान को परोक्ष अथवा अप्रमाण स्वीकार करने में हिचकिचाता है । आंखों से दीखने वाली वस्तु, कानों से सुनने वाली वार्ता आदि को वह प्रत्यक्ष ही समझता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अवधि, मनःपर्यव, केवलज्ञान जिन्हें इन्द्रियों की सहायता की अपेक्षा नहीं होती, वे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहे गये हैं ।

यह दोनों भेद व्यवहार की दृष्टि से हैं, किन्तु वास्तव में तो प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही भेद हैं ।

आगम वाचन –

ईहा–अपोह–वीमंसा–मग्गणा य गवेसणा ।
सन्ना सई मई पन्ना सव्वं आभिणिबोहिअं ॥

– नन्दीसूत्र मतिज्ञान प्रकरण गाथा ८०

(ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा– यह सब आभिनिबोधिक ज्ञान ही है ।)

मतिज्ञान के अन्य नाम –

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।१३।

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता अभिनिबोध – यह सभी मतिज्ञान के अन्य नाम हैं, इनके अर्थ (अभिप्राय) में कोई अन्तर नहीं है ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में मतिज्ञान के अन्य नामो का सूचन करके कहा गया है कि इनके अर्थ में किसी प्रकार का भेद नहीं है ।

यहां 'अर्थान्तर' शब्द महत्त्वपूर्ण हैं । क्योंकि व्युत्पत्ति, निरुक्त, धातु आदि तथा शब्द आदि नयों की अपेक्षा प्रत्येक शब्द में निहित वाच्यार्थ में कुछ न कुछ भेद तो होता ही है, इसी अपेक्षा से पर्यायवाची शब्दों के अर्थों में भी अन्तर होता है। किन्तु यहां 'अर्थान्तर' शब्द द्वारा इन सभी अर्थभेदों का निरसन करके, एकार्थता का सूचन किया गया है । फिर भी शब्दों के वाच्यार्थ की दृष्टि से इनका अर्थ इस प्रकार है –

(१) **मति** – मन और इन्द्रियों से वर्तमान कालवर्ती पदार्थों को जानना ।

(२) **स्मृति** – अनुभव में आये हुए पदार्थों का कालान्तर में पुनः ज्ञान पटल (स्मृति पटल) पर आना ।

(३) **संज्ञा** – वर्तमान में किसी पदार्थ को देख अथवा जानकर 'यह वही है जो पहले देखा–जाना था' इस प्रकार जोड़ रूप ज्ञान होना । इसको 'प्रत्यभिज्ञा' अथवा 'प्रत्यभिज्ञान' (पहचान) भी कहा जाता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(४) **चिन्ता** – किसी चिन्ह को देखकर 'वहां इस चिन्ह वाला भी होगा' इस प्रकार का चिन्तन; जैसे–धुंए को देखकर अग्नि का अनुमान करना । इसे ऊहा अथवा तर्क भी कहा जाता है ।

(५) **अभिनिबोध** – सम्मुख चिन्ह आदि देखकर उस चिन्ह वाले का निश्चय कर लेना । इस स्वार्थानुमान भी कहा जाता है ।

इनके अतिरिक्त प्रतिभा (Genius), उपलब्धि आदि सभी मति ज्ञान ही हैं । बुद्धि को गणना तो मतिज्ञान के ३४० भेदों में की ही गई है ।

आगम वचन –

पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं –इन्दियपच्चक्खं नोइन्दियपच्चक्खंच ।

–अनुयोग द्वार, १४४

(प्रत्यक्ष दो प्रकार का है – (१) इन्द्रिप्रत्यक्ष और (२) अनिन्द्रियप्रत्यक्ष

मतिज्ञान उत्पत्ति के कारण –

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् । १४।

वह (मतिज्ञान) इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) के निमित्त से होता है

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में मतिज्ञान उत्पन्न होने के निमित्त अथवा कारण बताये गये हैं । ये कारण हैं –इन्द्रिय और मन । किन्तु यह बाह्य कारण हैं । मतज्ञिान का अन्तरंग कारण हैं – मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र–यह पांच इन्द्रियां हैं, तथा छठा है मन जिसे अनिन्द्रिय (नोइन्द्रिय) शब्द से व्यक्त किया गया है ।

एक अपेक्षा से 'मन' को भी मतिज्ञान का अन्तरंग कारण माना जा सकता है । यह भेद दृश्य–अदृश्य की अपेक्षा से किया जा सकता है । क्योंकि इन्द्रियां तो दिखाई देती ही हैं किन्तु मन तो दृष्टि से ओझल रहता है । इसी अपेक्षा से मन को आन्तरिक करण और इन्द्रियों को बाह्य करण माना गया है ।

आगम वचन –

सुयनिस्सियं चउव्विहं पण्णत्तं –

उग्गहे, ईहा, अवाए, धारणा ।

–नन्दी सूत्र, सूत्र २७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(श्रुत निश्रित (मतिज्ञान) चार प्रकार का कहा गया है – (१) अवग्रह (२) ईहा (३) अवाय और (४) धारणा ।

मतिज्ञान के भेद –

अवग्रहेहावायधारणाः ।१५।

(१) अवग्रह (२) ईहा) (३) अवाय और (४) धारणा – यह मतिज्ञान के भेद है ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में मतिज्ञान के अवग्रह आदि चार प्रमुख भेद बताये गये है ।

(१) **अवग्रह** – किसी पदार्थ की सामान्य सत्ता को देखने, अर्थात् सामान्य रूप से किसी वस्तु को देखने, उसके आकार का अवबोध होने के बाद 'यह काली है या श्वेत' ऐसी जिज्ञासा का ग्रहण – अवग्रह है ।

(२) **ईहा** – 'यदि वह वस्तु सफेद है तो श्वेत ध्वजा होनी चाहिए' ऐसी जिज्ञासा ईहा मतिज्ञान है ।

(३) **अवाय** – विशेष चिन्हों से उस वस्तु का निश्चय हो जाना; जैसे 'यह ध्वजा ही है' अवाय मतिज्ञान है ।

(४) **धारणा** – अवग्रह, ईहा, अवाय द्वारा प्राप्त ज्ञान स्मृति में संजोकर रख लेना, विस्मृत न होने देना, धारणा मतिज्ञान है ।

यह चारों भेद क्रिया अथवा मतिज्ञान की प्राप्ति की अपेक्षा से हैं ।

आगम वचन –

चउव्विहा उग्गहमती पण्णता–

खिप्पामोगिण्हति, बहुमोगिण्हति, बुहविधमोगिण्हति धुवमोगिण्हति अणिस्सियमोगिण्हइ असंदिद्धमोगिण्हइ ।

छव्विहा ईहामती पण्णता.....

एवं .....

छव्विहा अवायमति पण्णत्ता .....

एवं .....

छव्विहा धारणा पण्णता .

बहुं धारेई बहुविहं धारेइ पोराणं धारेति दुद्धरं धारेति अणिस्सितं धारेति असंदिद्धं धारेति ।

–स्थानांग, स्थान ६, सूत्र ५१०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(अवग्रह मतिज्ञान छह प्रकार का होता है – (१) क्षिप्र (२) बहु (३) बहुविध, (४) ध्रुव (५) अनिश्रित और (६) असंदिग्ध ।

इसी प्रकार ईहा मतिज्ञान तथा इसी प्रकार अवाय मतज्ञान भी छह प्रकार का होता है ।

धारणा मतिज्ञान भी छह प्रकार का होता है – (१) बहुधारणा, (२) बहुविध धारणा (३) पुराण (पुराना) धारणा (४) दुर्धर धारणा (५) अनिश्रित धारणा और (६) असंदिग्ध धारणा मतज्ञान ।)

जं बहु बहुविह खिप्पा अणिस्सिय निच्छिय धुवेयर विभिन्ना, पुणरोग्गहादओ तो तं छत्तीसत्तिसय भेदं ।

– इयि भासयारेण

(बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, निश्रित और ध्रुव इनके छह उलटे भेद भी होते हैं । इन सबको जोड़ने से मतिज्ञान के ३३६ भेद होते हैं ऐसा भाष्यकार का कथन हैं ।)

अवग्रह आदि के उपभेद –

बहु–बहुविध–क्षिप्रानिश्रितासंदिग्धध्रु वाणां सेतराणाम् ।१६।

(१) बहु, (२) बहुविध, (३) क्षिप्र, (४) अनिश्रित, (५) असंदिग्ध, और (६) ध्रुव – इन छह प्रकार के पदार्थों का तथा (सेतराणाम्–प्रति–पक्ष सहित (१) अल्प, (२) एकविध, (३) अक्षिप्र, (४) निश्रित, (५) असंगिद्ध और (६) अध्रुव इन छह को मिलाकर–१२ प्रकार के पदार्थों का अवग्रह, ईहा आदि रूप ग्रहण अथवा ज्ञान (मतिज्ञान) होता है ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में अवग्रह आदि के उपभेदों का वर्णन किया गया है ।

(१) **बहु** – शंख, बांसुरी आदि अनेक प्रकार के शब्दों को ग्रहण करना

(२) **अल्प** – यह 'बहु' का विपरीत है । इसे 'एक' भी कहा जाता है । इसका अभिप्राय शंख, बांसुरी आदि अनेक शब्दों में से एक शब्द को ग्रहण करने की क्षमता अथवा योग्यता है।

(३) **बहुविध** – अनेक शब्दों के माधुर्य आदि को ग्रहण करने की क्षमता ।

(४) **अल्पविध** – थोड़े या एक प्रकार के शब्द की कठोरता, कर्कशता, माधुर्य आदि को ग्रहण करने की क्षमता ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(५) **क्षिप्र** – क्षयोपशम की निर्मलता से शब्द आदि का शीघ्र ग्रहण

(६) **अक्षिप्र** – शब्द आदि को विलम्ब अथवा देरी से ग्रहण करना

(७) **अनिश्रित** – वस्तु को बिना चिन्हों के ही जानने की क्षमता

(८) **निश्रित** – किसी पदार्थ को उसके चिन्हों से जानना ।

(९) **असंदिग्ध** – पदार्थ का संशय रहित ज्ञान ।

(१०) **संदिग्ध** – वस्तु को जानने में संशय रह जाना ।

असंदिग्ध और संदिग्ध को अनिश्चित तथा निश्चित भी कहा जाता है । इन दोनों शब्दों का भाव एक समान ही हैं ।

(११) **ध्रुव** – इसका अभिप्राय अवश्यंभावी भी हैं । अर्थात् जो मतिज्ञान एक बार ग्रहण किये हुए अर्थ को सदा के लिए स्मृति में धारण किये रहे ।

(१२) **अध्रुव** – जो ज्ञान सदा काल स्मरण न रहे, न्यूनाधिक होता रहे, अथवा विस्मृत हो जाय, वह अध्रुव कहलाता है ।

ये सभी भेद विषय एवं उसे ग्रहण करने की क्षमता की अपेक्षा हैं ।

सभी प्राणियों में बुद्धि की तरतमता रहती है । कुछ तीव्र बुद्धि वाले एक ही संकेत मात्र से अनेक वस्तुओं का ज्ञान कर लेते हैं, तथ्यों की गहराई में उतरकर परोक्ष घटना का भी आँखो देखा जैसा वर्णन कर देते हैं । रोजमर्रा के व्यवहार में हम इस प्रकार की बौद्धिक विलक्षणता व चतुराई की घटनाएं देखते/सुनते हैं ।

इन बारह भेदों में बुद्धि की इसी तरतमता का सूचन किया गया है । मनोविज्ञान की दृष्टि से ये भेद काफी महत्व के हैं । जो प्राणी की बौद्धिकता के थर्मामीटर का काम कर सकते हैं ।

आगम वचन –

उग्गेहे दुविहे पण्णत्ते–
अत्थुग्गहे य वंजणुग्गहे य ।
वंजणुग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते –
अत्थुग्गहे छव्विहे पण्णत्ते –

– नंदी सूत्र, सूत्र २७, २८,२९

अवग्रह दो प्रकार का है – (१) अर्थावग्रह और (२) व्यंजनावग्रह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यंजनावग्रह चार प्रकार का है – (१) श्रोत्रेन्द्रिय व्यंजन अवग्रह, (२) घ्राणेन्द्रिय व्यंजन अवग्रह, (३) रसनेन्द्रिय व्यंजन अवग्रह और (४) स्पर्शनेन्द्रिय व्यंजन अवग्रह ।

अर्थावग्रह छह प्रकार का है – (१) श्रोत्रेन्द्रिय अर्थावग्रह आदि पांच तथा छठा मन का अवग्रह ।

सामान्यापेक्षा अवग्रह आदि के विषय एवं भेद –

अर्थस्य ।१७।

व्यंजनस्यावग्रह : ।१८।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ।१९।

(अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा–यह चारों) अर्थ (वस्तु के प्रगट रूप) को ग्रहण करते हैं ।

व्यंजन अर्थात् अप्रकटरूप पदार्थों का केवल अवग्रह ही होता है ।

(उस व्यंजन–अप्रकट रूप पदार्थ का) नेत्र–इन्द्रिय और मन से अवग्रह मतिज्ञान नहीं होता है ।

विवेचन – प्रस्तुत तीनों सूत्रों में अथविग्रह और व्यंजनावग्रह की विशेषताएं बताई गई हैं ।

वस्तु अथवा पदार्थ दो प्रकार के होते हैं – (१२) व्यक्त और (२) अव्यक्त । इन्हें प्रकट अथवा अप्रकट भी कह सकते हैं । यहाँ 'अर्थ' शब्द वस्तु के व्यक्त रूप के लिए प्रयक्त हुआ है और व्यंजन अव्यक्त रूप के लिए।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा–ये चारों वस्तु के प्रकट रूप को ग्रहण करते हैं; तथा अव्यक्त अथवा व्यंजन का केवल अवग्रह रूप ज्ञान ही होता है। इसका कारण यह है कि चक्षु इन्द्रिय और मन अप्राप्यकारी को ही ग्रहण करते हैं । अन्य चारो इन्द्रियाँ स्पृष्ट को ग्रहण करती है । जैसा कि आचारांग निर्युक्ति गाथा ५ में बताया हैं –

पुट्ठं सुणोदि सद्दं अपुट्ठं पुण पस्सदे रूवं ।
फासं रसं च गंधे बद्धं पुट्ठं वियाणादि ॥

शब्द स्पृष्ट (स्पर्शित होने पर) सुना जाता है, इसी प्रकार स्पर्श, रस और गंध का अनुभव भी बद्ध अथवा स्पृष्ट होने पर ही होता है; जब कि चक्षु इन्द्रिय अस्पृष्ट को ही ग्रहण करती है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस विषय में जिज्ञासा हो सकती है कि पाँचों इन्द्रियों में चक्षु को ही अप्राप्यकारी क्यों माना गया ? इस जिज्ञासा का समाधान एक दृष्टान्त से हो सकता है कि चक्षु अपने साथ स्पर्शित हुए अर्थात् आँख में लगे काजल को नहीं देख सकती, जबकि दूर की वस्तु देख लेती है ।

इसी प्रकार मन भी अस्पृष्ट अथवा अव्यक्त पदार्थको ग्रहण करता है ।

यही कारण है कि चक्षु और मन द्वारा सिर्फ अवग्रह रूप ग्रहण ही होती है, ईहा, अवाय और धारणा रूप ज्ञान नहीं होता ।

नंदीसूत्र (सूत्र ३५) तथा भाष्य में अवग्रह आदि का काल प्रमाण बताते हुए कहा गया है कि –

अवग्रह का काल एक समय का, ईहा हा अन्तर्मुहूर्त, अवाय का भी अन्तर्मुहूर्त तथा धारणा का काल संख्यात अथवा (युगलियों की अपेक्षा) असंख्यात काल है ।

अवाय (किसी भी विषय के रूप में निश्चयात्मक) होने पर भी यदि उपयोग उसी विषय पर लगा रहे तो अवाय अविच्युति धारणा के रूप में परिणत हो जाता है ।

अविच्युति धारणा से वासना का निर्माण होता है और वासना की दृढ़ता स्मृति को प्रबल बनाती है तथा उसे उद्‌बोधित करने में एक शक्तिशाली निमित्त बनती है ।

यही प्रबल धारणा अथवा वासना, या सामान्य भाषा में दृढ़ संस्कार ही प्रत्यभिज्ञान और यहां तक कि जातिस्मरणज्ञान के कारण होते हैं ।

मतिज्ञान के ३३६ अतवा ३४० भेद – अवग्रह के दो भेद हैं – अर्थावग्रह तथा व्यंजनावग्रह ।

अर्थावग्रह तथा ईहा, अथवा और धारणा – ये चारों पांच इन्द्रियों और छठे मन से होते हैं अतः ६x४ = २४ भेद अर्थावग्रह के हुए; किन्तु व्यंजन अवग्रह मन और चक्षु के अतिरिक्त चार इन्द्रियों से होता है तथा इसके ईहा, अवाय और धारणा भी नहीं होते अतः इसके कुल भेद (४x१) ४ ही हैं । इन दोनों २४ और ४ का योग २८ होता है । इसको बहु, बुहविध, क्षिप्र आदि १२ प्रकारों से गुणा करने पर (२८x१२) = ३३६ भेद होते है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन ३३६ भेदों में ४ प्रकार की बुद्धि जोड़ने पर मतिज्ञान के ३४० कुल भेद होते हैं ।

नंदीसूत्र में इन चार प्रकार को बुद्धियों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं ।

उप्पत्तिया वेणइया कम्मिया पारिणामिया ।
बुद्धी चउव्विहा वुत्ता पंचमा नोबलब्भई ॥

–सूत्र ४७ के अन्तर्गत गाथा ५८ – मतिज्ञान

इनके लक्षण इस प्रकार है –

(१) **उत्पत्तिया (औत्पातिकी) बुद्धि** – क्षयो पशम के प्रभाव से पहले बिना जाने–देख–सुने विषय को विशुद्ध रूप में तत्काल ग्रहण करने की मानसिक शक्ति । यह बुद्धि अचानक ही प्रगट होकर कार्यसिद्धि में सहायक बनती है ।

(२) **वेणइया (वैनयिकी) बुद्धि** – यह गुरुजनों की विनयपूर्वक सेवा करने से प्राप्त होती है । यह बुद्धि वर्तमान और भावी जीवन में फल देने वाली तथा कार्यभार को वहन करने में समर्थ होती हैं ।

(३) **कम्मिया (कर्मजा) बुद्धि** – उपयोगपूर्वक कार्य करते रहने से प्राप्त होने वाली दक्षता अनुभवशीलता ।

(४) **पारिणामिया (पारिणामिकी) बुद्धि** – अनुमान, हेतु और दृष्टान्त से कार्य सिद्ध करने वाली, आयु की परिपक्वता से पुष्ट होने वाली, लोकहितकारी बुद्धि पारिणामिकी है ।

आगम वचन –

मईपुव्वं जेण सुअं न मई सुअपुव्विआ ।

– नन्दी सूत्र, सूत्र २४

सुयनाणे दुविहे पण्णते–अंगपविट्ठे चेव अंगबाहिरे चेव ।

– स्थानांग, स्थान २, उ. १, सूत्र ७१

मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है । श्रुतज्ञानपूर्वक मतिज्ञान नहीं होता।

श्रुतज्ञान दो प्रकार का है – (१) अंगप्रविष्ट और (२) अंगबाह्य।

श्रुतज्ञान का लक्षण और भेद –

श्रुतं मतिपूर्वकं द्व्यनेकद्वादशभेदं ।२०।

मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है तथा इस (श्रुतज्ञान) के दो अनेक और बारह भेद हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में श्रुतज्ञान का लक्षण और उसके भेदों की ओर संकेत किया गया है ।

श्रुतज्ञान की उत्पत्ति – श्रुतज्ञान की उत्पत्ति का आन्तरिक कारण श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है । इस क्षयोपशम से आत्मा की जो और जितनी ज्ञान-शक्ति जानने की क्षमता अनावृत होती है, उसे श्रुतज्ञान कहा जाता है ।

किन्तु जैसा कि सूत्र में कहा गया है – **'श्रुतंमतिपूर्वकं'**– श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है । यद्यपि मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम तो युगपत् यानी साथ-साथ होता है, इसीलिए प्रत्येक संसारी जीव को मति और श्रुतज्ञान दोनों ही होते हैं ।

किन्तु क्रियाकारित्व अथवा उपयोग की अपेक्षा पहले मतिज्ञान और तदनन्तर श्रुतज्ञान होता है । यही प्रस्तुत सूत्र का भाव है ।

श्रुतज्ञान का लक्षण – श्रुतज्ञान का लक्षण है – मतिज्ञान द्वारा जाने हुए विषय को विशेष रूप से जानना । यह लक्षण सभी जीवों पर घटित होता है।

किन्तु संज्ञी पंचेन्द्रिय और विशेष रूप से मनुष्य की अपेक्षा श्रुतज्ञान में शब्द विशिष्ट भूमिका निभाता है । अतः किसी भी शब्द (अक्षरात्मक या अनक्षरात्मक) को सुनकर उनके वाच्य-वाचक भाव से जो अर्थ की उपलब्धि होती है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं ।

मतिज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान की विशिष्टता – यद्यपि मति और श्रुत दोनों ही ज्ञान संसारी जीवों में पाये जाते हैं, किन्तु इन दोनों में कुछ विशेषताएँ हैं, जो इनमें स्पष्ट भेद दिखाती हैं ।

(१) मतिज्ञान की सीमा सिर्फ वर्तमान काल तक ही हैं, यानि वह वर्तमान काल की बात ही जान सकता है; जबकि श्रुतज्ञान द्वारा भूत, भविष्य और वर्तमान-तीनों कालों की बातें जानी जा सकती हैं ।

(२) मतिज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान का विस्तार अधिक है ।

(३) श्रुतज्ञान में इन्द्रियों की अपेक्षा मन की प्रमुखता होती हैं, अतः यह प्रमुख रूप से मन का विषय है ।

(४) श्रुतज्ञान में पूर्वापर संबंध बना रहता है ।

श्रुतज्ञान के दो प्रकार – यद्यपि सूत्र में स्पष्ट नहीं है कि श्रुतज्ञान के दो प्रकार कौन-कौन से हैं । किन्तु कई अपेक्षाओं से दो प्रकारो की गणना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की जा सकती है; जैसे (१) अक्षरश्रुत (२) अनक्षरश्रुत (१) भावश्रुत (२) द्रव्यश्रुत (१) कालिक, (२) उत्कालिक आदि ।

किन्तु सूत्र में अन्तिम अंश से ध्वनित होता है कि आचार्य को (१) अंगबाह्य और (२) अंगप्रविष्ट ये दो भेद ही अभीष्ट हैं । क्योंकि उन्होंने आगे १२ भेदों का संकेत किया है जो अंगप्रविष्ट के भेद हैं ।

अंगप्रविष्ट –

(१) आचारांग (२) सुत्रकृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) भगवती (विवाह पण्णत्ति) (६) ज्ञाताधर्मकथा (७) उपासकदशा (८) अंतकृद्दशा (९) अनुत्तरोपपातिक दशा (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाक सूत्र और (१२) दृष्टिवाद ।

ये अंगशास्त्र भी कहलाते हैं और भगवान तीर्थंकर की वाणी के नाम से विश्रुत एवं प्रतिष्ठित हैं ।

नंदीसूत्र (सूत्र ७२) में श्रुतज्ञान के निम्न १४ भेदों का वर्णन है –

(१) अक्षरश्रुत (२) अनक्षरश्रुत (३) संज्ञिश्रुत (४) असंज्ञिश्रुत (५) सम्यकश्रुत (६) मिथ्याश्रुत (७) सादिक श्रुत (८) अनादिक श्रुत (९) सपर्यवसित श्रुत (१०) अपर्यवसित श्रुत (११) गमिक श्रुत (१२) अगमिक श्रुत (१३) अंगप्रविष्ट श्रुत (१४) अनंगप्रविष्ट श्रुत ।

आधुनिक युग में प्रचलित सभी ज्ञान–विज्ञान, लिपियाँ, भाषाएं आदि सम्पूर्ण कला एवं साहित्य श्रुतज्ञान के अन्तर्गत ही हैं ।

आगम वचन –

ओहिणाण पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं...

भवपच्चत्तियं च खओवसमियं च । ...

दोण्हं भवपच्चत्तियं–देवाणं च णेरतियाणं च ।

दोण्हं खओवसमियं–मणुस्साणं च पंचन्दियतिरिक्खजोणियाणं

तं समासओ छविवहं पण्णत्तं–आणुगामियं, अणाणुगामियंच, वड्ढमाणयं, हायमाणयं, पडिवाति, अपडिवाति ।

– नंदी सूत्र, सूत्र ६–९

अवधिज्ञान प्रत्यक्ष दो प्रकार का है – (१) भवप्रत्ययिक (२) क्षायो–पशमिक ।

भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान दो को होता है – (१) देवों को और (२) नारकियों को ।

क्षायोपशमिक अवधिज्ञान दो को होता है – (१) मनुष्यों को और पंचेन्द्रिय (मन सहित – संज्ञी) तिर्यचों को ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(गुणप्रत्ययिक अथवा क्षायोपशमिक) वह (अवधिज्ञान) संक्षेप में छह प्रकार का है – (१) आनुगामिक (२) अनानुगामिक (३) वर्द्धमान (४) हीयमान (५) प्रतिपातिक (६) अप्रतिपातिक ।

अवधिज्ञान के भेद और स्वामी –

द्विविधोवधि :। २१।

भवप्रत्ययोदेवनारकाणाम्[1] ।२२।

क्षयोपशमनिमित्तः[2] षड्विकल्पः शेषाणाम् ।२३।

अविधिज्ञान दो प्रकार का है ।

भवप्रत्ययिक (अवधिज्ञान) देवों और नारको को होता है ।

क्षायोपशमिक (अवधिज्ञान) छह प्रकार का है और वह शेष (मनुष्य एवं पंचेन्द्रिय संज्ञी तिर्यंच) को होता है ।

विवेचन – प्रस्तुत प्रथम सूत्र में अवधिज्ञान के प्रथमतः दो भेद बताये हैं और फिर यह बताया है कि वह किन-किन को प्राप्त होता है या हो सकता है तथा उसके छह अन्य भेदों की ओर संकेत किया गया है ।

सूत्रमें अवधिज्ञान के दो भेद बताये हैं – (१) भवप्रत्ययिक और (२) क्षायोपशमिक । किन्तु नन्दीसूत्र में क्षायोपशमिक के लिए गुण-प्रत्ययिक शब्द भी प्रयुक्त हुआ है । दोनों का ही भाव समान है ।

कर्मसिद्धान्त के अनुसार यह निश्चित है कि आत्मा की ज्ञान-शक्ति उस ज्ञान के आवरक कर्म के क्षयोपशम से ही प्रकट होती है । इस प्रकार अवधिज्ञान की उपलब्धि भी आत्मा को अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ही उपलब्ध होती है ।

किन्तु यहां भवप्रत्ययिक और क्षायोपशमिक अथवा गुणप्रत्ययिक ये दोनों भेद केवल निमित्त की अपेक्षा बताये हैं ।

यद्यपि भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान भी अवधिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से होता है; किन्तु इसके लिए प्रत्यक्षतः वर्तमान जीवन में तप

---

(१) कुछ प्रतियो में 'तत्र भवप्रत्योनारकदेवानाम्' यह पाठ भी मिलता है; किन्तु अर्थ में भेद नहीं हैं ।

(२) कुछ प्रतियों में 'यथोक्त निमित्त' ऐसा पाठ भी है । किन्तु नंदीसूत्र, स्थानांग सूत्रआदि आगमों के अनुसार होने से हमने प्रस्तुत पाठ स्वीकार किया है । –संपादक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आदि कोई क्रिया नहीं करनी पड़ती, गुणों का अर्जन नहीं करना पड़ता; देवायु के बंध के साथ ही यह क्षयोपशम स्वयमेव ही हो जाता है ।

किन्तु नरकगति के साथ विपरीत स्थिति है । इसके बंध के समय कषाय, लेश्या, इन्द्रियविषय, रौद्रध्यान की धाराएँ इतनी प्रबल होती हैं. कि वे भी अवधिज्ञानावरण कर्म को क्षीण/क्षयोपशमित करने का निमित्त बन जाती हैं; अतः इस अपेक्षा से नारक जीवों को भी अवधिज्ञान की उपलब्धि जन्म लेते ही हो जाती है । किन्तु उनका अवधिज्ञान अल्प तथा अधिकांशत : (सम्यक्त्वी जीवों के अलावा) विभंग अथवा कुअवधिज्ञान होता है ।

क्षायोपशमिक अवधिज्ञान मनुष्यों तथा तिर्यंचों को व्रत-नियम आदि के आराधन-निमित्त से गुणों के अर्जन द्वारा होता हैं । उसके छह भेद हैं ।

(१) **अनुगामिक** – जो जीव के अन्य क्षेत्र में जाने पर अथवा दूसरे जन्म में भी साथ चलता है ।

(२) **अननुगामिक** – ऐसा अवधिज्ञान जीव के साथ नहीं चलता ।

(३) **वर्द्धमान** – जो उत्पन्न होने के बाद बढ़ता रहता है ।

(४) **हायमान** – जो उत्पन्न होने के बाद घटता रहता है ।

(५) **प्रतिपातिक** – जो प्राप्त होने के कुछ समय बाद एकदम लुप्त हो जाता है ।

(६) अप्रतिपातिक – यह अवधिज्ञान होने के बाद कभी लुप्त नहीं होता ।

यह छहों भेद क्षयोपशम की विभिन्नता और विचित्रता के परिणाम-स्वरूप ही होते हैं; जैसे-अवधिज्ञान के उत्पन्न होने के बाद शुभधाराओं का प्रभाव बढ़ा, अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम अधिक हो गया तो अवधि ज्ञान की 'वर्द्धमान' दशा सामने आ गई और यदि विषय-कषायों के आवेगों से क्षयोपशम में न्यूनता आई तो 'हायमान' दशा हो गई।

इसी प्रकार अन्य चारों भेदों के बारे में भी समझ लेना चाहिए ।

आगम वचन –

मणपज्जवणाणे दुविहे पण्णत्ते –

उज्जुमति चेव विउलमति चेव ।

–स्थानांग स्थान २, उ. १, सूत्र ७१

उज्जुमई णं अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ पासइ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ते चेव विउलमई, अब्भहियतराए ..... विउलतराए विसुद्धतराए वितिमिरतराए जाणइ पासइ .....

– नन्दी सूत्र, सूत्र ३७

मनःपर्यवज्ञान दो प्रकार का है – (१) ऋजुमति और (२) विपुलमति

ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान अनन्तप्रदेश वाले अनन्तस्कन्धों को जानता/देखता है ।

विपुलमति भी उन सबको जानता/देखता है; किन्तु यह उस (ऋजुमति की अपेक्षा) से अधिक बड़े, विपुल (अधिक परिमाण में), अधिक विशुद्ध रूप में तथा अधिक निर्मल देखता/जानता है ।)

मनःपर्यवज्ञान के भेद–

ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः ।२४।

विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां तद्विशेष : ।२५।

ऋजुमति और विपुलमति के भेद से मनःपर्याय ज्ञान दो प्रकार का ह।

ऋजुमति से विपुलमति मनृःपर्याय ज्ञान विशुद्धि तथा अप्रतिपातिकता के कारण विशेष हैं ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्रों में मनःपर्यायज्ञान के भेद तथा विपुलमति की ऋजुमति की अपेक्षा विशेषताएँ बताई गई हैं ।

मनःपर्यायज्ञान की उत्पत्ति और लक्षण – *मनःपर्यायज्ञानावरण* कर्म के क्षयोपशम से जीव में यह ज्ञान प्रगट होता है । किन्तु इसकी उत्पत्ति के लिए दो बातें आवश्यक है – प्रथमतः जीव सम्यक्त्वी हो और दूसरे संयमी हो । यह ज्ञान मिथ्यात्वी तथा असंयमी को प्राप्त नहीं होता ।

सीधे शब्दों में मन–वचन–काया की सरलतायुक्त; पर के मन में रहे हुए भावों/मन के विचारों के परिवर्तन के कारण पलटती पर्यायों को प्रत्यक्ष जानता है, वह ऋजुमति मनःपर्याय ज्ञान है ।

विपुलति सरल और वक्र दोनों प्रकार की पर्यायों को जानता है ।

साथ ही ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान अनन्त प्रदेश वाले अनन्तस्कन्धों को; मध्यलोक–अढाई द्वीप, ज्योतिष्क मंडल से ऊपर, क्षुल्लक प्रतर से नीचे तक के क्षेत्र को, पल्योपम के असंख्यातवें भाग भूत, भविष्य और वर्तमान को; तथा अनन्त भावों को प्रत्यक्ष जानता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु विपुलमति इन सबको और अधिक, विपुल, विशुद्ध और निर्मल रूप से जानता है ।

साथ ही इन दोनो में एक प्रमुख भेद और भी है कि ऋजुमति ज्ञान एक बार उपलब्ध होकर विलुप्त भी हो सकता है किन्तु विपुलमति की परिणति अवश्यमेव केवलज्ञान में होती हैं ।

कर्मसिद्धान्त की भाषा में विपुलमति मनःपर्यायज्ञानधारी आत्मा उसी भव में क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके केवलज्ञानी बनता है और संसार से मुक्त हो जाता है ।

यहां यह ज्ञातव्य है कि मनोविज्ञान–मनोवैज्ञानिक तथा मनःपर्यायज्ञानी में आकाश –पाताल का अन्तर हैं ।

मनोविज्ञान तो श्रुतज्ञान पर ही आधारित हैं । अनुभवी व्यक्ति सामने वाले व्यक्ति की मुख–मुद्रा– हाव–भाव, शरीर और मुख पर आये तनावों परिवर्तनों आदि से उसके मनोगत भावो का अनुमान लगाता है । मनोवैज्ञानिक जितना ही अनुभवी होगा उसका अनुमान उतना ही सच्चा हो जायेगा । यह तो एक प्रकार से कर्मजाबुद्धि का परिणाम है ।

मनोवैज्ञानिक मिथ्यादृष्टि भी हो सकता है ।

जबकि मनःपर्यायज्ञान बिल्कुल ही अलग है । यह अनुमान नहीं लगाता, अपितु प्रत्यक्ष जानता है ।

मनःपर्यायज्ञानी निश्चित रूप से सम्यक्त्वी और संयत ही होता है ।

अतः मनःपर्यायज्ञानी और मनोविज्ञान को एक समझ लेना, बहुत बडा भ्रम है ।

आगम वचन –

...इड्ढीपत्त अप्पमत्त संजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तग संखेज्जवासाउअ कम्मभूमिअ गब्भवकंतिअ मणुस्साणं मणपज्जवनाणं समुप्पज्जइ ।

– नन्दीसूत्र मनःपर्यवज्ञानाधिकार

(मनः पर्यायज्ञान केवल उन जीवों को ही होता है जो गर्भज मनुष्य हों, कर्मभूमि के हों, संख्यात वर्ष की आयु वाले हों, पर्याप्त हों, सम्यग्दृष्टि हों, सप्तम गुणस्थान वाले संयमी हों और ऋद्धिधारी हों ।)

अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान में भेद –

विशुद्धि–क्षेत्र–स्वामि–विषयेभ्योऽवधिमनः पर्याययोः । २६ ।

(१) विशुद्धि, (२) क्षेत्र, (३) स्वामि और (४) विषय की अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान में अन्तर– भेद है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में अवधिज्ञान तथा मनःपर्याज्ञान में किन-किन बातों का अन्तर है, इसका सूचन किया गया है ।

इन अन्तरों को इस प्रकार समझा जा सकता है –

(१) मनःपर्यायज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अधिक विशुद्ध होता है । चूंकि मनःपर्यायज्ञानी की अन्तर् विशुद्धि अवधिज्ञानी से अधिक ही होती हैं अतः यह अपने विषय को अधिक गहराई से, विशुद्ध रूप से जानता है ।

(२) अवधिज्ञान का क्षेत्र तीन लोक है, यानी यह तीन लोक के रूपी पदार्थो को जान सकता है; जबकि मनःपर्यायज्ञान का क्षेत्र अवधिज्ञान की अपेक्षा अल्प है, वह मध्य लोक में ढाई द्वीप तक, नीचे क्षुल्लक प्रतर तक और ऊपर मैं ज्योतिष्क मण्डल से कुछ ऊपर तक ही जानता है ।

(३) अवधिज्ञान के स्वामी चारों गति के जीव होते हैं/हो सकते हैं, वे मिथ्यादृष्टि भी हो सकते हैं और सम्यक्त्वी भी, संयत भी और असंयत भी; जबकि मनःपर्यायज्ञान के स्वामी केवल कर्मभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य और उनमें भी संयमी, सम्यग्यदृष्टि ही होते हैं ।

(४) अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ कुछ पर्याय सहित हैं; जबकि मनःपर्यायज्ञान का विषय उसका अनन्तवाँ भाग ही हैं, वह केवल संज्ञी जीवों के मन की पर्यायों को जानता है ।

(५) अवधिज्ञान, विपरीत यानी कुअवधि/विभंग भी हो सकता है जबकि मनःपर्यायज्ञान कभी विपरीत नहीं होता, यहाँ तक कि मनःपर्यायज्ञान की विद्यमानता में मिथ्यात्व का उदय भी संभव नहीं है ।

(६) अवधिज्ञान आत्मा के साथ अगले जन्म में भी जा सकता है; जबकि मनःपर्यायज्ञान नहीं जा सकता । यानी अवधिज्ञान उभयभविक भी हो सकता है; किन्तु मनःपर्यायज्ञान इहभविक हैं । इसका कारण यह है कि मनःपर्यायज्ञान संयमसापेक्ष है, संयम के अभाव में नहीं टिकता । किन्तु अवधिज्ञान को संयम की अपेक्षा नहीं है, इसलिए वह जीव के साथ अगले भव में भी जा सकता है ।

यह अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान के प्रमुख भेद हैं ।

आगम वचन –

दव्वओ णं आभिणिबोहियणाणी सव्वाइं दव्वाइं जाणइ, न पासई.... भावओ सव्वे भावे जाणइ, न पासई ।

– नन्दी सूत्र ६५, मतिज्ञान विषय वर्णनाधिकार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दव्वओं णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइ जाणइं, पासइ...
भावओं सव्वंभावं जाणइ, पासइ ।

– नन्दीसूत्र, सूत्र ११४, गणिपिटक की शाश्वतता अधिकार

(मतिज्ञानी सामान्य से सभी द्रव्यों को जानता है, देखता नहीं । भाव से सब भावों को जानता है, देखता नहीं ।

द्रव्य से श्रुतज्ञानी उपयोग लगाकर सभी द्रव्यों को जानता है, देखता है । भाव से... सभी भावों को जानता है, देखता है ।)

विशेष – वृत्तिकार के अनुसार यह कथन श्रुतकेवली की अपेक्षा से हैं, सामान्य श्रुतज्ञानी जानता है, देखता नहीं हैं ।

मति–श्रुतज्ञान के ग्राह्य विषय –

मतिश्रुतयोर्निबन्ध : सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु । २७।

मति और श्रुतज्ञान द्रव्यों की असर्व (सब नहीं –परिमित) पर्यायों को जानते हैं ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र का अभिप्राय यह है कि मति और श्रुतज्ञान द्रव्यों की अपेक्षा तो समस्त छह द्रव्यों को जानते हैं किन्तु उनकी समस्त पर्यायों को नहीं जानते ।

सूत्र का यह कथनसामान्य श्रुतज्ञानी की अपेक्षा है; किन्तु सम्पूर्ण गणिपिटक को धारण करने वाले श्रुतकेवली सभी द्रव्यों की समस्त पर्यायों को भी जानने में सक्षम होते हैं ।[1]

यहां यह जिज्ञासा हो सकती है कि मति–श्रुतज्ञान तो परोक्ष हैं, इन्हें वस्तु का स्वरूप जानने के लिए इन्द्रिय और मन की अपेक्षा होती है और इन्द्रियाँ तथा मन अरूपी द्रव्य तथा उनकी सूक्ष्म पर्यायों को कैसे जानते ह ?

इस जिज्ञासा का समाधान एक दृष्टान्त से हो जायेगा । कल्पना करिए कि अमेरिका के किसी व्यक्ति को आगरा के ताजमहल का ऐसा सजीवचित्र दिखा दिया जाय कि उसमें ताजमहल की एक–एक विशेषता, सूक्ष्म चित्रकारी हूबहू अंकित हो तो उसके लिए ताजमहल प्रत्यक्ष ही हो जायेगा; मानो उसने अपनी आँखों से ही ताजमहल देख दिया है ।

---

१ नन्दी सूत्र टीका, गणिपिटक अधिकार ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकर भगवान द्वारा कथित गणिपिटक में सभी द्रव्यों और पर्यायों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन है तो उसके पाठी श्रुतकेवली के लिए भी समस्त द्रव्य और उनके समस्त पर्याय प्रत्यक्ष जैसे ही हो जाते हैं ।

इस अपेक्षा से यह कथन युक्तिसंगत हैं ।

फिर जिस मनुष्य को गणिपिटक का जितना अंश उपलब्ध हुआ है और जितनाउसने ग्रहण किया है, इस अपेक्षा से उतने ही अंश में वह भी द्रव्य और उनके पर्यायों को जानता है ।

अतः सामान्य श्रुतज्ञानियों की अपेक्षा सूत्र का कथन संगत है ।

आगम वचन –

ओहिनाणी जहन्नेणं अणंताइं रूविदव्वाइं जाणइ, पासइ ।
उक्कोसेणं सव्वाइं रूविदव्वाइं जाणइ, पासइ

– नन्दी सूत्र, सूत्र १६

सव्वत्थोवा मणपज्जवणाण पज्जवा ओहिणाण पज्जवा अणंतगुणा..

– भगवती, श. ८, उ. २, सूत्र ११३

सव्वदव्व परिणामभाव विण्णत्तिकरणमणंतं, सासयमप्पडिवाई एगविहं केवलणाणं. ।

– नन्दीसूत्र सूत्र २२

(अवधिज्ञानी जघन्यतः अनन्त रूपी द्रव्यो को जानता, देखता है । उत्कृष्ट रूप से सभी रूपी द्रव्यो कों जानता, देखता है ।

मनःपर्यवज्ञान की पर्यायें सबसे कम होती है; किन्तु अवधिज्ञान की पर्यायें उससे अनन्तगुणी होती हैं ।

केवलज्ञान सर्व द्रव्यों के परिणाम और उनके भावों को बतलाने का कारण हैं, अन्त हैं, शाश्वत (निरन्तर रहता) है, अप्रतिपाती है । (यह उपलब्ध होने के बाद जाता नहीं); अतः केवलज्ञान एक प्रकार का होता है ।)

अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान के ग्राह्य विषय –

रूपिष्ववधे : । २८।
तदनन्तभागे मनः पर्यायस्य । २९।
सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ।३०।

अवधिज्ञान रूपीपदार्थों को जानता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उस (अवधिज्ञान द्वारा जानने योग्य पदार्थों का अनन्तवाँ भाग मनः पर्यायज्ञान जानता है ।

केवलज्ञान समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जानता है ।

विवेचन – अवधिज्ञान का उपयोग क्षेत्र अर्थात् जानने आदि की क्षमता का विस्तृत विवेचन २१ से २६ वें सूत्र के विवेचन में किया जा चुका है, तथा वहीं मनःपर्यायज्ञान के बारे में भी स्पष्टीकरण हो चुका है ।

यहाँ २८ वां सूत्र सर्वावधि अवधिज्ञान की अपेक्षा से हैं । उसके द्वारा जाने गये रूपी पदार्थ के अनन्तवें भाग को मनःपर्यायज्ञान जानता है ।

केवलज्ञान प्रत्येक तथा सभी द्रव्यों की प्रत्येक तथा समस्त पर्यायों को युगपत् जानता है । यह त्रिलोक एवं त्रिकालवती सभी पदार्थों को जानता है, लोकालोक प्रकाशक है । तीनों लोक और तीनों कालों के सभी द्रव्य और पर्याय इसके हस्तामलकवत हैं ।

आगम वचन –

जे णाणी अत्थेगतिया ते अत्थेगतिया दुणाणी, अत्थेगतिया तिणाणी, अत्थेगतिया चउणाणी, अत्थेगतिया एगणाणी ।

– जीवाभि. प्रतिपत्ति १, सूत्र ४१

(ज्ञानियों में किसी के दो ज्ञान होते हैं, किसी के तीन ज्ञान, किसी के चार ज्ञान और किसी के एक ज्ञान होता है ।)

आत्मा में एक साथ कितने ज्ञान संभव है –

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।३१।

एक जीव में एक को आदि लेकर विभाग किये हुए (भाज्यानि) एक साथ चार ज्ञान तक हो सकते हैं ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र का भाव यह है कि एक आत्मा में एक साथ चार ज्ञान तक हो सकते हैं, पाँचो ज्ञान किसी को भी एक साथ नहीं हो सकते

यदि दो ज्ञान हों तो मतिश्रुत, तीन हो तो मति, श्रुत और अवधि, और चार हों तो मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय–यह चार ज्ञान तक एक साथ एक जीव में रह सकते हैं। किन्तु केवलज्ञान अकेला ही रहता है ।

केवलज्ञान वस्तुतः आत्मा का सम्पूर्ण ज्ञान है और यह चारों ज्ञान इस सम्पूर्ण के अंशमात्र हैं । भाव यह है कि केवलज्ञान में यह चारों ज्ञान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार जैसे महासागर में नदियाँ विलीन हो जाती हैं । (चार्ट पृष्ठ ६६-६७ पर देखें)

आगम वचन –

अण्णाणपरिणामेणं तिविहे पण्णत्ते–मइ अण्णाणपरिणामे, सुयअण्णाण परिणामे, विभंगणाण परिणामे ।

– प्रज्ञापना पद २३, ज्ञान परिणाम विषय
स्थानांग सूत्र, स्थान ३,उ. ३, सुत्र २८७

मिच्छासुयं–अण्णाणिएहिं मिच्छादिट्ठिएहिं सच्छन्दबुद्धिमइ विगप्पिअं

– नंदीसूत्र, सूत्र ४२

(अज्ञान परिणाम तीन प्रकार का कहा गया है– (१) मति अज्ञान (कुमति) (२) श्रुत अज्ञान (कुश्रुति) और (३) विभंगज्ञान (कुअवधिज्ञान)

मिथ्याश्रुत–अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों द्वारा स्वच्छन्दबुद्धि से कल्पित (पदार्थज्ञान...)

विपरीत ज्ञान और विपरीतता के हेतु–

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ।३२।

सदसतोरविसेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३॥

(१) मति, (२) श्रुत और (३) अवधि– ये तीन ज्ञान विपरीत भी होते हैं ।

सत् और असत् पदार्थों के भेद का ज्ञान (अविशेषात्) नहीं होने से स्वेच्छा से चाहे जैसा (यद्वा–तद्वा–सही गलत) जानने के कारण मदमत्त के (उन्मत्तवत्) समान ये ज्ञान मिथ्याज्ञान भी होते हैं ।

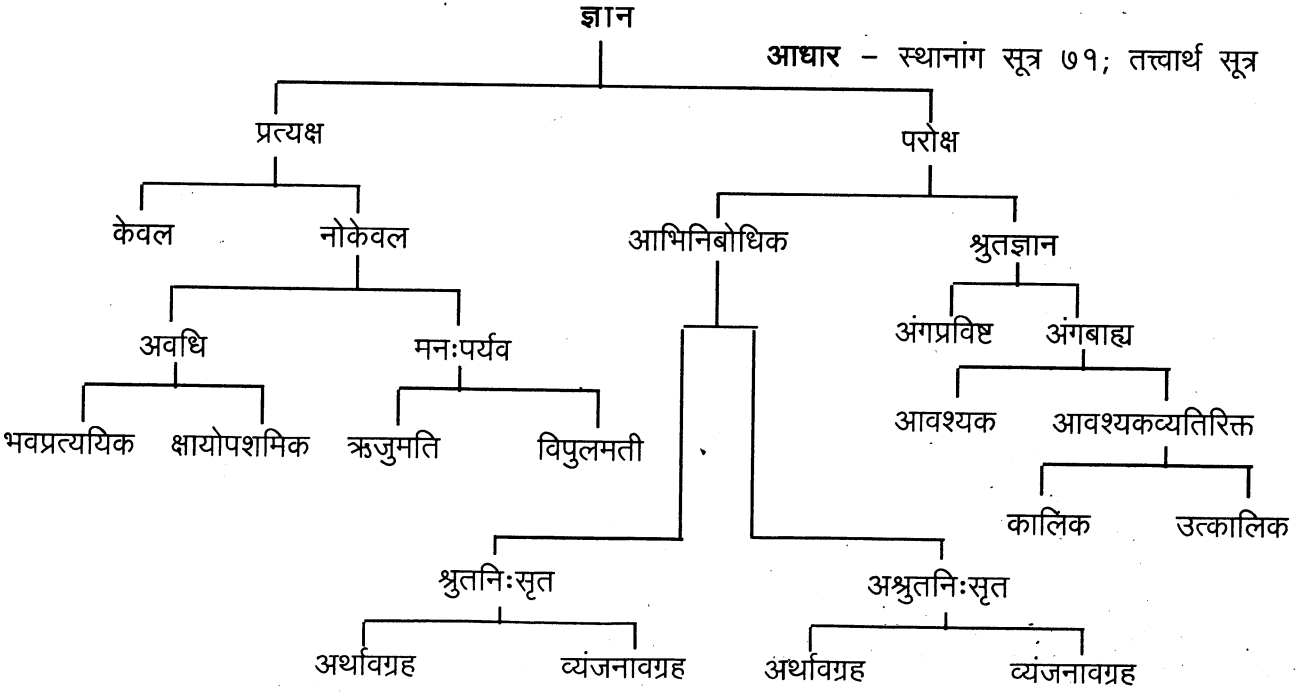
विवेचन – प्रस्तुत दो सूत्रों में विपरीत ज्ञानों के नाम और इनकी विपरीतात के कारण बताये गये हैं ।

विपरीत ज्ञान तीन हो सकते हैं – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान, और विपरीतता के कारण बताये गये हैं ।

विपरीत ज्ञान तीन हो सकते हैं – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान, और विपरीतात के हेतु है, सत्यासत्य विवेक का अभाव तथा मत्त के समान उल्टा–सीधा अपनी इच्छा से वस्तु को जानना, देखना, समझना और उसी *के अनुसार अपनी धारणा तथा विश्वास बना लेना ।*

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि विपरीतता अथवा अज्ञान लौकिक दृष्टि की अपेक्षा नहीं माना गया है; अपितु आध्यात्मिक दृष्टि की अपेक्षा माना गया

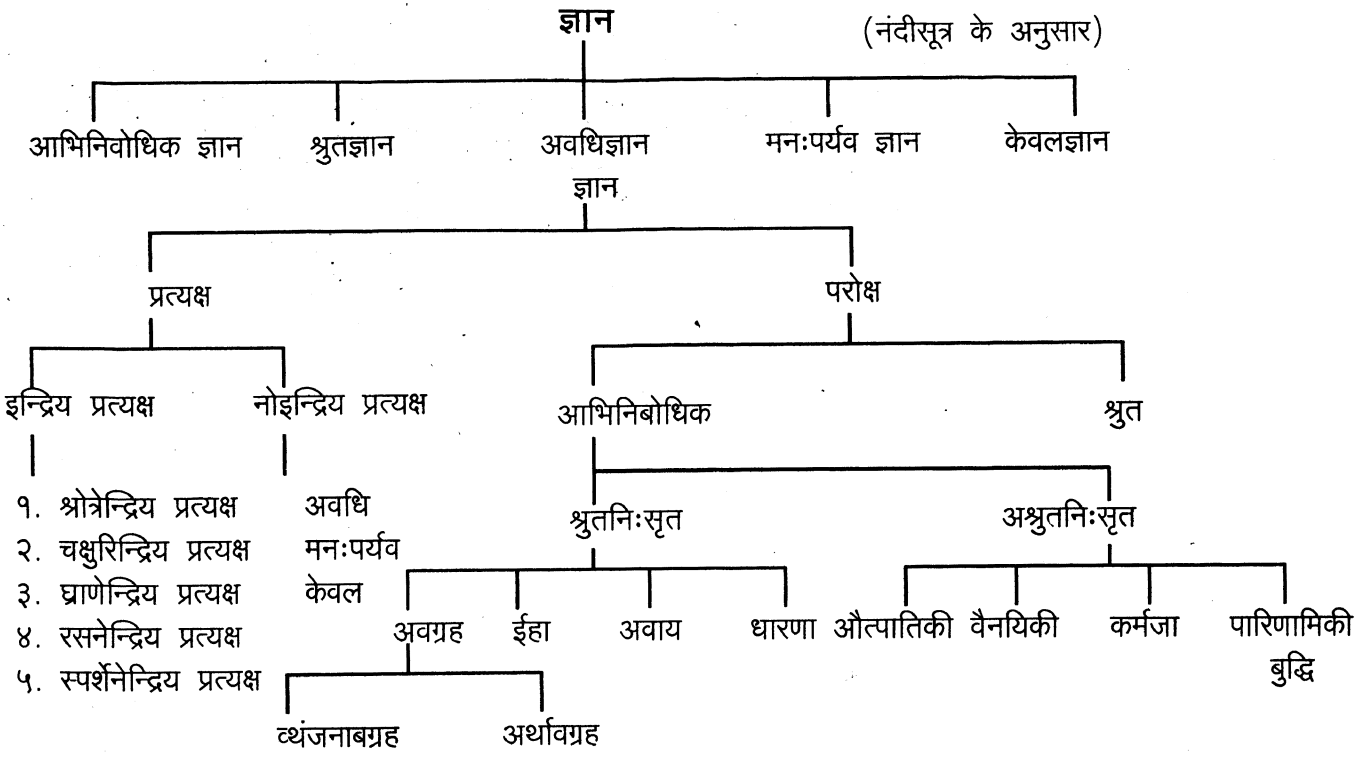
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



नोट : तत्त्वार्थ सूत्र में अंगबाह्य के उत्तर भेद नहीं दिये गये हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org



है, लौकिक दृष्टि से विशेष ज्ञानी और विशेषज्ञ (Specialists) भी आध्यात्मिक दृष्टि से अज्ञानी अथवा मिथ्याज्ञानी हो सकते हैं ।

लौकिक दृष्टि में सांसारिकता प्रधान होती है। समस्त वैज्ञानिक, चिकित्सक, कलाकार, साहित्यकार और अनेक योगी-तपस्वी भी सांसारिक दृष्टि से सत्य कहे जा सकते हैं । उनकी भविष्यवाणियाँ और बताये गये परिणाम सत्य प्रमाणित हो सकते हैं ।

आज पुद्गल परमाणु (atom) जैनदर्शन की दृष्टि से स्कंध पर बहुत कार्य हो रहा है, इसकी संरचना को समझा जा रहा है, विखंडित करके प्रचंड ऊर्जा प्राप्त की जा रही हैं । तथा जो परिणाम निकाले जा रहे हैं, वे सत्य प्रमाणित हो रहे हैं । इसी प्रकार आकाशीय नक्षत्रों, ग्रहों तथा सागर तल एवं पृथ्वी पर भी अनेक खोजें करके परिणाम प्राप्त किये जा रहे हैं ।

किन्तु यहाँ यह लौकिक दृष्टि और ज्ञान अपेक्षित नहीं है, न इस दृष्टि से विपरीतता अथवा विपर्ययता ही कही गई हैं । अपितु यहाँ मति, श्रुत, अवधि-इन तीनों ज्ञानों को विपरीत कहने का हेतु आध्यात्मिक है । अर्थात ऐसे ज्ञान जो आत्मशुद्धि एवं मोक्ष प्राप्ति में बाधक होते हैं ।

जीवादि तत्त्वों का भली-भाँति सत्य-तथ्य ज्ञान प्राप्त न करके, अपनी मनोकल्पना से जैसा चाहे, वैसा मान लेना-यही विपरीतता है, अज्ञान हैं ।

आगम वचन -

सत्त मूलणया पण्णत्ता -

णेगमे, संग्गहे, ववहारे, उज्जुसुए, सद्दे, समभिरूढे, एवंभूए ।

- अनुयोगद्वार, १२६, १२६; स्थानांग स्थान ७, ५५२

सात मूल नय कहे गये हैं -

(१) नैगम, (२) संग्रह, (३) व्यवहार, (४) ऋजुसूत्र, (५) शब्द, (६) समभिरूढ और (७) एवंभूत नय ।

नयों के नाम एवं प्रकार -

नैगम संग्रह व्यवहारर्जू सूत्रशब्दा नयाः । ३४ ।

आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ।३५।

(१) नैगम (२) संग्रम (३) व्यवहार (४) ऋजुसूत्र (५) शब्द

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह पाँच नय हैं । आद्य (अर्थात् प्रथम–नैगम नय) के दो और शब्द नय के तीन भेद हैं ।

विवेचन – प्रस्तुत दोनों सूत्रों में नयों के नामों का निर्देश किया साथ ही यह भी बतलाया है कि नैगम नय के दो भेद हैं और शब्द नय के तीन भेद हैं ।

मूल सूत्र में न तो इन उपभेदों के नाम ही बताये हैं और न यही बताया है कि इन नयों का विषय क्या और कितना है ।

किन्तु स्वयं सूत्रकार ने अपने स्वोपज्ञभाष्य में इन सबका स्पष्ट रूप से वर्णन कर दिया है ।

(१) **नैगम नय** – सात नयो में यह पहला नय है, इसका क्षेत्र भी सबसे अधिक व्यापक है, अतः इसका हार्द स्पष्ट रूप में समझ लेना चाहिए।

'निगम' शब्द के अनेक अर्थों में एक अर्थ है – नगर तथा एक अर्थ है– मार्ग । जिस प्रकार नगर में जाने के अनेक मार्ग होते हैं, उसी प्रकार वस्तु तत्त्व को समझने की अनेक विधियों वाली शैली को 'नैगम नय' कह सकते हैं ।

आचार्य जिनभद्रगणी ने 'निगम' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है – णेगगमोऽणेगपहो णेगमो (विशेषा. २,२६८२–८३) 'गम' अर्थात् मार्ग; जिसके अनेक मार्ग हैं – वह 'नैगम' है ।

न्याय ग्रन्थ के अनुसार भी 'नैगम' का यही अर्थ मान्य है –

नैगम– अर्थात् जो अनेक गमों–बोध–मार्गो से वस्तु को जाने–वह नैगम नय (रत्नाकरा. ७/७)

'नैगम नय' पदार्थ को सामान्य–विशेष एवं उभयात्मक मानता है । एक अंश उत्पन्न होते ही सम्पूर्ण वस्तु का ग्रहण कर लेता है । अनुयोगद्वार सूत्र (सूत्र ४७६) में प्रस्थक (पायली–वस्तुओं के माप करने वाले पात्र का नाम) का एक सुन्दर रोचक उदाहरण देकर समझाया गया है । कोई व्यक्ति कुल्हाड़ी लेकर प्रस्थक (पायली) बनाने के लिए काष्ट लेने के लिए वन में गया । मार्ग में किसी ने पूछा–कहाँ जा रहे हो ? उत्तर में वह कहता है, प्रस्थक लेने जा रहा हूँ ? इसी प्रकार लकड़ी काटते देखकर कोई पूछे कि क्या काट रहे हो ? तो वह कहता है – प्रस्थक काट रहा हूँ ।

शब्दों के जितने जो अर्थ लोक–प्रचलित हैं, उन सबको मान्य करना – नैगम नय विषय है ।

यह नय भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों को ग्रहण करता है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा भूत भविष्य का वर्तमान में सकंल्प करता है । उदाहरणार्थ–चैत्र शुक्ला १३ के दिन कहना– आज महावीर भगवान का जन्म दिन है ।

यद्यपि भगवान ने आज से लगभग २६०० वर्ष पहले जन्म लिया था । किन्तु चैत्र सुदी १३ को महावीर जयन्ती के दिन उक्त वचन कहा जाता है । यह भूतग्राही नैगम नय का कथन है । नैगमनय के अनुसार सत्य है ।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति भोजन बनाने की तैयारी करता है तब वह किसी के पूछने पर कहता है – मैं रोटी या भात बना रहा हूँ । यद्यपि भोजन अभी बन नहीं रहा हैं, कुछ समय बाद बनेगा; किन्तु संकल्प हो जाने से यह कहना भी सत्य हैं । यह भविष्यग्राही नैगम नय है ।

नैगम नय के दो भेद हैं – (१) समग्रग्राही और (२) देशग्राही ।

(क) **समग्रग्राही नैगम नय** – यह सामान्य को ग्रहण करता है । उदाहरणार्थ– सोने, पीतल, मिट्टी का भेद न करके सभी प्रकार के घड़ों को एक 'घड़ा' शब्द से ग्रहण करना ।

(ख) **देशग्राही नैगम नय** – यह देश अर्थात् अंश को ग्रहण करता है । जैसे – यह पीतल का घड़ा है, मिट्टी का घड़ा है, इत्यादि ।

समग्ररूप से नैगम नय सामान्य (द्रव्य) और विशेष (पर्याय) दोनों को ही ग्रहण करता है, अर्थात् पूरे द्रव्य को (पर्याय सहित) ग्रहण करता है; किन्तु कथन शैली में द्रव्य और पर्याय का कंथन एक साथ नहीं हो सकता अतः जब यह द्रव्य को मुख्य करके और पर्याय को गौण रखकर कथन करता है तो **समग्रग्राही नैगम नय** होता है और जब पर्याय की मुख्यता से (द्रव्य को गौण रखकर) कथन करता है तो **देशग्राही नैगम नय** कहलाता है ।

नैगम नय को एक उदाहरण द्वारा यों समझ सकते हैं –

परिचय जानने के लिए एक ने दूसरे से पूछा–आप कहाँ रहते हैं ?

दूसरा व्यक्ति धार्मिक स्वभाव का था, उसने कहा–लोक में ।

पहला व्यक्ति भी तत्त्व का जानकार था । उसने कहा–लोक तो बहुत विस्तृत हैं । उसमें आप कहाँ रहते हैं ?

दूसरा व्यक्ति – मध्यलोक में ।

पहला – मध्यलोक में कहाँ ?

दूसरा – जम्बूद्वीप में ।

पहला– जम्बूद्वीप में कई क्षेत्र हैं । आप किस क्षेत्र में निवास करते हैं ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा – भरत क्षेत्र में ।

पहला – भरत क्षेत्र में तो बहुत से जनपद (देश) हैं । आप किस देश में रहते हैं ?

दूसरा–मगध देश में ।

पहला–मगध देश के किस नगर में ?

दूसरा–राजगृह में ।

पहला–राजगृह के किस पाड़े (गली) में ?

दूसरा– नालंदा पाड़ा में ।

पहला–नालंदा पाड़ा के किस मकान में आपका आवास है ?

दूसरा –अमुक मकान में ।

यह सभी प्रश्न और उत्तर नैगम नय के अन्तर्गत हैं । इनमें पूर्व–पूर्व के वाक्य सामान्य धर्म को और उत्तर–उत्तरवर्ती वाक्य विशेष धर्म को ग्रहण करते हैं । इस प्रकार के सभी व्यवहारों में नैगम नय की प्रधानता है ।

(२) **संग्रहनय** – यह समूह की अपेक्षा से विचार करता है । जैसे – एक 'बर्तन शब्द से लोटा, थाली, गिलास आदि सभी का कथन कर देना ।

(३) **व्यवहार नय** – यह संग्रह नय के कथन में भेद प्रभेद करता है । जैसे–संग्रह नय के अनुसार 'बर्तन' शब्द से लोटा, गिलास आदि सभी ग्रहण कर लिये जाते हैं; किन्तु व्यवहार नय 'लोटा' को 'लोटा' कहता है और 'गिलास' को 'गिलास' तथा 'थाली' को 'थाली' आदि ।

लोक व्यवहार को सुचारु रूप से चलाने के लिए व्यवहारनय अधिक उपयोगी और अनुकूल है ।

(४) **ऋजुसूत्र नय** – केवल वर्तमान की पर्याय को ही ग्रहण करता है । भूत और भविष्य की पर्यायों को गौण रखता है ।

(५) **शब्द नय** – व्याकरण सम्बन्धी लिंग, वचन, काल आदि के दोषों को दूर करके वस्तु का कथन करता है ।

स्वोपज्ञभाष्य में के शब्द नय ३ भेद बताये गये हैं – (१) साम्प्रत, (२) समभिरूढ़ और (३) एवंभूत । किन्तु साम्प्रत शब्द अधिक प्रचलित नहीं हैं, सामान्यतः 'शब्द' ही प्रचलित हैं ।

(६) **समभिरूढ़ नय** – जो शब्द जिस अर्थ में रूढ़ हो उसको उसी रूप में यह नय ग्रहण करता है। जैसे 'गो' शब्द के गमन आदि अनेक अर्थ है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु यह 'गाय' के अर्थ में रूढ़ है, अतः समभिरूढ़ नय 'गो' शब्द 'गाय' की ही विवक्षा करता है, अन्य अर्थों की नहीं करता ।

(७) **एवंभूत नय** – यह केवल वर्तमान काल की क्रिया को ही ग्रहण करता है । जैसे–'इन्द्र' को तभी इन्द्र कहना जब वह ऐश्वर्य सहित हो, 'वज्रपाणि' तभी कहना जब उसके हाथ में वज्र हो ।

यह पर्यायवाची शब्दों में भी भेद करके मुख्यवाची शब्द को ग्रहण करता ह।

वैसे नयों के मुख्य रूप से दो भेद होते हैं – (१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक । उपरोक्त वर्णित सातों नयों का समावेश इन दो भेदों में हो जाता है– नैगम, संग्रह, व्यवहार ये तीन द्रव्यार्थिक नय हैं और ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत ये चार पर्यायार्थिक नय है ।

नयों का पारस्परिक सम्बन्ध – यह सातों नय परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित हैं । इनकी विशेषता यह है कि पूर्व–पूर्व नय की अपेक्षा उत्तर–उत्तर नय का विषय अल्प (सूक्ष्म) हो जाता है ।

नैगमनय सामान्य और विशेष दोनों को ग्रहण करता है; जबकि **संग्रहनय** विशेष को गौण कर सिर्फ सामान्य को ग्रहण करता है और **व्यवहारनय** विशेष पर अपनी दृष्टि जमाता है, सामान्य को गौण कर देता है ।

ऋजुसूत्र नय वर्तमान काल की पर्याय को मुख्यता देता है; जबकि शब्द नय व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों (लिंग, वचन आदि की अशुद्धियों) को दूर करके सही शब्द के प्रयोग को मुख्यता प्रदान करता है । समभिरूढ़ नय पर्यायवाची शब्दों के भेद को स्वीकार नहीं करना जबकि एवं भूत नय इन भेदों को भी स्वीकार करता है ।

इस प्रकार इन नयों का विस्तार–क्षेत्र कम होता चला गया है ।

अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना आदि में इन नयों का एक दूसरी अपेक्षा से भी वर्गीकरण किया गया है । वहाँ नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र नय–इन चारों नयों को **'अर्थनय'** बताया गया है तथा शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय को **'शब्दनय'** कहा गया है ।

इसका कारण यह दिया है कि प्रथम चार नय अर्थ को अपना विषय बताते हैं, इसलिए 'अर्थनय' हैं और अन्तिम तीन नयों का विषय प्रमुख रूप से शब्द हैं, इसलिए ये 'शब्दनय ' हैं ।

नयों के प्रकारों के विषय में आचार्य सिद्धसेन ने बड़ी ही महत्वपूर्ण बात कही हैं । वे कहते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति णयवाया

–सन्मतर्क

अर्थात् वचन के जितने भी प्रकार हो सकते हैं, उतने ही नय भी हो सकते हैं ।

वास्तविक स्थिति यह है कि नय किसी भी वस्तु के वर्णन करने का, उसके स्वरूप कथन का ढंग है, एक शैली है। अतः जितनी भी शैलियों से वक्ता वस्तु का कथन करें, उतने ही नय हो सकते हैं ।

फिर भी सामान्य रूप से सभी प्रकार की कथन शैलियों का इन सात नयों में वर्गीकरण कर दिया गया है ।

नये का प्रमाणत्व – सामान्य रूप से जिज्ञासा हो सकती है कि ये नय प्रमाण है अथवा अप्रमाण ? यदि प्रमाण हैं तो प्रमाण से अलग क्यों हैं ? और यदि अप्रमाण हैं तो किसी विषय के विवेचन में, उसकी सत्यता दर्शाने में यह बिल्कुल ही अनुपयोगी हैं ।

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि ये सभी नय प्रमाण हैं, सत्य हैं और वस्तु के सत्य स्वरूप को समझने के लिए आवश्यक है ।

प्रमाण से अलग ये इस अपेक्षा से हैं कि प्रमाण तो सकलादेशी होता है, वह सम्पूर्ण वस्तु का कथन एक साथ कर देता है जबकि नय विकलादेशी होते हैं, ये वस्तु के एक–एक गुण तथा पर्याय का अलग–अलग वर्णन करत हैं

यह जिज्ञासा भी उचित है कि नय मिथ्या हैं अथवा सत्य । इस विषय में जैनदर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि जो सापेक्ष कथन होता है वे सुनय हैं ओर जो अपेक्षा रहित एकान्तिक कथन है, वे दुर्नय है ।

सुनय का अभिप्राय यह है कि किसी वस्तु के एक गुण का वर्णन करते समय अन्य गुणों का लोप न करें, अपितु गौण ही करें क्योंकि प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण हैं; जैसे–एक व्यक्ति पिता भी होता है, पुत्र भी और पति भी होता है ।

जिस समय उसके 'पितापन' का वर्णन किया जाय तो 'पुत्रपन' तथा 'पतिपन' को अस्वीकार न कर दिया जाय । यदि अन्य गुणों का इन्कार कर दिया गया तो एकान्त हो जायेगा और नय दुर्नय बन जायेगी।

वस्तुतः वस्तु अनेक धर्मात्मक हैं और जैनदर्शन की विचार शैली अनेकान्तात्मक हैं । इसी अनेकान्तात्मक विचार को दृष्टिगत रखते हुए वर्णन करने वाले सभी नय सम्यक् हैं, सत्य हैं और वस्तु के यथार्थ स्वरूप को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समझने के लिए उपयोगी हैं । इनके द्वारा प्राप्त ज्ञान सम्यक् होता है और मोक्षमार्ग को जानने-समझने तथा उस ओर गति-प्रगति करने में सहायक बनता है ।

नयों का उदाहरण - नयों का विषय थोड़ा शुष्क हैं; किन्तु तत्त्व को समझने के लिए उपयोगी भी बहुत हैं । साथ ही नैगम आदि सभी नय परस्पर सम्बन्धित हैं । इन्हें भली प्रकार हृदयंगम करने के लिए एक दृष्टान्त लीजिए।

एक व्यक्ति स्थानक की ओर जा रहा है । रास्ते में उसके किसी मित्र ने पूछा-कहाँ जाते हो ?

उसने उत्तर दिया - सामायिक करने ।

नैगम नय की अपेक्षा उसका उत्तर ठीक हैं । क्योंकि यह नय भविष्यग्राही भी है ।

नैगम नय के अनुसार गुरू से आज्ञा माँगते और गुरुदेव द्वारा आज्ञा प्रदान करते ही वह व्यक्ति सामायिक कर्ता हो जाता है ।

अभी वह व्यक्ति आसन बिछाकर बैठ रहा है किन्तु संग्रहनय के अनुसार वह सामायिक कर रहा है ।

व्यवहार नय उसे तब सामायिक में मानता है, जब वह गुरु चरणों में बैठ जाता है ।

जब वह व्यक्ति सामायिक पाठ पढ़ता है, जप ध्यान आदि क्रिया करता है तब ऋजुसूत्र नय उसे सामायिक में स्वीकार करता है ।

शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत नय उसे तभी सामायिक में स्वीकार करते हैं, जबकि वह व्यक्ति सामायिक में उपयोगवान हो ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्व-पूर्ववर्ती नय से उत्तर-उत्तरवर्ती नय सूक्ष्मग्राही हैं । पूर्व-पूर्व नय अधिक विस्तृत क्षेत्र को ग्रहण करते हैं, उनका विस्तार अधिक (Wide span) है और उत्तर-उत्तरवर्ती नय सूक्ष्म (to the point) बनते जाते है ।

यह नय-प्रणाली की वैज्ञानिकता है । किसी भी विषय के परिज्ञान की विज्ञान-समस्त अध्यापन विधि हैं । सामान्य ज्ञान से प्रारंभ करके उस विषय के तलछट में पहुंचा जाता है, तभी वह विषय पूरी तरह हृदयंगम हो पाता है ।

यही नयवाद का ज्ञान-प्राप्ति में महत्व है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सप्तभंगी

स्याद्वाद जैनदर्शन की एक अन्यतम विशेषता है । स्याद्वाद के अभाव में जैनदर्शन की कल्पना भी कठिन हैं । एक आचार्य ने जैन धर्म का लक्षण ही यह दिया है –

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते ।
नास्त्यन्यपीडनं कञ्चित्, जैनधर्मः स उच्यते ॥

स्याद्वाद का दूसरा नाम अनेकान्तवाद भी है । प्रश्नों का उत्तर देने की भगवान महावीर की प्रणाली यही रही है । उदाहरणार्थ – गौतम स्वामी ने जब भगवान से जीव की शाश्वतता–अशाश्वतता के विषय में जिज्ञासा की तो भगवान ने फरमाया –

गौतम ! जीव स्यात् (कथंचित्–किसी अपेक्षा से) शाश्वत है और स्यात् (किसी अपेक्षा से) अशाश्वत हैं ।

आगमों का यही 'स्यात' (कथंचित्–किसी अपेक्षा से) शब्द आगे चलकर जैन तर्कशास्त्र का मूलाधार बन गया है । जैनन्याय में इसका खुलकर प्रयोग हुआ– वाद–विवाद में भी और बस्तु का स्वरूप समझने में भी ।

दार्शनिक युग में आते–आते यह स्याद्वाद सप्तभंगी के रूप में विकसित हो गया ।

संप्तभंगी का अर्थ हैं – सात प्रकार के भंग –विकल्प–वाक्य विन्यास– बोलने और उत्तर–प्रत्युत्तर की विधि ।

वस्तुगत अनन्तधर्मों (गुणों–पर्यायों) में से किसी एक के विधिनिषेद, उभयात्मक तथा अवक्तव्य – अविरोधात्मक कथन के लिए सप्तभंगी बहुत ही महत्वपूर्ण है । सात भंगों का संक्षिप्त स्वरूप–विवेचन यह है –

(१) **स्यादस्ति**–वस्तु स्व–द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा है।

(२) **स्यान्नास्ति**–वस्तु पर–द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा नहीं ह।

उदाहरणार्थ–घड़ा मिट्टी का है, रसोईघर में स्थित हैं, वर्तमान काल में है और अपने भाव में हैं, यह स्यादस्ति हैं । किन्तु वही घड़ा चाँदी का नहीं हैं, अन्य स्थान, यथा–पर्वत पर नहीं हैं, भूतकाल में नही था । अन्य भाव से नही है, यह स्यान्नस्ति हैं ।

इस विधि–निषेधात्मक कथन से वस्तु का ज्ञान निश्चित रुप से होता ह।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(३) **स्यादस्ति-नास्ति** किसी अपेक्षा से वस्तु है और किसी अपेक्षा से नहीं भी है ।

(४) **स्यादवक्तव्य-** किसी अपेक्षा से वस्तु का कथन नहीं किया जा सकता ।

सत्य यह है कि वस्तु का कितना भी वर्णन किया जाय, किन्तु वह रहेगा आंशिक ही, पूर्ण वर्णन नहीं किया जा सकता । जैसे किसी महान आत्मा के गुणों का वर्णन कितनी भी विशदता से किया जाय फिर भी कुछ गुण तो अवर्णित रह ही जायेंगे । यही अवक्तव्यता है ।

(५) **स्यादस्ति अवक्तव्य** - वस्तु है किन्तु अवक्तव्य है ।

(६) **स्यान्नास्ति अवक्तव्य** - वस्तु नहीं है किन्तु अवक्तव्य भी है

(७) **स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य** - वस्तु है भी, नहीं भी है और अवक्तव्य है ।

इसको एक उदाहरण से समझिये -

पढ़ाई में कमजोर किसी छात्र की सफलता के विषय में उसके शिक्षक से जानकारी प्राप्त की जाय तो सात प्रकार की जिज्ञासाएँ हो सकती हैं और उनके सात प्रकार के ही उत्तर संभव है । वह शिक्षक यही उत्तर देगा ।

(१) वह विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण हो जायेगा (स्यादस्ति)

(२) उत्तीर्ण नहीं होगा (स्यान्नास्ति)

(३) पहले से तो उसकी शिक्षा में सुधार है, पर इतना नहीं कि सफलता का विश्वास किया जा सके । (स्यादिस्ति-नास्ति)

(४) सफलता के बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता । (स्यादवक्तव्य)

(५) सुधार तो है (अस्ति) फिर भी कुछ कह नहीं सकते (अवक्तव्य) (स्यादस्ति-अवक्तव्य)

(६) अभी तो सुधार नहीं (नास्ति) पर भविष्य के बारे में कुछ कह नहीं सकते (अवक्तव्य) (स्यान्नास्ति अवक्तव्य)

(७) सुधार तो है (अस्ति) परन्तु विशेष सुधार नहीं है (नास्ति) फिर भी परीक्षा में सफलता के बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता (अवक्तव्य) (स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामान्य जीवन के उदाहरण से ही सप्तभंगी का महत्व स्पष्ट हो जाता है। इसके अन्य भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते है ।

सप्तभंगी धामिक क्षेत्र में तो महत्वपूर्ण है ही व्यावहारिक, क्षेत्र में भी इसका बहुत महत्व है । इसके उपयोग बिना व्यक्ति का पारिवारिक, नैतिक, सामाजिक सभी प्रकार का जीवन विश्रृंखलित हो जायेगा ।

इसका प्रभाव इतना व्यापक है कि सभी दार्शनिकों, विद्वानों, मनीषियों यहाँ तक कि साधारण जनता ने भी इसे अपनाया । विद्वानों ने विभिन्न नाम देकर तो जन-साधारण ने बिना नाम दिये ही इसे जीवन व्यवहार में स्वीकार किया है ।

इसीलिए तो एक आचार्य ने कहा है –

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा न निव्वडइ ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगन्तवायस्स ।

– जिसके बिना लोक व्यवहार सुविधापूर्वक नहीं चल सकता, उस जगत के एकमात्र गुरु अनेकांतवाद को नमस्कार है ।

* * *

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय अध्याय

जीव विचारणा

(SOUL)

उपोद्घात

प्रथम अध्याय में सात तत्त्वों का नाम निर्देश किया है और बताया है कि इन तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन और यथार्थ एवं विशद ज्ञान ही सम्यक्ज्ञान है ।

प्रथम अध्याय में सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान (साथ ही ज्ञानमिथ्याज्ञान-सामान्यज्ञान) का वर्णन करके स्वरूप समझा दिया गया है

अब इस दूसरे अध्याय से सात तत्त्वों में से प्रथम तत्त्व 'जीव' का वर्णन प्रारम्भ किया जा रहा है ।

प्रस्तुत अध्याय में जीवों के भाव, जीवों के भेद-प्रभेद, इन्द्रियाँ, मरण के समय की गति, जीव के शरीर, जन्म ग्रहण करने की योनियाँ, लिंग आदि का वर्णन किया गया है ।

आगमन वचन -

छव्विधे भावे पण्णत्ते -

ओदइए, उवसमिते, खत्तिते, खओवसमिते, पारिणामिते, सन्निवाइए ।

- अनुयोग द्वार, सूत्र २३३, स्थानांग स्थान ६, सूत्र ५३७
-भगवती, १४/१७

भाव छह प्रकार के होते हैं- (१) औदयिक, (२) औपशमिक, (३) क्षायिक, (४) क्षायोपशमिक, (५) पारिणामिक और (६) सन्निपातिक ।

जीव के भाव (परिणाम) -

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक-पारिणामिकौ च ।१ ।

(१) औपशमिक, (२) क्षायिक, (३) क्षायौपशमिक (मिश्र), (४) और दयिक और (५) पारिणामिक-यह पाँचों ही भाव जीव के स्वतत्त्व हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में कथित पाँचों भाव जीव के अपने ही निजतत्त्व हैं । भाव का अर्थ हैं, आत्मा की अवस्था या अन्तःकरण की परिणति । इसमें पाँच प्रकार से पाँच भाव का वर्णन है ।

(१) **औपशमिक भाव** – जिस प्रकार मलिन जल में निर्मली=फिटकरी आदि पदार्थ डालने से उसकी मलिनता दब जाती है, नीचे बैठ जाती है और जल स्वच्छ दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार कर्मों का उपशम (उदय न होने से) जीव के परिणामों में जो विशुद्धि हो जाती है, वे औपशमिक भाव हैं ।

(२) **क्षायिक भाव** – जीव के यह भाव कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने से होते हैं । कर्मों के क्षय से जीव के परिणाम अत्यन्त विशुद्ध और निर्मल होते हैं, साथ ही यह सदाकाल के लिए वैसे ही बने रहते हैं, क्योंकि प्रतिपक्षी कर्म का सम्पूर्ण क्षय अथवा विनाश हो गया तो फिर मलिनता कैसे आवेगी?

(३) **क्षायौपशमिक भाव** – यह कर्म के क्षयोपशम से होते हैं । 'क्षयोपशम' शब्द 'क्षय' और 'उपशम' इन दो शब्दों की सन्धि से बना है । इसका शास्त्रीय लक्षण इस प्रकार है – वर्तमानकाल की अपेक्षा सर्वघाती, कर्मों, दलिकों का उदयाभावी क्षय (झड़ जाना) तथा भविष्यकाल की अपेक्षा सर्वघाती कर्म दलिकों का सद्वस्थारूप उपशम (राख से ढकी आग की भाँति सत्ता तो में रहें किन्तु उनका उदयन हो)।

इसकी विशेषता यह है कि जीव के परिणामों की शुद्धाशुद्ध दशा रहती है यानी कुछ मलिनता और अधिकांश में स्वच्छता, एक शब्द में मिश्रित दशा । इसीलिए सूत्र में क्षायोपशमिक भाव के लिए मिश्र शब्द दिया गया है । 'मिश्र' शब्द भावों की दशा का स्पष्ट वर्णन करता है ।

(४) **औदयिक भाव** – द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के निमित्त से कर्म जो फल जीव को वेदन (अनुभव) कराता है, वह उदय है और कर्मोदय के निमित्त से होनेवाले जीव का भाव 'औदयिक भाव' कहलाता है ।

(५) **पारिणामिक भाव** – जीव के जिन भावों में कर्म की बिल्कुल भी अपेक्षा नहीं होती, जीव की जो स्वतः परिणति होती है व पारिणामिक भाव कहलाते हैं ।

ये सभी भाव जीव के जीवत्व गुण (जिस गुण के कारण जीव जीवित रहता है) की अपेक्षा से बताये गये हैं । यद्यपि जीव में अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनेक गुण हैं; किन्तु जीवत्व गुण उसका असाधारण गुण हैं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता; इसलिए यहाँ जीव के जीवत्व गुण की अपेक्षा उसके भावों का वर्णन हुआ है ।

भावों के भेदों की संख्या –

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ।२।

(उक्त पाँच भावों के) अनुक्रम से दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं ।

विवेचन – औपशमिक भाव के दो भेद हैं, क्षायिक के नौ (नव), मिश्र (क्षायोपशमिक) के अठारह, औदयिक के इक्कीस और पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं । यों कुल भाव ५३ हैं ।

आगम वचन –

उवसमिए दुविहे पण्णत्ते तं जहा–

उवसमे अ उवसमनिप्फण्णे अ...

उवसमिया सम्मत्तलद्धी उवसमिआ चरित्तलद्धी ।

– अनुयोग द्वार सूत्र २३९, २४१

औपशमिक (भाव) दो प्रकार का है, यथा –

(१) उपशम और (२) उपशमनिष्पन्न... उपशमिक सम्यक्त्व लब्धि, उपशमिक चारित्रलब्धि ।

औपशमिक भाव के भेद –

सम्यक्त्व चारित्रे । ३।

औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र– ये दो औपशमिक भाव हैं।

विवेचन – औपशमिक सम्यक्त्व के विषय में तो विस्तृत विवेचन प्रथम अध्याय के चौथे सूत्र **'तन्निसर्गाधिगमाद्वा'** के अन्तर्गत किया जा चुका है । किन्तु यहाँ औपशमिक चारित्र का भी उल्लेख सूत्र में हुआ है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है सम्यक्त्व के उपरान्त ही चारित्र होता है, यहाँ भी वही नियम है । कहा भी है –

सम्यग्ज्ञानवतः कर्मादानहेतु क्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम् ।

सम्यग्ज्ञान के उपरान्त कर्मादान (कर्मों के आगमन) की क्रिया से उपरत हो जाना सम्यक्चारित्र है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

औपशमिक सम्यक्त्व में जिस प्रकार दर्शनसप्तक का उपशम हो जाता हैं; इसी प्रकार उपशमचारित्र में भी चारित्रमोहनीय अथवा कषाय मोहनीय (अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ) का उपशम हो जाता है ।

इन कषायों के उपशमन होने से, दब जाने से आत्मा के परिणाम बहुत निर्मल और स्वच्छ हो जाते हैं, उस जीव को अपने शुद्धात्मा का उस समय रसास्वादन होता है, श्रेणी चढ़ने पर वह शुक्लध्यान पर भी पहुंच जाता ह।

किन्तु इतना सब होते हुए भी वह जीव वीतराग केवली नहीं बन पाता, कषायों का उदय होते ही पुनः उसके परिणाम मलिन हो जाते हैं ।

फिर भी ये सम्यक्त्व और चारित्र आत्मा के निज भाव तो हैं ही । इसी अपेक्षा से प्रस्तुत सूत्र में इनका उल्लेख हुआ है ।

आगम वचन -

खइए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा--

खइए अ खयनिप्फण्णे अ । ... खीणकेवलणाणावरणे.. खीणकेवल- दंसणावरणे,

खीणदंसणमोहणिज्जे खीणचरित्तमोहणिज्जे...

खीणदाणंतराए खीणलाभंतराए खीणभोगन्तराए, खीणउवभोगंतराए खीणवीरियंतराए....

से तं खइए । *अनुयोगद्वार, सूत्र ४२-४४*

(क्षायिक (भाव) दो प्रकार का कहा गया है- (१) क्षायिक और (२) क्षयनिष्पन्न ।

केवलज्ञानावरण को नष्ट करने वाले ... केवलदर्शनावरण को नष्ट करनेवाले, दर्शनमोहनीय को नष्ट करने वाले, चारित्रमोहनीय को नष्ट करने वाले ... दानांतराय को नष्ट करने वाले, लाभांतराय को नष्ट करने वाले, भोगान्तराय को नष्ट करने वाले, उपभोगान्तराय को नष्ट करने वाले, वीर्यान्तराय को नष्ट करने वाले, इस प्रकार क्षायिक भाव का वर्णन किया गया ।)

विशेष - मूल सूत्र में क्षायिक और क्षयनिष्पन्न भावों के अन्तर्गत आठों कर्मो (उत्तर प्रकृतियों सहित) के क्षय का वर्णन किया गया है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षायिक भावों के भेद –

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ।४।

१. ज्ञान, २. दर्शन, ३. दान, ४. लाभ, ५. भोग, ६. उपभोग, ७. वीर्य–यह सात भाव तथा 'च' शब्द से संकेतित पूर्व सूत्र में उक्त ८. सम्यक्त्व और, ९. चारित्र–यह नौ क्षायिक भाव हैं

विवेचन – क्षायिक भाव सदा ही प्रतिपक्षी अथवा प्रतिबन्धक कर्म के पूर्णतया निःशेष अर्थात् क्षय होने पर होते हैं ।

इस अपेक्षा से यहां ज्ञान, दर्शन आदि सभी से पहले क्षायिक शब्द का उपयोग कर लेना चाहिए, जैसे क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन आदि ।

सूत्र में कहे हुए आदि के सात भाव क्षायिक ज्ञान से लेकर क्षायिक वीर्य तक जीव को तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त होते हैं, तब जबकि वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्म का पूर्णरूप से क्षय कर चुका होता है ।

क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शन को केवलज्ञान तथा केवलदर्शन भी कहा जाता है । आगम पाठ में भी यही कहा गया है ।

किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व की उपलब्धि दर्शनसप्तक के सम्पूर्ण क्षय से होती है । अतः क्षायिक सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में हो सकता है ।

क्षायिक चारित्र जीव के साथ लगे हुए चारित्रमोहनीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से ही उपलब्ध होता है, अतः यह बारहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय (अन्तिम क्षण से एक क्षण पहले) में ही प्राप्त हो पाता है, आगे तेरहवें गुणस्थान में तो रहता ही है । इसी क्षायिक चारित्र को यथाख्यात अथवा वीतराग चारित्र भी कहा जाता है

क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य–इन पांचो– की उपलब्धि अन्तराय कर्म के क्षय से होती है । यहां वीर्य का अभिप्राय जीव की स्वयं की शक्ति से है ।

सम्यक्त्व और चारित्र चूंकि औपशमिक भी होते हैं, और क्षायिक भी; इसीलिए सूत्र में 'च' शब्द से इन्हें संकेतित कर दिया गया है । पूर्व सूत्र में यह औपशमिक भाव के अन्तर्गत आये हैं और इस सूत्र में इनकी संयोजना क्षायिक भावों के अन्तर्गत की गई है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम वचन -

खओवसमिए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-खओवसमिए य खओवसमनिप्फण्णे य ।

खओवसमिआ आभिणिबोहिअणाणलद्धी जाव खओवसमिआ मणपज्जवणाणलद्धी ।

खओवसमिआ मइअण्णाणलद्धी खओवसमिआ सुअ-अण्णाणलद्धी खओवसमिआ विभंगणाणलद्धी ।

खओवसमिआ चक्खुदंसणलद्धी अचक्खुदंसणलद्धी ओहिदंसणलद्धी एवं सम्मदंसणलद्धी ... ।

खओवसमिआ सामाइयचरित्तलद्धी.... चरित्ताचरित्तलद्धी खओव-समिआ दाणलद्धी एवं लाभ, भोग, उपभोग, खओवसमिआ वीरियलद्धी।

से तं खओवसमिए ।

अनुयोग द्वार सूत्र २४२-२४७

(क्षायोपशमिक भाव दो प्रकार का कहा गया है १. क्षायोपशमिक और २. *क्षयोपशमनिष्पन्न* ।

क्षायोपशमिक मतिज्ञान से लगाकर श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान क्षायोपशमिक मनःपर्यायज्ञान तक ।

क्षायोपशमिक मति अज्ञान लब्धि, क्षायोपशमिक श्रुत अज्ञान लब्धि, क्षायोपशमिक अविधज्ञान/विभंगज्ञान लब्धि ।

क्षायोपशमिक चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, सम्यग्दर्शन लब्धि ।

क्षायोपशमिक सामायिक चारित्रलब्धि ... चारित्राचारित्रलब्धि (देशसंयम), क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य लब्धि ... ।

इस प्रकार क्षायोपशमिक भाव का वर्णन हुआ ।

मिश्र (क्षायोपशमिक) भावों के भेद -

ज्ञानाऽज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदा :

सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ।६।

ज्ञान - (१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान और (४) मनःपर्यवज्ञान ।

अज्ञान - (५) मतिअज्ञान (६) श्रुतअज्ञान (७) विभंगज्ञान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन – (८) चक्षुदर्शन (९) अचक्षुदर्शन (१०) अवधिदर्शन ।

दानादि – (११) दान (१२) लाभ (१३) भोग (१४) उपभोग (१५) वीर्य ।

सम्यक्त्व – (१६) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व

(१७) **चारित्र** और (१८) **संयमासंयम** (देशसंयम)

यह १८ क्षायोपशमिक भाव हैं ।

विवेचन – क्षायोपशमिक भावों की उपलब्धि कर्मों के क्षयोपशम से होती हैं । क्षयोपशम में क्षय और उपशम दोनों ही हैं, अतः जीव की भाव धारा मिश्रित अथवा शुद्धाशुद्ध होती है । अधिक अंश में शुद्धता और कम अंश में अशुद्धता ।

उदाहरणार्थ : धतूरे की बीजों को खूब अच्छी तरह शुद्ध किया जाय तो उनकी मारक, मूर्च्छित करने की शक्ति काफी सीमा तक समाप्त हो जाती है; किन्तु फिर भी कुछ शेष रह जाती है, लेकिन यह विशेष कार्यकारी नहीं होती, इसका अधिक प्रभाव नहीं पड़ता ।

इसी तरह क्षायोपशमिक भाववाले जीव को उसके प्रतिबन्धक तथा प्रतिपक्षी कर्म विशेष हानि नहीं पहुंचा सकते ।

मतिज्ञान से लेकर सम्यक्त्व तक – इन सोलह भावों से पहले क्षायोपशमिक विशेषण लगा लिया जाता है । इस विशेषण से ही इनकी विशेषता प्रकट हो जाती है ।

ज्ञानावरण के क्षयोपशम से चार ज्ञान और तीन अज्ञान होते है किन्तु मिथ्यात्व–मिश्रित होने की अपेक्षा से इन तीनों को अज्ञान कहा जाता है । दर्शनावरण और अन्तराय के क्षयोपशम से ३ दर्शन तथा ५ दानादि लब्धियाँ प्राप्त होती हैं और दर्शन–सप्तक के क्षयोपशम से क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है ।

प्रत्याख्यानावरण कषायों के क्षयोपशम से चारित्र और अप्रत्याख्यानावरण के क्षयोपशम से संयमासंयम अथवा देशचारित्र की उपलब्धि होती है। देशचारित्र श्रावक के बारह व्रत के रूप है ।

आगम वचन –

उदइए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–उदए य उदयनिप्फण्णे य ।

णेरइए तिरिक्खजोणिए मणुस्से देवे कोहकसाई जाव लोहकसाई इत्थीवेवए पुरिसवेदए नपुंसगवेदए कण्हलेसे जाव सुक्कलेसे मिच्छादिट्ठी अविरए... अण्णाणी... असिद्धे...

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से तं उदइए ।

– अनुयोगद्वार सूत्र, २३४, २३७

(औदयिक (भाव) दो प्रकार का होता है, यथा (१) औदयिक और (२) उदयनिष्पन्न ।

नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव.. क्रोध, कषायी सें लगाकर (मान कषायी, माया कषायी) लोभ कषायी, स्त्रीवेद वाले, पुरुषवेद वाले, नपुंसकवेद वाले, कृष्णलेश्या वाले ले लगाकर, (नील, कापोत, तेजो, पद्म लेश्या वाले)शुक्ल-लेश्यावाले तक, मिथ्यादृष्टि.. अविरत...अज्ञानी... असिद्ध ।

यह औदयिक भाव का वर्णन किया गया है ।

औदयिक भावों के भेद –

गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयताऽसिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ।६।

गति– (१. मनुष्य २. देव. ३. नरक ४. तिर्यंच) **कषाय** – (५. क्रोध, ६. मान. ७. माया ८. लोभ) **लिंग** – (९. स्त्रीवेद, १०. पुरूषवेद, ११. नपुंसकवेद) (१२) मिथ्यादर्शन, (१३) अज्ञान (१४) असंयम (१५) असिद्धत्व, **लेश्या** – (१६) कृष्ण (१७) नील (१८) कापोत (१९) तेज (२०) पद्म (२१) **शुक्ल** – यह २१ औदयिक भाव है ।

विवेचन – यह सभी भाव कर्म के उदय से होते हैं, इसलिए औदयिक कहलते हैं । उदाहरण के लिए मनुष्यगति कर्म के उदय से मानव भव प्राप्त होता है । इसी प्रकार अन्य सभी भावों के विषय में भी समझ लेना चाहिए

यहाँ एक शंका हो सकती है कि लेश्या नाम का तो कोई कर्म है ही नहीं, फिर लेश्यारूप परिणाम कैसे होते हैं तथा इन्हें औदयिक भावों में क्यों गिना गया ? इसका क्या कारण है ?

इस शंका के समाधान के लिए पहले लेश्या का स्वरूप समझ लेना जरूरी है । योग और कषाय के निमित्त से आत्मा की जो भाव परिणति – विचारधारा बनती है वह 'भाव लेश्या' कहलाती है । सामान्य रूप से लेश्या की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है । जैसा कि कहा गया है –

जोगपउत्तीलेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होई ।

–गो. जी. ४८६

अतः लेश्या रूप भावों का कारण पर्याप्ति नाम कर्म तथा कषायरूप चारित्रमोहनीय कर्म है । इसलिए लेश्या भी औदयिक भाव है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य लेश्या में पुद्गल विपाकी शरीरनामकर्म का उदय निमित्त पड़ता है, इस कारण द्रव्य लेश्या भी औदयिक भाव है ।

प्रज्ञापना (लेश्या पद) में इस विषय को और भी स्पष्ट कर दिया गया ह।

जं लेस्साइं दव्वाइं आदिअंति तल्लेसे परिणामे भवति ।

जीव जिस लेश्या के योग्य द्रव्य (कर्मदलिक) को ग्रहण करता है, उसके निमित्त से उसी रूप उसके (जीव के) परिणाम (भाव) हो जाते हैं ।

अतः परिणामों के अनुसार भाव लेश्या भी शुभ और अशुभ दो प्रकार की है । कृष्ण नील, कापोत अशुभ लेश्या हैं और तेजो, पद्म तथा शुक्ल-इन तीन को शुभ लेश्या कहा जाता है ।

दूसरी जिज्ञासा 'असिद्धत्व' भाव के विषय में हो सकती है कि इस नाम का कोई कर्म न होने पर भी 'असिद्धत्व' को औदयिक भाव क्यों कहा गया ?

यह ठीक है कि 'असिद्धत्व' नाम का कोई कर्म नहीं है; किन्तु जीव का जो वास्तविक सिद्धत्व स्वभाव है उसे प्रगट न होने देने में कर्म ही कारण है । आठों ही कर्मों का उदय जीव को संसार में रोके रखता है, उसे सिद्ध नहीं होने देता, अतः आठों कर्मों का उदय ही 'असिद्धत्व' भाव का कारण है । अतः इस अपेक्षा से असिद्धत्व भी औदयिक भाव है ।

तीसरी जिज्ञासा यह हो सकती है कि कर्मों की कुल उत्तर प्रकृतियाँ १४८ हैं और उदय योग्य १२२ प्रकृतियाँ हैं तब औदयिक भाव भी १२२ होने चाहिए, २१ क्यों कहे गये ?

इस शंका का समाधान यह है कि 'गति' भाव में आयु, गोत्र, जाति, शरीर आदि का समावेश हो जाता है, मिथ्यात्व में तीनों प्रकार के मिथ्यात्व का तथा कषाय में हास्यादि नोकषायों का-इस प्रकार सभी सम्भव औदयिक भावों का इन २१ भेदों में समावेश हो जाता है ।

---

१. आचार्यों ने विविधदृष्टियों से 'लेश्या' की अनेक परिभाषाएँ की हैं, किन्तु लेश्या की सर्वमान्य तथा सर्वथा संगत कोई एक परिभाषा निश्चित नहीं दी जा सकती । जो परिभाषा प्राप्त हैं उनमें अधिकतम संगत परिभाषा यही लगती है, कि लेश्या न योग है, न कषाय है, किन्तु इन दोनों के संयोग से जनित आत्मा की तदनुरूप भाव धारा-भाव लेश्या है । लेश्या पर विस्तारपूर्ण विवेचन देखें-उत्तराध्ययन सूत्र (आगमसमिती) पर प्रस्तावना उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी, पृ. ८४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम वचन -

परिणामिए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-

साइपरिणामए अ अणाइपरिणामए अ ।

अणाइपरिणामए...जीवत्थिकाए...भवसिद्धिआ, अभवसिद्धिआ।

से तं. अणाइपरिणामिए । अनुयोगद्वार, सूत्र २४८, २५०

(पारिणामिक भाव दो प्रकार का है, यथा (१) आदिपारिणामिक और (२) अनादिपारिणामिक)

अनादिपारिणामिक (१) जीवास्तिकाय (२) भव्यत्व और (२) अभव्यत्व। यह अनादि पारिणामिक भाव हैं ।)

पारिणामिक भावों के भेद -

जीवभव्याभव्यत्वादीनि च ।७।

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व, यह तीन पारिणामिक भाव है तथा अन्य भी पारिणामिक भाव हैं ।

विवेचन - सूत्र में 'च' शब्द से आचार्य ने यह द्योतित किया है कि जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व के अतिरिक्त जीव के और भी पारिणामिक भाव हैं। किन्तु इन तीन का स्पष्ट उल्लेख इसलिए किया है कि यह जीव के असाधारण भाव है, किसी भी अन्य द्रव्य में नही मिलते ।

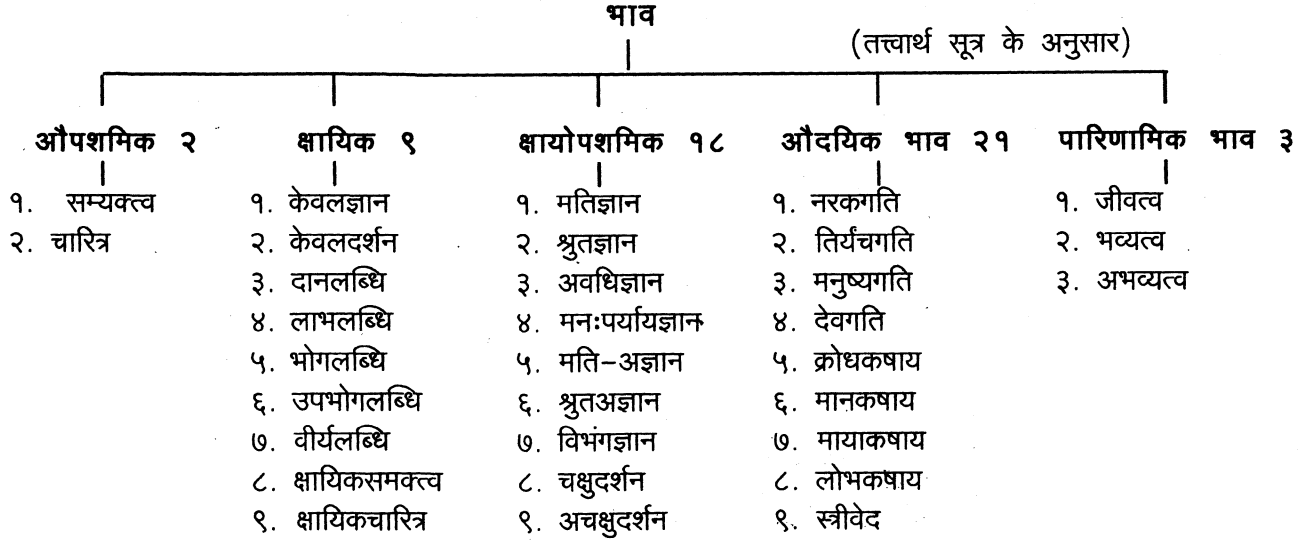
अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रदेशत्व, पारिणामित्व आदि और भी जीव के पारिणामिक भाव है, किन्तु यह गुण अन्य सभी द्रव्यों में भी मिलते हैं इसीलिए इनकी ओर **'आदीनि च'** शब्द से संकेत कर दिया है ।

जीवत्व का अभिप्राय है जीवित रहना, जिस परिणाम के द्वारा जीव तीनों कालों में सदा जीवित रहता है (सिद्धावस्था में ज्ञान-चारित्र आदि भाव परिणामों से और संसारावस्था में आयु आदि दस प्राणों से) वह जीवत्व नाम का पारिणामिक भाव है ।

भव्यत्व का अभिप्राय है, मोक्ष प्राप्ति की योग्यता, इस परिणाम वाला जीव मोक्ष जाने की योग्यता रखता है ।

अभव्यत्व का अभिप्राय है मोक्ष प्राप्ति की अयोग्यता । जैसे कोरडू मूंग नहीं सीझता, इसी प्रकार कितना भी प्रयास करले किन्तु अभव्य जीव मुक्त नहीं हो सकता ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

१०. अवधिदर्शन
११. दानलब्धि
१२. लाभलब्धि
१३. भोगलब्धि
१४. उपभोगलब्धि
१५. वीर्यलब्धि
१६. सम्यक्त्व
१७. देशविरति चारित्र
१८. सर्वविरति चारित्र

१०. पुरुषवेद
११. नपुंसकवेद
१२. कृष्णलेश्या
१३. नीललेश्या
१४. कापोतलेश्या
१५. तेजोलेश्या
१६. पद्मलेश्या
१७. शुक्ललेश्या
१८. अज्ञान
१९. मिथ्यात्व
२०. असिद्धत्व
२१. असंयम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भाव विस्तार

(आधार–अनुयोगद्वार सूत्र १३६, ठाणांग ६,३,५३७
कर्मग्रन्थ ४, गा. ६४–६९)

छह सान्निपातिक भाव

द्विक संयोगी भंग (१०)	त्रिक संयोगी भंग (१०)	चतुः संयोगी भंग (५)	पंच संयोगी भंग (१)
१. औदयिक–क्षायिक	१. औदयिक–औप. क्षायिक	१. औदयिक औप. क्षायिक–क्षायो.	औदयिक–औप.
२. औदयिक औपशमिक	२. औदयिक–औप. क्षायोप.	२. औदयिक–औप. क्षायिक–पारिणा.	क्षायिक–क्षायोप.
३. औदयिक–क्षायोपशमिक	३. औदयिक–औप.–पारिणा.	३. औदयिक–औप. क्षायो.–पारिणा.	पारिणामिक
४. औदयिक पारिणा.	४. औदयिक–क्षायिक.–क्षायोप.	४. औदयिक–क्षायिक.क्षायोप–पारिणा.	
५. औपशमिक–क्षायिक	५. औदयिक–क्षायिक–पारिणा.	५.औपश.–क्षायिक–क्षायोप.–पारिणा.	
६. औप.–क्षायोप.	६. औदयकि–क्षायोप–पारिणा.		
७. औपश.–पारिणामिक	७. औप.–क्षायिक.–क्षायोप.		
८. क्षायिक–क्षायोप.	८.औप.–क्षायिक–क्षायोप.		
९. क्षायिक–पारिणामिक	९. औप.–क्षायोप. पारिणा.		
१०. क्षायोप.–पारिणा.	१०. क्षायिक–क्षायोप–पारिणा.		

Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

इन तीनों भावों में बाहर का कोई भी निमित्त नहीं पड़ता, ये जीव के स्वाभाविक भाव हैं; इसीलिए इन्हें पारिणामिक भाव कहा गया है ।

(चार्ट पेज ८८-८९-९० पर दिये हैं ।)

आगम वचन -

उवओगलक्खणे जीवे । - भगवतीसूत्र, श. २, उद्देशक १०

जीवो उवओगलक्खणो । - उत्तरा. २८/१०

(जीव का लक्षण उपयोग है।)

जीव का लक्षण -

उपयोगो लक्षणम् ।८।

(जीव का लक्षण उपयोग है ।)

विवेचन - लक्षण द्वारा किसी भी वस्तु को अन्य वस्तुओं से अलग करके पहचाना जा सकता है, यही लक्षण ही विशेषता है ।

लक्षण के दो भेद हैं - (१) आत्मभूत और (२) अनात्मभूत । आत्मभूत लक्षण वस्तु के अन्दर ही होता है और अनात्मभूत वस्तु के बाहर रहकर उसके साथ-साथ चलता है; जैसे-संसारी जीव का लक्षण शरीर ह । शरीर, आत्मा से बाह्य होते हुए भी सदैव उसके साथ-साथ रहता है ।

किन्तु 'उपयोग' जीव का आत्मभूत लक्षण है । यह संसारी और सिद्ध दोनों ही दशाओं में रहता है ।

जीव का यह लक्षण त्रिकाल में भी बाधित नहीं हो सकता और असंभव, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों से रहित, पूर्ण निर्दोष है । बोध ज्ञान, चेतना, संवेदन ये सभी उपयोग के पर्यायवाची शब्द है ।

आगम वचन -

दुविहे उवओगे पण्णत्ते-सागारोवओगे, अणागारोवओगे य ।

सागारोवओगे अट्ठविहे पण्णत्ते । .....

अणागारोव ओगे चउव्विहे पण्णत्ते । प्रज्ञापना सूत्र पद २९

(उपयोग दो प्रकार का कहा गया है - (१) साकार उपयोग (२) अनाकार उपयोग ।

साकार उपयोग ८ प्रकार का है । अनाकार उपयोग चार प्रकार का है ।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपयोग के भेद –

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेद : ।९।

वह (उपयोग) दो प्रकार का है और इनके (इन दोनों प्रकारों के) आठ तथा चार भेद है ।

विवेचन – उपयोग के दो मूल भेद हैं – (१) साकार उपयोग और (२) अनाकार उपयोग ।

साकार (विशेष) उपयोग ज्ञान का होता है अतः इसे ज्ञानोपयोग भी कहते हैं तथा दर्शन (सामान्य) अनाकार होने से इसका उपयोग भी अनाकार ही होता है अतः अनाकारोपयोग को दर्शनोपयोग भी कहा जाता है ।

चूँकि ज्ञान आठ प्रकार का होता है, अतः ज्ञानोपयोग भी आठ प्रकार का है – (१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्यवज्ञान (५) केवलज्ञान (६) मतिअज्ञान (७) श्रुतअज्ञान (८) विभंग (कुअवधि) ज्ञान

इन आठ प्रकार के ज्ञानों मे से आत्मा जब जिस उपयोग में जानने की क्रिया करता है तब उसका उपयोग भी उसी प्रकार का हो जाता है ।

दर्शन चार प्रकार का है – (१) चक्षुदर्शन (२) अचक्षुदर्शन (३) अवधिदर्शन (४) केवलदर्शन । इन दर्शनों में जब आत्मा की चेतना अथवा उपयोग–धारा प्रवाहित होती है, तब वह उपयोग भी इन दर्शनों के कारण चार भागों में विभाजित हो जाता है । इसी अपेक्षा से चार प्रकार के दर्शनोपयोग कहे गये हैं ।

दर्शन गुण की एक विशेषता यह है कि वह वस्तु के सामान्य रूप को ही ग्रहण करता है । जैसा कि कहा गया है – **सामान्यसत्तावलोकनम् दर्शनं।** यह वस्तु के आकार आदि को ग्रहण नहीं करता, इसी लिए दर्शनोपयोग को अनाकार अथवा निराकार उपयोग कहा गया है ।

ज्ञान विशेष अंश को ग्रहण करता है, आकार आदि का भी प्रत्यक्ष करता है । इसी कारण इससे साकारोपयोग कहा गया है ।

आगम वचन –

दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता – सिद्धा चेव असिद्धा चेव ।

स्थानांग, स्थान २, उ. १, सूत्र १०१

संसारसमावन्नगा चेव असंसारसमावन्नगा चेव ।

स्थानांग, स्थान २, उ. १, सूत्र ५७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(सभी जीव दो प्रकार के होते हैं - सिद्ध और असिद्ध अथवा संसारी और असंसारी।)

जीवों के मूल प्रकार-

संसारिणो मुक्ताश्च ।१०।

(वे जीव) संसारी और मुक्त-दो प्रकार के हैं ।

विवेचन - कर्मों के बंधन में पड़े हुए, उनके वशीभूत हुए जो जीव जन्म-मरण करते हुए, इस चार गति रूप संसार में संसरण-परिभ्रमण करते हैं, वे जीव संसारी हैं । और जो कर्मों से रहित जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त होकर अविचल, अविनाशी, सुख में लीन हैं, वे सिद्ध जीव हैं ।

संसार की विचारणा दो प्रकार से की जाती है - (१) द्रव्य और (२) भाव; अथवा (१) अनतरंग तथा (२) बाह्य

बाह्य संसार तो चार गति (नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव) रूप है, जिनमें संसारी जीव भ्रमण करता रहता है ।

किन्तु इस बाह्य संसार का कारण है राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ रूप अन्तरंग संसार ।

जब तक अन्तरंग संसार का -मोह, राग-द्वेष आदि का नाश नहीं होता *तब तक बाह्य संसार का भी नाश नहीं होता और जीव संसारी ही बना रहता है । इन दोनों प्रकार के संसार के नाश होने पर ही जीव मुक्त अथवा सिद्ध* हो पाता है ।

आगम वचन -

दुविहानेरइया पण्णत्ता-

सन्नी चेव असन्नी चेव ।

एवं पंचिन्दिया सव्वे विगलिन्दियवज्जा जाव वाणमंतरा वेमाणिया

-स्थानांग, स्थान २, उ. १, सूत्र ७९

(नारक दो प्रकार के होते हैं - (१) संज्ञी और (२) असंज्ञी । इसी प्रकार विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) के अतिरिक्त व्यन्तर और वैमानिक तक सभी पंचेन्द्रियों (मनुष्य और तिर्यच सहित) के संज्ञी और असंज्ञी-दो भेद होते हैं ।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संसारी जीवों के प्रकार –

समनस्काऽमनस्काः ।११।।

(संसारी जीव) मनसहित और मनरहित-दो प्रकार के होते हैं ।

विवेचन – मन का कार्य है-विचार करना, ऊहापोह करना आदि । जिन जीवों में यह शक्ति होती है, उन्हें मन सहित अथवा समनस्क जीव कहा जाता है और जिनमें यह शक्ति नहीं होती वे मनरहित कहलाते हैं ।

यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि क्या मनरहित जीवों के कोई भाव या अध्यवसाय आदि भी नहीं होता ?

इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि उनके केवल भाव-मन होता है, द्रव्य-मन नहीं होता । और द्रव्य-मन के बिना भाव-मन चिन्तन, संकल्प आदि क्रियाओं को करने में सक्षम नहीं हो पाता ।

इसे एक उदाहरण से समझें । एक व्यक्ति है । किसी एक्सीडेंट या किसी अन्य कारणवश, उसके हाथ में या पाँव में अथवा वृद्धावस्था के कारण ही, हाथ-पाँव में अशक्तता आ गई, कोई नस या रक्तवाहिनी शिरा नाड़ी में कुछ विकार आ गया, रक्त संचरण सही रूप में नहीं हो रहा है; तो वह व्यक्ति न हाथ से कुछ काम कर सकता है, न बोझा ही उठा सकता है और न अपने पाँव से चल ही सकता है । हाँ, लकड़ी के सहारे चल लेता है ।

इसी प्रकार भाव-मन को जब द्रव्य-मन का सहयोग प्राप्त हो जाता है, तब वह कार्य कर पाता है, अन्यथा अशक्त सा रह जाता है, अपने कार्यो की अभिव्यक्ति नहीं कर पाता ।

मनसहित और मनरहित-यह दोनों भेद द्रव्यमन की अपेक्षा से हैं ।

आगम वचन –

संसारसमावन्नगा तसे चेव थावरा चेव ।

– स्थानांग, स्थान २, उ. १, सूत्र ५७

(संसारी जीवों के दो भेद हैं – (१) त्रस और (२) स्थावर।)

अन्य अपेक्षा से संसारी जीवों के भेद-

संसारिणस्त्रसस्थावराः ।१२।

संसारी जीवों के दो प्रकार हैं – (१) त्रस और (२) स्थावर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन – त्रस और स्थावर शब्दों का यदि निरुक्त की दृष्टि से अर्थ किया जाय तो चलने-फिरने वाले जीव त्रस हैं और एक स्थान पर स्थिर रहने वाले स्थावर । जैसा कि कहा गया है – **त्रस्यतीति त्रसाः, स्थानशीलाः स्थावराः ।**

इन दोनों त्रस और स्थावर शब्दों का अनुभूति की अपेक्षा से भी अर्थ किया जाता है । इस विषय में सिद्धसेनगणी ने इस सूत्र की टीका में कहा है

परिस्पष्टसुखदुःखेच्छाद्वेषादिलिंगास्त्रसनामकर्मोदयात् त्रसाः ।

अपरिस्फुटसुखादिलिंगाः स्थावरनामकर्मोदयात् स्थावराः ।

–त्रसनामकर्म के उदय से जिन जीवों के सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष आदि स्पष्ट दिखाई देते हों, वे त्रस जीव हैं और स्थावर नामकर्म के उदेय से जिन जीवों के यह भाव (चिन्ह-सुख-दुःख आदि) स्पष्ट न दिखाई देते हों, वे जीव स्थावर हैं ।

जो जीव एक स्थान पर अवस्थित रहते हैं तथा किसी भी कायिक चेष्टा अथवा संकेत द्वारा सुख-दुःख विरोध को स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर पाते वे स्थावर हैं ।

इसके विपरीत त्रस जीव चलते-फिरते हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान को गमन करते हैं तथा सुख-दुखः विरोध आदि को स्पष्ट अभिव्यक्त करते हैं ।

आगम वचन –

पंचथावरकाया पण्णत्ता-

इंदे थावरकाये (पुढवीथावरकाये) बंभे थावरकाए (आऊथावरकाए) सिप्पेथावरकाए (तेऊतावरकाए) सम्मती थावरकाए (वाऊथावरकाए) पायावच्चे थावरकाए (वणस्सइथावरकाए) ।

स्थानांग, स्थान ५, उ. १, सूत्र ३९४

ओराला तसा पाणा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा-बेइंदिया, तेइंदिया चउरिंदिया पंचेन्दिया । – जीवाभिगम, प्रतिपत्ति १, सूत्र २७

(स्थावरकाय के पाँच भेद होते हैं – (१) पृथ्वीस्थावरकाय (२) जलस्थावरकाय (३) अग्निस्थावरकाय (४) वायुस्थावरकाय और (५) वनस्पतिस्थावरकाय ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बादर त्रस जीव चार प्रकार के कहे गये हैं - (१) द्वीन्द्रिय (२) त्रीन्द्रिय (३) चतुरिन्द्रिय और (४) पंचेन्द्रिय)

त्रस और स्थावर जीवों के भेद-

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावरा[1] : ।१३।

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः[2] ।१४।

(१) पृथिवीकायिक (२) अप् (जल) कायिक (३) तेजस्कायिक (४) वायुकायिक और (५) वनस्पतिकायिक - यह पाँचो प्रकार के जीव स्थावर हैं ।

द्वीन्द्रियादिक (१) दो इन्द्रिय वाले, (२) तीन इन्द्रिय वाले (३) चार इन्द्रिय वाले और (४) पाँच इन्द्रिय वाले-यह चारों प्रकार के जीव त्रस ह।

विवेचन - त्रस और स्थावर के लक्षण सूत्र १२ की विवेचना में बताये जा चुके हैं और प्रस्तुत दोनों सूत्रों में त्रसकायिक और स्थावरकायिक जीवों के भेद बताये गये हैं ।

त्रस का अर्थ गति या गमन करने वाले जीवों से है और स्थावर का अभिप्राय एक स्थान पर स्थिर रहने वाले जीवों से जाना जाता हैं; किन्तु यह व्याख्या स्थूल दृष्टि से हैं ।

यदि यह कहा जाय कि अपनी हित बुद्धि से गमन करना त्रसत्व है तो वृक्षों में भी ऐसी गति देखी जाती है । यदि जड़ के मार्ग में भूमि के अन्दर कोई पत्थर आ जाता है तो वे मुड़ जाती है; उसी ओर गति करती हैं, जिधर भूमि मुलायम हो और नमी आदि इन्हें मिलती रहें ।

१-२. कुछ प्रतियों में यह दोनों सूत्र इस प्रकार भी मिलते हैं -**'पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः ।१३।** तथा **'तेजोवायु द्वीन्द्रियादश्च त्रसाः ।१४।'** अर्थात् इन सूत्रों में तेज (अग्नि) कायिक और वायुकायिक जीवों की गणना त्रसकाय जीवों में की गई हैं . किन्तु हमने उक्त मूल पाठ स्वीकार किया जिसमें अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों की गणना स्थावरकाय मे की गई है । इसके दो कारण हैं - प्रथम तो यह आगम के अनुसार है ।(स्थानांग और जीवाभिगम-दोनों आगमों में पाँच प्रकार के स्थावर और चार प्रकार के त्रसों का वर्णन मिलता है ।)
दूसरे तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार सिद्धसेनगणी ने स्वयं स्वीकार किया है कि स्थावरनामकर्म के उदय के कारण **'पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतयः सर्वे स्थावरा एव'** यानी यह सभी स्थावर ही हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

फिर वृक्ष की गति सभी दिशाओं में होती है, वह जड़ के रूप में नीचे की ओर बढ़ता है, तने के रूप में ऊपर की ओर और शाखाओं, टहनियों आदि के रूप में आठों तिर्यक् दिशाओं में गति करता हैं, बढ़ता है अपना आकार-प्रकार फैलाता है ।

सुख-दुःख-भय आदि की स्पष्ट अभिव्यक्ति लाजवन्ती तथा छुई-मुई के पौधों में देखी जाती है । मानव की छाया मात्र से यह पौधे संकुचित हो जाते हैं; भय के कारण सिकुड़ जाते हैं, यह भी गति हैं ।

सूरजमुखी (daffodil) का पुष्प सूर्य की गति के अनुसार दिशा बदलता रहता है । प्रातःकाल पूर्वाभिमुख होता है तो सायंकाल पश्चिमाभिमुख पश्चिमाभिमुख हो जाता है ।

कमलिनी आदि के ऐसे ही अनेक दृष्टान्त दिये जा सकते हैं ।

इसी प्रकार वायु के सम्बन्ध में भी बहुत से उदाहरण हैं ।

इस तथ्य को तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार सिद्धसेनगणी भी भली-भाँति जानते थे, इसी कारण उन्होंने इस सूत्रों की टीका में कहा-

'अतः क्रियां प्राप्य तेजोवाय्योस्त्रसत्वं ... लब्ध्या पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः सर्वे स्थावरनामकर्मोदयात् स्थावरा एव ।

क्रिया-गतिशीलता के कारण तेज और वायु को त्रस कहा जाता है किन्तु लब्धि के अनुसार स्थावरनामकर्म के उदय से पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु और वनस्पतिकायिक - यह सभी स्थावर ही हैं ।

इसीलिए तेजस् और वायुकायिक जीवों को गति त्रस कहा गया है । दूसरे शब्दों में यह दोनों प्रकार के जीव उपचार मात्र से (गति की अपेक्षा) त्रस माने गये हैं ।

स्थावरकाय के पाँचों भेदों में जो पृथिवीकायिक शब्द हैं उसमें काय का अभिप्राय यह है कि जिन जीवों का औदारिक शरीर ही पृथ्वी है, वे पृथिवीकायिक हैं । इसी प्रकार अन्य चारों स्थावर जीवों में बारे में भी समझ लेना चाहिए ।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि पृथिवी, जल, आदि के आश्रय में रहने वाले जीव पृथिवीकायिक अथवा जलकायिक जीव आदि नहीं हैं, वे तो स्पष्ट ही त्रसकायिक है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उदाहरणार्थ आधुनिक विज्ञान ने शुद्ध जल की एक बूंद[1] में ३६४५० चलते-फिरते जीव शक्तिशाली दूरवीक्षण यन्त्र से देख लिए हैं । ये सभी जीव त्रसकायिक हैं, जल तो सिर्फ उनका आश्रयस्थल है ।

इसीलिए तो जैन धर्म में कच्चे पानी को सचित्त यानी जीव सहित बताकर अचित्त जल के उपयोग का विधान किया गया है ।

आगम वचन -

गोयमा ! पंचेन्दिया पण्णत्ता ।

- प्रज्ञापना सूत्र, इन्द्रिय पद, उ. १, सू. १९१

(गौतम ! इन्द्रियाँ पाँच कही गई हैं । -)

इन्द्रियों की संख्या -

पंचेन्द्रियाणि । १५।

इन्द्रियाँ पांच हैं ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र नियामक है । इसका अभिप्राय यह है कि इन्द्रियाँ पाँच ही होती हैं; न कम, न अधिक ।

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि कहीं-कहीं दस इन्द्रियां भी बताई गई हैं ,वह कैसे ?

इसका समाधान यह है कि सांख्य आदि दर्शनकारों के १० इन्द्रियाँ बताई हैं । उन्होंने इन्द्रियों के दो भेद किये हैं - ५ ज्ञानेन्द्रिय और ५ कर्मेन्द्रिय । पश्चिमी विद्वानों ने भी इसी का अनुसरण किया है । वे भी १० इन्द्रियाँ मानते हैं । ज्ञानेन्द्रियों को वे (sense organs) कहते हैं और कर्मेन्द्रियो को (activity organs) ।

पाँच ज्ञानेन्द्रिय तो स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण (श्रोत्र) हैं ही, किन्तु इन लोगों ने वाक् (बोली) ,पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (गुदा) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) इनको कर्मेन्द्रिय कहा है ।

किन्तु विचार किया जाय तो इनका अन्तर्भाव स्पर्शन आदि इन्द्रियों में ही हो जाता है- जैसे वाक् का रसना (स्पर्शन सहित, क्योंकि वाक् नली (Vocal cord) कण्ठ, तालू आदि बोलने में सहायक अवयव स्पर्शन इन्द्रिय है) और शेष चार का स्पर्शन इन्द्रिय में समावेश हो ही जाता है ।

---

१. स्निग्ध पदार्थ विज्ञान, इलाहाबाद गवर्नमेंट प्रेस, कैप्टन स्कोर्स, द्वारा सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से लिया गया चित्र ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रिय का लक्षण – आत्मा अथवा जीव को इन्द्र कहा जाता है और उसके जो चिन्ह हैं, वे इन्दियाँ कहलाती हैं । इन चिन्हों अथवा इन्द्रियों से संसारी जीव की पहचान होती है, क्योंकि कोई भी संसारी जीव इन्द्रियों से रहित नहीं है । एक से लेकर पाँच तक इन्द्रियाँ सभी संसारी जीवों के होती हैं ।

आगम वचन –

इन्दिया...दुविहा पण्णत्ता---दव्विंदिया य भाविंदिया ।

– प्रज्ञापना पद १५, उ. १,

(इन्द्रियाँ दो प्रकार की कही गई है – (१) द्रव्येन्द्रिय (२) भावेन्द्रिय

इन्द्रियों के भेद –

द्विविधानि । १६।

प्रत्येक इन्द्रिय दो-दो प्रकार की है ।

विवेचन – यह सभी (पाँचों) इन्द्रियों के दो-दो भेद हैं । अर्थात प्रत्येक इन्द्रिय दो प्रकार की है – (१) द्रव्येन्द्रिय और (२) भावेन्द्रिय ।

आगम वचन –

गोयमा ! पंचविहे इंदियउवचए पण्णत्ते

गोयमा ! पंचविहा इंदियणिवत्तणा पण्णत्ता

– प्रज्ञापना पद १५, उ. २

(गौतम ! इन्द्रियोपचय (उपकरण) पाँच प्रकार का कहा गया है ।

गौतम! इन्द्रियनिर्वर्तना पाँच प्रकार कही गई हैं ।)

द्रव्येन्द्रियों के भेद –

निवृत्त्युपकरणे द्रवेयन्द्रियम् ।१७।

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं – (१) निर्वृत्ति और (२) उपकरण

विवेचन – निर्वृत्ति रचना को कहा जाता है। निर्माणनामकर्म और अंगोपांगनामकर्म के निमित्त से शरीर पुद्गलों की रचना निर्वृत्ति हैं । अर्थात् शरीर में दिखाई देने वाली इन्द्रियों सम्बन्धी पुदगलों की विशिष्ट रचना निर्वुत्ति है । यह एक प्रकार से झरोखा है, जिसके माध्यम से जीव बाह्य-जगत का ज्ञान प्राप्त करता है ।

उपकरण इस बाह्य ज्ञान में सहायक होता है, तथा निर्वृत्ति रूप रचना को हानि नहीं पहुंचने देता ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निर्वृत्ति और उपकरण - दोनों के हो दो-दो भेद होते हैं - (१) आन्तरिक और (२) बाह्य।

उदाहरण के लिए नेत्र इन्द्रिय को लें । चक्षु इन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम से आत्म-प्रदेशों का चक्षुइन्द्रिय के आकार में बनना, यह आन्तरिक निर्वृत्ति है और उस योग्य (देखने योग्य) पुद्गलों की रचना बाह्य निर्वृत्ति ह। आँख में जो काली पुतली (Retina) तथा इसके चारों ओर सफेदी है वह आन्तरिक उपकरण है तथा पलक, बरौनी आदिं बाह्य उपकरण है ।

इसी प्रकार आन्तरिक बाह्य निर्वृत्ति तथा उपकरण - चारों भेदों को अन्य इन्द्रियों में भी घटित कर लेना चाहिए ।

आगम वचन -

गोयमा ! पंचविहा इन्दियलद्धी पण्णत्ता

गोयमा ! पंचविहा इंदियउवगद्धा पण्णत्ता

प्रज्ञापना, इंद्रियपद १५, उ. २

(गौतम ! इन्द्रियलब्धि पाँच प्रकार की बतायी गयी है ।

गौतम ! इन्द्रिय उपयोग पाँच प्रकार का बताया गया है ।)

भावेन्द्रियो के भेद -

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् । १८।

उपयोग : स्पर्शादिषु । १९।

भावेन्द्रिय के दो भेद हैं - (१) लब्धि और (२) उपयोग; तथा उपयोग स्पर्श आदि विषयों में होता है ।

विवेचन - लब्धि का अभिप्राय शक्ति-प्राप्ति से है । स्पर्शन आदि इन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम से जीव की जो शक्ति अनावृत होती है, वह लब्धि है तथा उस लब्धि अर्थात् प्राप्त शक्ति/क्षमता द्वारा जो जानने की क्रिया होती है, वह उपयोग कहलाता है ।

निर्वृत्ति और उपकरण के दो-दो भेदों के समान लब्धि और उपयोग के भी आन्तरिक तथा बाह्य की अपेक्षा से दो-दो प्रकार होते हैं ।

उपयोग अथवा जानने की क्रिया स्पर्श आदि में प्रवृत्त होती है । यह प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है - (१) जानना, (२) वेदन अथवा अनुभव करना। अनुभव सुखःदुःख आदि का होता है और जानना पुस्तक आदि द्रव्यों का।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रियों की अपेक्षा लब्धि और उपयोग के आगम में पाँच भेद भी बताये गये हैं । इसी प्रकार निर्वृत्ति और उपकरण के भी पाँच भेद हैं ।

आगम वचन –

सोइन्दिए, चक्खिंदिए घाणिन्दिए जिब्भिन्दिए फासिन्दिए ।

प्रज्ञापना, इन्द्रिय पद १५

पंचइंदियत्था पण्णत्ता, तं जहा-सोइन्दिए जाव फासिन्दिए ।

स्थानांग, स्थान, ५ सूत्र ४४३

(इन्द्रियाँ पाँच होती है) (१) श्रोत्र इन्द्रिय, (२) चक्षुइन्द्रिय, (३) घ्राणइन्द्रिय, (४) रसना इन्द्रिय और (५) स्पर्शन इन्द्रिय ।

(पांचों इन्द्रियों के पांच विषय होते हैं-यथा श्रोत्र इन्द्रिय के विषय (शब्द) से लगाकर (चक्षुइन्द्रिय का विषय (रूप), घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध), रसना इन्द्रिय का विषय (रस) और) स्पर्शन इन्द्रिय का विषय स्पर्श) तक ।)

पांच इन्द्रियों के नाम और उनके विषय –

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि । २० ।

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषाम् अर्थाः ।२१ ।

१. स्पर्शन, २. रसना, ३. घ्राण, ४. चक्षु और ५. श्रोत्र – यह पाँच इन्द्रियां हैं ।

१. स्पर्श (छूना), २. रस (स्वाद), ३. गन्ध, ४. रूप और ५. शब्द – यह (क्रम से) (उपरोक्त) इन्द्रियों के विषय है ।

विवेचन – प्रस्तुत दो सूत्रों में पांचों इन्द्रियों के नाम और उनके विषय बताये गये हैं ।

यद्यपि सूत्र में पांच इन्द्रियों के पांच ही विषय बताये हैं; किन्तु विस्तार की अपेक्षा इन पांच इन्द्रियों के २३ विषय होते हैं । वह इस प्रकार –

स्पर्शन के ८ विषय – १. शीत, २ उष्ण, ३. रूखा, ४. चिकना, ५. कठोर, ६. कोमल, ७. हल्का, ८. भारी ।

रसना के ५ विषय – १. तीखा, २ कड़वा, ३. कषायला, ४. खट्टा और ५. मीठा ।

घ्राण के २ विषय – १. सुरिभगन्ध (सुगन्ध, खूशबू) और २. दुर्गन्ध।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चक्षु के ५ विषय – १. श्वेत, २. पीत, ३. नीला, ४. लाल, ५. काला

श्रोत्र के ३ विषय – १. जीव शब्द, २. अजीव शब्द. ३ मिश्र शब्द

इस प्रकार यह पांचो इन्द्रियां अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं । किन्तु इतनी विशेषता है कि कोई भी इन्द्रिय किसी दूसरी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण नहीं करती । जैसे – कान देख नहीं सकते, आंखें सुन नहीं सकतीं

आगम वचन –

सुणेइ त्तिसुअं – नन्दी सूत्र, २४

(जिसको सुना जावे वह श्रुत (भावश्रुत) है ।)

मन का विषय –

श्रुतमनिन्द्रियस्य ।२ २।

श्रुत (भावश्रुत) मन का विषय है ।

विवेचन – श्रुत शब्द यहां केवल 'सुनने' के लिए नहीं प्रयुक्त हुआ है । सुनना काम तो श्रोत्र अथवा कर्ण इन्द्रिय का है ।

यहां 'श्रुत' का अभिप्राय है श्रुतज्ञान ।

श्रुतज्ञान के प्रसंग में पहले अंगप्रविष्ट अंगबाह्य आदि की चर्चा आ चुकी है, उसी भावश्रुत से यहां अभिप्राय है ।

उदाहरण के लिए 'धर्म' शब्द कानों में पड़ा, अब धर्म के जितने भी अर्थ और रूप हैं, वे एकदम मस्तिष्क में आ गये; श्रुतधर्म, चारित्रधर्म, गृहस्थधर्म, मानवधर्म, ग्राम धर्म, आदि-आदि । यह सम्पूर्ण मनन क्रिया मन के द्वारा हुइ। इसी अपेक्षा से श्रुत को मन का विषय बताया है ।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रियों का ज्ञान तो परिमित है, सीमित है, फिर उसमें अवरोध भी आ सकते हैं; जैसे-अमुक दूरी से कम या अधिक दूर की वस्तुएँ आँख नहीं देख सकतीं अथवा कान अमुक फ्रीक्वेन्सी सीमा से कम या अधिक के शब्द नहीं सुन सकते-अति मन्द और अत्यधिक उच्चशब्द को ग्रहण नही कर सकते; फिर बीच में परदा आदि आ गया तो भी आँखों को दिखाई देना बन्द हो जाता है या बीच में कोई दूसरी लहर (wave) आ गई तो शब्द की गति रुक जाती है ।

किन्तु मन की गति निर्बाध है, असीमित है, अपरिमित है । अमरीका शब्द सुनते ही मन वहाँके- अमरीका के बाजारों में विचरण करने लगता ह। इन सभी बातों की अपेक्षा से श्रुत को मन का विषय बताया है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ आचार्य का शब्द-चयन कौशल दर्शनीय है । उन्होंने शब्द को श्रोत्र इन्द्रिय का विषय बताया, जिसका अभिप्राय सिर्फ सुनना मात्र है और श्रुत (अथवा श्रुतज्ञान-भावश्रुत) को मन का विषय बताया, जो विचार और चिन्तनरूप है, शब्द से भाव की ओर प्रयाण करना है ।

आगम वचन -

एगिन्दियसंसारसमावण्णजीवपण्णवण्णा पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा- पुढवीकाइया आऊकाइया तेऊकाइया

वाउकाइया वणस्सइकाइया

..... किमिया-पिपीलिया-भमरा-मणुस्सा-

प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम पद

(एकेन्द्रिय संसार समापन्न जीव पाँच प्रकार के कहे गये हैं, यथा- (१) पृथिवीकायिक, (२) जलकायिक, (३) अग्निकायिक, (४) वायुकायिक और (५) वनस्पतिकायिक ।

कृमि (कीड़ा-लट आदि), पिपीलिका (चींटी) भ्रमर (भौंरा), मनुष्य- - (इनके क्रम से एक-एक इन्द्रिय की वृद्धि होती है ।

इन्द्रियों के स्वामी -

वनस्पत्यन्तानामेकम्[1] **।२३।**

कृमि - पिपीलिका-भ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ।२४।

---

१. कुछ प्रतियों में **'वाय्वान्तामेकम्'** यह सूत्र भी मिलता है । इसमें हेतु यह है कि इन्होंने १३ वें और १४ वें सूत्र का पाठ **'पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः** तथा **तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्चत्रसाः** । १४ यह माना है । तब एकेन्द्रिय जीवों को बताने के लिए **'वाय्वान्तामेकम्'** यह सूत्र कहना ही चाहिए, क्योंकि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति यह पाँचो एकेन्द्रिय जीव हैं ।

किन्तु हमने जो मूल पाठ **'वनस्पत्यन्तानामेकम्'** स्वीकार किया है उसका प्रथम कारण तो आगम का अनुसरण है ही, क्योंकि प्रज्ञापना में इसी क्रम से पाठ आता है । और दुसरा कारण यह है कि हमने १३ वें सूत्र का मूल पाठ **पृथिव्यतेजो वायुवनस्पतयः स्थावराः** ।१३। यह स्वीकार किया है । इस सन्दर्भ में यह पाठ स्वीकार किया गया है ।

-सम्पादक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वनस्पतिकाय तक के जीवों के एक इन्द्रिय होती हैं ।

कृमि (कीड़ा-लट), चीटी, भ्रमर, मनुष्य में क्रम से एक-एक इन्द्रिय अधिक होती है ।

विवेचन - वनस्पतिकाय तक का अर्थ है - पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक । अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायिक जीवों के एक इन्द्रिय होती है । यह एक इन्द्रिय गणना क्रम के अनुसार प्रथम-स्पर्शन नाम की इन्द्रिय है ।

पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के सब जीवों में मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है, इसीलिए यह सभी एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं ।

भेद विविक्षा से इनके सूक्ष्म और बादर दो भेद होते हैं तथा वनस्पतिकाय के प्रत्येकशरीरी और साधारणशरीरी ये दो भेद और होते हैं

सूक्ष्म का अभिप्राय है अत्यन्त छोटा; जो जीव न तो स्वयं किसी को बाधा पहुंचाते हैं और न अन्य जीव इन्हें कोई बाधा पहुंचा सकते हैं; किन्तु बादर जीव बाधा पहुंचाते भी हैं और अन्यों से बाधित होते भी हैं । बादर जीवों के शरीर चक्षु ग्राह्य होते हैं ।

प्रत्येकशरीर का अभिप्राय है जिस शरीर में एक ही जीव रहे और एक साधारण शरीर में वनस्पति के अनन्त जीव रहते हैं, इसी अपेक्षा से प्याज आदि वनस्पतियाँ अनन्तकायिक पिण्ड कहलाती हैं ।

लट के (स्पर्शन, रसना) दो इन्द्रियाँ हैं, चींटी के तीन इन्द्रियाँ (स्पर्शन, रसना, घ्राण), भ्रमर के चार (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु) और मनुष्य के पाँचों इन्द्रिया (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) हैं अतः यह जीव क्रमशः बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय होते हैं ।

मनुष्य के अतिरिक्त समस्त नारक और देव भी पंचेन्द्रिय ही होते ह। तिर्यचों मे गाय, बैल, घोड़ा, हाथी आदि भी पंचेन्द्रिय व जीव हैं, इसी प्रकार चिड़िया, कबूतर आदि आकाश में उडने वाले (खेचर) पक्षी तथा मगर, मत्स्य आदि जलचर जीव भी पंचेन्द्रिय है ।

आगम वचन -

जस्स णं अत्थि ईहा, अवोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिंता वीमंसा से णं सण्णीति लब्भइ ।

जस्स णं नत्थि ईहा अवोहो मग्गणा गवेसणा चिंता वीमंसा णं असन्नीति लम्बइ । - नन्दीसूत्र, सूत्र ४०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(जिसमें ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता और विमर्श करने की योग्यता हो, उसे संज्ञी कहते हैं ।

जिसमें ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता और विमर्श की योग्यता न हो, उसे असंज्ञी कहते हैं ।)

मन सहित जीवों का लक्षण –

संज्ञिनः समनस्काः ।२५।

संज्ञी जीव मनसहित होते हैं ।

विवेचन – कौन जीव मनसहित है और कौन जीव मनरहित है, इसका निर्णय संज्ञा से किया जाता है । साथ ही दूसरा निर्णायक बिन्दु है द्रव्य-मन।

यहाँ पहले द्रव्य-मन और उसकी रचना-प्रक्रिया समझ लेना आवश्यक है ।

जैनदर्शन में 'पर्याप्ति नाम' का नामकर्म का एक भेद है । पर्याप्ति आत्मा की एक विशिष्ट शक्ति की परिपूर्णता है जिसके द्वारा आत्मा आहार, शरीर आदि के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करके उन्हें आहार आदि के रूप में परिणत करता हैं । यह पर्याप्ति शक्ति पुद्गलो के उपचय से प्राप्त होती ह।

पर्याप्तियाँ ६ हैं – (१) आहार (२) शरीर (३) इन्द्रिय (४) श्वासोच्छ्वास, (५) भाषा और (६) मनःपर्याप्ति

इनमें से प्रारम्भ की चार आहार से श्वासोछ्वास तक तो एकेन्द्रिय जीवों में होती हैं और दो इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय वाले जीवों में भाषा सहित ५ पर्याप्ति होती है ।

एक इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक के जीवों में मनःपर्याप्ति होती ही नहीं, अतः द्रव्यमन की रचना ही नहीं होती, इसीलिए व अमनस्क अथवा मन रहित होते हैं ।

इसके अतिरिक्त किसी-किसी तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव में भी मन नहीं होता, तो ऐसे तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव भी असंज्ञी अथवा मनरहित होते हैं

इसका अभिप्राय यह है कि पुद्गल द्रव्य रचना अथवा द्रव्यमन का आधार तो मनःपर्याप्ति है, किन्तु इसका विमर्श रूप वैचारिक पक्ष संज्ञा है । वैचारिक पक्ष की अपेक्षा ही सूत्र में संज्ञी को समनस्क अथवा मन वाला कहा है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह समझने की बात है कि जैन आगमों में संज्ञा-चेतना या बोध के दो स्तर माने हैं- एक सामान्य संज्ञा-अविकसित या अल्पविकसित चेतना तथा दूसरी विशेष संज्ञा-(ज्ञान संज्ञा) विकसित या विकासमान चेतना ।

चेतनारूप सामान्य संज्ञा तो प्रत्येक प्राणी में होती है । प्रज्ञापना सूत्र (संज्ञापद) में इस प्रकार की १० (दस) संज्ञा बताई हैं जैसे - (१) आहार संज्ञा, (२) भयसंज्ञा, (३) मैथुनसंज्ञा, (४) परिग्रहसंज्ञा, (५-८) क्रोध मान-माया लोभ-संज्ञा, (९) ओघसंज्ञा, (१०) लोभसंज्ञा ।

आचारांग वृत्ति मे इनके अतिरिक्त छह संज्ञाएँ और गिनाई गई हैं - सुख-दुःख-शोक-मोह-विचिकित्सा और धर्मसंज्ञा ।[1]

इनमें जो अनुभवसंज्ञा (सामान्यबोध) है वह एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों में रहती हैं । किन्तु ज्ञानसंज्ञा - विचार विमर्श रुप चेतना, सिर्फ समनस्क जीवों में ही होती है । अतः यहाँ विचार विमर्श रूप चेतना-संज्ञा को लक्ष्य कर कहा गया है- जिन जीवों में यह चेतना होती है, वे संज्ञा होते हैं ।

नन्दीसूत्र में इनके अतिरिक्त (१) दीर्घकालिकी, (२) हेतूपदेशिकी और (३) दृष्टिवादोपदेशिकी-ये संज्ञाएँ और कही गई हैं । यह श्रुत ज्ञानाश्रित ह। यही संज्ञाएँ ईहा, अपोह, वीमंसा आदि की कारण होती हैं और इन्हीं की अपेक्षा जीव को संज्ञी अथवा समनस्क कहा गया है । इन संज्ञाओं को संप्रधारण संज्ञा ही कहा जाता है ।

भाव यह है कि जिन जीवों में ईहा, अपोह, चिन्तन, विमर्श आदि की शक्ति होती है, वे जीव मनसहित अथवा मन वाले हैं ।

इससे यह अर्थ भी फलित होता है कि जिनमें ईहा आदि की क्षमता अथवा योग्यता नहीं, वे सभीजीव मनरहित हैं ।

आगम वचन -

कम्मासरीरकायप्पओगे । प्रज्ञापना पद १६

((विग्रह गति में) कार्मण शरीर के काय प्रयोग होता है ।)

गोयमा! अणुसेढीं गती पवत्तति नो विसेढीं गती पवत्तती...

...एवं जाव वेमाणियाणं. भगवती, श. २५, उ. ३, सू. ७३०

---

१. आहार-भय-परिग्गह-मेहुण-सुख-दुक्ख-मोह वितिगिच्छा ।
कोह-माण-माय-लोहे सोगे-लोगे य धम्मोहे ।

- आचा. नि. ३९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(गौतम ! इनकी अनुश्रेणी गति ही होती हैं, विश्रेणीगति नहीं होती । ... इसी प्रकार वैमानिकों तक अनुश्रेणी गति होती है ।)

उज्जुसेढीपडिवन्ने अफुसमाणगई उड्ढं एक्क समएणं अविग्गहेणं गंता सागारोवउते सिज्झिहिइ ।

– औपपातिक सूत्र, सिद्धाधिकार, सूत्र ४३

(आकाश प्रदेशों की सरल पंक्ति को प्राप्त होकर, गति करते हुए भी किसी का स्पर्श न करते हुए, बिना मोड़ लिए, साकार उपयोग (ज्ञानोपयोग) से युक्त एक समय में ऊपर को जाकर सिद्ध हो जाता है ।)

णेरइयाणं उक्कोसेणं तिसमतीतेणं विग्गहं उववज्जंति एगिंदिवज्जं जाव वेमाणियाणं स्थानांग, स्थान ३, .उ. ४ सूत्र २२५

गोयमा ! एगसमइएण वा दिसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जंति – भगवती, श. ३४, उ. १, सूत्र ८५१

(नारकी जीव अधिक से अधिक तीन समय विग्रह गति में लेकर (नरक में) उत्पन्न होते हैं ।

गौतम ! एक समय में अथवा दो समय में अथवा तीन समय में अथवा चार समय में मोड़ लेकर उत्पन्न होते हैं ।)

एगसमइयो विग्गहो नत्थि !

– भगवती श. ३४, उ. १, सूत्र ८५१

(एक समय वाले को मोड़ नहीं लेना पड़ता ।)

गोयमा ! अनाहारए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–

छउमत्थं अनाहाराए, केवली अणाहारए ...

गोयमा ! अजहण्णमनुक्कोसेणं तिण्णिसमया ।

प्रज्ञापना पद १८, द्वार १४

(गौतम ! अनाहारक दो प्रकार के कहे गये हैं – (१) छद्मस्थ अनाहारक और (२) केवली अनाहारक ।...

अधिक से अधिक जीव तीन समय तक अनाहारक रह सकता ह।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विग्रह गति सम्बन्धी विचारणा-

विग्रहगतौ कर्मयोगः ।२६।

अनुश्रेणी गति : २७।

अविग्रहा जीवस्य । २८।

विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः । २९।

एकसमयोऽविग्रहः ।३०।

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारक : ।३१।

विग्रहगति में कार्मणयोग होता है ।

श्रेणी का अनुसरण करती हुई सरल-सीधी रेखा में गति होती है ।

मुक्त जीव की गति विग्रह (मोड़ अथवा व्याघात) रहित होती है ।

संसारी जीव की चार समय से पहले-पहले होने वाली गति विग्रहवती (विग्रह अथवा मोड़, व्याघात सहित) होती है।

(किन्तु संसारीजीव की भी) एक समय वाली गति विग्रह रहित होती है ।

(विग्रह गति वाला जीव) एक, दो, तीन समय तक अनाहारक (आहार बिना लिये) रह सकता है ।

विवेचन - प्रस्तुत छहों सूत्रों में उस समय की विचारणा की गई है जब एक जीव अपनी आयु पूरी होने पर शरीर त्याग कर दूसरी आयु तथा शरीर ग्रहण करने के लिए अन्य स्थल अथवा गति के लिए गमन करता है तथा वहाँ पहुंचता है । प्रथम गति से दूसरी गति में पहुचंने के लिए जो गति (गमन) जीव करता है, वह विग्रह गति कहलाती है । देशज भाषा में 'बाटे *बहता' भी कहते हैं ।*

विग्रह गति में जीव के **कार्मणकाययोग** रहता है । क्योंकि मनुष्य और तिर्यंच की अपेक्षा औदारिक शरीर, देव-नारकियों की अपेक्षा वैक्रिय शरीर आयु पूरी होते ही छूट जाता है ।

यहाँ कार्मणशरीर तथा कार्मणकाययोग का भेद समझलें । कार्मण शरीर तो जीव के साथ संलग्न रहता ही है, जीव अपनी योग शक्ति से कार्मण शरीर को कार्मण काययोग में परिणत कर लेता है क्योंकि एक स्थान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से दूसरे स्थान को गमन करने के लिए योग शक्ति अपेक्षित होती है, उसी तरह जैसे कार को स्टार्ट करने के लिए बैटरी की जरूरत होती है ।

जीव की गति सरल रेखा में होती हैं । यह सूत्र प्रमुख रूप से सिद्ध गति प्राप्त करने वाले जीवों की अपेक्षा से हैं; क्योंकि जिस स्थान पर उनका शरीर छूटता है, वहीं से सीधा ऊपर की ओर जीव गमन करके सिद्धशिला से ऊपर जा विराजता है । यही कारण है कि मनुष्य क्षेत्र का ४५ लाख योजन का विस्तार माना है तो सिद्धशिला की भी ४५ लाख योजन का विस्तार है ताकि जीव सीधी गति से वहाँ पहुंच सके ।

किन्तु मुक्त जीवों की अपेक्षा से यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इनके कार्मण काययोग नहीं होता, क्योंकि कर्मों का तो नाश हो ही चुका है, फिर कार्मणशरीर तथा कार्मणकाययोग होने का प्रश्न ही नही उठता ।

इनकी ऊर्ध्वगति का हेतु आत्मा की योग शक्ति है । जिस तरह अंडी का बीज ऊपरी आवरण फटते ही एकदम उपरी की ओर गति करता है, उसी प्रकार जीव भी कर्मों का सम्पूर्ण आवरण हटते ही शीघ्र गति से ऊर्ध्वदिशा में गमन करता हुआ एक समय मात्र में सिद्धशिला पर जा विराजता है ।

संसारी जीव की गति विग्रहसहित और विग्रहरहित दोनों प्रकार की होती हैं । उदाहरणार्थ – कोई पंचेन्द्रिय तिर्यंच अथवा मनुष्य देवगति में उत्पन्न होता है और उपपातशैया ठीक उस स्थल के ऊपर है जहाँ तिर्यक्लोक में उस जीव ने आयु पूर्ण किया है, तो उसकी गति ऋजु अथवा सरल होगी, उसे कोई भी मोड़ (turn) नहीं लेना पड़ेगा ।

किन्तु यदि स्थिति ऐसी नहीं हुई तो उसे मोड़ लेना पडेगा और उसकी गति (गमनक्रिया) विग्रह सहित मोड़ वाली हो जायेगी । किन्तु यह मोड़ अधिक से अधिक तीन (नरक गति में उत्पन्न होनेवाले जीव की अपेक्षा) हो सकते हैं, चौथे समय तो वह जीव अवश्य ही नया जन्म ग्रहण कर लेगा ।

इसी अपेक्षा से जीव अधिक से अधिक तीन समय तक अनाहारक रह सकता है (क्योंकि विग्रह गति में जीव आहार नहीं करता) और चौथे समय तो जन्म लेते ही अवश्य आहार ग्रहण कर लेता है ।

यहाँ आहार और भोजन को एकार्थवाची नहीं समझना चाहिए । आहार और भोजन में भेद है । जन्म लेते ही जीव सर्वप्रथम आहार ग्रहण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करता है अर्थात् आहार योग्य सूक्ष्म पुद्गलों को ग्रहण करके इन्हें आहार रूप में परिणत करता है, तदुपरान्त उसकी शरीर आदि पर्याप्तियाँ पूर्ण होती ह।

आगम वचन –

पंचिंदिय तिरिक्खाओ, दुविहा ते वियाहिया ।
सम्मुच्छिमतिरिक्खाओ गब्भवक्कन्तिया तहा ।

उत्तरा. ३६/१७०

(तिर्यंच जीवों के (जन्म की अपेक्षा) दो भेद हैं – (१) सम्मूर्च्छिम और (२) गर्भज ।

मणुया दुविहभेया उ ते मे कित्तियओ सुण !
समुंच्छिमा य मणुया गब्भवक्कन्तिया तहा ॥

उत्तरा. ३६/१९५

(मनुष्य दो प्रकार के हैं – (१) संम्मूर्छिम और (२) गर्भोत्पन्न ।

अंडया पोतया जराउया...सम्मुच्छिया...उववाइया ।

दशवैकालिक, अध्याय ४,

अंडज, पोतज, जरायुज (ये सभी गर्भज हैं) सम्मूच्छ्न और औपपातिक जन्म होते हैं।)

जन्म के प्रकार –

सम्मूर्च्छनगर्भोपपाता जन्म ।३२।

जन्म (नविन शरीर धारण करने) के तीन प्रकार हैं- (१) सम्मूर्च्छन (२) गर्भ और (३) उपपात ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र से पहले छह, सूत्रों में विग्रहगति सम्बन्धी विचरणा की थी । यहाँ जन्म के प्रकार बताये हैं ।

(१) **सम्मूर्च्छनजन्म** – माता-पिता के रज-वीर्य के संयोग बिना ही जब जीव अपने उत्पत्ति स्थल के सभी ओर विद्यमान शरीरयोग्य औदारिक पुद्गलों को ग्रहण करके अपने शरीर का निर्माण करता है, ऐसा जन्म 'सम्मूर्च्छन जन्म' कहा जाता है । एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के सभी जीवों का सम्मूर्च्छन जन्म होता है । ऐसे जीवों के उत्तर भेद अनेक हैं ।

(२) **गर्भजजन्म** – स्त्री की योनि में विद्यमान शुक्र-शोणित (वीर्य और रज) के औदारिक पुद्गलों को जीव जब अपने शरीर रूप परिणत करता है तब उसे 'गर्भज जन्म' कहा जाता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(३) **उपपात जन्म** – जब जीव अपने उत्पत्ति स्थान की सर्व दिशाओं में विद्यमान वैक्रिय पुद्गलों को ग्रहण करके उनसे अपने शरीर का निर्माण करता है, वह 'उपपात जन्म' कहलाता है ।

ऐसा जन्म देव और नारकियों का ही होता है ।

आगम वचन –

गोयमा ! तिविहा जोणी पण्णत्ता, तं जहा –
सीया जोणी, उसिणा जोणी, सीओसिणा जोणी ।
तिविहा जोणी पण्णत्ता, तं जहा–
सचित्ता जोणी, अचित्ता जोणी, मीसिया जोणी ।
तिविहा जोणी पण्णत्ता, तं जहा –
संवुडा जोणी, वियडा जोणी, संवुडवियडा जोणी ।

प्रज्ञापना, योनि पद ९

(गौतम ! योनियाँ तीन प्रकार की कही गई हैं; यथा – (१) शीतयोनि (२) उष्ण योनि और (३) शीतोष्ण योनि ।

योनियाँ तीन प्रकार की कही गई हैं; यथा– (१) सचित्त योनि (२) अचित्त योनि और (३) मिश्र (सचित्ताचित्त) योनि ।

योनियाँ तीन प्रकार की कही गई हैं; यथा – (१) संवृत योनि (२) विवृत योनि और (३) संवृत विवृत योनि ।)

योनियों के प्रकार –

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ।३३।

योनियाँ (१) सचित्त, (२) शीत, (३) संवृत तथा इनके विपरीत, (४) अचित्त, (५) उष्ण, (६) विवृत तथा इनकी मिश्रित, (७) सचित्त, (८) शीतोष्ण और (९) संवृत्तविवृत इस तरह नौ प्रकार की हैं ।)

विवेचन – योनि का अभिप्राय है जीव के जन्म ग्रहण करने का स्थान योनि दो प्रकार की हैं –

(१) आकारयोनि और (२) गुणयोनि ।

गुणयोनि के उपरोक्त नौ भेद हैं ।

आकार योनी तीन प्रकार की होती है – (१) शंखावर्ता, (२) कूर्मोन्नता और (३) वंशपत्रा । इनमें से शंखावर्ता योनि में गर्भ नहीं ठहरता, शेष दो प्रकार की योनियों मे गर्भ धारण की योग्यता होती है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

योनि के विभिन्न भेद

आकार योनि	गुण योनि	८४ लाख जीवयोनि	१९७ ॥ लाख कूल कोड़ी [1] (योनियों में जन्म लेने वाले जीवों की जाति/उपजातियां)
१. कूर्मोन्नता योनि	१. सचित्त	पृथ्वीकाय ७ लाख	पृथ्वीकाय १२ लाख
२. वंशपत्रा योनि	२. अचित्त	अप्काय ७ लाख	अप्काय ७ लाख
३. शंखावर्ता योनि	३. मिश्र (सचित्ताचित्त)	तेजस्काय ७ लाख	तेजस्काय ३ लाख
	१. शीत	वायुकाय ७ लाख	वायुकाय ७ लाख
	२. उष्ण	वनस्पतिकाय २४ लाख	वनस्पतिकाय २८ लाख
	३. शीतोष्ण	द्वीन्द्रिय २ लाख	द्वीन्द्रिय ७ लाख
	१. संवृत	त्रीन्द्रिय २ लाख	त्रीन्द्रिय ८ लाख
	२. विवृत	चतुरिन्द्रिय २ लाख	चतुरिन्द्रिय ९ लाख
	३. संवृत-विवृत	तिर्यंचपंचेन्द्रिय ४ लाख	तिर्यंचपंचेन्द्रिय ५३ ॥ लाख
		नारक ४ लाख	नारक २५ लाख
		देव ४ लाख	देव २६ लाख
		मनुष्य १४ लाख	मनुष्य १२ लाख

१. प्रवचनसारोद्धार, द्वार १५१, गाथा ९७७-८१; अभिधान - भाग ३, पृ. ५९७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह आकार योनि के भेद मनुष्यनी (मानव-स्त्री) तथा पंचेन्द्रिय तिर्यंचनी (मादा पशु) की योनि की अपेक्षा हैं । किन्तु गुणयोनि और उसके नौ भेद सभी संसारी जीवों को दृष्टिगत रखकर किये गये हैं ।

(१) **सचित्तयोनि** जीव सहित होती है तथा (२) **अचित्तयोनि** जीवरहित और (३) **मिश्र** (सचित्ताचित्त) योनि का कुछ भाग जीव सहित और कुछ भाग जीव रहित होता है । (४) **शीतयोनि** शीत (ठंडा) स्पर्श वाली होती है तथा (५) **उष्णयोनि** का स्पर्श गर्म होता है और (६) **शीतोष्णयोनि** का स्पर्श ठंडा-गर्म मिश्रित । (७) **संवृतयोनि** ढकी हुई और (८) **विवृतयोनि** खुली होती है तथा (९) **संवृत्तविवृत योनि** कुछ ढकी और कुछ खुली मिश्र दशा में होती है ।

आगम में जो ८४ लाख जीव योनियाँ बताई हैं, वे इन्हीं नौ योनियों का विस्तार हैं । जैसे वनस्पतिकाय के वर्ण, गंध, रस स्पर्श के तरतमभाव से जितने भी उत्पत्तिस्थान हैं, उतनी ही योनियाँ गिनी गई हैं तथा जितनी जाति-उपजातियां हैं, उतनी ही कुलकोड़ियां हैं ।

इस प्रकार विस्तार की अपेक्षा समस्त संसारी जीवों की ८४ लाख योनियाँ और १९७॥ लाख कुल कोड़ियां मानी गई हैं ।

(तालिका पृष्ठ ११२ पर दी गई हैं ।)

आगम वचन -

अंडया पोतया जराउया । - दशवैकालिक, अ. ४, त्रसाधिकार
गब्भवक्कंतिया य । प्रज्ञापना, पद १

(१) अण्डज (२) पोतज (३) जरायुज गर्भ जन्म वाले होते हैं.)

गर्भ जन्म के प्रकार -

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भ : ।३४।

(१) जरायुज (२) अण्डज और (३) पोतज-इन तीन प्रकार के जीवों का गर्भ जन्म हैं ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में गर्भज जीवों के भेद बताये हैं ।

(१) जो जीव जाल के समान मांस और रुधिर से भरी एक प्रकार की थैली से लिपटे हुए पैदा होते हैं, उन्हें **जरायुज** कहते हैं । जैसे - मनुष्य

(२) **अण्डज**- जो जीव अण्डे से उत्पन्न होते हैं, जैसे -मुर्गा, आदि

(३) **पोतज** - इन जीवों के शरीर पर किसी प्रकार का आवरण नहीं होता, वे माता के गर्भ से निकलते ही चलने-फिरने लगते हैं, जैसे-हाथी आदि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम वचन –

दोण्हं उववाए पण्णते, तं जहा–

देवाणं चेव नेरइयाणं चेव । – स्थानांग स्थान २, उ. ३, सूत्र ८५

(उपपात जन्म दो का होता है–

(१) देवों का और २) नारकियों का)

उपपात जन्म वाले जीव

देवनारकाणमुपपाद : ३५।

देवों और नारकियों का उपपाद जन्म होता है ।

विवेचन – उपपात जन्म में माता-पिता की कोई आवश्यकता नहीं होती । जीव स्वयं ही उत्पत्तिस्थान के वैक्रिय पुद्गलों को ग्रहण करके अपना शरीर निर्मित कर लेता है ।

उपपात जन्म का एक निश्चित उत्पत्ति स्थान होता है, जैसे-स्वर्ग में उपपात पुष्प शैया तथा नरक में कुम्भी आदि । यही उपपात जन्म की विशेषता है– वैक्रियशरीर और निश्चित उत्पत्ति स्थान । वैक्रिय शरीर औदारिक शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होता है ।

आगम वचन –

संमुच्छिमा य. .. (इत्यादि) ।

प्रज्ञापना, पद १; सूत्र कृतांग, श्रु. २, अ. ३.

(गर्भ तथा उपपात जन्म वालों के अतिरिक्त शेष जीव) संमूर्च्छिम होते हैं ।)

शेष जीव

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ।३६।

(शेष जीव सम्मूर्च्छन होते हैं ।)

विवेचन – सम्मूर्च्छन का अभिप्राय है, जिन जीवों का सम्मूर्च्छिम जन्म हुआ हो । गर्भज (गर्भ से जन्म ग्रहण करने वाले) और उपपात (देव तथा नारक जीव) जन्म वालों के अतिरिक्त सभी संसारी जीव सम्मूर्च्छन हैं

एकेन्द्रिय से चार इन्द्रिय वाले तक सभी जीव सम्मूर्च्छिम होते हैं । इसके अतिरिक्त कुछ पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य भी सम्मूर्च्छिम होत ह।

सम्मूर्च्छिम जीवों के उत्पत्तिस्थान शरीर के मल (अशुचि) हैं, जैसे – श्लेष्म, मल, मूत्र, वीर्य, कूड़े कचरे के ढेर आदि ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम वचन -

गोयमा ! पंच सरीरा पण्णत्ता, तं जहा --

ओरालिए, वेउव्विए, आहारए, तेयए, कम्मए ।

प्रज्ञापना, शरीर पद, २१

(गौतम ! शरीर पाँच कहे गये हैं -

(१) औदारिक (२) वैक्रिय (३) आहारक (४) तैजस् और (५) कार्मण ।

शरीर के भेद -

औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ।३७।

(१) औदारिक (२) वैक्रिय (३) आहारक (४) तैजस् (५) कार्मण- यह पाँच प्रकार के शरीर है ।

विवेचन - संसारी जीवों के शरीर पाँच प्रकार के होते हैं ।

(१) **औदारिकशरीर** - यह चर्म-चक्षुओं-स्थूल इन्द्रियों द्वारा देखा जा सकता है ।

(२) **वैक्रियशरीर** - इसमें अनेक प्रकार का छोटा बड़ा आकार बनाने की क्षमता होती है, यह हल्का भारी भी हो सकता है ।

(३) **आहारकशरीर** - यह सयंमी मुनि की एक विशेष प्रकार की लब्धि होती है। इसका आकार एक हाथ का होता है, वर्ण श्वेत तथा यह शुभ ही होता है ।

संयमी मुनि को जब किसी तत्त्व में शंका हो जाती है और उसका समाधान करने वाले गुरुदेव समीपस्थ न हों, तब एक हाथ का, उन मुनि की शरीराकृति के प्रतिरूप, एक पुतला दाँये कन्धे से निकलता हैं, तथा केवली भगवान के दर्शन करके पुनः मुनि के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है । यह पुतला ही आहारक शरीर है और इसका प्रयोजन है संशय-निवारण । यह शरीर चौदह पूर्वधर मुनियों को ही उनकी विशिष्ट तपस्या के फलस्वरूप लब्धि रूप में प्राप्त होता है ।

(४) **तैजस्शरीर** - इसके कारण शरीर में तेज, ओज, ऊर्जा रहती है तथा पचन-पाचन आदि क्रियाएँ भी इसी के कारण होती हैं । शरीरस्थ तेजस् शक्ति का कारण भी यही है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(५) कार्मणशरीर – आठ प्रकार के कर्मों का समूह ही कार्मण शरीर है ।

आगम वचन –

... पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा आहारगसरीरा
पदेसट्ठयाए वेउव्वियसरीरा पदेसट्ठ्याए असंखेज्जगुणा
ओरालियसरीरा पदेसट्ठायाए असंखेज्जगुणा
तेयगसरीरा पदेसट्ठयाए अणंतगुणा
कम्मगसरीरा पदेसट्ठयाए अणंतगुणा । प्रज्ञापना, शरीर पद २१

(.... प्रदेशों की अपेक्षा आहारकशरीर सबसे कम होते हैं ।
वैक्रियशरीर प्रदेशों की अपेक्षा आहारक से असंख्यातगुणे होते हैं ।
उनसे औदारिक शरीर प्रदेशों की अपेक्षा असंख्यातगुणे होते हैं ।
उनसे प्रदेशों की अपेक्षा तैजस् शरीर अनन्तगुणे होते हैं ।
और प्रदेशों की अपेक्षा कार्मणशरीर उन्से (तैजस्शरीर से) भी अनन्तगुणे होते हैं ।

अप्पडिहयगई । राजप्रश्नीय सूत्र ६६

(इनमें से अंत के दो तैजस् और कार्मणशरीर) अप्रतिहत गति वाले होते हैं (इनकी गति किसी भी अन्य वस्तु से नहीं रूकती ।)

शरीरों की विशेषाताएँ –

परं परं सूक्ष्मम् ।३८।
प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ।३९।
अनन्तगुणे परे ।४०।
अप्रतीघाते ।४१।

(औदारिक से आगे-आगे के-कार्मणशरीर तक) यह सभी शरीर सूक्ष्म हैं।)

प्रदेशों (परमाणुओं-पुद्गल परमाणुओं) की अपेक्षा तैजस् शरीर से पहले के (तीन शरीर) असंख्यातगुणे हैं।)

आगे के (तैजस् और कार्मणशरीर प्रदेशों की अपेक्षा) अनन्तगुणे हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(तेजस् और कार्मण-दोनों शरीर) अप्रतिहत गति वाले हैं।

विवेचन – प्रस्तुत चार सूत्रों में पांच शरीरों की विशेषताओं का वर्णन हुआ है ।

सूक्ष्म का अभिप्राय – यहाँ सूक्ष्मता का अभिप्राय इन्द्रियगोचर न होने से और प्रदेशों (परमाणुओं) के घनत्व – सघन बंधन से है ।

एक स्थूल उदाहरण लें – रूई, वस्त्र, काष्ठ, स्वर्ण और पारे का । इनमें उत्तरोत्तर एक-दूसरे में प्रदेशों का अधिक घना बन्धन है । इसे आज की वैज्ञानिक भाषा में घनत्व (Density) कहते है । इनमें एक-दूसरे से प्रदेशों की अधिकाधिक सघनता है, इसी कारण एक-दूसरी से क्रमशः भार भी अधिक होता जाता है ।

इसी प्रकार औदारिक शरीर की अपेक्षा वैक्रिय शरीर में असंख्यातगुणे प्रदेश हैं; किन्तु वह सूक्ष्म है क्योंकि इसके प्रदेशों की सघनता औदारिक शरीर की अपेक्षा असंख्यातगुणी है । यही क्रम आहारक शरीर तक हैं ।

तैजस् में अनन्तगुणे प्रदेश हैं और कार्मण शरीर में उससे भी अनन्त गुणे । प्रदेशों की सघनता के कारण यह उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं । इनमें इन्द्रियों से अगोचरता बढ़ती जाती है ।

अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ही अन्तिम दो शरीरों-तैजस् और कार्मण की गति अप्रतिहत है ।

अप्रतिहत का अर्थ है-न ये किसी से रुकते हैं और न ही किसी को रोकते हैं । यह दोनों शरीर वज्रपटलों को भी भेदते हुए निकल जाते हैं।

आधुनिक विज्ञान ने भी मानव के बाह्य औदारिक शरीर के अन्तर्गत छिपे शरीर के विषय में काफ़ी खोजबीन की है ।

वस्तुतः आज के विज्ञान का आधार जिज्ञासा है । वैज्ञानिकों ने मृत्यु को समझने के प्रयत्न में देखा कि बाह्य शरीर तो ज्यों का त्यों है, इन्द्रियाँ आदि सभी यथास्थान स्थित हैं, फिर इसमें से क्या निकल गया कि शरीर की हलन-चलन क्रियाएँ रुक गयीं, श्वासोच्छ्वास बन्द हो गया ।

जिज्ञासा हुई तो खोज भी हुई । वैज्ञानिकों ने जब एक्स-रे किरणों का पता लगा लिया तो वह शरीर के अन्दर झाँकने में, चित्र लेने में समर्थ हो गये; और भी सूक्ष्मग्राही कैमरे बने । इनसे शरीर के अन्दर के चित्र लिये गये ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वैज्ञानिकों ने देखा कि मानव-शरीर के आकार का ही एक सूक्ष्म शरीर है, वह विद्युत्मय है । वह बाह्य शरीर को समस्त ऊर्जा प्रदान कर रहा ह। वैज्ञानिकों ने उसे रोकने का प्रयत्न किया, किन्तु वह किसी भी प्रकार रुका नहीं, सभी प्रकार के प्रतिबन्ध-आवरण विफल हो गये ।

इस शरीर का नाम दिया गया (Electric body) और सूक्ष्म परमाणुओं से निर्मित होने के कारण सूक्ष्म शरीर (Subtle body) ।

वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि क्रोध आदि कषायों, भय आदि के संवेगों के समय इस अग्निमय तैजस् शरीर में काले बिन्दु उभर आते है । विचित्र बात यह है कि इस शरीर का पोषण वायु, प्राणवायु से होता है । प्राणवायु से यह उद्दीप्त होता है, शक्तिशाली बनता है ।

क्रोध के समय यह बहुत उद्दीप्त हो जाता है, इसमें तीव्र हल-चल मचती है और क्रोध के अभाव में यह स्वाभाविक स्थिति में रहता है ।

चिकित्साविज्ञानी अनेक रोगों में इसी शरीर पर आधारित चिकित्सापद्धति विकसित कर रहे हैं और इनमें लाभ भी हो रहा है । अनेक असाध्य समझे जाने वाले रोग अब साध्य हो गये हैं ।

वस्तुतः तैजस् शरीर जिसे योग ग्रन्थों में प्राणमय शरीर कहा गया है, अनेक रहस्यों को अपने में समेटे हुए हैं । विज्ञान इस पर शोध कर रहा है । वह इसका अस्तित्व स्वीकार कर चुका है ।

आगम वचन -

तेयासरीरप्पओगबन्धे णं भन्ते ! कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तं जहा-अणाइए वा अपज्जवसिए; अणाइए वा सपज्जवसिए ।

कम्मासरीप्पओगबन्धे ... अणाइये सपज्जवसिए अणाइए अपज्जवसिए वा एवं जहा तेयगस्स। भगवती श. ८, उ. ९, सूत्र ३५१

(भगवन् ! तैजस्शरीर का प्रयोगबन्ध समय की अपेक्षा कितनी देर तक होता है ?

गौतम ! वह दो प्रकार का होता है - (१) (अभव्यों के) अनादिक और अपर्यवसित (अनन्त) तथा (२) (भव्यों के) अनादिक और सपर्यवसित (सान्त) ।

तैजस्शरीर के ही समान कार्मणशरीर का प्रयोगबन्ध भी समय की अपेक्षा दो प्रकार का होता है - (१) (अभव्यों के) अनादिक और अनन्त तथा (२) (भव्यों के) के अनादिक तथा सान्त ।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तैजस् और कार्मण शरीर का आत्मा से सम्बन्ध –

अनादि सम्बन्धे च ।४२।

सर्वस्य ।४३।

(तैजस् और कार्मण) इन दोनों शरीरों का आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बन्ध है ।

(तैजस् और कार्मण) यह दोनों शरीर सभी संसारी जीवों के होते हैं।

विवेचन – तैजस् और कार्मण – इन दोनों शरीरों का आत्मा के साथ जो अनादि सम्बन्ध बताया गया है, वह प्रवाहरूप से है । अर्थात् वे दोनों शरीर आत्मा के साथ अनादि काल से प्रवाहरूप में लगे हुए हैं ।

जिस प्रकार नदी का प्रवाह चलता है, उसका जल प्रतिक्षण आगे बढ़ता रहता है और पिछला (पीछे की ओर से) प्रतिक्षण आता रहता है, किन्तु जल सदा बना रहता है, यही नदी का प्रवाह है ।

इसी प्रकार तैजस् और कार्मणशरीर से पूर्व में बंधे हुए स्कन्ध (दलिक) प्रतिक्षण झरते रहते हैं और नये दलिक बँधते रहते हैं । इन दलिकों की काल सीमा भी निश्चित है और इनमें बंध तथा निर्जरा भी प्रतिक्षण होती रहती है; फिर भी ये दोनों शरीर आत्मा के साथ लगे ही रहते हैं । सभी संसारी जीवों के यह दोनों शरीर स्थायी रूप से रहते हैं ।

आगम वचन –

गोयमा ! जस्स वेउव्वियसरीरं तस्स आहारगसरीरं णत्थि । जस्स पुण आहारगसरीरं तस्स वेउव्वियसरीरं णत्थि ।

तेयाकम्माइ जहा ओरालिएणं सम्मं तहेव आहारगसरीरेण वि सम्मं तेयाकम्माइ तहेव उच्चारियव्वा ।

गोयमा ! जस्स तेयगसरीरं तस्स कम्मगसरीरं णियमा अत्थि, जस्स वि कम्मगसरीरं तस्सवि तेयगसरीरं णियमा अत्थि ।

प्रज्ञापना, पद २१

गौतम ! जिसके वैक्रियशरीर हो उसके आहारकशरीर नहीं होता और जिसके आहारकशरीर होता है, उसके वैक्रियशरीर नहीं होता ।

तैजस् और कार्मणशरीर औदारिकशरीर वाले के समान वैक्रिय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शरीर वाले के भी होते हैं, आहारकशरीर वाले के भी तैजस् और कार्मण शरीर होते हैं ।

गौतम ! तैजस्शरीर वाले के कार्मणशरीर नियम से होता है और कार्मणशरीर वाले के तैजस्शरीर नियम से होता है ।)

एक साथ कितने शरीर संभव –

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्या चतुर्भ्य : ।४४।

इन (तैजस् और कार्मण) दो शरीरों को आदि लेकर एक जीव के एक साथ (एक समय में) चार शरीर तक हो सकते हैं ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र का अभिप्राय यह है कि एक शरीर किसी भी संसारी जीव को नहीं हो सकता, कम से कम दो होंगे और अधिक से अधिक चार शरीर हो सकते हैं ।

जीव के दो शरीर हों तो तैजस् और कार्मण; तीन हों तो तैजस, कार्मण, औदारिक अथवा तैजस् कार्मण, वैक्रिय और यदि चार हों तो तैजस् कार्मण, औदारिक आहारक होते हैं ।

आहारक और वैक्रिय शरीर एक जीव में एक साथ नहीं हो सकते । इसका कारण यह है कि वैक्रियशरीर देवों और नारकियों में होता है, उनके तो आहरकशरीर संभव ही नहीं है, क्योंकि आहारकशरीर केवल १४ पूर्व के धारक संयती श्रमण के ही हो सकता है ।

इसी नियम से तिर्यंच जीवों और सामान्य मनुष्यों के भी आहारक शरीर संभव नहीं है ।

विशिष्ट लब्धिधारी चतुर्दशपूर्वधर मुनिराजों को वैक्रिय और आहारकलब्धि प्राप्त तो होती है किन्तु इनमें से वे एक ही शरीर बना सकते हैं, चाहे वैक्रिय और चाहे आहारक ।

इन दोनों शरीर के एक समय में एक साथ न होनेका कारण है प्रमत्तदशा । वैक्रियशरीर सदैव प्रमत्तदशा में बनता है और जब तक वह शरीर रहता है, तब तक प्रमत्तदशा ही रहती है ।

यद्यपि आहारकशरीर की निर्माण प्रक्रिया तो प्रमत्तदशा में ही होती है लेकिन तुरन्त ही मुनिराजअप्रमत्तदशा में आरोहण कर जाते हैं और जब तक आहारक शरीर का संहरण नहीं कर लेते तब तक अप्रमत्त दशा में ही रहते हैं, प्रमत्तदशा में नहीं आते ।

अतः एक जीव के एक साथ (एक समय) कम से कम दो और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अधिक से अधिक चार शरीर ही संभव है; पाँचो शरीर किसी के नहीं हो सकते

आगम वचन -

विग्गहगइ समावन्नगाणं नेरइयाणं दो सरीरा पण्णत्ता, तं जहा- तेयए चेव कम्मए चेव । निरंतरं जाव वेमाणियाणं ।

स्थानांग, स्थान २, उ. १, सूत्र ७६

गोयमा ! ओरालिय-वेउव्विय-आहारियाइं पडुच्च असरीरी वक्कमइ। तेयाकम्माइं पडुच्च ससरीरी वक्कमइ । -भगवती, श.१, उद्धेशक ७

(विग्रह गति में नारकियों के दो शरीर होते हैं - (१) तैजस् और (२) कार्मण । इसी प्रकार (तिर्यंच, मनुष्य) और देवों में भी विग्रहगति में दो ही शरीर (तैजस् और कार्मण) होते हैं ।

गौतम ! औदारिक, वैक्रिय, आहारकशरीर की अपेक्षा (जीव) शरीर रहित (विग्रह गति में नया शरीर धारण करने के लिए) गमन करता है और तेजस् तथा कार्मण शरीर की अपेक्षा शरीर सहित गमन करता है ।)

कार्मण शरीर की निरुपभोगिता -

निरुपभोगमन्त्यम् ।४५।

अन्त का शरीर (कार्मणशरीर) उपभोग रहित है ।

विवेचन - प्रस्तुतसूत्र में कार्मणशरीर को निरूपभोग बताया गया है।

उपभोग का लक्षण - उपभोग का प्रस्तुत सन्दर्भ में विशिष्ट अर्थ है । जीव सामान्य दशा में इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये हुए विषयों का उपभोग करता है, इसी तरह सुख-दुःख आदि का वेदन करता है, इत्यादि अनेक क्रियाएँ करता है और उनका उपभोग करता है ।

किन्तु यह सारी बातें, उपभोग वह अकेले कार्मण शरीर से नहीं कर सकता; दूसरे शब्दों में कार्मण शरीर अकेला इनका उपभोग नहीं कर सकता, उसे अन्य शरीरों की सहायता अनिवार्य होती है । औदारिक, तैजस् आदि शरीर के अभाव में वह उपभोग में भी असमर्थ होता है ।

इसका अभिप्राय यह भी है कि अन्य चारों शरीर उपभोग करते हैं। तैजस्शरीर पचन-पाचन आदि करता है ,शाप वरदान आदि भी इसी का कार्य है । औदारिक वैक्रिय द्वारा भी सुख-दुःख का वेदन होता है, औदारिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की सारी क्रियाएँ तो प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं । देव और नारकी अपने वैक्रिय शरीर से सुख-दुःख का अनुभव करते हैं । आहारक से भी मुनिराज अपना प्रयोजन सिद्ध करते ही हैं । अतः यह सभी शरीर सोपभोग हैं ।

किन्तु कार्मणशरीर यदि अकेला ही हो तो कोई भी उपभोग नहीं कर सकता । यही कारण है कि कार्मणशरीर के साथ विग्रहगति में भी तैजस् शरीर साथ ही रहता है । क्योंकि कार्मणशरीर तो कर्मों का बन्धन भी नहीं कर सकता; यदि तैजस् साथ न हो तो विग्रहगति में संसारी जीव अबन्ध ही हो जायेगा ।

आगम के जो विग्रहगति सम्बन्धी वचन यहाँ उद्धृत किये गये हैं उनका भी यही गूढ़ अभिप्राय है कि कार्मणशरीर (अकेला) तो निरुपभोग है किन्तु तैजस् उपभोगवान है ।

आगम वाचन -

उरालिएसरीरे णं भन्ते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तं जहा -

सम्मुच्छिम गब्भवक्कंतिय । - प्रज्ञापना पद २१

(भगवन् ! औदारिक शरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है, यथा (१) सम्मूर्च्छिम जन्म वालों के और गर्भजन्मवालों के ।)

औदारिक शरीर किनको ?

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ।४६।

गर्भ और सम्मूर्च्छिम रूप से उत्पन्न होने वाले जीवों के (पहला) औदारिक शरीर होता है ।

विवेचन - गर्भ से और सम्मूर्च्छिम रूप से जन्म सिर्फ मनुष्यों और तिर्यंचो का ही होता है, अतः औदारिक शरीर भी इन्ही दो के होता है । सभी मानव और तिर्यंच औदारिकशरीरी ही होते हैं ।

आगम वचन -

णेरइयाणं हो सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा-

अब्भंतरगे चेव बाहिरगे चेव

अब्भंतरए कम्मए बाहिरए वेउव्विए, एवं देवाणं ।

स्थानांग, स्थान २, उ. १, सूत्र ७५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(नारकियों के दो शरीर कहे गये हैं - (१) आभ्यन्तर और (२) बाह्य आभ्यंतर शरीर कार्मण होता है और बाह्य शरीर वैक्रिय । इसी प्रकार देवों के भी होता है ।)

वैउव्वियलद्धीए । औपपातिक, सूत्र ४०

(वैक्रिय शरीर लब्धि द्वारा भी प्राप्त होता है ।)

तिहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे संखित्त विउल तेउलेस्से भवति, तं जहा -

(१) आयावणताते १२) खंतिखमाते (३) अपाणगेणं तवोकम्मेणं।

(तीन स्थानों से श्रमण निर्ग्रन्थ संक्षेप की हुई अधिक तेजोलेश्या वाले होते हैं - (१) धूप में तपने से (२) शांति और क्षमा से तथा (३) बिना जल पिये हुए तपस्या करने से ।

वैक्रिय शरीर की उपलब्धि -

वैक्रियमौपपातिकम् ।४७।

लब्धिप्रत्ययं च । ४८।

उपपात जन्म वालों के वैक्रिय शरीर होता है ।

यह लब्धि (ऋद्धिविशेष) से भी प्राप्त होता है ।

विवेचन - (उपपात जन्म सिर्फ देवों और नारकियों का ही होता है) अतः उनके वैक्रियशरीर औपपातिक (भव-सापेक्ष) होता है । किन्तु वैक्रिय शरीर लब्धि से भी प्राप्त हो सकता है ।

लब्धि एक तपोजन्य शक्ति है कुछ तपस्वी, साधु आदि भी तपस्या द्वारा वैक्रिय लब्धि की प्राप्ति कर लेते हैं और इस लब्धि का प्रयोग करके वैक्रिय शरीर भी बना सकते हैं । किन्तु यह मनुष्यों में ही सम्भव है, क्योंकि वे ही तपस्या कर सकते हैं ।

मनुष्यों के अतिरिक्त सिर्फ बादर वायुकायिक तिर्यंच जीवों में भी वैक्रिय लब्धि मानी गई हैं । किन्तु गोम्मटसार जीवकांड, गाथा २३२ में तैजस्कायिक जीवों में भी वैक्रिय लब्धि स्वीकार की है । किन्तु यह तपोजन्य नहीं स्वाभाविक है ।

इनके अतिरिक्त भोगभूमि में उत्पन्न होने वालों के तथा कर्मभूमि में उत्पन्न होने वाले तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, वासुदेवों आदि में भी वैक्रिय लब्धि होती है और वह भी गृहस्थाश्रम में ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सार यह है कि देव और नारकों को तो वैक्रियशरीर जन्म से ही प्राप्त होता है किन्तु मनुष्यों और तिर्यंचो को तज्जन्य (वैक्रियशरीर नाम कर्म के क्षयोपशम) से तथा तपस्या से भी प्राप्त हो सकता है ।

यहाँ दिगम्बर परम्परा के सूत्र में **'तैजसमपि'** यह पाठ मूल सूत्र में रखा है और भाष्य में यह पाठ **'तैजसमपि शरीरं लब्धिप्रत्ययं भवति'** स्वोपज्ञ भाष्य के अन्तर्गत दिया है । अर्थ दोनों का एक ही है कि तैजस् शरीर लब्धि से भी होता है ।' साथ ही उद्धृत आगम पाठ में भी तैजस् की प्राप्ति की प्रक्रिया भी बताई गई है ।

आगम उद्धृत पाठ में **'संखित्तविउलतेउलेस्से'** यह शब्द बहुत ही महत्वपूर्ण है । इसका साररूप में अभिप्राय यह है, कि प्रत्येक मनुष्य को जो तैजस् शरीर प्राप्त होता है, उसे तपस्या की विशिष्ट साधना से 'विपुल' कर लिया जाता है, यही तेजोलेश्या है ।

यह तेजोलेश्या इतनी विपुल भी होती है कि १६ १/२ (साढ़े सोलह) देशों को जलाकर भस्म कर दे । जैसी गोशालक को प्राप्त थी ।

सती आदि के प्रसंग में, कि अपने आप ही चिता में आग लग जाती है, तथा पश्चिमी देशों में हुई अनेक घटनाओं से भी तैजस्शरीर की तीव्र राग, द्वेष, मोह आदि कषायों से उद्दीप्त-ज्वलनशील अभिव्यक्ति स्पष्ट देखी जाती है ।

हाँ, यह अवश्य है कि यह शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का होता है। जैसाकि आगम वचन से द्योतित होता है, शीतलेश्या भी इसी का एक रूप है और यह शांति तथा क्षमा से प्राप्त होती है । गोशालक की रक्षा के लिए भगवान ने शीत तेजोलेश्या छोड़ी थी ।

अतः इतना निश्चित है कि वैक्रियशरीर की भाँति तैजस् शरीर भी लब्धि द्वारा मनुष्य प्राप्त कर सकते हैं ।

आगम वचन -

आहारगसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते ... पमत्तसंजयसम्मदिट्ठि.. समचउरंस संठाणसंठिए पण्णत्ते । - प्रज्ञापना पद २१, सूत्र २७३

(भगवन ! आहारक शरीर कितने प्रकार का होता है ?

गौतम ! आहारक शरीर का एक ही आकार होता है यह प्रमत्त-संयत सम्यग्दृष्टि के ही होता है तथा इसका समचतुरस्त्र संस्थान होता है।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आहारक शरीर की विशेषताएँ –

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव । ४९।

(आहारकशरीर चतुर्दशपूर्वधर (संयती श्रमण) के ही होता है और यह शुभ, शुद्ध तथा व्याघातरहित होता है ।)

विवेचन– आहारकशरीर की कई विशेषताएँ है –

(१) यह कर्मभूमि में गर्भ से उत्पन्न हुए सम्यग्दृष्टि ऋद्धि प्राप्त श्रमण को ही होता है ।

(२) वह संख्यात वर्ष की आयु वाला होना चाहिए ।

(३) यह शुभ पुद्गलो से निर्मित होता है, अत्यधिक मनोज्ञ होता है

(४) यह विशुद्ध होता है ।

(५) यह न किसी को व्याघात पहुंचाता है और न किसी भी पदार्थ से आहत होता है ।

(६) इसका प्रयोजन सिर्फ एक ही है –केवली भगवान के दर्शन करके हृदयगत शंका का निवारण करना ।

७) इसका प्रमाण एक हाथ और आकार समचतुरस्त्र संस्थान है। इस प्रकार आहारकशरीर में कतिपय ऐसी विशेषताएँ होती हैं, जो अन्य किसी शरीर में नहीं होतीं ।

आगम वचन –

तिविहा नपुंसगा पण्णत्ता, तं जहा–

णेरतियनपुंसगा तिरिक्खजोणिय–नपुसंगा मणुस्स नपुंसगा ।

– स्थानांग ३, उ. १, सूत्र १२१

(नपुंसक तीन प्रकार के होते हैं –

(१) नारकनपुंसक (२) तिर्यंचनपुंसक और (३) मनुष्यनपुंसक ।

गोयमा ! इत्थीवेया पुरिसवेया णो णपुंसगवेया ....।

जहा असुरकुमारा तहा वाणमंतरा / जोइसिय वेमाणिया वि

–समवायांग, वेदाधिकरण सूत्र १५६

(गौतम ! वह (असुरकुमार) स्त्री और पुरुष वेद वाले ही होते हैं, नपुंसक वेदवाले नहीं । असुरकुमारों के सामान ही भवनवासी, व्यंतर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्योतिष्क और वैमानिक भी स्त्री तथा पुरुष वेद वाले होते हैं, नपुसंक नहीं होतें ।)

वेदों (लिंगों) के धारक –

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि । ५०।

न देवा : । ५१।

नारक और सम्मूच्र्छन जीव नपुंसक होते हैं ।

(देव नपुंसक नहीं होते)

विवेचन – प्रस्तुत सूत्रों में नपुंसकलिंग को प्रधानता देकर बताया गया है कि नारक और संमूर्च्छिम–सभी नपुंसक होते हैं और देव नपुंसक नहीं होते। इसका सीधा सा अभिप्राय यह है कि देव या तो स्त्रीवेदी होते है अथवा पुरुषवेदी ।

वेद – वस्तुतः चारित्रमोहनीय कर्म की प्रकृति है, जिसके तीन भेद हैं (१) स्त्रीवेद, (२) पुरुषवेद और (३) नपुंसकवेद ।

स्त्रीवेद का अभिप्राय है पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा और पुरुषवेद का स्त्री के साथ तथा नपुंसकवेद का दोनों के साथ ।

सूत्र में बताया है कि नारक और सम्मूर्च्छिम जीव नपुंसकवेदी होते हैं ।

सम्मूर्च्छिम जीव वे होते हैं जो माता–पिता के रज–वीर्य के बिना ही उत्पन्न होते हैं ।

साधारणतया यह माना जाता है कि एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के सभी जीव सम्मूर्च्छिम होते हैं । किन्तु सम्मूर्च्छिम का अर्थ यह नहीं है कि वे बिना बीज और योनि के ही उत्पन्न हो जाते हैं । यह बात अलग है कि इनकी सेचन क्रिया (Fertilisation) का ढंग दूसरे प्रकार का है ।

यह प्रत्यक्ष प्रमाणित है कि मेघजल से कोमल उपजाऊ भूमि में स्वयं ही वनस्पति उत्पन्न हो जाती है और कठोर ऊसर भूमि में नहीं होती । यहाँ कोमल भूमि विवृत योनि का काम करती है और मेघजल को तो आचारांग में भी उदकगर्भ (Embrosia) कहा ही है, अतः मेघजल भूमि स्थित बीज को उत्पन्न करने में प्रमुख सहायक बनता है ।

इसी प्रकार द्वीन्द्रिय जीव लट (कृमि) आदि भी बीज और योनि (जल सहित सचित्त मिट्टी) में उत्पन्न होते हैं । चींटी, दीमक आदि त्रीन्द्रिय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवों तथा मच्छर-मक्खी आदि चतुरिन्द्रिय जीवों के अध्ययन से भी स्पष्ट हो गया है कि नर-चींटी-दीमक द्वारा सेचन के पश्चात मादा चींटी-दीमक आदि अण्डे देता हैं । जूं के अण्डे लीख से तो सभी परिचित हैं, वह भी त्रीन्द्रिय जीव है । यही बात मक्खी-मच्छर आदि के बारे मे हैं । यह तथ्य सार्वजनीन हो गया है ।

तब प्रश्न यह हो सकता है कि इन्हें सम्मूर्च्छिम जीव क्यों कहा गया?

इस शंका का समाधान यह है कि सम्मूर्च्छिम जीव भी बीज और योनि के संयोग से उत्पन्न होते हैं किन्तु गर्भज जीवों की अपेक्षा उनकी उत्पत्ति प्रक्रिया में बहुत अन्तर है । इस प्रक्रिया अन्तर के कारण भी उन्हें सम्मूर्च्छिम कहा जाता है ।

फिर सम्मूच्र्छन का लक्षण ही यह है- 'सं समन्तात् मूच्र्छनं जायमान जीवानुग्राहकाणां शरीराकारपरिणमनयोग्यपुद्गलस्कन्धानां समुच्छयणं सम्मूच्र्छनम्। अर्थात्-सं-समस्तरूप से, मूच्र्छनम्-जन्म ग्रहण करना। जो जीव, उसको उपकारी ऐसे जो शरीराकार परिणमने योग्य पुद्गल स्कन्धों का एकत्र होना-ग्रहण होना-प्रगट होना, सम्मूच्र्छन जन्म है ।

अतः सम्मूच्र्छन जन्म स्पष्ट ही गर्भजन्म तथा उपपात जन्म से पृथक् है, इसकी सम्पूर्ण क्रिया प्रक्रिया भी अलग हैं ।

यद्यपि उपपात जन्म में भी पुद्गलों का ग्रहण सभी दिशाओं से होता है, किन्तु वहाँ बीज का पूर्णतया अभाव है, अतः उपपात जन्म कभी भी सम्मूच्र्छन जन्म नहीं हो सकता ।

प्रस्तुत दोनों सूत्रों में नरकगति, सम्मूच्र्छन जन्म वाले तथा देवों का वेद बता दिया तो अब जो जीव शेष बचे, वे तीनों वेद वाले होते हैं, ऐसा स्वयं ही प्रकट हो जाता है । स्वयं भाष्यकार उमास्वाति के शब्दों में -

''पारिशेष्याच्च गम्यन्ते जराय्वण्डजपोतजास्त्रिविधा भवन्ति-स्त्रियः पुमांसो नपुंसकानीति ।''

(परिशेष न्याय से शेष जीव जरायुज, अण्डज, पोतज (गर्भजन्म वाले सभी जीव) स्त्री, पुरूष और नपुंसक तीनों वेद वाले होते हैं ।

इसका अभिप्राय यह है कि इन जीवों में तीन वेद पाये जाते हैं ।

दिगम्बर परम्परा में यही बात 'शेषास्त्रिवेदाः' एक स्वतन्त्र सूत्र रच कर कही गई है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम वचन –

दो अहाउयं पालेंति देवाणं चेव णेरइयाणं चेव ।

– स्थानांग, स्थान २, उ. ३, सूत्र ८५

देवा नेरइयावि य असंखवासाउया य तिरमणुआ ।
उत्तमपुरिसा य तहा चरमसरीरा य निरुवक्कमा ॥

– ठाणांगवृत्ति

(दो की आयु पूर्ण होती है – देवों की और नारकियों की ।

देव, नारकी, भोगभूमि वाले तिर्यंच और मनुष्य उत्तम पुरुष और चरमशरीरियों की बँधी हुई आयु निरुपक्रम होती है ।)

आयु के प्रकार –

औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ।५२।

उपपातजन्म वाले, चरमशरीरी, उत्तमपुरुष तथा असंख्यातवर्ष की आयु वाले जीवों की आयु अनपवर्तनीय होती है ।

विवेचन – देव और नारकी (क्योंकि इनका उपपात जन्म ही होता है,) चमरशरीरी अर्थात् उसी भव से मोक्ष जाने वाले, उत्तम पुरुष) (चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव) और असंख्यात वर्ष की आयु वालेजीवों की आयु बीच में नहीं टूटती, घटती नहीं, वे अपनी बंधी हुई पूरी आयु का भोग करते हैं, उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती ।

असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच होते हैं । यह भोग भूमियो तथा अन्तरद्वीपों में निवास करते हैं । वहां सतत भोगयुग रहता है, अतः इनकी आयु भी अनपवर्तनीय होती है।

आयु के दो भेद – आयु के दो भेद हैं – १. अनपवर्तनीय और २. अपवर्तनीय । अपवर्तन का अभिप्राय है कम हो जाना, अतः ऐसी आयु जो किसी निमित्त को पाकर कम हो सके वह अपवर्तनीय कहलाती है । इसके विपरीत जो आयु किसी भी कारण से कम न हो सके वह अनपवर्तनीय कहलाती है ।

सूत्र में अनपवर्तनीय आयु वाले जीवों का निर्देश कर दिया गया है। अतः परिशेष न्याय से यह स्पष्ट है कि सूत्रोक्त जीवों के अतिरिक्त अन्य जीवों की आयु अपवर्तनीय होती है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगमों में 'अपवर्तन' का 'उपक्रम' नाम मिलता है । वहाँ सोपक्रम (अपवर्तनीय) निरुपक्रम (अनपवर्तनीय) शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हैं ।

यह अपवर्तन अनेक निमित्त कारणों से हो सकता है । इन निमित्तों को उपक्रम भी कहा जाता है । ठाणांग सूत्र (७/५६१) में आयुभेद (आयुभंग) के सात कारण बताये गये हैं -

१. **अध्यवसाय** - तीव्र राग-द्वेष अथवा भय से

२. **निमित्त** - दण्ड, शस्त्र आदि द्वारा

३. **आहार** - अत्यधिक आहार से अथवा आहार के अभाव से, जल आदि न मिलने कारण अर्थात् तृषा (प्यास) से

४. **वेदना** - आंख, उदर आदि अंगों की तीव्र पीड़ा से

५. **पराघात** - कुए आदि में गिरना, तालाब-नदी-समुद्र आदि में डूब जाना, पर्वत आदि किसी ऊँचे स्थान से गिर जाना, सीढ़ियों से फिसल जाना ।

६. **स्पर्श** - बिच्छू, सर्प आदि किसी विषैले कीड़े के दंश से अथवा स्वयं ही विष पी लेना, नींद की गोलियां अधिक खा लेना या कीटनाशक रसायनो, गोलियों को खा लेना ।

७. **श्वासोच्छ्वास रुकने से** - फांसी आदि खा लेना, किसी अन्य द्वारा गला दबा दिया जाना आदि ।

आधुनिक युग में दया-मृत्यु (Mercy Killing) के रूप में अकाल मृत्यु का एक नया कारण पनपने लगा है। इस पर चिकित्सा विज्ञानियों द्वारा बल दिया जा रहा है । इसका अभिप्राय है जब किसी प्राणी की वेदना-पीड़ा, असह्य हो जाये और उसका चिकित्सा विज्ञान में कोई उपचार न हो तो उसे विष का इंजेक्शंन देकर पीड़ामुक्त कर देना, मार देना । अध्यात्म दृष्टि से यह दया-मृत्यु नहीं अकाल मृत्यु ही है ।

कर्मभूमियों में ,अर्थात् आधुनिक विश्व में उत्पन्न होने वाले जीवों को सामान्यतया ऐसे निमित्त मिलते ही रहते हैं, जिनसे आयु के कम होने अथवा घटने की संभावना निहित होती है ।

सामान्य जिज्ञासा यह है कि यदि किसी मनुष्य अथवा पशु की इन निमित्तो से मृत्यु हो गई, शरीर छूट गया तो क्या वह अपनी शेष आयु को अगले जन्म में भोगेगा ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस विषय में सिद्धान्त यह है कि जो आयु १०-२०-२५ अथवा ५० वर्ष में भोगी जाने वाली थी, उसे वह एक अन्तर्मुहूर्त अथवा आवलिकामात्र काल में ही भोगकर पूरा कर लेता है। क्योंकि कोई भी जीव आयु पूरी किये बिना दूसरी गति में उत्पन्न नहीं हो सकता ।

इस बात को एक दृष्टान्त से समझिये । मान लीजिए-एक तिनकों का (तृणों का) ढेर हैं, उसमें आग की एक चिंगारी छोड़ दी गई तो वह धीरे-धीरे, एक-एक तिनके को जला रही है और यदि उसके चारों ओर तथा बीच में आग की लपट छोड़ दी गई तो तिनकों का पूरा ढेर कुछ ही क्षणों में जलकर स्वाहा हो जायेगा ।

दूसरा दृष्टान्त लीजिए - एक मिट्टी के घड़े में बहुत ही छोटा-सा छेद है, एक-एक बूंद पानी टपक रहा है, घड़ा धीरे-धीरे खाली हो रहा है। किन्तु किसी व्यक्ति ने उसमें एक पत्थर मार दिया, घड़ा फूट गया, सारा पानी एकदम ढुल गया ?

एक अग्निकण द्वारा एक-एक तिनके को जलाया जाना-सामान्य आयु-भोग है और लपट द्वारा तिनकों के ढेर का भस्म हो जाना आयु का शीघ्र ही क्षीण हो जाना-समाप्त हो जाना है ।

यही बात दूसरे दृष्टान्त में है । एक-एक बूंद टपक रही है तो सामान्य रूप से आयु पूरी हो रही है और पत्थर की चोट से जो घड़ा फूटा और सारा पानी ढुल गया वह आयु का शीघ्र ही समाप्त हो जाना है ।

मूल बात यह है कि आयु, चाहे अपवर्तनीय ही क्यों न हो, अवश्य ही पूरी होती हैं, सिर्फ मारक निमित्त मिलने से उसका भोग जल्दी पूरा हो जाता है; इतना ही भेद है । यानी सिर्फ शीघ्रता और सामान्यता का अन्तर पड़ता है ।

जिन जीवों की सूत्र में अनपवर्तनीय आयु बताई है, उसका प्रमुख और आन्तरिक कारण यह है कि उनका आयु-बंधन इतना सघन और दृढ़ होता है कि बीच में टूट ही नहीं सकता ।

इसके विपरीत अपवर्तनीय आयु वाले जीवों का आयुबंधन इतना सुदृढ़ और सघन नहीं होता। आयु के टूटने को जन-सामान्य की भाषा में 'अकाल मृत्यु' कहा जाता है ।

इसलिए यह कहना अधिक उचित है कि निश्चयनय के अनुसार तो आयु नहीं टूटती किन्तु व्यवहारनय के अनुसार टूट सकती है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

फिर यह भी आवश्यक नहीं कि अपवर्तनीय आयु अवश्य ही बीच में टूटेगी, कम होगी, शीघ्र भोगी ही जायेगी । यह सब तो निमित्तों पर निर्भर है । आधुनिक युग में भी बहुत से ऐसे मनुष्य एवं पशु हैं जो अपनी पूरी आयु भोगकर स्वाभाविक मृत्यु प्राप्त करते हैं ।

अब एक प्रश्न और हो सकता है – क्या जिस तरह अपवर्तनीय आयु निमित्तों के कारण शीघ्र भोग ली जाती है, इसी प्रकार अनुकूल निमित्त मिलाकर बढ़ाई भी जा सकती है ?

यद्यपि आयुर्वेद, योगशास्त्र आदि प्राचीन युग में यानी कुशल वैद्य, योगी, साधु, तपस्वी आदि तथा आधुनिक युग के चिकित्सा वैज्ञानिक आयु बढ़ाने का दावा करते हैं, किन्तु आयु बढ़ाने सम्बन्धी उनका कोई दावा सफल नहीं हुआ, मृत्यु को आज तक कोई भी नहीं रोक पाया, मौत का इलाज कोई भी न कर सका ।

और सिद्धान्त तो इस बात में निश्चित है ही कि बंधी हुई आयु में एक क्षण भी नहीं बढ़ाया जा सकता है ।

* * *

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तीसरा अध्याय

अधोलोक तथा मध्यलोक

(NETHER AND MEDIAEVAL REGIONS)

नारक, मनुष्य, तिर्यंच संसार

(HELLISH, HUMAN, ANIMAL WORLD)

उपोद्घात-

दूसरे अध्याय में औदयिक भावों,गति,उत्पत्ति-जन्म आदि का वर्णन करते समय नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव-इन चार का उल्लेख किया गया है। संसारी जीव इन चार गतियों में भ्रमण करता हुआ, जन्म लेता और मरता रहता है ।

प्रस्तुत अध्याय में नारक जीवों के निवास, शरीर, वेदना, विक्रिया, लेश्या,परिणाम आदि के विषय में वर्णन किया जा रहा है ।

साथ ही मनुष्य और तिर्यंच जीवों के आवास स्थानों का भी वर्णन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है ।

क्योंकि नारक जीवों का निवास नरकों में है और नरक अधोलोक में है, अतः अधोलोक का भी वर्णन, इस अध्याय में है ।

मनुष्य और तिर्यंच जीवों का निवास मध्यलोक अथवा तिर्यक् लोक में है, इसलिए तिर्यक् लोक का भी वर्णन किया गया है ।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्यायगत विवेचन अधोलोक, तिर्यक्लोक तथा नारकी, मनुष्य एवं तिर्यंच जीवों के निवास स्थान के रुप में हुआ है। प्रसंगानुसार अधोलोक-तिर्यक् लोक की रचना भी वर्णित है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अधोलोक

आगम वचन –

कहि णं भंते ! नेरइया परिवसंति ?

गोयमा ! सट्ठाणेणं सत्तसु पुढवीसु, तं जहा–

रयणप्पभाए, सक्करप्पभाए, बालुयप्पभाए, पंकप्पभाए, धूमप्पभाए, तमप्पभाए, तमतमप्पभाए –प्रज्ञापना, नरकाधिकार,पद २

अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे घणोदधीति वा घणवातेति वा तणुवातेति वा ओवासंतरेति वा ।

हंता अत्थि एवं जाव अहे सत्तमाए ।

–जीवाभिगम,प्रतिपत्ति, २ सू० ७०–७१

(भगवन् ! नारक–जीव कहां रहते हैं ?

गौतम ! वह अपने स्थानों सातों पृथ्वियों में रहते है । जिनके नाम यह हैं– १. रत्नप्रभा, २. शर्कराप्रभा, ३. बालुकाप्रभा, ४.पंकप्रभा,५. धूमप्रभा, ६. तमःप्रभा और ७. तमस्तमप्रभा ।

इस रत्नप्रभा पृथ्वी के बाहर घनोदधिवातवलय है, उसके बाहर घनवातवलय है, उसके भी बाहर तनुवातवलय है और सबसे बाहर आकाश है, इसी प्रकार नीचे–नीचे सातवीं पृथ्वी तक है ।)

नरकलोक वर्णन–

रत्न–शर्करा–बालुका–पंक–धूम–तमो–महातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोधः पृथुतराः ।१।

तासु नरकाः ।२।

सात पृथ्वियाँ हैं, उनके नाम हैं–१. रत्नप्रभा, २.शर्कराप्रभा, ३. बालुकाप्रभा, ४. पंकप्रभा, ५. धूमप्रभा, ६. तमःप्रभा और ७. महातमःप्रभा। यह सातों पृथ्वियाँ तीन वातवलय और आकाश पर स्थित हैं और क्रमशः एक दूसरी के नीचे हैं तथा क्रमशः एक दूसरी से अधिक विस्तारवाली हैं । यानी क्रमशः पहली से दूसरी की लम्बाई–चौड़ाई अधिक होती चली गई है; किंतु मोटाई घटती गई है ।[1]

उन पृथ्वियों में नरक (नारक) हैं ।

---

१ देखें, गणितानुयोग पृष्ठ ३७, पर अभयदेव सूरिकृत टीका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेष-प्रस्तुत सूत्र में 'वात' शब्द आया है वह व्याकरण के नियम के अनुसार समस्यन्त है । दो 'वात' शब्दों का समास होने से एक वात 'शब्द' का लोप हो गया है-वातश्च वातश्च वातौ । अतः 'घनाम्बुवात' से घनोदधिवात और घनवात दोनों ही समझने चाहिए । और 'घन' शब्द सामान्य है अतः इसका विशेष तनुवात भी ग्रहण कर लेना चाहिए । इस प्रकार सूत्रोक्त 'घनाम्बुवात' शब्द में घनोदधिवात, घनवात और तनुवात- यह तीनों ही गर्भित है ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्रों में नरकवासों की स्थिति बताई गई है । कहा गया कि सात नरक पृथ्वियाँ अथवा भूमियाँ हैं, जो क्रमशः एक दूसरी के नीचे हैं ।

नरको का विशेष वर्णन

नरको के नाम - इन सात पृथ्वियों के नाम इस प्रकार क्रमशः बताये गये है - १. घमा, २. वंसा, ३. शैला, ४. अंजना, ५. रिष्ठा, ६. मघा और ७. माघवती । (ठाणं ७/५४६)

रत्नप्रभा आदि जो पृथ्वियों के नाम प्रसिद्ध हैं, वे उनके गोत्र हैं ।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो रत्नप्रभा आदि नाम उस स्थान विशेष के प्रभाव, वातावरण (पर्यावरण) के कारण है ।

रत्नप्रभा भूमि काले वर्ण वाले भयंकर रत्नों से व्याप्त हैं ।

शर्कराप्रभा भूमि भाले और बरछी से भी अधिक तीक्ष्ण शूल जैसे कंकरों से भरी है ।

बालुकाप्रभा पृथ्वी में भाड़ की तपती हुई गर्म बालू से भी अधिक उष्ण बालू है ।

पंकप्रभा में रक्त, मांस पीव आदि दुर्गन्धित पदार्थों का कीचड़ भरा है

धूमप्रभा में मिर्च आदि के धुँए से भी अधिक तीक्ष्ण दुर्गन्ध वाला धुँआ व्याप्त रहता है ।

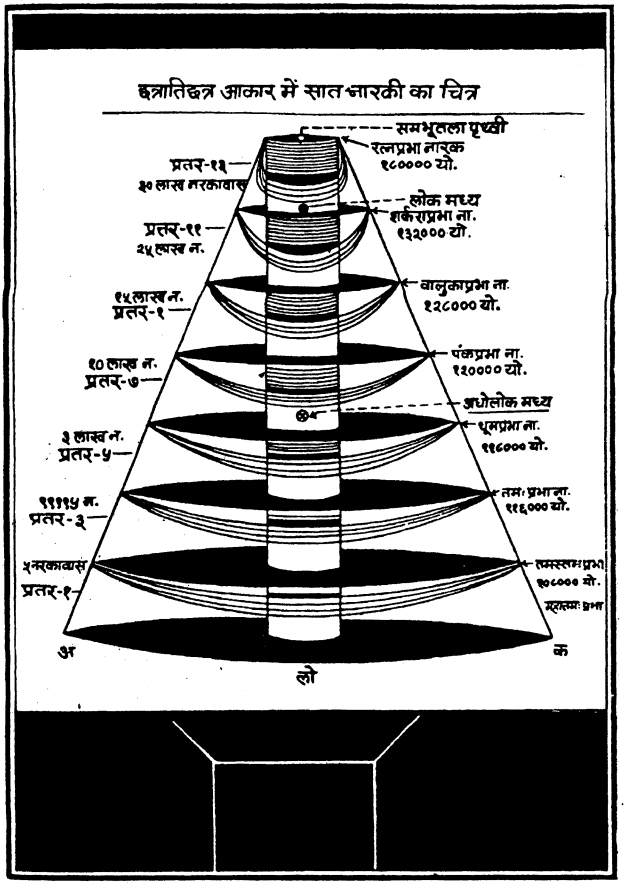
तमःप्रभा में सतत घोर अंधकार छाया रहता है ।

महातम-प्रभा में घोरातिघोर अन्धकार व्याप्त है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन सातों नरक पृथ्वियों का विशेष वर्णन इस प्रकार है –

१. **रत्नप्रभा** – रत्नप्रभा के तीन कांड (भाग) हैं – १. खरकांड, २. पंकबहुलकांड और ३. अप्बहुल कांड ।



अधोलोकस्थिति दर्शन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

खरकांड में अनेक प्रकार के नुकीले भयंकर रत्न हैं, पंकजबहुल कांड में अत्याधिक कीचड़ है और अप्बहुल कांड में दुर्गन्धित जल की अधिकता ह।

इस पृथ्वी में खरकांड की मोटाई १६००० योजन, पंकबहुल कांड की ८४००० योजन और अप्बहुल कांड की ८०००० योजन है । इस प्रकार रत्नप्रभा भूमि की कुल मोटाई १ लाख ८० हजार योजन है ।

इसमें से ऊपर और नीचे के एक-एक हजार योजन छोड़कर शेष १,७८,००० योजन में १३ पाथड़े यानी पृथ्वीपिंड है और १२ आन्तरे यानी अवकाश अथवा रिक्त स्थान है । इस प्रकार यह १३ मंजिल जैसा भवन है।

पाथड़ों मे नरकावास है । इन नरकावासों की संख्या ३० लाख है ।

आन्तरो मे पहले दो आन्तरे रिक्त यानी खाली है और शेष १० में भवनपति देवों के निवास हैं ।

दूसरी नरकभूमि से सातवीं नरकभूमि तक के सभी आन्तरे रिक्त है ।

प्रथम नरकभूमि के नारकी जीवों की कम से कम आयु १०००० (दस हजार) वर्ष और अधिक से अधिक आयु १ सागर की है ।

(२) **शर्कराप्रभा** – इस भूमि की मोटाई १ लाख ३२ हजार योजन है । इसमें ११ पाथड़े और १० आंतरे हैं । इन पाथड़ों में २५ लाख नरकावास जिनमें नारक जीव रहते हैं । इन नारक जीवों की जघन्य आयु १ सागर और उत्कृष्ट आयु ३ सागर की है ।

(३) **बालुकाप्रभा** – इस भूमि की मोटाई १ लाख २८ हजार योजन है । इसमें ९ पाथड़े और ८ आंतरे हैं नरकावास १५ लाख तथा जघन्य आयु ३ सागर व उत्कृष्ट आयु ७ सागर की है ।

(४) **पंकप्रभा** – इस भूमि की मोटाई १ लाख २० हजार योजन की है । पाथड़े ७ और आंतरे ६ हैं । नरकावास १० लाख तथा जघन्य और उत्कृष्ट आयु क्रमश : ७ तथा १० सागर की है ।

(५) **धूमप्रभा** – इस भूमि की मोटाई १ लाख १८ हजार योजन, पाथड़े ५ और आंतरे ४ तथा ३ लाख नरकावास हैं. यहाँ के नारक जीवों की जघन्य आयु १० सागर और उत्कृष्ट आयु १७ सागर की है ।

(६) **तमःप्रभा** – मोटाई १ लाख १६ हजार योजन, ३ पाथडे और २ आंतरे, नरकावासा ५ कम १ लाख हैं । आयु जघन्य १७ सागर और उत्कृष्ट २२ सागर है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(७) **महातमःप्रभा** – मोटाई १ लाख ८ हजार योजन, एक पाथडा है इसलिए आंतरा नहीं है । नरकावास ५ हैं और जघन्य आयु २२ सागर तथा उत्कृष्ट आयु ३३ सागर है ।

सातों नरकभूमियो में कुल नरकावासों की संख्या ८४ लाख है, इनमें घोर पापी जीव तीव्रातितीव्र वेदना भोगते हैं ।

नारकियों की शरीरसम्बन्धी विशेषताएँ – नारकियो का वैक्रिय शरीर होता है । इनके मूल शरीर का परिमाण इस प्रकार है – पहली नरक के नारको के शरीर का प्रमाण पौने आठ धनुष ६ अंगुल, दूसरे नरक के नारको का साढ़े पन्द्रह धनुष १२ अंगुल, तीसरे नरक में २१ १/४ (सवा इक्कीस) धनुष, चौथे में ६२ १/२ (साढ़े बासठ) धनुष. पाँचवें में १२५ धनुष. छठवे में २५० धनुष और सातवें में ५०० धनुष प्रमाण का शरीर होता है ।

यह उत्कृष्ट प्रमाण है और कम से कम शरीर का आकार अंगुल का असख्यातवां भाग हैं ।

नारक जीव घोर दुःख से दुःखी होकर अपने शरीर की उत्तर वैक्रिय करते हैं तो मूल शरीर से दुगुने आकार तक का बना लते हैं । यद्यपि उनका यह प्रयास कष्टों से बचने के लिए होता है किन्तु उनका कष्ट और बढ़ जाता है ।

जिज्ञासा – यहाँ एक जिज्ञासा हो सकती है कि नरकभूमियाँ आकाश (आधार के बिना) में किस प्रकार टिकी हुई हैं ?

समाधान – इस प्रश्न का समाधान भगवती सूत्र शतक १, उद्देशक ६ में दिया गया है । वहाँ लोकस्थिति सम्बन्धी प्रश्न पूछने पर भगवान ने फरमाया है कि त्रस और स्थावर प्राणियों का आधार पृथ्वी, है, पृथ्वी का आधार घनोदधि है, घनोदधि घनवात पर प्रतिष्ठित हैं, घनवात तनुवात पर और तनुवात आकाश पर प्रतिष्ठित है तथा आकाश अपना आधार स्वयं ही है, इसे अन्य आधार की अपेक्षा नहीं है ।

इसे एक दृष्टान्त से समझाया गया है ।

एक मशक को हवा से भरकर फुला दिया जाय और उपर से उसका मुँह डोरी से बांध दिया जाय; फिर बीच के भाग को एक डोरी से कसकर बांध दिया जाय । मुंह बँधा होने से इसमें से वायु निकल नहीं सकती साथ ही बीच में बँधी होने से मशक दो भागों में विभाजित सी हो जाती है, उसका आकार डुगडुगी जैसा बन जायेगा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तदुपरान्त मशक का मुँह खोलकर वायु निकाल दी जाय और उस भाग में पानी भर दिया जाय । इसके बाद बीच का बन्धन भी खोल दिया जाय। इस स्थिति में भी पानी ऊपर ही रहेगा, नीचे नहीं जायेगा । सरल शब्दों में वायु के आधार पर पानी अवस्थित रहेगा ।

यही स्थिति लोक की है, नरकों की है और पृथ्वी की भी है ।

पृथ्वी के विषय में पौराणिक काल में अनेक मान्यताएँ प्रचलित थी, यथा-पृथ्वी शेषनाग के फन पर टिकी है, कच्छप की पीठ पर अवस्थित है आदि-आदि । किन्तु जैनदर्शन की मान्यता इन सभी प्रकार की मान्यताओं से भिन्न रही है ।

जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार लोक घनोदधि पर, घनोदधि घनवात पर और घनवात तनुवात पर स्थिर है तथा तनुवात आकाश पर स्थिर ह।

घनोदधि जलजातीय है और जमे हुए घी के समान है । यह असंख्यात योजन विस्तृत है तथा लोक के (और नरकों के भी) चारो ओर अवस्थित-इसे बेढ़े हुए (वेष्टित किये) हैं ।

घनोदधि को घनवात बेढ़े हुए हैं । घनवात वायुजातीय है और तनुवात पिघले हुए घी के समान है ।

घनवात तनुवात के आधार पर टिकी हुई है । तनुवात घनवात को चारो ओर से आवरित किये हुए हैं ।

तनुवात के नीचे असंख्यात योजन विस्तृत आकाश है । वहाँ तक धर्मास्तिकाय आदि ५ द्रव्य हैं । धर्मास्तिकाय की समाप्ति के बिन्दु से आगे असंख्यात योजन विस्तृत आकाश है । धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्यों के अन्तिम बिन्दु तक लोक है और इसके आगे का असंख्यात योजन का आकाश अलोकाकाश कहलाता है । वहाँ आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई भी द्रव्य नहीं है ।

घनवात आदि के लिए वैज्ञानिक पर्यावरण अथवा वायुमण्डल शब्द का प्रयोग करते हैं । उनकी मान्यता है कि एक निश्चित सीमा तक पृथ्वी के चारो ओर का वायुमण्डल सघन और फिर क्रमशः विरल होता गया है ।

यह वैज्ञानिक मान्यता घनोदधि, घनवात और तनुवात की अवस्थिति को ही प्रमाणित कर रही है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नरकों के विषय में तो वैज्ञानिक कोई खोज कर ही नहीं सके हैं ।

लोकस्थिति एवं आकार – जैन शास्त्र (भगवती सूत्र ७/१/४) में इस षड्द्रव्यात्मक लोक को 'सुप्रतिष्ठक संस्थान' वाला बताया गया है ।

इस लोक के आकार की संरचना इस प्रकार बताई गई हैं – एक सकोरा जमीन पर उल्टा रखा जाय, उस पर दूसरा सकोरा सीधा और उस पर तीसरा सकोरा उल्टा रखने पर जो आकृति बनती हैं, वह लोक का आकार हैं ।

यह लोक तीन भागों में विभाजित हैं – (१) ऊर्ध्वलोक, (२) मध्यलोक और (३) अधोलोक

(१) **ऊर्ध्वलोक** – इसका विस्तृत वर्णन चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में किया गया है ।

(२) **मध्यलोक** – इसका विस्तृत वर्णन इसी अध्याय के सूत्र ७ तथा आगे के सूत्रों में किया गया है ।

(३) **अधोलोक** – इसमें सात नरक अवस्थित हैं ।

यह सम्पूर्ण लोक १४ राजू ऊँचा है तथा इसका घनफल ३४३ राजू प्रमाण है । इसमें नीचे से ऊपर तक स्तम्भाकार एक राजू चौड़ी त्रस नाड़ी ह । इस त्रस नाड़ी मे ही त्रस जीव रहते हैं, यहाँ स्थावरकाय के जीवों की भी अवस्थिति है । किन्तु त्रस नाड़ी के बाहर सिर्फ सूक्ष्म एकेन्द्रिय स्थावरकाय के जीव ही हैं और उसके आगे अनन्त अलोक हैं ।

लोक के जो अधोलोक आदि तीन विभाग हैं वे त्रस नाड़ी की अपेक्षा हैं तथा जम्बूद्वीप स्थित मेरुपर्वत को आधार मानकर इनका विभाग किया गया है ।

इन तीनों में से ऊर्ध्वलोक ७ राजू ऊँचा, है मध्यलोक १८०० योजन का है (९०० योजन ऊपर और ९०० योजन मेरुपर्वत के मूल में नीचे) और शेष में अधोलोक है ।

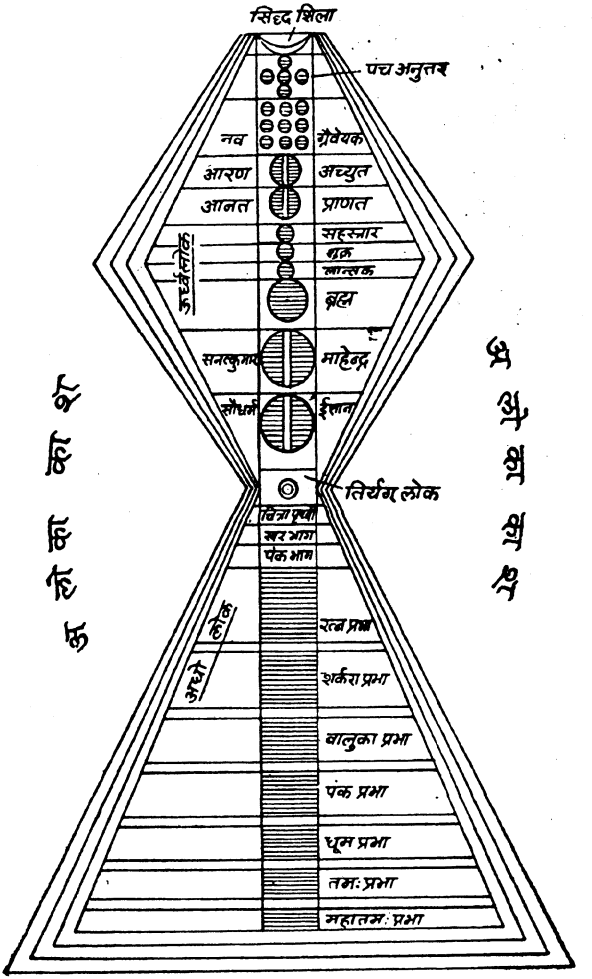
मध्यलोक एक राजू चौड़ा है ।

ऊर्ध्वलोक पहले–दूसरे स्वर्ग तक तो १ राजू चौड़ा है और फिर बढ़ते बढ़ते पाँचवें देवलोक तक पाँच राजू चौड़ा हो गया । तदुपरान्त इसकी चौड़ाई कम होती गई है और अन्तिम भाग तक पहुंचते–पहुंचते इसकी चौड़ाई एक राजू ही रह गई है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वहाँ ४५ लाख योजन (मनुष्य लोक अथवा ढाई द्वीप प्रमाण) आकार की सिद्ध शिला है, जहाँ उसके और उपर सिद्ध जीव शाश्वत सुख में निमग्न रहते हैं ।

(सलंग्नलोक चित्र से यह स्पष्ट समझा जा सकेगा।)



लोक पुरुष : लोक संस्थान आकृति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार लोक की अधिकतम चौड़ाई ७ राजू, कम से कम चौड़ाई १ राजू है तथा यह १४ राजू ऊँचा है । इसका कुल घनफल ३४३ घन राजू है । इसमें से अधोलोक के १९६ घन राजू हैं और उर्ध्वलोक के १४७ घन राजू हैं ।

यद्यपि लोक की अधिकतम चौड़ाई ७ राजू है किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, त्रस जीव तो १ राजू चौड़ी स्तम्भाकार १४ राजू ऊँची त्रस नाड़ी में ही रहते हैं । त्रस-नाड़ी के बाहर सिर्फ सूक्ष्म स्थावर जीव ही ह।

लोक का विस्तार – यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि लोक को चौदह रज्वात्मक कहा गया है और घनफल की अपेक्षा ३४३ राजू प्रमाण तो एक राजू का प्रमाण क्या है ? वह कितना लम्बा, चौड़ा है और इस लोक का कितना विस्तार है ?

इस विषय में भगवती सूत्र में छह देवों का दृष्टान्त दिया गया है । वृत्ताकार जम्बूद्वीप १ लाख योजन लम्बा-चौड़ा हैं और उसकी परिधि ३,१६,२२७ योजन, ३ कोस, १२८ धनुष और कुछ अधिक १३ ॥ अंगुल है । इस जम्बूद्वीप में १ लाख योजन ऊँचा मेरु पर्वत है ।

कल्पना करो-महान ऋद्धि वाले छह देवता[1] मेरु पर्वत की चूलिका पर खड़े हैं और चार देवियाँ जम्बूद्वीप की ८ योजन ऊँची जगती पर बाहर की ओर मुंह करके खडी है । उनके हाथ में बलिपिण्ड है ।

वे बलिपिण्डों को नीचे गिराती है। ठीक उसी क्षण मेरु चूलिका पर खडे देव चलते है और जम्बुद्वीप की परिधि का पूरा चक्कर लगाकर बलिपिण्डों को जमीन पर गिरने से पहले ही बीच में लपक लेते हैं ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि देवों की गति कुछ ही क्षणों में ४,१६ योजन (१ लाख योजन मेरू पर्वत की ऊँचाई से नीचे आना और ३ लाख १६ हजार योजन की परिधि लांघना) गति करने की है ।

यदि वे छहों देव (चार देव चार दिशाओं में और २ देव ऊर्ध्व और अधो दिशा में) इसी गति से लगातार चलते जायें और लगभग दस हजार वर्ष तक (एक-एक हजार वर्ष की आयु वाले मनुष्य की सात पीढ़ियाँ और उनके नाम गोत्र भी नष्ट हो जायँ इस अपेक्षा से) चलते ही रहें तो भी

---

१. ... छ महिड्ढिया जाव महेसक्खा देवा जंबुदीवे दीवे मंदरे पव्वए मंदर चूलिया सव्वओं समंता संपरिक्खित्ताणं चिट्ठेज्जा.... शतक ११/१०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लोक का असंख्यातवाँ भाग शेष रह जाता है, यानी वे लोक के अन्त तक नहीं पहुँच पाते ।

जैन दृष्टि से उपमा द्वारा यह लोक-विस्तार का रूपक बताया गया है । राजू के विस्तार की तो कल्पना ही की जा सकती है ।

आधुनिक शताब्दी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने एक कल्पना प्रस्तुत की है । प्रकाश की किरणें प्रति सैकिण्ड १ लाख ८६ हजार मील चलती हैं, यदि यह किरणें संसार की परिक्रमा करें तों इन्हें १२ करोड़ प्रकाश वर्ष लग जायेंगे ।

इस सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि यह लोक अत्यधिक विस्तृत हैं, इसके ओर-छोर का पता लगाना छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) के लिए असम्भव ही है । यह तो केवलज्ञान गम्य ही है ।

यह जैन दृष्टि द्वारा लोक का सामान्य वर्णन है । प्रसंगोपात्त होने से यहाँ सूचन किया गया है; क्योंकि आगे इसी अध्याय के तथा चौथे अध्याय के सूत्र लोक से सम्बन्धित हैं । विशेष वर्णन उन सूत्रों के साथ किया जायेगा।

आगम वचन -

अण्णमण्णस्स कायं अभिहणमाणा वेयणं उदीरेंति.....। इत्यादी।

---जीवाभिगम, प्र० ३, उ०२, सूत्र ८९

इमेहिं विविहेहिं आउहेहिं.....असुभेहिं वेउव्विएहिं पहरणसत्तेहिं अणुबन्ध तिव्ववेरा परोप्परवेयणं उदीरेति ।

---प्रश्नव्याकरण, अधर्मव्दार १, नरकाधिकार

ते णं णरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया णिच्चंधयारतमसा.... असुभा णरगा असुभाओ णरगेसु वेअणाओ ।

प्रज्ञापना पद २, नरकाधिकार

नेरइयाणं तओ लेसाओ पण्णता, तं जहा-कण्हलेस्सा नीललेस्सा काऊलेस्सा।

-स्थानांग, स्थान३, उ० १, सूत्र १३२

अतिसीतं, अतिउण्हं, अतितण्हा, अतिखुहा, अतिभयं वा, णिरए णेरइयाणं दुक्खसयाइं अविस्सामं । -जीवाभिगम, प्रति० ३, सूत्र ९५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(वहाँ परस्पर एक-दूसरे के शरीर को पीड़ा देते हुए वेदना उत्पन्न करते हैं।

अनेक प्रकार के आयुध-शस्त्र-मुद्गर, भुसण्डि आदि तथा अन्य अशुभ विक्रियाओं से सैकड़ों चोट करते हुए तीव्र वैर का बन्धन करके एक दूसरे को वेदना उत्पन्न करते हैं ।

वह नरक के बिल अन्दर से गोल, बाहर से चौकोर तथा नीचे छुरी की रचना के समान हैं । वहाँ सदा गहन अन्धकार रहता है और मांस की कीचड़ से सब ओर पुते हुए, अपवित्र आसन वाले, व परम अशुभ होते हैं । उनको कष्ट भी अशुभ होते हैं ।

नारकियों के तीन लेश्या होती हैं-कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोत-लेश्या

नारकियों को अत्यन्त शीत लगता है, अत्यन्त गर्मी लगती है, अत्यन्त प्यास लगती है, अत्यन्त भूख लगती है और अत्यन्त भय लगता है । वहाँ तो केवल दुःख, असाता और अविश्राम ही है ।)

नारकियों के दुःख--

नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया ।३।

परस्परोदीरितदुःखाः ।४।

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः ।५।

उन (नारकजीव) की लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया निरन्तर (सदा ही) अशुभतर होती हैं ।

वे परस्पर एक-दुसरे को दुःख देते रहते हैं ।

चौथी नरक भूमि से पहले यानी तीसरी नरकभूमि तक संक्लिष्ट असुर भी उन्हें पीड़ित करते हैं ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र ३,४,५ में नरक और नरकों में निवास करने वाले नारकी जीवों के दुःख बताये गये हैं ।

नित्य - नित्य शब्द का अर्थ यहाँ निरन्तर अथवा सदैव है । नारकी जीवों को सदा दुःख ही दुःख है । सुख का लेश भी नहीं है । तीर्थंकर के जन्म के समय उन्हें कुछ क्षण के लिए सुख का अनुभव होता है । वैसे वहाँ दुःख ही है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अशुभतर – शब्द यहाँ द्वि-संधानक है । प्रथम तो नरकों की रचना के लिए और दूसरे नारकी जीवों की लेश्या आदि के विशेषण रूप में ।

नरकों की रचना उत्तरोत्तर अशुभ और अशुभतर होती चली गई है । प्रथम नरकभूमि के पुद्गल स्पर्श, वर्ण, रस, गंध आदि में जितने अशुभ हैं, दूसरी नरक भूमि के पुद्गल उससे भी अधिक अशुभ हैं । इसी क्रम से सातवीं नरक भूमि के पुद्गल सर्वाधिक अशुभ हैं ।

यही बात नरकों के आकार, संस्थान आदि के बारे में हैं ।

लेश्या – योग और कषाय रंजित परिणामों को लेश्या कहा जाता है । जैसा कि आगमोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि नारक जीवों में कृष्ण नील, कापोत--यह तीन लेश्या होती हैं । इनमें कापोत से अधिक अशुभ नील लेश्या और कृष्णलेश्या अशुभतम है ।

पहली रत्नप्रभा नरकभूमि के नारकी जीवों की कापोत लेश्या है । दूसरी नरक शर्कराप्रभा के नारकियों की है तो कापोतलेश्या ही किन्तु प्रथम नरक के नारकियों की अपेक्षा अधिक अशुभ हैं, इनके परिणाम अधिक संक्लिष्ट रहते हैं ।

इसी प्रकार बालुकाप्रभा के नारकियों में कापोत और नील दोनों लेश्या हैं, पंकप्रभा के नारिकयों में नील लेश्या, धूम्रप्रभा के नारकियों की नील और कृष्णलेश्या, तमःप्रभा के नारकियों की कृष्णलेश्या और महातमःप्रभा के नारकियों की महाकृष्ण लेश्या है ।

कापोत, नील और कृष्ण लेश्या अशुभ, अशुभतर और अशुभतम हैं। ये अधिकाधिक संक्लेशकारी है ।

परिणाम – पुद्गल परमाणु जिनसे नरक (नरक बिलों) की रचना हुई है, वे तो अशुभतर, अशुभतम हैं ही किन्तु उनमें रहने वाले जीवों (नारकियों) के आत्म-परिणाम भी पहली से सातवीं तक अशुभतर होते चले गये हैं ।

पहली नरक के नारकियों की अपेक्षा दूसरी नरक के नारकियों के भाव (परिणाम) अधिक अशुभ हैं । यही क्रम सातवें नरक तक चलता गया है और सातवी नरक के नारकियों के भाव घोर अशुभ हैं ।

देह (शरीर) – नारकियों के शरीर भी क्रमशः अधिक बीभस्त, घृणास्पद, भयावने होते चले गये हैं । प्रथम नरक के नारकी के शरीर की अपेक्षा दूसरे नरक के नारकी का शरीर अधिक बीभत्स है । इसी क्रम से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सातवी नरक के नारकियों का शरीर अत्यन्त घृणास्पद, बीभत्स और दुर्गन्धयुक्त है ।

किन्तु इनके शरीर की अवगाहना (आकार) क्रमशः बढ़ता चला गया है । पहले नरक के नारक का मूल शरीर पौने आठ धनुष ६ अंगुल है । दूसरे नरक में यह बढ़ता चला गया है और सातवें नरक के नारक का शरीर ५०० धनुष हैं ।

विक्रिया – विक्रिया का अर्थ है मूल शरीर को छोटा-बड़ा बनाने और विभिन्न रूप बनाने की शक्ति । नारक जीवों को यह शक्ति क्षेत्र विशेष के कारण सहज ही प्राप्त होती है । वे अपने मूल शरीर का आकार मूल से दुगुना कर सकते हैं ।

वेदना – नरकों मे तीन प्रकार की वेदना नारक जीवों को भोगनी पड़ती है – (१) क्षेत्रजन्य, (२) परस्परजन्य-नारकियों द्वारा एक-दूसरे को दी जाने वाली और (३) परमाधामी देवों द्वारा दी जाने वाली वेदना, कष्ट और पीड़ा ।

यद्यपि नारकी जीव यह सारी वेदनाएँ अपने पूर्वजन्म में किये पापों के फलस्वरूप भोगता हैं; किन्तु निमित्त की अपेक्षा ये तीन भेद बताये गय ह।

(क) **क्षेत्रजन्य वेदना**– इस वेदना का कारण नरक-भूमि है । नरक की भूमि का स्पर्श छुरे की धार जैसा है, अत्यन्त दुर्गन्ध है, भय ही भय है चारो ओर ।

पहली तीन नरकभूमियों में जीव को उष्ण वेदना (अत्यधिक ताप) की वेदना भोगनी पड़ती हैं, चौथी में ताप-शीत, पाँचवीं में शीत-ताप, छठी में शीत और सातवीं में घोर शीत भोगता है ।

नारकों के शीत-ताप कितने उग्र हैं इस विषय में कहा गया है – यदि वे जीव मध्यलोक के अत्यधिक ठण्डे या गर्म क्षेत्र में आ जायें तो वे अपने को बहुत सुखी मान उठें, सुख से सो जायें ।

नारकी जीवों को बहुत-अत्यधिक भूख-प्यास लगती है किन्तु उन्हें न खाने को अन्न का एक दाना मिलता है , न पीने को एक बूँद पानी हो। अन्य सभी प्रकार की वेदनाएँ तो हैं है ।

(ख) **परस्परजन्य वेदना** – नारकी जीव परस्पर वैर-भाव के कारण कुत्ते-बिल्ली की तरह लड़ा करते हैं, एक क्षण को भी शान्त नहीं बैठ सकते, आपस में मार-पीट करते ही रहते हैं, एक-दूसरे को अधिक से अधिक कष्ट और पीडा देते ही रहते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(ग) परमाधार्मिक देवजन्य वेदना – परमाधार्मिक देव भवनपति जाति के देव होते हैं । प्रथम नरक भूमि में जो १२ आंतरे बताये गये हैं; उनमें से बीच के दस आंतरों में भवनपति देव रहते हैं ।

परमाधार्मिक देव १५ प्रकार के हैं – १. अम्ब, २. अम्बरीष, ३. श्याम, ४. सबल, ५. रुद्र, ६. महारुद्र, ७. काल, ८. महाकाल, ९. असिपत्र, १०. धनुष्य, ११. कुम्भ, १२. बालुका, १३. वैतरणी, १४. खरस्वर और १५. महाघोष.

यह १५ प्रकार के परमाधार्मिक देव संक्लिष्ट परिणाम वाले होते हैं । दूसरों को दुखी करने में इन्हें आनन्द आता है । जैसे -दुर्जन व्यक्ति शांत बैठे कुत्तों को परस्पर लड़ाकर मजा लेते हैं, वैसी ही प्रवृत्ति इन परमाधार्मिक देवों की होती है । यह भी नारकियों को उकसाते हैं, मारपीट कराते हैं और मजा लेते हैं । यह तीसरी नरक तक के नारकियों को परस्पर लड़ाते हैं, उनके कष्टों को बढ़ाते हैं । इनके द्वारा दी गई वेदना देव-जन्य या अधर्मजन्य वेदना कही जाती है ।

इस प्रकार नारकी जीवों को निरन्तर दुःख, कष्ट और वेदना ही भोगनी पड़ती हैं । उनके कष्ट अनन्त हैं, इस पृथ्वी पर कोई भी ऐसा दुःख नहीं जिसके साथ उनके दुःखो की तुलना की जा सके ।

नारकी जीव इन अत्यधिक और घोर कष्टों से घबड़ाकर मरने की इच्छा करते हैं; किन्तु उनकी यह इच्छा भी पूरी नहीं हो पाती । इसका कारण यह है कि इनकी आयु अनपवर्त्य होती है । ऐसी आयु बीच में टूट ही नहीं सकतो। वह तो पूरी की पूरी भोगनी ही पड़ती है ।

आगम वचन –

सागरोवममेगं तु, उक्कोसेण वियाहिया ।
पढमाए जहन्नेणं दसवाससहस्सिया । १६० ।
.. तेत्तीस सागरा उ, उक्कोसेणे वियाहिया ।
सत्तमाए जहन्नेणं बावीसं सागरोवमा । १६६ ।

– उत्तराध्ययन सूत्र ३६/१६०-६६

(प्रथम नरक की जघन्य आयु दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु एक सागर है । दूसरे नरक की जघन्य आयु एक सागर तथा उत्कृष्ट आयु तीन सागर है । तीसरे नरक की जघन्य आयु तीन सागर और उत्कृष्ट आयु सात सागर है । चौथे नरक की जघन्य आयु सात सागर और उत्कृष्ट आयु दश सागर है । पांचवें नरक की जघन्य आयु दश सागर और उत्कृष्ट आयु सत्रह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सागर हैं । छठे नरक की जघन्य आयु सत्रह सागर और उत्कृष्ट आयु बाईस सागर है । सातवें नरक की जघन्य आयु बाईस सागर और उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर है ।

नारक जीवों की उत्कृष्ट आयु –

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत् सागरोपमा : सत्वानां परा स्थितिः । ६।

उन नारक जीवों की (भूमियो के क्रम के अनुसार) एक, तीन, सात, दश, सत्रह, बाईस और तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है ।

विशेष – यहाँ उद्धृत आगम गाथा में नारक जीवों की उत्कृष्ट और जघन्य दोनों ही प्रकार की आयु का वर्णन किया गया है, जबकि प्रस्तुत सूत्र में सिर्फ उत्कृष्ट आयु ही बताई गई है । इनकी जघन्य आयु का वर्णन अध्याय ४ के सूत्र ४३–४४ में किया गया है ।

विवेचन – प्रथम पृथ्वी रत्नप्रभा के नारकियों की उत्कृष्ट आयु एक सागर, दूसरी नरक के नारकियों की तीन सागर, तीसरी नरक के नारिकयों की सात सागर, चौथी नरक के नारकियों की दस सागर, पाँचवीं नरक के नारकियों की सत्रह सागर, छठी नरक के नारकियों की बाईस सागर और सातवीं नरक के नारकियों की तेतीस सागर हैं । यह इन सभी नारक जीवों की उत्कृष्ट आयु स्थिति है ।

विशेष – यहां अधोलोक का वर्णन पूरा हो जाता है। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नारकी जीवों को दुःख ही दुःख हैं । उनकी आयु भी बहुत लम्बी है, अतः लम्बे समय तक उन्हे दुःख भोगने पड़ते हैं, क्योकि उनकी आयु बीच में नही टूट सकती, पूरी ही भोगनी पड़ती है ।

अतः सहज ही यह जिज्ञासा होती है कि किस–किस गति के कौन–कौन से जीव किस–किस नरक में उत्पन्न होते हैं और यह अपनी घोर कष्ट–पूर्ण आयु पूरी करके किस–किस गति में उत्पन्न हो सकते हैं ।

इस जिज्ञासा का सामान्य समाधान यह है कि देवगति से आयु पूर्ण करके कोई भी जीव नरक गति में उत्पन्न नहीं हो सकता, साथ ही नारकी जीव भी नरक आयु पूर्ण करके पुनः नरक में उत्पन्न नहीं होता । इसके साथ यह भी नियम है कि नारकी जीव आयु पूर्ण करके देवगति में उत्पन्न नहीं होता।

इसका सीधा सा फलितार्थ यह है नरक में आने वाले/उत्पन्न होने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वाले जीव मनुष्य और तिर्यंच गति से ही आते हैं और अपनी नरकायु भोगकर तिर्यंच अथवा मनुष्य गति में ही उत्पन्न होते हैं ।

जीवों के उत्पन्न होने को आगति और आयु पूर्ण करके दूसरी गति में जन्म लेने को गति कहा जाता है । भाष्य के अनुसार नारकी जीवों की गति और आगति का वर्णन निम्न प्रकार है –

आगति – *असंज्ञी जीव (एकेन्द्रिय से लेकर चउरिन्द्रिय तक के सभी* जीव तथा मनरहित पंचेन्द्रिय जीव भी) पहली नरकभूमि तक में जन्म ले सकते हैं ।भुजपरिसर्प (नेवला, चूहा आदि) दूसरी नरक भूमि तक, खेचर (पक्षी) तीसरी नरकभूमि तक, स्थलचर (सिंह, अश्व आदि) चार नरकभूमियों तक, उरपरिसर्प (सर्प आदि) पाँचवीं नरक भूमि तक, स्त्री छठी भूमि तक और मनुष्य सातवीं भूमि तक उत्पन्न हो सकते हैं ।

गतागत द्वार के अनुसार प्रथम नरक में २५ जीवों की आगति है – १५ कर्मभूमिज, ५ संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय ५ असंज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय ।

दूसरी नरक में ५ असंज्ञी पंचेन्द्रिय को छोड़कर २० जीव उत्पन्न होते हैं । तीसरी में भुजपरिसर्प को छोड़कर १९, चौथी में खेचर छोड़कर १९, पांचवी में स्थलचर छोड़कर १७, छठी में उपरपरिसर्प छोड़कर १६ तथा सातवीं में भी १६ जीव भी आगति हैं, किंतु स्त्री मरकर सातवीं नरक में उत्पन्न नहीं होती ।

गति – पहली से तीसरी नरक तक के जीव मनुष्यगति में उत्पन्न होकर तीर्थंकर पदवी तक प्राप्त कर सकते हैं । पहली से चौथी नरक तक के नारक मनुष्य गति में आकर निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं । पांचवीं नरक के नारक मनुष्यगति पाकर संयम ग्रहण कर सकते हैं । छठी नरक से निकले नारक देशविरित और सातवीं नरक से निकले नारक सम्यक्त्व धारण कर सकते है।

इस प्रकार यहां तक अधोलोक, नरक और नारक जीवों का वर्णन पूरा हुआ । (तालिका पृष्ठ १४९ पर देखें)

तिर्यक्लोक (मध्यलोक)

आगम वचन–

गोयमा ! अस्सिं तिरियलोए जंबुद्दीवाइया दीवा लवणाइया समुद्दा .. असंखेजजा दीव–समुद्दा सयंभूरमणपज्जवसाणा ..

– जीवाइब. प. ३ उ. १

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

नारक जीव

(तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार)

क्रम	नरक नाम	लेश्या	वेदना	अवगाहना [1]	आयु	
					जघन्य	उत्कृष्ट
१.	रत्नप्रभा	कापोत लेश्या	ताप (उष्ण) वेदना	७ ।।। धनुष ६ अंगुल	१०००० वर्ष	१ सागर
२.	शर्कराप्रभा	तीव्र संक्लेशकारी कापोतलेश्या	"	१५ ।। " १२ "	१ सागर	३ "
३.	बालुकाप्रभा	कापोत-नील लेश्या	"	३१। "	३ "	७ "
४.	पंकप्रभा	नील लेश्या	ताप-शीत वेदना	६२।। "	७ "	१० "
५.	धूमप्रभा	नील-कृष्ण लेश्या	शीत-ताप वेदना	१२५ "	१० "	१७ "
६.	तमःप्रभा	कृष्ण लेश्या	शीत वेदना	२५० "	१७ "	२२ "
७.	महातमःप्रभा	तीव्रतम कृष्ण लेश्या	शीततम वेदना	५०० "	२२ "	३३ "

१. अवगाहना का अर्थ मूल शरीर का आकार है और नारक जीव विक्रिया द्वार, अपने शरीर को दुगुना बढ़ा सकते हैं ।

(हे गौतम! इस तिर्यक्लोक में जम्बूद्वीप आदि असंख्य द्वीप, लवण समुद्र आदि असंख्य समुद्र हैं, सबसे अन्त में स्वयंभूरमण समुद्र हैं ।)

जंबुद्दीवं णाम दीवं लवणे णामं समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते सव्बतो समंता संपरिक्खत्ता णं चिट्ठिति

– जीवाभिगम, प्रतिपत्ति ३, उ.२, सूत्र १५४

जंबुद्दीवाइया दीवा लवणादीया समुद्दा संठाणतो एगविहविधाणा वित्थारतो अणेगविधविधाणा दुगुणादुगुणे पडुप्पाएमाणा पवित्थरमाणा आभासमाणवीचिआ – जीवाभिगम, प्रतिपत्ति ३ उ. २, सूत्र १२३

(जम्बूद्वीप नाम का द्वीप हैं और लवणसमुद्र नाम का समुद्र है । वह गोल वलय के आकार में स्थित है और जम्बूद्वीप को चारों ओर से घेरे हुए है ।

(जम्बूद्वीप आदि द्वीपों और लवण आदि समुद्रों की रचना की अपेक्षा एक ही भेद है, किन्तु विस्तार से अनेक प्रकार के भेद हैं । यह दुगुने-दुगुने होते हुए विस्तार को प्राप्त होते हुए शोभित हैं ।)

विशेष – सारांश यह है कि सब द्वीप-समुद्रों का विस्तार पहले-पहले से दुगुना-दुगुना है और वह गोल आकृति को धारण करते हुए पूर्व-पूर्व को घेरे हुऐं हैं ।)

तिर्यक्लोक के द्वीप-समुद्र –

जंबूद्वीपलवणादय : शुभनामानो द्वीपसमुद्रा : । ७।

द्विर्द्विर्विष्कम्भा : पूर्व-पूर्व परिक्षेपिणो वलयाकृतय : ।८।

जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवणसमुद्र आदि शुभ नाम वाले द्वीपसमुद्र है ।

यह सभी द्वीप-समुद्र दुगुने-दुगुने विस्तार वाले, चूड़ी के समान आकार वाले, अपने से पहले-पहले के द्वीप समुद्र को घेरे हुए हैं ।

विवेचन – प्रस्तुत दो सूत्रों में तिर्यक् लोक का वर्णन किया गया है। ।

इस तिर्यक्लोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं और ये सभी द्वीप-समुद्र दुगुने-दुगने विस्तार वाले हैं । इनका आकार चूड़ी के समान गोल हैं तथा यह अपने से पहले द्वीप-समुद्र को चारों ओर से घेरे हुए हैं ।

इन सूत्रों द्वारा जैनदृष्टिमान्य तिर्यक्लोक अथवा मध्यलोक की रचना बताई गई है । इसका अभिप्राय यह है कि मध्यलोक चूड़ी के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समान गोल आकार वाला है । द्वीप, समुद्र को और समुद्र, द्वीप को परस्पर वेष्टित किये हुए हैं ।

मध्यलोक के मध्य में जम्बूद्वीप हैं, फिर लवणसमुद्र हैं । इसी प्रकार द्वीप और समुद्र के क्रम से चलते हुए इस मध्यलोक का अन्तिम द्वीप है । स्वयंभूरमण द्वीप और अन्तिम समुद्र स्वयंभूरमण नाम का समुद्र उसे घेरे हुए है । स्वयंभूरमण द्वीप और समुद्र मध्यलोक के अन्तिम द्वीप–समुद्र हैं ।

आगम वचन –

जंबुद्दीवे सव्वद्दीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतराए सव्वखुड्डाए वट्टे.. एगं जोयणसहस्सं आयामविक्खभेणं. – जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र १/३

जंबुद्दीवस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं जंबुद्दीवे मन्दरे णामं पव्वए पण्णत्ते । णवणउतिजोअणसहस्साइं उद्धं उच्चत्तेणं एगं जोअणसहस्स उव्वेहेणं । – जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र १०३

जंबुद्दीवे सत्तवासा पण्णत्ता; तं जहा –

भरहे एरवते हेमवते हेरण्णवते हरिवासे रम्मवासे महाविदेहे ।

– स्थानांग, स्था, ७, सू. ५५५

जंबुद्दीवे छ वासहरपव्वता पण्णत्ता, तं जहा –

चुल्लहिमवंते महाहिमवन्ते निसढे नीलवंते रुप्पि सिहरी ।

– स्थानांग स्थान ६, सूत्र ५२४

(गोल आकार का जम्बूद्वीप सब द्वीप समुद्रो के बीच में सबसे छोटा है, इसका विस्तार एक लाख योजन है ।

जंबूद्वीप के ठीक बीचोंबीच सुमेरु नाम का पर्वत है, यह पृथ्वी के ऊपर ९९ हजार योजन ऊँचा है, एक हजार योजन पृथ्वी के अन्दर है । जंबूद्वीप में सात क्षेत्र हैं– भरत, ऐरवत, हैमवत, ऐरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष और महाविदेह ।

जंबूद्वीप में उन सात क्षेत्रों को बाँटने वाले (पूर्व से पश्चिम तक लंबे) छह कुलाचल (वर्षधर) पर्वत है । वह इस प्रकार हैं (१) चुल्ल हिमवन्त (छोटा हिमवान), (२) महाहिमवान (३) निषध (४) नील (५) रुक्मि और (६) शिखरी ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जंबूद्वीप की स्थिति –

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृ त्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जंबूद्वीपः ।९।

तत्र भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ।१०।

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरूक्मि-शिखरिणो वर्षधरपर्वता : ।११।

उन सब (द्वीप-समुद्रों) के बीच में जंबूद्वीप है । इसकी लम्बाई-चौड़ाई (व्यास) एक लाख योजन है । इसके मध्य में नाभि के समान-गोलाकार मेरु पर्वत है ।

इस जम्बूद्वीप में भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेह, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष तथा ऐरवतवर्ष-यह सात क्षेत्र है ।

इन क्षेत्रों का विभाजन (परस्पर पृथक्) करने वाले छह वर्षधर पर्वत हैं – हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रूक्मी और शिखरी । यह वर्षधर पर्वत पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए है ।

विवेचन – प्रस्तुत सुत्र ९ से ११ तक जम्बूद्वीप की भौगोलिक स्थिति का वर्णन हुआ है ।

जम्बूद्वीप, उन असंख्यात द्वीपों में सबसे छोटा है । यह चूडी के समान गोल (circular) है । इसका व्यास १ लाख योजन है । इसके मध्य में मेरुपर्वत है ।

पूर्व पश्चिम में ही 'जीवा' के रूप में छह वर्षधर पर्वत हैं – हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी । इन पर्वतों के कारण जम्बूद्वीप भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष और ऐरवतवर्ष इन सात क्षेत्रों में विभाजित हो गया है ।

यद्यपि मूलसूत्र में तो जम्बूद्वीप, मेरूपर्वत तथा वर्ष (क्षेत्र) और वर्षधर पर्वतों का सामान्य वर्णन ही हैं; किन्तु आचार्य उमास्वाति ने स्वयं अपने भाष्य में इनका विशेष वर्णन किया है। उसके अनुसार इनका विशेष परिचय दिया जा रहा है ।

मेरुपर्वत – मेरुपर्वत एक लाख योजन ऊँचा है । वह ९९००० योजन पृथ्वी के ऊपर है और १०० योजन पृथ्वी के अन्दर । पृथ्वी के अन्दर वाले भाग की चौड़ाई सर्वत्र १००० योजन है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मेरुपर्वत तीनों लोकों के विभाजन का आधार हैं, पृथ्वी तल से ९०० योजन नीचे तक मध्यलोक है और फिर १०० योजन नीचे अधोलोक को स्पर्श करता है तथा इसकी चूलिका के ऊपर ऊर्ध्वलोक शुरू हो जाता है।

इसकी तिरछी दिशा में असंख्यातयोजन तक मध्यलोक है ।

मेरुपर्वत के ३ काण्डक है । पहला काण्डक १ हजार योजन का पृथ्वी के अन्दर हैं, दूसरा काण्डक पृथ्वी तल से ६३ हजार योजन पृथ्वी के ऊपर है और तीसरा काण्डक, दूसरे काण्डक के ऊपर ३६ हजार योजन ऊँचा है।

प्रथम काण्डक में शुद्धपृथ्वी, हीरा, पत्थर आदि हैं । दूसरे काण्डक में चाँदी, सोना, अंकरत्न और स्फटिक है । तीसरे काण्डक में प्रायः सुवर्ण ही हैं ।

मेरुपर्वत पर भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक – यह ४ वन हैं । इन चार वनों से मेरु पर्वत चारों ओर से घिरा हुआ है ।

भद्रशाल वन मेरु पर्वत के मूल में हैं । नन्दनवन उससे ५०० योजन ऊपर चलकर हैं । उससे ६२॥ हजार योजन ऊपर सौमनसवन है । सोमनस वन से ३६ हजार योजन ऊपर पाण्डुकवन है ।

मेरु का शिखर अथवा चूलिका ४० योजन प्रमाण है । पाण्डुल वन इसी के चारों ओर हैं ।

दिशाओं का निर्णय – लोक के ठीक मध्यभाग में आठ रुचक प्रदेश हैं । यह सदा अवस्थित रहते हैं । इन आठ रूचक प्रदेश से ही चार दिशाओं और चार विदिशाओं का निर्धारण होता है । यह निश्चय दृष्टि (Naumenal point of view) है; किन्तु व्यवहार में दिशाओं का निर्धारण सूर्योदय से किया जाता है – यानी जिधर सूर्य का उदय होता है, वह पूर्व दिशा मानी जाती है और फिर इसके आधार पर अन्य दिशा–विदिशाओं का निर्धारण किया जाता है।

जम्बूद्वीप वर्णन – जैसा कि सूत्र में बताया गया है कि हिमवान आदि ६ वर्षधर पर्वतों के कारण जम्बूद्वीप भरत ऐरवत आदि ७ क्षेत्रों में विभाजित हो गया है । यह एक लाख योजन का है ।

जम्बूद्वीप के चारों ओर, उसे घेरे हुए लवणोदधि समुद्र है । इसका विस्तार २ लाख योजन हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भरतक्षेत्र – इस प्रकार भरतक्षेत्र के उत्तर में हिमवान पर्वत है तथा पूर्व-पश्चिम, दक्षिण इन तीनों दिशाओं में लवणोदधि समुद्र है । भरतक्षेत्र अर्द्धचन्द्रकार है उसका धनुपृष्ठ ५२६ ६/१९ योजन है ।

भरतक्षेत्र के मध्य में पूर्व-पश्चिम दिशा में हिवमान वर्षधर पर्वत के समानान्तर वैताढ्य पर्वत है । हिमवान पर्वत से निकलने वाली गंगा-सिंधु नदियाँ भरतक्षेत्र में बहती हुई क्रमशः पूर्व और पश्चिम दिशा में लवण समुद्र में गिरती है । इस प्रकार भरतक्षेत्र के छह खण्ड हो जाते हैं । इन छह खण्डों को विजय करने वाला चक्रवर्ती सम्राट कहलाता है ।

आगम वचन –

धायइसंडे दीवे पुरिच्छिमद्धे णं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तर-दाहिणेणं दो वासा पन्नत्ता, बहुसमतुल्ला जाव भरहे चेव एरवए चेव एवं पच्छच्छि मद्धे णं । स्थानांग, स्थान २, उ. ३, सूत्र ९२

(धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वार्द्ध में सुमेरुपर्वत के उत्तर-दक्षिण में दो-दो क्षेत्र हैं । भरत से ऐरवत तक वह सब प्रकार से बराबर हैं । इसी प्रकार धातकीखण्ड द्वीप के पश्चिमार्द्ध में सुमेरु पर्वत के उत्तर- दक्षिण में दो-दो क्षेत्र हैं । वह भरतक्षेत्र से लगाकर ऐरवत क्षेत्र तक सब प्रकार से बराबर है।)

पुक्खरवरदीवड्ढे पुरच्छिमद्धें णं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता बहुसमतुल्ला जाव भरहे चेव एरवए चेव तहेव

– स्थानांग, स्थान २, उ. ३, सूत्र ९३

(पुष्करवर द्वीपार्द्ध के पूर्वार्द्ध में सुमेरु पर्वत के उत्तर दक्षिण में दो-दो क्षेत्र हैं । वह भरतक्षेत्र से लगाकर ऐरवत क्षेत्र तक सब प्रकार से बराबर हैं । इसी प्रकार पश्चिमार्द्ध में भी रचना है ।)

माणुसुत्तरस्स णं पव्वयस्स अंतो मणुआ ।

– जीवाभिगम, प्रतिपत्ति ३, उ. २, सूत्र १७८ मानुषोत्तराधिकार

(मनुष्योत्तर पर्वत तक ही मनुष्य रहते हैं । आगे नहीं रहते ।)

ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-

आरिया य मिलक्खू य । प्रज्ञापना पद १, मनुष्याधिकार

(मनुष्य संक्षेप से दो प्रकार के होते हैं – (१) आर्य (२) म्लेच्छ

से किं तं कम्मभूमगा ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कम्मभूमगा पण्णरसविहा पण्णत्ता, तं जहा-

पंचहिं भरहेहिं पंचहिं एरवएहिं पंचहिं महाविदेहेहिं ।

से किं तं अकम्मभूमगा ?

अकम्मभूमगा तीसइविहा पण्णत्ता, तं जहा-

पंचहिं हेमवए हिं पंचहिं हरिवासेहिं, पंचहिं रम्मगवासेहिं, पंचहिं एरण्णवासेहिं, पंचहि देवकुरुहिं, पंचहिं उत्तरकुरुहिं । से तं अकम्मभूमगा।

– प्रज्ञापना पद १, मनुष्याधिकारी, सूत्र ३२

(कर्मभूमि कौन सी हैं ?

कर्मभूमि पन्द्रह कही गई हैं । अढाईद्वीप – के ५ भरत, ५ ऐरवत और ५ महाविदेह ।

अकर्मभूमि अथवा भोगभूमि कौन-सी हैं ?

भोगभूमि ३० होती है – ५ हैमवत, ५ हरिवर्ष, ५ रम्यक्वर्ष, ५ हैरण्यवत, ५ देवकुरु और ५ उत्तरकुरु । यह सब भोगभूमियाँ हैं ।

पलिओवमाउ तिन्नि य, उक्कोसेणं वियाहिया ।

आउट्ठिई मयुयाणं, अन्तोमुहुत्त जहन्निया ॥

– उत्तरा ३६/१९८

(मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु ३ पल्योपम और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त होती है. ।

पलिओवमाइं तिण्णि उ उक्कोसेण वियाहिया ।

आउठिई थलयराणां अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

– उत्तरा. ३६/१८३

गब्भवक्कंतिय चउप्पय-थलयरपंचेन्द्रिय तिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? जहण्णेणं अन्तोमुहुत्तं उक्कोसेणं. तिण्णि पलिओवमाइं

– प्रज्ञापना, स्थिति पद ४, तिर्यगधिकार

(गर्भज स्थलचर (तिर्यंचो) की उत्कृष्ट आयु ३ पल्योपम और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त होती है ।)

मनुष्य एवं मनुष्य लोक वर्णन –

द्विर्धातकीखण्डे ।१२।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुष्करार्धे च ।१३।

प्राङ्मानुषोत्तरान् मनुष्याः ।१४।

आर्या म्लेच्छाश्च ।१५।

भरतैरावतविदेहाः । कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरूभ्यः । १६।

नृस्थिति परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते । १७।

तिर्यग्योनीनां च । १८।

धातकीखण्ड द्वीप में (जम्बूद्वीप की अपेक्षा पर्वत एवं क्षेत्र) दुगुने हैं । पुष्करवरार्द्धद्वीप में भी (धातकीखण्ड द्वीप के समान) उतने ही हैं ।

मानुषोत्तर पर्वत से इस ओर (पहले तक) ही मनुष्य हैं ।

वे (मनुष्य) आर्य और म्लेच्छ (दो प्रकार के) हैं ।

भरत, हैमवत और विदेह (देवकुरू तथा उत्तरकुरू के अतिरिक्त) यह कर्मभूमियाँ हैं ।

मनुष्यों की आयु उत्कृष्ट तीन पल्योपम और कम से कम अन्त-र्मुहूर्त हैं ।

तिर्यंचो की आयु भी इतनी ही (मनुष्यों के समान) हैं ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र १२ से १८ तक में मनुष्यलोक तथा मनुष्य एवं तिर्यंचो की स्थिति (आयु) सम्बन्धी वर्णन हैं ।

मनुष्यलोक - मनुष्यलोक से अभिप्राय है, जहाँ तक मनुष्य रहते हों या जिस क्षेत्र में मनुष्य का जन्म होता हो। जैनदृष्टि से ढाई द्वीपों में मनुष्यों का निवास है - एक जम्बूद्वीप, दूसरा धातकीखण्डद्वीप और आधा पुष्करवर द्वीप ।

जम्बूद्वीप की अपेक्षा धातकीखण्ड द्वीप में दुगुने पर्वत और क्षेत्र हैं । तथा पुष्करार्ध (आधी पुष्कर) द्वीप में धातकीखण्ड द्वीप के समान हैं । धातकीखण्डद्वीप में २ मेरु पर्वत १२ वर्षधरपर्वत तथा १४ क्षेत्र हैं । इतने ही पुष्करवरार्द्धद्वीप में हैं ।

द्वीप और समुद्र एक-दुसरे से चारों ओर से वैष्टित हैं । जम्बूद्वीप लवणसमुद्र से, लवणसमुद्र धातकीखण्ड द्वीप से ,धातकीखण्डद्वीप कालोदधि समुद्र से, कालोदधि समुद्र पुष्करवरद्वीप से चारो ओर से वैष्टित है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुष्करवद्वीप में मानुषोत्तर नाम का एक पर्वत उत्तर-दक्षिण विस्तृत हैं। नाम के अनुरूप यह मनुष्यलोक कीसीमा है अर्थात् इसके आगे के द्वीपों और समुद्रों में मनुष्यों का निवास नहीं हैं ।

इसमें एक अपवाद हैं ऋद्धिधारी मुनि आदि वहां जा सकते हैं, देवता भी किसी मनुष्य का अपहरण करके वहां ले जा सकते हैं; किन्तु वहां उनका निवास चिरकाल तक नहीं हो पाता; जन्म-मरण आदि तो मानुषोत्तर पर्वत की सीमा में ही होते हैं ।

यह ढाई द्वीप के क्षेत्र की चौड़ाई (विष्कंभ) ४५ लाख योजन हैं । इसी कारण सिद्धशिला क विष्कंभ भी ४५ लाख योजन है कयोंकि मनुष्य ही मुक्त हो सकता है और जहां से मनुष्य मुक्त होता है वहां से सीधी गति मे मोक्ष जाता है ।

कर्मभूमियाँ-भोगभूमियाँ - कर्मभूमि का अभिप्राय है जाहं असि, मषि, कृषि, वाणिज्य आदि से श्रम करके मानव जीविका का उपार्जन करता है । अकर्मभूमि (भोगभूमि) में मानव की सभी आवश्यकताएं कल्पवृक्षों से पूरी हो जाती हैं, उसे किसी प्रकार का श्रम नहीं करना पड़ता ।

कर्मभूमियां (ढाई द्वीप की अपेक्षा) १५ हैं - ५ भरतक्षेत्र (१ जमंबूद्वीप का, २ धातकीखण्डद्वीप के और २ पुष्करार्ध द्वीप के)५ ऐरवत क्षेत्र (१ जम्बूद्वीप का, २ धातकीखण्डद्वीप के और २ पुष्करार्ध द्वीप के) तथा ५ विदेहक्षेत्र के (१ जंबूद्वीप का, २ धातकीखण्डद्वीप के और २ पुष्करार्ध द्वीप के) ।

भरत और ऐरवत क्षेत्रों में कालचक्र का प्रवर्तन होता है । पहले तीन कालों में भोगभूमि की स्थिति रहती है और चौथे, पांचवे, छठे - इन तीन कालों में कर्मभूमि की । विदेह क्षेत्र में सदा चतुर्थकाल ही रहता है ।

इसी क्रम से अकर्मभूमि (भोगभूमि) ३० हैं - ६ हैमवत, ५ हरिवर्ष, ५ रम्यकवर्ष, ५ हैरण्यवत; ५ देवकुरु और ५ उत्तरकुरु ।

मनुष्यों के दो प्रमुख भेद : मनुष्यों के दो प्रमुख भेद हैं - १. आर्य और २. म्लेच्छ ।

निमित्त की अपेक्षा आर्यो के ६ भेद हैं - १. क्षेत्र आर्य-आर्य क्षेत्र में जन्म लेने वाले, २. जात्यार्य - उच्च जाति में जन्म लेने वाले, ३ कुल आर्य-आर्य (श्रेष्ठ) कुल में जन्म लेने वाले, ४. कर्म आर्य-श्रेष्ठ कर्म से जीविका उपार्जन करने वाले, ५. शिल्पार्य-कारीगरी से जीविका उपार्जन करने वाले, ६. भाषार्य-शिष्ट, विशिष्ट भाषा का प्रयोग करने वाले ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुतः आर्य शब्द श्रेष्ठता का द्योतक है । अतः श्रेष्ठ गुण वाले, शील सदाचार संपन्न व्यक्ति आर्य कहलाते हैं ।

म्लेच्छ वे मनुष्य कहलाते हैं, जिनका आचरण, निन्दित और गर्हित होता है । जिनके खान-पान, बोल-चाल, आचार-विचार आदि क्रूरतापूर्ण एवं हिंसाप्रधान हो ।

स्थिति अथवा आयुमर्यादा - मनुष्य और तिर्यंच जीवों की कम से कम आयु अन्तर्मुहूर्त है और अधिक से अधिक तीन पल्योपम । इस उत्कृष्ट और जघन्य आयु के मध्यवर्ती असंख्यात भेद होते हैं। यानी किसी मनुष्य की आयु एक पल्योपम, दो पल्योपम आदि असंख्यात प्रकार की हो सकती है । यही बात तिर्यंच जीवों के लिए भी है ।

सूत्र में यह सामान्य कथन हैं । मनुष्य तो पंचेन्द्रिय होते हैं किन्तु तिर्यंच गति के अनेक भेद-उपभेद हैं । इसमें स्थावर-काय, त्रसकाय, सूक्ष्म, बादर, एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय आदि अनेक भेद हैं। पंचेन्द्रिय के ही जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प आदि भेद हैं । इन सब की उत्कृष्ट और जघन्य आयु भी अलग-अलग हैं ।

यहां जो उत्कृष्ट तीन पल्योपम की आयु तिर्यंच जीवों की बताई गई, वह गर्भोत्पन्न, चतुष्पद, स्थलचर, तिर्यंच जीवों की समझना चाहिए । इस स्थल पर आगमोक्त (प्रज्ञापना) उद्धरण सटीक है ।

मूल सूत्र में सामान्य कथन करने के बाद आचार्य ने अपने भाष्य में तिर्यंच जीवों की स्थिति (आयु) का विशेष कथन किया है । उनके कथन का सार इस प्रकार है -

स्थिति दो प्रकार ही है - १. भवस्थिति और २. कायस्थिति। भवस्थिति का अभिप्राय जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त एक ही शरीर में रहने की काल सीमा है और कायस्थिति का अभिप्राय एक ही गति में निरन्तर बार-बार जन्म ग्रहण करना है ।

मनुष्य गति में कोई भी जीव लगातार अधिक से अधिक सात-आठ बार ही जन्म ले सकता है । कायस्थिति जघन्य अन्तमूहूर्त ही है । भवस्थिति भी जघन्य अन्तमुहूर्त ही है ।

किन्तु तिर्यंचों की कायस्थिति और भवस्थिति में अन्तर हैं। अतः इन दोनों स्थितियों का ज्ञान कराने के लिए विशेष वर्णन किया जा रहा ह।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शुद्ध पृथ्वीकाय की उत्कृष्ट भवस्थिति १२ हजार वर्ष हैं । खर पृथ्वकाय की २२ हजार जलकाय की ७ हजार वर्ष, अग्निकाय की तीन अहोरात्रि (रात-दिन) और वायुकाय की ३ हजार वर्ष तथा वनस्पतिकाय की १० हजार वर्ष हैं । इनमें से वनस्पतिकाय को छोड़कर *शेष जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति* असंख्यात अवसर्पिणी- उतुसर्पिणी प्रमाण हैं । तथा वन-स्पतिकाय की उत्कृष्ट कायस्थिति अनंत उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण है ।

द्वीन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट भवस्थिति १२ वर्ष, त्रीन्द्रियों की ४९ अहोरात्र और चउरिन्द्रियों की ६ मास प्रमाण है तथा इन तीनों की उत्कृष्ट कायस्थिति संख्यात हजार वर्ष की है ।

पंचेन्द्रिय तिर्यंचो में जलचर, उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प की उत्कृष्ट भवस्थिति कोटिपूर्व वर्ष की हैं, खेचरों की पल्य के असंख्यातवें भाग हैं, गर्भज चतुष्पदों-थलचरों की ३ पल्योपम हैं ।

इनमें (गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंचो-चतुष्पदों में) जलचरों की भवस्थिति कोटिपूर्व, उरपरिसर्पो की ५३ हजार, भुजपरिसर्पो की ४२ हजार और खेचर पक्षियों तथा स्थलचरों की ७२ हजार वर्ष हैं । सम्मूच्छिर्म जीवों की भवस्थिति ८४ हजार पूर्व हैं ।

इस प्रकार तिर्यंच जीवों की स्थिति का विशेष कथन भाष्य में किया गया है ।

नारक और देवों की भवस्थिति तथा कायस्थिति समान है क्योंकि नारक जीव पुनः जन्म लेकर नारक नहीं बनते और इसी तरह देव भी पुनः देव नहीं बनते ।

* * *

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चौथा अध्याय

ऊर्ध्वलोक-देवनिकाय

(UPPER REGION-GOD ABODE)

उपोद्घात-

तीसरे अध्याय में नारक, मनुष्य और तिर्यंच इन तीन प्रकार के जीवों का वर्णन हुआ हैं, इनकी स्थिति आदि का भी परिचय दिया गया हैं । साथ ही अधोलोक और मनुष्यलोक (तिर्यक्लोक) का वर्णन किया है । अब इस चतुर्थ अध्याय में देव (उनकी स्थिति, लेश्या, विशेषता, निवास आदि) और ऊर्ध्वलोक का वर्णन किया जा रहा है।

आगम वचन -

चउव्विहा देवा पण्णत्ता, तं जहा-

भवणवइ वाणमंतर जोइस वेमाणिया । भगवती, श. २, उ. ७

(देव चार प्रकार के होते हैं । (१) भवनवासी (२) वाणव्यंतर (३) ज्योतिष्क और (४) वैमानिक ।

देवों के भेद -

देवाश्चतुर्निकाया : ।१।

देवों के चार निकाय हैं ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में दो शब्द हैं - देव और निकाय ।

देव एक गति का नाम हैं । इस गति में जो जन्म लेता है, वह देव कहा जाता है । सैद्धान्तिक भाषा में देवगतिनामकर्म के उदय से जीव जिस पर्याय को धारण करता है, वह देवगति है और उस देवायु को भोगने वाला जीव देव कहा जाता है ।

'देव' शब्द दिव् धातु से बना है जो द्युति, गति आदि का सूचन करता है । अतः देव के व्यावहारिक लक्षण यह हैं कि जिसका शरीर दिव्य अर्थात् सामान्य चर्मचक्षुओं से न दिखाई दै, जिसकी गति (गमनशक्ति) अति वेग वाली हो जिसके शरीर में रक्त मांस आदि धातुएँ न हों, मनचाहे रूप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बना सके, आँखो के पलक न झपके, पैर जमीन से चार अंगुल उँचे रहें, शरीर की छाया न पड़े ।

निकाय का अर्थ संघ, जाति अथवा समूह हैं । देव चार प्रकार के हैं, भवनवासी, बाणव्यंतर ज्योतिष्क और वैमानिक ।

(तालिका पृष्ठ १६२ पर दी गई है।)

इन चारों प्रकार के देवों के निवास स्थान भी अलग-अलग हैं । भवनवासियों का उत्पत्ति स्थान रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर-नीचे के एक-एक हजार योजन के भाग को छोड़कर शेंष मध्य भाग है । बाणव्यंतर इस ऊपर के एक हजार योजन के भाग से ऊपर नीचे के सौ-सौ योजन को छोड़कर बीच के ८०० योजन भाग में उत्पन्न होते हैं । ज्योतिषी देवों का निवास स्थान पृथ्वी से ऊपर ७९० योजन से लेकर ९०० योजन तक है और वैमानिक देव ऊर्ध्वलोक में विमानों में उत्पन्न होते हैं ।

आगम वचन-

जोतिसियाणं एगा तेउलेसा... - स्थानांग, स्थान १, सूत्र ५१

(ज्योतिष्क देवों के सिर्फ एक तेजोलेश्या होती है ।)

ज्योतिषी देवों की लेश्या -

तृतीयः पीतलेश्यः ।२।

(तीसरा निकाय अर्थात ज्योतिष्क देवों के पीत लेश्या होती है ।)

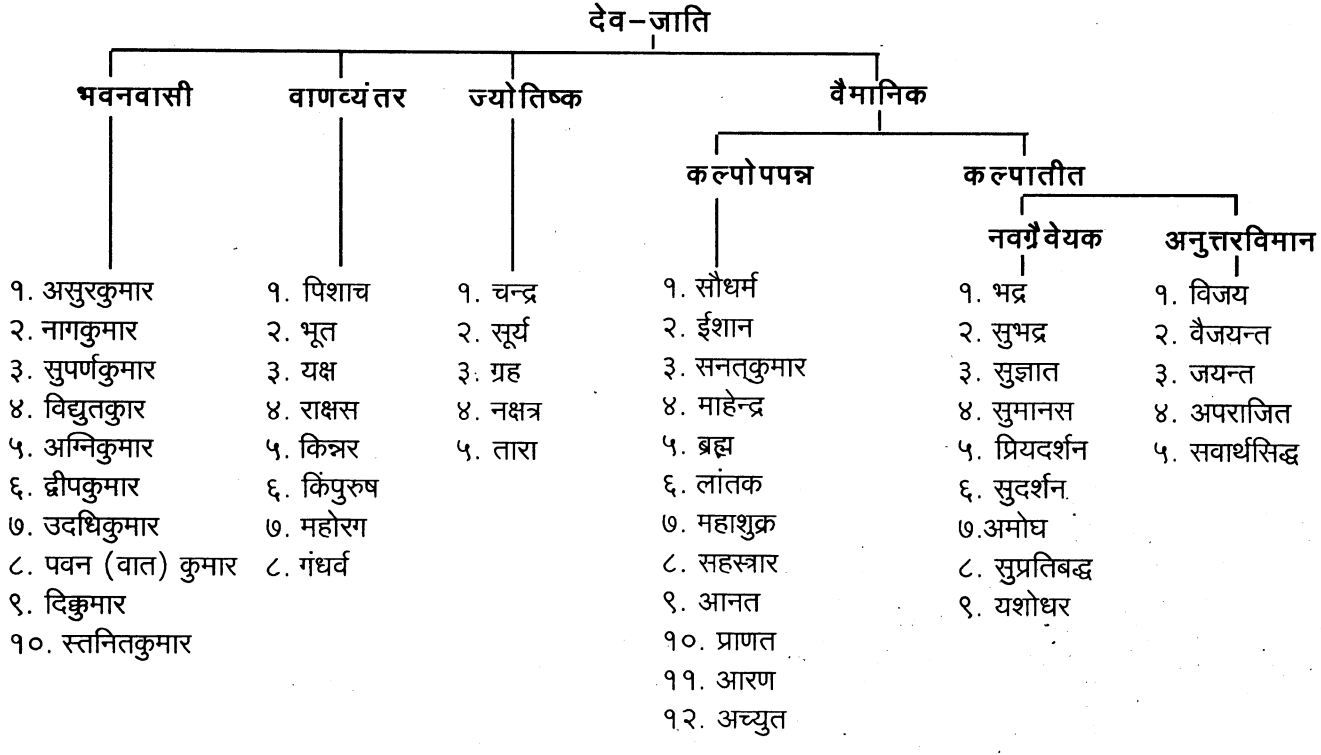
विवेचन - पीतलेश्या का दूसरा बहुप्रचलित नाम ही तेजोलेश्या ह। यह नाम आगमों में बहुत प्रसिद्ध हैं । वैसे 'पीत' और 'तेजस्' इनमें सिर्फ नामभदे है, स्वरूपगत भेद नहीं हैं, दोनो ही एकार्थवाची हैं ।

पीत अथवा तेजोलेश्या का अर्थ यहाँ द्युति अथवा चमक समझना चाहिए। हम जो नक्षत्र आदि देखते हैं तो इनकी चमक, द्युति, रोशनी अथवा तेज (प्रकाश) ही हमें दिखाई देता हैं यद्यपि यह प्रकाश उन ज्योतिषी देवों के विमानों का होता हैं; किन्तु उनमे रहने वाले देवों की लेश्या ही यहाँ विशेष रूप से अपेक्षित हैं ।

आगम वचन -

भवणवइ दसविहा पण्णत्ता.. वाणमंतरा अट्ठविहा पण्णत्ता.. जोइसिया पंचविहा पण्णत्ता..वेमाणिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा- कप्पोपवण्णगा या कप्पाइया य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

से किं तं कप्पोपवण्णगा ?

बारसविहा पण्णत्ता, तं जहा-

सोहम्मा, ईसाणा, सणंकुमारा, माहिंदा, बंभलोगा, लंतया, महासुक्का, सहस्सारा, आणया, पाणया, आरणा, अच्चुता

– प्रज्ञापना, प्रथम पद, देवाधिकार

(भवनवासी देव दस प्रकार के हैं । व्यंतर आठ प्रकार के हैं।)

ज्योतिष्क पाँच प्रकार के हैं । वैमानिक दो प्रकार के हैं –

कल्पोपन्न और कल्पातीत ।

कल्पोपपन्न १२ प्रकार के होते हैं –सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, बह्मलोक, लांतक, महाशुक्र , सहस्त्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत (इन कल्पों में उत्पन्न होने वाले)

देविंदा.. एवं सामाणिया... तायत्तीसगा लोगपाला परिसोववन्नगा.. अणियाहिवइ...आयरक्खा.. –स्थानांग, स्थान ३, उ. १, सू. १३४

देवकिव्विसिए.. आभिजोगए । औपपा. जीवोप सू. ४१

चउव्विहा देवाण ठिती पण्णत्ता तं. जहा–देवे णाममेगे देवसिणाते नाममेगे देवपुरोहिते नाममेगे देवपज्जलणे नाममेगे ।

स्थानांग, स्थान ४. उ. १, सूत्र २४८

(देवेन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, लोकपाल, पारिषद् अथवा परिषदुत्पन्न, अनीकपति अथवा अनीक, आत्मरक्ष, देवकिल्विष और आभियोग्य (एक-एक के भेद हैं ।)

देवों की स्थिति चार प्रकार की होती हैं –देव, देवस्नातक, देवपुरोहित और देवप्रज्वलन ।

वाणमंतर जोइसियाणं तायतीसं लोगपाला नत्थि ।

(व्यंतर तथा ज्योतिष्कों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते ।)

देवों के भेद, संख्या और श्रेणियां –

दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ता : ।३।

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षलोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ।४।

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः । ५।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(कल्पोपपन्न देवों तक चारो निकाय के देवों के दश, आठ, पाँच और बारह उत्तर भेद हैं ।

उक्त दस आदि भेदों में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्य, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक - यह देवों की दस श्रेणियाँ हैं ।

व्यंतर तथा ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल नहीं होते ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र ३,४,५ में देवों के अवान्तरभेद और उनकी श्रेणियाँ बताई गई हैं । देवों की भेद संख्या का उल्लेख उतराध्यायन सूत्र (३६/२०३/२०९) में भी मिलता है।

भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक - देवों के यह चार निकाय अथवा समूह हैं । इनमें भवनपति देव १० प्रकार के, व्यंतर ८ प्रकार के और ज्योतिष्क देव ५ प्रकार के होते हैं ।

वैमानिक देवों के मूलतः दो भेद हैं -कल्पोपपन्न और कल्पातीत । जिन स्वर्गों में इन्द्र, सामानिक आदि श्रेणियाँ पाई जाती हैं, उन्हें कल्प कहा गया हैं और उनमें उत्पन्न होने वाले देव कल्पोपपन्न कहलाते हैं । जिन विमानों में इन्द्र आदि की श्रेणियाँ नहीं पाई जातीं, उनमें उत्पन्न होने वाले देव कल्पातीत कहलाते हैं ।

इन्द्र सामानिक आदि की श्रेणियों वाले १२ स्वर्ग कल्प हैं । इसी कारण सूत्रकार ने कल्पोपपन्न देवों के १२ भेद बताये हैं । इन्द्र, सामानिक आदि जो देवों की दस श्रेणियाँ सूत्र में बताई गई हैं, वे कल्पोपन्न स्वर्गों के देवों में ही मिलती हैं ।

उन स्वर्ग विमानों के नाम हैं - (१) सौधर्म, (२) ईशान (३) सनत्कुमार (४) माहेन्द्र (५) ब्रह्मलोक (६) लांतक (७) महाशुक्र (८) सहस्त्रार (९) आनत (१०) प्राणत (११) आरण और (१२) अच्युत । इन स्वर्गों के नाम से ही इनमें उत्पन्न होने वाले देव पहचाने जाते हैं ।

दस प्रकार की देव-श्रेणियो का परिचय - इन्द्र, सामानिक आदि जो देवों की दस प्रकार की श्रेणियाँ बताई गई हैं, उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार हैं -

इन्द्र-इन्द्र का अर्थ स्वामी, अधिपति, ऐश्वर्यवान आदि होता है । इन्द्र पदवी से अभिषिक्त, यह देव अपने समूह के स्वामी अथवा अधि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पति होते हैं, इनकी आज्ञा सभी देवों पर चलती हैं, इनकी ऐश्वर्य सर्वाधिक होता हैं ।

(२) **सामानिक** – आज्ञा के अतिरिक्त, इन देवों का सम्मान आदि इन्द्र के समान होता है । यानि सिर्फ इनकी आज्ञा देवों पर नहीं चलतो ।

(३) **त्रायस्त्रिंश** – यह देव इन्द्र के पुरोहित अथवा मन्त्री तुल्य होते हैं । प्रत्येक इन्द्र के साथ यह तेतीस (३३) होते हैं, इसीलिए त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं ।

(४) **पारिषद्य** – इन्द्र के मित्रों के समान अथवा सभासदों के स्थानापन्न देव, इन्द्र की सभा के सदस्य – पार्षद ।

(५) **आत्मरक्षक** – अंगरक्षक, शस्त्र लिए इन्द्र के सिंहासन के पीछे खड़े रहने वाले देव ।

(६) **लोकपाल** – सीमाओं की रक्षा के लिए उत्तरदायी देव ।

(७) **अनीक** – अनीक का अर्थ है – सेना । यहाँ इस शब्द से सैनिक और सेनापति दोनों प्रकार के देव समझने चाहिए ।

(८) **प्रकीर्णक** – सामान्य प्रजाजन अथवा नगरवासियों के समान देव ।

(९) **आभियोग्य** – सेवक अथवा दास श्रेणी के देव ।

(१०) **किल्विषिक** – ऐसे देव जिन्हें चांडाल आदि के समान अस्पृश्य माना जाता है, इनका निवास विमान के बाह्य भागों में होता है ।

इन श्रेणियों के वर्णन से यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि जिस प्रकार शासन की व्यवस्था तथा विभिन्न पदाधिकारी प्राचीनकाल के समृद्ध, सम्पन्न और सभ्य मानव राज्यों में थी, वैसी ही व्यवस्था बारहवें देवलोक अच्युत स्वर्ग तक है ।

व्यंतर और ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश (पुरोहित मन्त्री आदि) और लोकपाल यह दो श्रेणियाँ नहीं होती । शेष ८ होती हैं ।

आगम वचन –

दो असुरकुमारिंदा पन्नत्ता, तं जहा–चमरे चेव बली चेव ।
एवं दो णागकुमारिंदा ... जाव दो गंधव्विदा पन्नत्ता

–स्थानांग, स्थान २, उ. ३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(असुरकुमारों के दो इन्द्र होते हैं- चमर और बलि । इसी प्रकार नागकुमारों के दो इन्द्र, यावत् गन्धर्वों के दो इन्द्र होते हैं ।

(इसी प्रकार भवनवासी एवं व्यन्तर देवों के भी दो-दो इन्द्र होते हैं ।

भवनवासी एवं व्यन्तर देवों के इन्द्रों की संख्या -

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ।६।

पूर्व अर्थात् पहले दो देवनिकायों के दो-दो इन्द्र होते हैं ।

विवेचन - पूर्व के देवनिकाय से अभिप्राय भवनवासी और व्यंतर देवों से है । इनके भी अवान्तर भेद क्रमशः दश और आठ हैं । इन सभी अवांतर भेदों के दो-दो इन्द्र होते हैं ।

इनमें से एक उत्तरदिशा तथा एक दक्षिणदिशा का स्वामी होता है ।

इन्द्रों के नाम इस प्रकार है -

जैसे - १ असुरकुमारों के इन्द्र-चमर और बलि। २. नागकुमारों के-धरण और भूतानन्द ३. सुपर्णकुमारों के-वेणुदेव और वेणुदाली । ४. विद्युत्कुमारों के-हरि और हरिसह । ५. अग्निकुमारों के -अग्निशिख और अग्निमाणव । ६. द्वीपकुमारों के -पूर्ण और वशिष्ट ७. उदधिकुमारों के -जलकान्त और जल प्रभ. ८. दिक्कुमारों के - अमितगति और अमितवाहन ९. वायुकुमारों के - वेलम्ब और प्रभंजन । १०. स्तनितकुमारों के - घोष और महाघोष ।

इसी प्रकार व्यन्तरनिकाय में भी दो-दो इन्द्र होते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं -

१. पिशाचों के - १ काल २ महाकाल

२. भूतो के - १ सुरूप २ प्रतिरूप

३. यक्षों के - १ पूर्णभद्र २ मणिभद्र

४. राक्षसों के - १ भीम २ महाभीम

५. किन्नरों के - १ किन्नर २ किंपुरुष

६. किंपुरुषों के - १ सत्पुरुष २ महापुरुष

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

७. महोरगों के-१ अतिकाय २ महाकाय

९. गंधर्वो के -१ गीतरति और गीतयश

इनके अतिरिक्त दो देवनिकाय शेष हैं- ज्योतिष्क और वैमानिक (कल्पोपपन्न) । ज्योतिष्क देवों के इन्द्र तो सूर्य-चन्द्र है । किन्तु सूर्य और चन्द्र असंख्यात हैं, क्योंकि तिर्यक् लोक में द्वीप-समुद्र भी असंख्यात हैं। अतः ज्योतिष्क इन्द्र भी असंख्यात ही हैं ।

वैमानिक देवों में कल्पोपपन्न देवों तक ही इन्द्र होते हैं ।

बारह देवलोक हैं । इनके नाम पहले आ चुके हैं । इन स्वर्गों के इन्हीं नाम वाले इन्द्र है जिनकी संख्या दस हैं ।

पहले के आठ स्वर्गों तक का उन्ही स्वर्गों के नाम वाला एक-एक इन्द्र हैं । किन्तु आनत और प्राणत इन दो स्वर्गों का प्राणत नाम का एक ही इन्द्र है और इसी प्रकार आरण और अच्युत दोनों देवलोकों में एक ही इन्द्र है जिसका नाम अच्युत हैं ।

चौंसठ इन्द्र -

देवों की चारों निकायों (भवनवासी, वाणव्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक) के कुल ६४ इन्द्र होते हैं । इनका वर्णन इस प्रकार है -

२० इन्द्र भवनवासीदेवों के (१० दक्षिणदिशा के १० उत्तर दिशा के)

३२ इन्द्र वाणव्यंतरों के (१६ दक्षिण दिशा के, १६ उत्तर दिशा के

२ इन्द्र ज्योतिष्क देवों के (चन्द्र और सूर्य)

१० इन्द्र वैमानिक देवों के

तीर्थंकरो के जन्म आदि कल्याणकों पर इन इन्द्रों के आसन चलायमान होते हैं । उस समय यह अपने अविधज्ञान का उपयोग लगाते हैं । उस ज्ञान से वस्तुस्थिति जानकर सभास्थित सुघोषा घण्टा बजवाते हैं । घण्टे की ध्वनि सब विमानों में पहुंच जाती है । इस ध्वनि को सुनकर सभी विमानवासी देवगण शीघ्र ही आकर सभा में उपस्थित हो जाते हैं और इन्द्र की आज्ञा पाकर अपने-अपने विमानों मे बैठकर तथा इन्द्र सपरिवार आकर जहाँ तीर्थंकर का जन्म आदि होता है, उस स्थल पर आ जाते हैं और उत्सव मनाते हैं ।

यह देवों का जीताचार (पारम्परिक आचरण) हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम वचन –

भवणवइवाणमंतर..चत्तारि लेस्साओ ।

– स्थानांग, स्थान १, सूत्र ५१

(भवनवासी और वाणव्यन्तर देवों के चार लेश्याएँ होती हैं।)

भवनवासी और व्यंतर देवों की लेश्याएँ ।

पीतान्तलेश्या : ।७।

पहले दो देवनिकायों– भवनवासी और व्यंतरदेवों के पीत लेश्या तकलेश्या होती हैं ।

विवेचन *– लेश्याएँ ६ हैं । इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं* (१) कृष्ण लेश्या (२) नीललेश्या (३) कापोतलेश्या (४) पीत अथवा तेजोलेश्या (५) पद्मलेश्या और (६) शुक्ल लेश्या ।

इन लेश्याओं के दो भेद हैं – भाव लेश्या और द्रव्य लेश्या ।

भावलेश्या तो आत्मा के योग और कषाय रंजित भावों को कहा जाता है और द्रव्यलेश्या शरीर का वर्ण आदि हैं ।

भवनवासी और व्यंतर देवों में छहों भावलेश्या संभव हैं, किन्तु प्रस्तुत सूत्र में द्रव्यलेश्या अपेक्षित हैं । इन देवों में चार द्रव्यलेश्या ही संभव हैं – कृष्ण, नील, कापोत और तेजस् ।

इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि इन देवों का जो वैक्रिय शरीर हैं, वह इन चार प्रकार के वर्णो अथवा इनके सम्मिलित वर्ण का होगा । शंख के समान श्वेत वर्ण का नहीं ।

वैक्रिय शरीर (जिसे अंग्रेजी में Electric body कहा जाता है) वैज्ञानिक प्रयासों द्वारा देखा गया है कि कुत्सित भाव वालों का यह शरीर श्यामवर्णी होता है तथा ज्यों–ज्यों शुभभाव बढ़ते जाते हैं, त्यों–त्यों शरीर का रंग भी पीलेपन की ओर बढ़ता जाता है ।

अतः सहज ही यह समझा जा सकता है कि भवनवासी और व्यंतर देवों के भाव इतने विशुद्ध नहीं होते हैं कि उनके वैक्रिय शरीर का वर्णशुक्ललेश्यारूप दूध के फेनके समान सफेद दिखाई दे ।

आगम वचन –

कतिविहा णं भंते ! परियारणा पण्णत्ता ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गोयमा! पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा- कायपरियारणा, फासपरियारणा, रुवपरियारणा, सद्दपरियारणा, मनपरियारणा..

भवणवासि वाणमंतर - जोतिसि सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु देवा कायपरियारगा,

सणंकुमार माहिंदेसु कप्पेसु देवा फासपरियारगा

बंभलोयलंतगेसु कप्पेसु देवा रुवपरियारगा, महासुक्कसहस्सारेसु कप्पेसु देवा सद्दपरियारगा,

आणय-पाणय आरण-अच्चुएसु, कप्पेसु देवा मणपरियारगा,

गेवज्जग अणुत्तरोववाइया देवा अपरियारगा ।

- प्रज्ञापना, पद ३४, प्रचारणाविषय;

- स्थानांग, स्थान २, उ. ४, सूत्र ११६

(भगवन् ! परिचारणा कितने प्रकार की होती है ?

गौतम ! परिचारणा पाँच प्रकार की होती है- (१) काय परिचारणा, (२) स्पर्शपरिचारणा (३) रूपपरिचारणा, (४) शब्दपरिचारणा और (५) मनःपरिचारणा ।

भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म-ईशान कल्पों के देव (मनुष्यों के समान) शरीर से परिचारणा (प्रवीचार अथवा मैथुन) करते हैं । सानत्कुमार और माहेन्द्रकल्पों के देव स्पर्शमात्र से मैथुन सुख भोग लेते हैं । ब्रह्मलोक और लान्तककल्प के देवों को मैथुन का सुख रूप देखने मात्र से प्राप्त हो जाता है । महाशुक्र और सहस्त्रारकल्पों के देवों की वासना शब्द सुनकर ही तृप्त हो जाती है । आनत-प्राणत-आरण-अच्युत-इन चार स्वर्गों के देव मन में स्मरण करने मात्र से भोग-सुख प्राप्त (तृप्ति अनुभव) कर लते हैं । नवग्रैवेयक तथा अनुत्तर विमानों के देव प्रवीचार (मैथुन) की इच्छा से रहित होते हैं।

देवों की वासना तृप्ति -

कायप्रवीचारा आ-ऐशानात् ।८।

शेषाः स्पर्शरूपशब्द-मनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ।९।

परेऽप्रवीचाराः ।१०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और) ऐशानकल्प तक के देवकाय अथवा शरीर से (मनुष्यों के समान) कामसुख प्राप्त करते हैं ।

शेष (आगे के देवलोकों के देव) स्पर्श करने, रूप देखने, शब्द सुनने और मन द्वारा चिन्तन (स्मरण) करने से भोग सुख पा लेते हैं ।

परे - (इन बारह देवलोकों से आगे के देव) वैषयिक सुख, भोग अथवा प्रविचार से रहित होते हैं ।

विवेचन - प्रवीचार का अर्थ है वेद-(स्त्री-पुरुषवेद) जन्य पीड़ा अथवा आकुलता का प्रतिकार करना; किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से प्रवीचार का अर्थ काम-सुख प्राप्त करना भी है ।

प्रस्तुत सूत्र ८-९-१० में देवों की काम-परितृप्ति की विधि का संकेत किया गया है ।

भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क तथा सौधर्म और ईशानकल्प तक के देव मनुष्यों के समान काम-सेवन करते हैं ।

तीसरें सनत्कुमार और चौथे माहेन्द्र कल्प के देव देवियों के स्पर्श से तृप्त हो जाते हैं, पाँचवें ब्रह्मदेवलोक और छठे लान्तककल्प के देव देवियों के रूप-दर्शन से तृप्त हो जाते हैं । महाशुक्र और सहस्त्रार कल्पके देव देवियों के सरस कर्णप्रिय शब्द-गायन आदि को सुनकर ही काम-सुख का अनुभव कर लेते हैं । आणत, प्राणत, आरण और अच्युत देवलोकों के देवों की वासना मन में देवियों के स्मरण मात्र से शांत हो जाती हैं । इन कल्पों के आगे के - कल्पातीत देवों को काम-वासना सताती ही नहीं ।

प्रस्तुत वर्णन से स्पष्ट है कि ऊपर-ऊपर के स्वर्गों के देवों की वासना क्रमशः हीन होती जाती है और कल्पातीत देवों में तो काम-भावना का उद्रेक होता ही नहीं, उनकी वासना एक तरह से फ्रीज (Freeze) हो जाती है ।

काम की इच्छा ज्यों-ज्यों तीव्र होती हैं, वह मन को आकुल-व्याकुल करती हैं, यह आकुलता सुख में कमी लाती है । जबकि इच्छा की अल्पता से सुख बढ़ता है । यही कारण है कि ऊपर-ऊपर के देवों का सुख क्रमशः बढ़ता जाता है ।

आगम वचन -

भवणवई दसविहा पण्णत्ता, तं जहा-

असुरकुमारा, नागकुमारा, सुपण्णकुमारा, विज्जुकुमारा, अग्गी-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कुमारा, दीवकुमारा, उदहिकुमारा, दिसाकुमारा, वाउकुमारा, थणियकुमारा -प्रज्ञापना, प्रथम पद, देवाधिकार

(भवनवासी देव दस प्रकार के होते हैं - (१) असुरकुमार (२) नागकुमार (३) सुपर्णकुमार (४) विद्युत्कुमार (५) अग्निकुमार (६) द्वीपकुमार (७) उदधिकुमार (८) दिक्कुमार (९) वात (वायु) कुमार और (१०) स्तनितकुमार ।

वाणमंतरा अट्ठविहा पन्नत्ता, तं जहा-किण्णरा, किंपुरिसा, महोरगा गंधव्वा जक्खा, रक्खसा, भूया, पिसाया

- प्रज्ञापना, प्रथम पद, देवाधिकार

(व्यंतर देव आठ प्रकार के होते हैं - (१) किन्नर, (२) किंपुरुष (३) महोरग, (४) गंधर्व, (५) यक्ष, (६) राक्षस (७) भूत और (८) पिशाच।)

भवनवासी और व्यंतर देवों के उत्तर भेद -

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधि द्वीपदिक्कुमाराः ।११।

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगंधर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ।१२।

भवनवासीनिकाय के देव दस प्रकार के हैं - असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, और दिक्कुमार ।

व्यंतरनिकाय के देवों के आठ भेद हैं - किन्नर, किंपुरुष महोरग, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र ११ और १२ में क्रमशः भवनवासी और व्यंतर निकाय के देवों के उत्तर भेद बताये गये हैं ।

भवनासी देवों की विशेष बातें

निवास - सभी (दशों) प्रकार के भवनवासी देव जंबूद्वीप के मेरु पर्वत के नीचे उत्तर-दक्षिण भाग में तिर्यक् (तिरछी) दिशा में अनेक कोडाकोडी लाख योजन तक के क्षेत्र में रहते हैं ।

आवास और भवन- यद्यपि ये सभी देव भवनों में रहते हैं, इसी कारण भवनवासी या भवनपति कहलाते हैं; किन्तु असुरकुमार जाति के देव अधिकतर अपने आवासों में रहते हैं, कभी भवनों में भी रहते हैं । शेष नौ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार के देव कभी आवासों और कभी भवनों में रहते हैं ।

आवास और भवन में थोड़ा अन्तर हैं । नाना प्रकार के रत्नों की प्रभा से उद्दीप्त रहने वाले शरीर प्रमाण के अनुसार बने हुए महामण्डप आवासा कहलाते हैं । बाहर से गोल, भीतर से चौकोर और नीचे के भाग के कमल कर्णिका के आकार में बने हुए मकानों को भवन कहा गया है ।

'कुमार' संज्ञा का हेतु – भवनवासी देवों के पीछे 'कुमार' शब्द लगा हुआ है, यथा- असुरकुमार, नागकुमार आदि । यह शब्द निरर्थक नहीं है, अपितु इन देवों की विशेष प्रवृत्ति को सूचित करता है ।

यह दशों प्रकार के देव 'कुमार' के समान मनोहर, सुकुमार तथा क्रीड़ाप्रिय होते हैं, इनकी गति मृदु व लुभावनी होती है। इन्ही कारणों से इनके नामों के साथ 'कुमार' शब्द जुड़ा है ।

(१) **असुरकुमार** – इनका शरीर घनगम्भीर, सुन्दर कृष्णवर्ण, महाकाय होता है । सिर पर मुकुट होता है। इनका चिन्ह चूड़ामणि रत्न है।

(२) **नागकुमार** – ये सिर और मुख भाग में अधिक सुन्दर होते है। अधिक श्याम वर्ण वाले और ललित गति वाले हैं । इनका चिन्ह सर्प है ।

(३) **विद्युत्कुमार** – इसका चिन्ह वज्र है । इनका शरीर उज्ज्वल प्रकाशशील शुक्ल वर्णवाला है ।

(४) **सुपर्णकुमार** – इनका चिन्ह गरूड़ है । इनकी ग्रीवा और वक्षस्थल अधिक सुन्दर होते हैं । वर्ण उज्ज्वल श्याम होता है ।

(५) **अग्निकुमार** – यह प्रमाणोपेत मानोन्मान दैदीप्यमान शुक्ल वर्ण वाले होते हैं । इनका चिन्ह घट है ।

(६) **पवनकुमार** – इनका सिर स्थूल और शरीर गोल होता है । इनका चिन्ह अश्व है ।

(७) **स्तनित कुमार** – यह चिकने और स्निग्ध शरीर वाले होते हैं । इनके शरीर का रंग काला होता है। गम्भीर प्रतिध्वनि और महाघोष करते हैं । इनका चिन्ह वर्धमान सकोरा संपुट है ।

(८) **उदधिकुमार** – इनका चिन्ह मकर है । ये जंघा और कटिभाग में अधिक सुन्दर तथा श्यामवर्णी होते हैं ।

(९) **द्वीपकुमार** – इनका चिन्ह सिंह है । वक्षस्थल, स्कन्ध और हस्तस्थल में अधिक सुन्दर होते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१०) **दिक्कुमार** - इनका चिन्ह हाथी है । इनकी जंघा के अग्रभाग और पैर अधिक सुन्दर होते हैं । वर्ण इनका श्याम है ।

सूत्र में भवनवासी देवों के यह दस भेद गिनाये गये हैं किन्तु अन्य ग्रन्थों में परमाधामी देवों की गणना भी भवनवासी देवों में की गई है ।

परमाधामी देवों के पन्द्रह प्रकार है -

(१) अम्ब (२) अम्बरीष (३) श्याम (४) सबल (५) रूद्र (६) महारुद्र (७) काल (८) महाकाल (९) असिपत्र (१०) धनुष्य (११) कुम्भ (१२) बालुका (१३) वैतरणी (१४) खरस्वर और (१५) महाघोष ।

यह परमाधामी देव तीसरी नरक तक जाकर नारक जीवों को परस्पर लड़ाते हैं, उनके दुःखों में वृद्धि करते हैं । सम्भवतः इसी कारण सूत्र में इनकी गणना न की गई हो, क्योंकि यह रौद्र परिणामी होते है, दूसरों को कष्ट देकर खुश होते हैं ।

व्यंतर देवों की विशेष बातें

'व्यंतर' शब्द का निर्वचन व्यंतर शब्द दो शब्दों के मेल से बना है वि+अन्तर । वि-विविध प्रकार का; अन्तर-रिक्त स्थान । जिन देवों का निवास विविध प्रकार के अन्तरों-रिक्त स्थानों में होता है, वे व्यंतर देव कहलाते हैं ।

व्यंतर देव पर्वतों की कन्दराओं, वृक्षों और वृक्षों के विवरों को अपना निवास स्थान बनाते हैं ।

यद्यपि इन देवों का उपपात स्थान रत्नप्रभा पृथ्वी के १००० योजन मोटे रत्नकाण्ड के ऊपर-नीचे के सौ-सौ योजन छोड़कर मध्यवर्ती ८०० योजन क्षेत्र हैं; किन्तु वहाँ उपपात होने पर भी ये तिर्यक् लोक में वृक्षविवर पर्वत गुफा आदि में रहते हैं ।

इनका स्वभाव बालक के समान चपल होता है, इधर-उधर गमनागमन करते ही रहते हैं; अपने इन्द्र की आज्ञा से भी गमनागमन करते हैं ।

बालक जैसी प्रकृति होने के कारण कोई-कोई व्यंतर देव तो मानवों की सेवा (पूर्व-भव के स्नेह सम्बन्धों के कारण) सेवकों के समान करते हैं और यदि पूर्वभव का वैर हुआ तो दुःख भी देते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भवनवासी देव निकाय

असुरकुमार देव

१. असुरकुमार
२. नागकुमार
३. सुपर्णकुमार
४. विद्युत्कुमार
५. अग्निकुमार
६. द्वीपकुमार
७. उदधिकुमार
८. दिशाकुमार
९. वायुकमार
१०. स्तनितकुमार

परमाधामी देव

१. अम्ब
२. अम्बरीष
३. श्याम
४. सबल
५. रूद्र
६. महारूद्र
७. काल
८. महाकाल
९. असिपत्र
१०. धनुष्य
११. कुम्भ
१२. बालुका
१३. वैतरणी
१४. खरस्वर
१५. महाघोष

व्यंतर देव निकाय

व्यंतर देव

१. पिशाच
२. भूत
३. यक्ष
४. राक्षस
५. किन्नर
६. किंपुरुष
७. महोरग
८. गंधर्व
९. आणपन्नी
१०. पाणपन्नी
११. इसीवाई
१२. भूतिवाई
१३. कंदीय
१४. महाकंदीय
१५. कोहंड
१७. पयंग

जृम्भक देव

१. आणजृम्भक
२. पाणजृम्भक
३. लयनजृम्भक
४. शयनजृम्भक
५. वस्त्रजृम्भक
६. पुष्पकजृम्भक
७. फलजृम्भक
८. पुष्पफलजृम्भक
९. विद्याजृम्भक
१०. अव्यक्तजृम्भक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यंतरों की विशेषताएँ और उत्तर भेद – मूल सूत्र में व्यंतर देवों के आठ भेद बताये गये हैं; किन्तु स्वयं सूत्रकार ने भाष्य में इनके उपभेद भी गिनाये हैं । इनकी विशेषताएँ और उपभेद निम्न है –

१. **किन्नर** – यह देव प्रियंगुमणि के समान श्याम वर्णी होते है। इनका स्वभाव सौम्य और रूप आल्हादकारी होता है । इनका मुख बहुत मनोरम होता है। इनका चिन्ह अशोक वृक्ष की ध्वजा है ।

इनके दस उत्तरभेद हैं – १. किन्नर, २. किंपुरुष, ३. किम्पुरूषोत्तम; ४. किन्नरोत्तम ५ . हृदयंगम, ६. रुपशाली, ७. अनिन्दित, ८. मनोरम, ९. रतिप्रिय और १०. रतिश्रेष्ठ ।

२. **किम्पुरुष** – इनके उरु, जंघा और बाहु अधिक शोभाशाली होते हैं । मुख अधिक भास्वर होता है । ये अनेक प्रकार की चित्र-विचित्र मालाओं से सुशोभित और इत्र आदि से गंधगुटिका बने रहते हैं । इनका चिन्ह चम्पक वृक्ष की ध्वजा है ।

इनके दस उत्तरभेद हैं – १. पुरुष, २. सत्पुरुष, ३. महापुरष, ४. पुरुषवृषभ, ५. पुरुषोत्तम, ६. अतिपुरुष, ७. मरुदेव, ८. मरुत, ९. मेरुप्रभ और १०. यशस्वान ।

३. **महोरग** – इनका वर्ण श्याम किन्तु सौम्य है । इनका वेग महान होता है। स्कन्ध तथा ग्रीवा का भाग विशाल और स्थूल होता है । विभिन्न प्रकार के आभरण धारण करते हैं । इनका चिन्ह नागवृक्ष की ध्वजा है ।

इनके दस उपभेद हैं – १. भुजग, २. भोगशाली, ३. महाकाय, ४. अतिकाय, ५. स्कन्ध शाली, ६. मनोरम, ७. महावेग, ८. महेष्वक्ष, ९. मेरुकान्त और. १०. भास्वान ।

४. **गंधर्व** – इनका वर्ण लाल होता है। रुप प्रिय, सुन्दर मुख और स्वर मनोज्ञ होता है । इनका चिन्ह तुम्बुरु वृक्ष की ध्वजा है ।

इनके १२ उपभेद है – १. हाहा, २. हूहू, ३. तुम्बुरु, ४. नारद, ५. ऋषिवादिक, ६. भूतवादिक, ७. कादम्ब, ९. महाकादम्ब, ९. रैवत, १०. विश्वावसु, ११. गीतरति और १२. गीतयशा : ।

५. **यक्ष** – ये निर्मल श्याम वर्ण वाले, गम्भीर और तुन्दिल (लम्बे उदर वाले) होते हैं । इनका रूप मनोज्ञ और प्रिय होता है । इनके हाथ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पैरों के तलभाग, नख, तालू, जिह्वा और ओष्ठ लाल होते हैं । इनका चिन्ह वट वृक्ष की ध्वजा है ।

यक्षिणियाँ अतीव सुन्दर होती हैं ।

प्राचीन और मध्यकाल में और अब तक भी इनकी पूजा विशेष रूप से प्रचलित हैं । अनेक यक्षों और यक्षायतनों का उल्लेख तथा अवस्थिति की चर्चा यत्र-तत्र अनेक स्थानों पर हैं ।

धन देवता कुबेर, लक्ष्मी आदि अनेक प्रसिद्ध देवी-देवता यक्ष जाति के ही हैं । इनके १३ उपभेद है - १. पूर्णभद्र, २. मणिभद्र ३, श्वेत भद्र, ४. हरि-भद्र, ५. सुमनोभद्र, ६. व्यतिपातिक भद्र, ७. सुभद्र, ८. सर्वतोभद्र, ९. मनुष्य यक्ष, १०. वनाधिपति, ११. वनाहार, १२. रूपयक्ष और १३. यक्षोत्तम ।

६. **राक्षस** - यह देखने में भयंकर होते हैं । इनका चिन्ह खट्वांग की ध्वजा है ।

इनके ७ उपभेद है - १. भीम, २. महाभीम, ३. विघ्न, ४. विनायक, ५. जलराक्षस, ६. राक्षस-राक्षस और ७. ब्रह्मराक्षस ।

७. **भूत** - यह श्याम वर्णवाले किन्तु सौम्य स्वभावी होते हैं । इनका रूप सुन्दर होता है । इनका चिन्ह सुलस ध्वजा है ।

इनके नौ उपभेद है - १. सुरूप, २. प्रतिरूप, ३. अतिरूप, ४. भूतोत्तम, ५. स्कन्दिक, ६. महास्कन्दिक, ७. महावेग, ८. प्रतिच्छन्न और ९. आकाशग ।

८. **पिशाच** - इनका रूप सुन्दर और सौम्य होता है। इनका चिन्ह कदम्ब वृक्ष की ध्वजा है ।

इनके १५ उपभेद है - १. कूष्मांड, २. पटक, ३. जोष, ४. आह्नक, ५. काल, ६. महाकाल, ७. चौक्ष, ८. अचौक्ष, ९. तालपिशाच, १०. मुखरपिशाच, १. अधस्तारक, १२. देह, १३. महाविदेह, १४. तूष्णीक और १५. वनपिशाच।

इस प्रकार व्यंतर देवों के समस्त उपभेदों की गणना करने पर (१०+१०+१०+१२+१३+७+९+१५=८६) छ्यासी भेद होते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्य ग्रन्थों में इनके २६ भेद बताये हैं, जिनमें से १६ तो व्यंतरदेव है और १० प्रकार के जम्भृक देव हैं ।

१६ व्यंतरदेवों में ८ तो वही है किन्नर, किंपुरुष आदि जो सूत्र में गिनाये गये हैं और शेष यह हैं –

९. आणपन्नी, १०. पाणपन्नी, ११. इसीवाई, १२. भूइवाई, १३. कंदीय, १४. महाकंदीय, १५. कोहंड और १६. पयंग ।

जृम्भक देव हैं –

१. आणजृम्भक २, पाणजृम्भक, ३. लयनजृम्भक, ४. शयनजृम्भक, ५. वस्त्रजृम्भक, ६. पुष्पजृम्भक, ७. फलजृम्भक, ८. पुष्पफलजृम्भक, ९. विद्याजृम्भक और १०. अव्यक्तजृम्भक ।

यह दस जाति के जृम्भक देव प्रातः सायं. मध्यान्ह और मध्यरात्रि इन चार संध्याओं में पृथ्वी तल पर अदृश्य रूप से विचरण करते हैं और अपने जीताचार के अनुसार 'हुज्जा –हुंज्जा ' शब्द का उच्चारण करते हैं । हुज्जा – हुज्जा का अर्थ हैं – ऐसा ही हो, ऐसा ही हो ।

इस जीताचार से यह देव मानव को सावधान करते है कि कभी भी अशोभनीय शब्दों का उच्चारण न करे, किसी को कटु शब्द न कहे, स्वयं भी शोक–ताप–आक्रन्दन न करे, अन्यथा इसका दुष्परिणाम भयंकर रूप में सामने आयेगा ।

भवनवासी और व्यंतरदेवों के इस विस्तृत विवेचन–परिचय से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि असुरकुमार तथा भूत–पिशाच आदि के बारे में जो उनकी बीभत्सता, भयंकरता, क्रूरता आदि रूप वृत्तियों की धारणा जनमानस में बैठी है, वह निर्मूल है ।

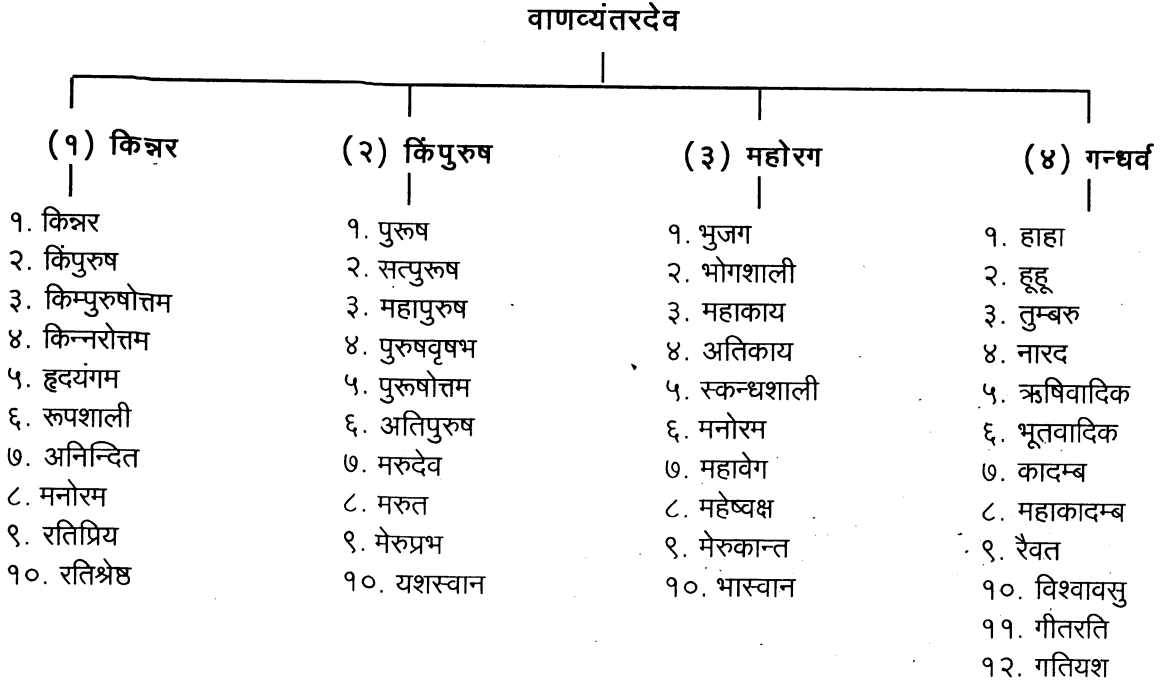
असुर आदि भवनवासी और भूत आदि व्यंतरदेव देवत्व अथवा शुभवृत्तियों के विरोधी नहीं हैं और न यह देवों के विरोधी हैं । यह मानव को अकारण दुखी भी नहीं करते ।

भूतों आदि के बारे में जो विपरीत भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं, उनका इस वर्णन से निराकरण हो जाता है । साथ ही यह भी भली भाँति हृदयंगम हो जाना चाहिए कि जैनधर्मदर्शन के अनुसार इन देवों का कैसा स्वरूप है, वृत्ति–प्रवृत्ति है ।

यही इस समस्त वर्णन का अभिप्रेत है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वाणव्यतरदेवों के आठ भेदों के अवान्तर भेद



Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

(५) यक्ष	(६) राक्षस	(७) भूत	(८) पिशाच
१. पूर्णभद्र	१. भीम	१. सुरूप	१. कूष्मांड
२. मणिभद्र	२. महाभीम	२. प्रतिरूप	२. पटक
३. श्वेतभद्र	३. विघ्न	३. अतिरूप	३. जोष
४. हरिभद्र	४. विनायक	४. भूतोत्तम	४. आह्नक
५. सुमनोभद्र	५. जलराक्षस	५. स्कन्दिक	५. काल
६. व्यतिपातिकभद्र	६. राक्षस–राक्षस	६. महास्कन्दिक	६. महाकाल
७. सुभद्र	७. ब्रह्मराक्षस	७. महावेग	७. चौक्ष
८. सर्वतोभद्र		८. प्रतिच्छन्न	८. अचौक्ष
९. मनुष्ययक्ष		९. आकाशग	९. तालपिशाच
१०. वनाधिपति			१०. मुखरपिशाच
११. वनाहार			११. अधस्तारक
१२. रूपयक्ष			१२. देह
१३. पक्षोत्तम			१३. महाविदेह
			१४. तूष्णीक
			१५. वनपिशाच

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम वचन –

जोइसिया पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा–

चंदा सूरा गहा नक्खत्ता तारा । प्रज्ञापना, पद १, देवाधिकार

(ज्योतिष्क देव पांच प्रकार के होते हैं – (१) चन्द्र (२) सूर्य (३) ग्रह (४) नक्षत्र और (५) तारे)।

ते मेरु परियडंता पयाहिणावत्तमंडला सव्वे ।

अणवट्ठियजोगेहिं चंदा सूरा गहगणा य ॥

– जीवाभिगम, तृतीय प्रतिपत्ति, उ. २, सूत्र १७७

(वह चन्द्रमा, सूर्य, ग्रहों के समूह स्थिर न रहते हुए नित्यमण्डलाकार में मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा दिया करते हैं ।)

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ– 'सूरे आइच्चे सूरे' ?

गोयमा ! सूरादिया णं समयाइ वा आवलियाइ वा जाव अस्सप्पिणीइ वा अवस्सप्पिणीइ वा से तेणट्ठेणं जाव आइच्चे।

–भगवती, श. १२, उ. ६

(भगवन् ! सूर्य को आदित्य किस कारण से कहते हैं ?

गौतम ! आवलिका आदि से लगाकर उत्सर्पिणी – अवसर्पिणी तक के समय की आदि सूर्य से ही होती है, इस कारण से उसे आदित्य कहते हैं ।

से किं तं पमाणकाले ?

दुविहे पण्णत्ते तं जहा–

दिवप्पमाणकाले राइप्पमाणकाले । इच्चाइ ।

भगवती, श. ११, उ. ११, सूत्र ४२४

– जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, चंद्रप्रज्ञप्ति

प्रमाणकाल किसे कहते हैं ?

वह दो प्रकार का होता है – (१) दिवसप्रमाण काल और (२) रात्रि प्रमाणकाल.. इत्यादि..

(**विशेष**–मनुष्य क्षेत्र के अन्दर उत्पन्न हुए पाँचो प्रकार के ज्योतिष्क चन्द्रमा, सूर्य और ग्रहों के समूह चलते रहते हैं । किन्तु मनुष्य क्षेत्र के बाहर के शेष चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारे गति नहीं करते हैं, चलते नहीं है । उनके निश्चल समझना चाहिए ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्योतिष्क देव-

ज्योतिष्का-सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च ।१३।

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ।१४।

तत्कृतः कालविभाग : ।१५।

बहिरवस्थिता : । १६।

ज्योतिष्क निकाय के पाँच भेद हैं (१) चन्द्र (२) सूर्य (३) ग्रह (४) नक्षत्र और (५) तारा ।

यह (पाँचों ज्योतिष्क निकाय) नित्य गमन करते हैं और (मनुष्य क्षेत्र में) मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा (मण्डलाकार रूप में) करते रहते हैं ।

उन (गतिशील ज्योतिष्कों) के द्वारा काल का विभाग हुआ है ।

यह (ज्योतिष्क निकाय) मनुष्य क्षेत्र से बाहर स्थिर हैं ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र १३ से १६ तक में ज्योतिष्क देवों के नाम, उनके भ्रमण तथा भ्रमण के कारण काल विभाग एवं मनुष्य क्षेत्र के बाहर उनके स्थिर रहने का वर्णन हुआ है ।

ज्योतिष्क देवों के भेद – ज्योतिष्क देव पाँच प्रकार के हैं –चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा (प्रकीर्णक) ।

चन्द्र और सूर्य के बारे में तो सभी को विदित है ।

ग्रह हैं, बुध, शुक्र, बृहस्पति, मंगल, शनैश्चर और केतु । इनके अतिरिक्त सूर्यप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों में ८८ महाग्रहों के भी नाम गिनाये गये है।

नक्षत्र २८ है (१) अभिजित (२) श्रवण (३) धनिष्ठा (४) शतभिषक (५) पूर्वाभाद्रपद (६) उत्तराभाद्रपद (७) रेवती (८) अश्विनी (९) भरणी (१०) कृत्तिका (११) रोहिणी (१२) मृगशीर्ष (१३) आर्द्रा (१४) पुनर्वसु (१५) पुष्य (१६) आश्लेषा (१७) मघा (१८) पूर्वाफाल्गुनी (१९) उत्तराफाल्गुनी (२०) हस्त (२१) चित्रा (२२) स्वाति (२३) विशाखा (२४) अनुराधा (२५) ज्येष्ठा (२६) मूल (२७) पूर्वाषाढ़ा (२८) उत्तराषाढ़ा ।

तारा और प्रकीर्णक यह अनियतचार – भ्रमण करने वाले हैं, कभी ये सूर्य और चन्द्रमा के नीचे गति करते हैं और कभी ऊपर गति करते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्योतिष् चक्र की अवस्थिति – पाँचो प्रकार के ज्योतिष्क देव जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत के समतल भूमिभाग से ऊर्ध्वदिशा मे ७९० योजन से लेकर ९०० योजन तक हैं । साथ ही मेरुपर्वत से ११२१ योजन दूर है । इसका अभिप्राय यह है कि सभी ज्योतिषी देव मेरुपर्वत की परिधि से ११२१ योजन दूर रहकर ही मण्डलाकार गति में भ्रमण करते हुए मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते रहते हैं ।

मेरु के समतल भूमिभाग (पृथ्वी) से ७९० योजन ऊपर ताराओं के विमान हैं । (यद्यपि ये अनियतचारी हैं, कभी चन्द्र-सूर्य के ऊपर तो कभी नीचे गति करते हैं; किन्तु ये चन्द्र-सूर्य तथा ग्रहों से सदैव १० योजन दूर ही रहते हैं और ७९० योजन से नीचे कभी नहीं आते।)

मेरु के समतल (पृथ्वी) से सूर्य का विमान ८०० योजन ऊपर है, चन्द्रमा का विमान ८८० योजन, नक्षत्रों के विमान ८८४ योजन, बुध (ग्रह) का विमान ८८८ योजन, शुक्र का विमान ८९१ योजन, बृहस्पति का विमान ८९४ योजन, मंगल का विमान ८९७ योजन और शनैश्चर का विमान ९०० योजन की ऊँचाई पर है ।

इस प्रकार सम्पूर्ण ज्योतिष् चक्र ११० योजन (९००-७९०) में फैला हुआ है ।

ज्योतिष्ककाय का कारण – यह सम्पूर्ण ज्योतिष्कदेव और उनके विमान अत्यन्त प्रकाशमान होते हैं । उनके शरीर की प्रभा ज्योति के स्थान दीप्त हैं तथा उनके विमान से दिग्मण्डल ज्योतित होते हैं, इसी कारण इन्हें ज्योतिष्क देव कहा गया है ।

ज्योतिष्क देवों के चिन्ह – ज्योतिष्क देवों के चिन्ह उनके मुकुट में होते हैं, उनसे उनकी पहचान होती है । यथा -सूर्य के मुकुट में सूर्य मण्डल का चिन्ह होता है और चन्द्रमा के मुकुट में चन्द्र मण्डल का । इसी प्रकार विभिन्न ग्रह, नक्षत्र और तारे तथा प्रकीर्णक देवों के मुकुटों में भी इन-इनके मण्डलों के चिन्ह होते हैं ।

गति सहायी देव – यद्यपि सूर्य-चन्द्र आदि देवों के विमान स्वयं ही स्वभावतः अपने-अपने मंडल में नियमित रूप से गति करते रहते हैं, उन्हें गति के लिए किन्हीं भी देवों की सहायता की न अपेक्षा होती हैं, न आवश्यकता। फिर भी आभियोग्य (सेवक) जाति के देव अपने जातिगत स्वभाव के कारण उनके विमानों के नीचे लगे रहते हैं और मन में यह भाव रखते है कि हम इस विमान को चला रहे हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामने के भाग में सिंह समान आकृति वाले, दाहिनी ओर गजाकृति वाले पीछे की ओर वृषभाकृति वाले ओर बाईं ओर अश्वाकृति वाले देव इन विमानों के नीचे लगकर इन्हें उठाये चलते रहते हैं ।

एक चन्द्र का परिवार – एक चन्द्र के परिवार में २८ नक्षत्र, ८८ महाग्रह और ६६९७५ कोटाकोटि तारे हैं ।

मनुष्यलोक में सूर्य-चन्द्र की संख्या – यह पहले ही बताया जा चुका है कि ढाई द्वीप तक मनुष्यलोक है । ढाई द्वीप हैं- जंबूद्वीप, धातकीखण्ड द्वीप और अर्द्धपुष्करवरद्वीप । जंबुद्वीप और धातकीखंडद्वीप के बीच में लवण समुद्र है और धातकीखण्ड तथा पुष्करवर द्वीप के बीच में कालोदधि समुद्र है । पुष्करवर द्वीप के बीच मे मानुषोत्तर पर्वत हैं । मनुष्य इस पर्वत के इधर ही हैं, इससे आगे नहीं ।

ढाई द्वीप अथवा मनुष्य क्षेत्र में कुल १३२ सूर्य और १३२ चन्द्र हैं । इनका द्वीप समुद्रगत विवरण इस प्रकार है –

जंबूद्वीप में २ चन्द्र और २ सूर्य हैं । लवणसमुद्र में चार-चार चन्द्र सूर्य हैं । धातकीखण्डद्वीप में बारह-बारह चन्द्र-सूर्य हैं । कालोदधि समुद्र में इनकी संख्या बयालीस-बयालीस है और पुष्करवरार्द्ध द्वीप में बहत्तर-बहत्तर है ।

इस प्रकार चन्द्रमाओं की संख्या (२+४+१२+४२+७२=१३२) है और इतनी ही संख्या सूर्यों की है ।

चार अथवा परिभ्रमण गति – जैसा कि बताया जा चुका है – जंबूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं । अतः एक सूर्य मेरू पर्वत की प्रदक्षिणा दो दिन में करता है । इसका परिभ्रमण क्षेत्र जंबूद्वीप के अन्दर १८० योजन और लवणसमुद्र में ३३०, ४८/६१ योजन हैं । सूर्य के घूमने के मण्डल १८३ हैं और एक मण्डल से दूसरे मण्डल का अन्तर २ योजन हैं । इस प्रकार प्रथम मंडल से अन्तिम मण्डल तक आने में सूर्य को ३६६ दिन लगते हैं । यही एक सौर वर्ष है ।

विशेष – आधुनिक विज्ञान भी सौर वर्ष को ३६५, १/४ दिन का मानता है ।

चन्द्र की गति सूर्य की अपेक्षा कुछ कम हैं । वह मेरु की प्रदक्षिणा २ दिन से कुछ अधिक समय में कर पाता है। उसके मंडल १५ हैं । १५ मंडलों में चन्द्र एक महिने (चान्द्रमास) में १४, १/४+१/१२४ मंडल ही चलता है, अतः चान्द्र वर्ष में ३५५/३५६ दिन होते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् सौर वर्ष से चांद्र वर्ष १० दिन कम होते है।

विशेष – इस अन्तर को ३ वर्ष में एक पुरुषोत्तम मास (मल मास .या लौंध मास Leap year) मान कर पूरा कर लिया जाता है और सौर तथा चान्द्र वर्ष का सामंजस्य बिठा लिया जाता है ।

चन्द्रमा की धीमी गति होने के परिणामस्वरूप ही चन्द्रोदय आगे पीछे होता है । यानी शुक्ल पक्ष की एकम की अपेक्षा द्वितीया का चन्द्र विलम्ब से उदित होता है तथा इसी तरह आगे की तिथियों में भी ।

कालविभाग– जैसा कि सूत्र १५ में कहा गया है– ज्योतिष्क देवों (सूर्य-चन्द्र) के चार (परिभ्रमण) से काल का विभाग होता है। काल विभाग से यहां अभिप्राय है– मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदि । आधुनिक शब्दावली में सैकण्ड, मिनट, घण्टा, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष आदि ।

किन्तु आगमों में ऐसे काल को व्यवहार काल कहा है । व्यवहार काल अभिप्राय है, जिससे मुहूर्त, प्रातः, सन्ध्या आदि का व्यवहार हो, दिन-रात, वर्ष आदि का व्यवहार किया जाये ।

इसी अपेक्षा से काल के दो विभाग किये गये हैं – १. प्रदेशनिष्पन्न और २. विभागनिष्पन्न ।

प्रदेशनिष्पन्न काल एक समय से लेकर असंख्यात समय तक का असंख्यात प्रकार का है ।

विभागनिष्पन्न काल अनेक प्रकार का है – १. समय, २. आवलिका, ३. मुहूर्त, ४. अहोरात्र, ५. पक्ष, ६. मास, ७. ऋतु, ८. अयन, ९. संवत्सर (वर्ष), १०. युग, ११. पूर्वांग इत्यादि ।

काल-विभाग निष्पन्न व्यवहार काल की तालिका

असंख्यात समय	= १ आवलिका
संख्यात आवलिका	= निःश्वास या १ उच्छ्वास
१ उच्छ्वास)	
+ १ निश्वास)	= १ प्राण
७ प्राण	= १ स्तोक
७ स्तोक	= १ लव
७७ लव	= १ मुहूर्त
३७७३ उच्छ्वास	= १ मुहूर्त (४८ मिनट)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३० मुहूर्त	= १ अहोरात्र (२४ घंटे–एक रात–दिन)
१५ अहोरात्र	= १ पक्ष (Fortnight)
२ पक्ष	= १ मास (month)
२ मास	= १ ऋतु
३ ऋतु	= १ अयन (छह माह)
२ अयन	= १ संवत्सर (वर्ष–year)
५ संवत्सर	= १ युग
८४ लाख संवत्सर	= १ पूर्वांग

इसी प्रकार यह गणना संख्यात, असंख्यात, अनन्त, अनन्तानन्त तक बढ़ती चली गई है ।

इस समस्त व्यवहार–काल गणना का आधार चन्द्र–सूर्य का चार अथवा भम्रण हैं ।

स्थिर ज्योतिष्क – जैसा कि सूत्र १६ में बताया गया है – मनुष्यलोक से आगे के द्वीप समुद्रों में ज्योतिषी देव स्थिर हैं, अर्थात् वे निश्चल हैं, परिभ्रमण नहीं करते हैं ।

इसी कारण वहाँ मुहूर्त, घड़ी, दिन–रात आदि काल–व्यवहार नहीं होता । जहाँ चन्द्र होता है वहाँ दूधिया चांदनी फैली रहती है और जहां सूर्य का प्रकाश होता है वहाँ सुनहरा प्रकाश विकीर्ण होता रहता है ।

यहाँ (मनुष्यलोक) की अपेक्षा ज्योतिष्क देवों का प्रकाश भी कम है और विमानों का परिमाण भी आधा है । साथ ही वह स्थिर है, न घटता है, न बढ़ता है । स्थिर रहने के कारण वहां ग्रहण आदि भी नहीं होते । वहां उनका प्रकाश एक लाख योजन तक फैलता है और स्थिर रहता है ।

सम्पूर्ण ज्योतिष्क देवों की संख्या – जैसा कि तीसरे अध्याय में बताया जा चुका हैं मध्यलोक में असंख्यात द्वीपसमुद्र हैं । अतः सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्क देव भी असंख्यात ही हैं ।

इस प्रकार ज्योतिष्क देवों का वर्णन पूरा हुआ ।

आधुनिक विज्ञान की भूगोल खगोल सम्बन्धी मान्यताएं

आधुनिक युग में विज्ञान का प्रचार काफी है । वैज्ञानिकों ने पृथ्वी और ज्योतिर्लोक सम्बन्धी काफी खोजें भी की हैं । ज्योतिर्लोक सम्बन्धी खोजो को उन्होंने अन्तरिक्ष विज्ञान नाम दिया है ।

यद्यपि वैज्ञानिक शोधें अभी अन्तिम नहीं है । विज्ञान स्वयं ही अनु–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संधित्सु छात्र की स्थिति में है जो सत्य की खोज में लगनशील है, प्रकृति के रहस्यों को उद्घाटित करने में जुटा हुआ हैं; फिर भी जितनी खोज वह कर सका है, उसका काफी प्रचार हो रहा है ।

यद्यपि आज तक कोई वैज्ञानिक यह दावा नहीं कर रहा है कि उसने पूर्णरूप से सत्य का पता लगा लिया है, वह अन्तिम बिन्दु तक जा पहुंचा है, अपितु महान् वैज्ञानिक न्यूटन के शब्दों में उनकी यही मान्यता है कि 'अभी हम तो किनारे के कंकर-पत्थर ही बटोर रहे हैं, ज्ञान का महासागर तो अभी हमसे बहुत दूर हैं ।

इतना होने पर जन-सामान्य वैज्ञानिक खोजों के परिणामो को अन्तिम सत्य स्वीकार करके मन-मस्तिष्क में धारण करते चले जा रहे हैं । इसी कारण यहाँ आधुनिक विज्ञान की भूगोल-खगोल सम्बन्धी धारणाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है ।

सौर-मण्डल की उत्पत्ति

वैज्ञानिक इस लोक को जैन दर्शन के समान शाश्वत नहीं मानते, अपितु एक घटना (अथवा दुर्घटना Accident) का परिणाम मानते हैं, वह घटना वैज्ञानिक इस प्रकार बताते हैं -

अनुमानतः आज से २ अरब वर्ष पूर्व कोई विशालकाय तारा हमारे सूर्य से टकरा गया होगा । उस टकराहट से सूर्य में उथल-पुथल मच गई होगी और सूर्य से कई खण्ड टूटकर अलग हो गये होंगे । वे ही मंगल, बुध, गुरू, शुक्र, शनि के तारे है और उस सूर्य का ही एक टुकड़ा पृथ्वी है । फिर भी सूर्य काफी बड़ा शेष रहा था । इस कारण उसकी आकर्षण शक्ति भी सबसे अधिक थी । इसीलिए ये सभी पिण्ड सूर्य की आकर्षण शक्ति से प्रभावित होकर उसके चारों ओर घूमने लगे ।

प्रारम्भ में पृथ्वी सेव के समान ऊपर के सिरे पर नुकीली थी । किन्तु तीव्र गति से घूमने के कारण उसकी ऊपर की नोंक टूटकर छिटक गई और वह चन्द्रमा बन गई तथा पृथ्वी के चारों ओर घूमने लगी । यही कारण है कि चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर घूमता है ।

प्रारम्भ में पृथ्वी अति उष्ण थी । धीरे-धीरे वह सूर्य से दूर होती गई । उसका परिभ्रमणचक्र बढ़ता गया और उसी मात्रा में वह ठण्डी होती गइ । फिर उसका वायुमण्डल बना, गैसे बनीं जो पानी बनकर बरसी और सागर, महासागर आदि बने । ऊबड़-खाबड़ पृथ्वी पर कही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गहरे गड्ढे थे और कहीं मीलों ऊँचे टीले । पानी बरसने से गड्ढे सागर आदि बन गये और ऊँचे टीले पर्वत बन गये ।

फिर परिस्थिति अनुकूल होने पर वनस्पति उत्पन्न हुई, पानी पर काई जमी, एककोषीय जीव अमीबा (Amoeba) अस्तित्व में आये और फिर बहुकोषीय जीवों की उत्पत्ति हुई । पहले कृमि (लट आदि Creatures) फिर चीटीं आदि तब बिच्छू, मक्खी जैसे जीव, पृथ्वी और पानी दोनों में जीवित रह सकने वाले कच्छप आदि जीवधारी अस्तित्व में आये ।

तत्पश्चात् रेंगने वाले प्राणि (Reptiles-सर्प, केंचुआ आदि) पैरों पर चलने वाले प्राणी (स्तनधारी-Mammals- गाय आदि) - यानी पशु जगत (Animals) का विकास हुआ । इनमें से कुछ प्राणियों ने अगले दो पैरों को उठाकर उड़ने का प्रयास किया तो उनके पाँव परों मे विकसित हो गये और वे पक्षी (Birds) कहलाये ।

भूमि पर चलने वाले जीवधारी (पशु) विकास करते-करते चिंपाजी (ape) आदि बने, फिर वनमानुष और फिर मनुष्य अस्तित्व में आये ।

यह हुई पृथ्वी पर जीवन-विकास कहानी ।

पृथ्वी की गति के बारे में वैज्ञानिकों की यह मान्यता है कि धीरे धीरे पृथ्वी का परिपथ (सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने का मार्ग) बढ़ता जा रहा है और पृथ्वी सूर्य से दूर होती जा रही है । आज से कई हजार वर्ष पहले पृथ्वी सूर्य का चक्कर २७० दिन में लगा लेती थी, अब ३६५, १/४ दिन में लगाती है और एक दिन ऐसा आयेगा जबकि इससे चौगुना समय लगा करेगा। यानी वर्ष के दिन चार गुने हो जायेंगे ।

और फिर इस पर जीवन का अन्त हो जायेगा, यह नीहारिका के समान शून्य (Bare land) हो जायेगी ।

इसी प्रकार पृथ्वी प्रारम्भ में अपनी धुरी पर ४ घण्टें में घूम जाती थी। उस समय २ घण्टे का दिन और २ घण्टे की रात होती थी । अब २४ घण्टे में घूमती है और काफी लम्बी अवधि के बाद इसे १४०० घण्टे लगा करेंगे यानी ७०० घण्टो का दिन और ७०० घण्टों की रात हुआ करेंगी ।[1]

प्रारम्भ में वैज्ञानिकों की मान्यता थी कि पृथ्वी की उत्पत्ति

---

१. 'जन दर्शन और आधुनिक विज्ञान' पुस्तक के आधार से ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२ अरब वर्ष पहले हुई थी । किन्तु अभी ७० के दशक में दक्षिणी ध्रुव पर उत्खनन से जो दीर्घकाय जानवरों के जीवाश्म तथा अस्थिपिंजर (Fossils of dionasores) प्राप्त हुए हैं और जब कार्बन डेंटिंग प्रणाली द्वारा उन अस्थिरपिंजरों की काल गणना की गई तो उनमें से अनेक निचली पर्तों से निकले हुए लगभग ५ अरब वर्ष पुराने निकले । इस पर वैज्ञानिकों ने पृथ्वी की उत्पत्ति दस अरब वर्ष पूर्व कहना शुरू कर दिया और कुछ वैज्ञानिक तो 'अरबों-खरबों वर्ष पूर्व' कहने लगे है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अभी वैज्ञानिक इस बात पर निश्चित नहीं है कि पृथ्वी की उत्पत्ति कब, किस प्रकार और कितने वर्ष पूर्व हुई ।

पृथ्वीमण्डल

अब आधुनिक वैज्ञानिक मतानुसार पृथ्वीमण्डल की संक्षिप्त जानकारी कर लें ।

आधुनिक मान्यता के अनुसार, जिस पृथ्वी पर मानव जाति निवास करती है, वह मिट्टी-पत्थर का नारंगी के आकार का एक गोला है । इसका व्यास लगभग ८००० मील और परिधि लगभग २५००० मील है । पृथ्वी के चारो ओर वायुमण्डल है, जो शुरू में सघन है और आगे विरल होता गया है । यह वायुमण्डल पृथ्वी के चारों ओर ४०० मील तक फैला हुआ है ।

पृथ्वी का उच्चतम पर्वत शिखर हिमालय का माउन्ट एवरेस्ट है जो लगभग ३० हजार फीट (५ १/२ मील) ऊँचा है और सागर (प्रशांत महासागर) की गहराई सर्वाधिक ३५,४०० फीट (लगभग ६ मील) है ।

पृथ्वी तल पर २९% थल (सूखी जमीन, मिट्टी पत्थर आदि) है और ७१% जल है । यह एक विचित्र विशेषता है कि जल के नीचे जल है और स्थल के नीचे स्थल है । (ग्लोब में यह स्थिति स्पष्टतः दर्शायी जाती है।)

इसमें सात महाद्वीप और छह महासागर हैं । इनमें से एशिया महाद्वीप के दक्षिण में भारतवर्ष हैं ।

चन्द्रमा सम्बन्धी जानकारी

आधुनिक वैज्ञानिकों ने लगभग १२ बार चन्द्रमा-प्रयाण किया है । और प्राप्त जानकारी के अनुसार निम्न तथ्य प्रसारित किया हैं ।

चन्द्रमा की पृथ्वी से दूरी = ३८११७१ किलोमीटर

चन्द्रमा का व्यास = २१६० मील या ३४५६ किलोमीटर

(पृथ्वी के व्यास का चतुर्थ भाग)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चन्द्रमा की परिधि = १०८६४ किलोमीटर
चन्द्रमा का तापमान = ११७ सेन्टीग्रेड (जब सूर्य सिर पर हो)
चन्द्रमा रात्रि तापमान = १३७ सेन्टीग्रेड

चन्द्र सतह का गुरुत्वाकर्षण=पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण का छठा भाग है- (अर्थात् पृथ्वी पर जिस वस्तु का भार ६ किलो है, चन्द्र पर उसका भार १ किलो होगा)

चन्द्रमा की गति ३६६९ किलोमीटर प्रति घण्टा है । यह पृथ्वी की एक परिक्रमा २७ दिन, ७ घण्टे ४३ मिनट में पूरी करता है।

सौर मण्डल के अन्य ग्रह इससे बहुत दुर है ।

सूर्य सम्बन्धी जानकारी

सूर्य मण्डल पृथ्वी से लगभग ९॥ करोड़ मील दूर है । प्रकाश की गति १,८६,००० मील प्रति सैकण्ड अथवा १ करोड़, ११ लाख, ६० हजार मील प्रति मिनट है । इस प्रमाण से सूर्य का प्रकाश पृथ्वी तक आने में ८, १/२ मिनट लगते हैं ।

यह सूर्य आग का गोला है, जिसमें लाखों मील ऊँची ज्वालाएँ उठती रहती हैं । इसके धरातल पर १०००० डिग्री फारेनहीट गर्मी है ।

सूर्य का व्यास ८६०००० मील है । यह पृथ्वी से १५ लाख गुना बड़ा है । इससे करोड़ो मील विस्तृत सौर मण्डल में प्रकाश और उष्णता फैलती है ।

हमारी पृथ्वी इस सूर्य की परिक्रमा ३६५, १/४ दिन में करती है । पृथ्वी के समान ही शनि, बुध, बृहस्पति, शुक्र आदि ग्रह भी सूर्य की परिक्रमा कर रहे हैं ।

सौर-मण्डल की स्थिति निम्न तालिका में दिखाई गई हैं -

ग्रह का नाम	सूर्य से औसत दूरी (मीलों मे)	औसत व्यास (मीलों मे)	परिक्रमा का समय (वर्षों मे)	उपग्रहों की संख्या
१ बुध	३,६०,००,०००	३०३०	०.२२	०
२ शुक्र	६,७२,००,०००	७७००	०.६२	०
३ पृथ्वी	९,२९,००,०००	७९१८	१.००	१ चंद्रमा
४ मंगल	१४,१५,००,०००	४२३०	१.८८	२
५ बृहस्पति	४८,३२,००,०००	८६५००	११.८६	९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

६ शनि	८८,५९,००,०००	७३०००	२९.४६	९
७ अरुण	१,७८,२२,००,०००	३१९००	८४.०२	४
८ वरुण	२,७९,१६,००,०००	३४८००	१६४.७८	१
९ कुबेर	३,७०,००,००,०००	३६०५	२५०.००	अज्ञात

सूर्य तथा उसका ग्रह कुटुम्ब मिलाकर सूर्य मण्डल कहा जाता है । सूर्य मण्डल लगभग ९०० करोड़ मील लम्बा चौड़ा हैं । हमारा सूर्यमण्डल (अपने सम्पूर्ण और परिवार से परिवृत होकर) ऐरावत पथ नामक ब्रह्मांड में स्थित हैं और मन्दाकिनी आकाश गंगा का चक्कर लगा रहा है। इसमें इसे ३० करोड़, ६७ लाख, २० हजार वर्ष लगते हैं ।

इस ब्रह्मांड में ऐसे १॥ अरब सूर्य मण्डल घूम रहे हैं । इत्यादि ।

वैज्ञानिकों द्वारा ब्रह्मांड का कथन तो बहुत लम्बा है, वह सारा वर्णन यहाँ न प्रसंगोपात्त है और न उपयोगी ही है। यहाँ तो हमें सिर्फ यह देखना है कि वैज्ञानिक मत और जैनदर्शन में प्रमुख अन्तर क्या हैं ?

नक्षत्रों के इस गम्भीर गणित और भूल-भुलैया में जनसाधारण की अधिक रुचि भी नहीं है। उन्हें इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि सूर्य पृथ्वी से कितनी दूर है अथवा उसमें कितनी गर्मी है ।

सामान्य व्यक्ति की जिज्ञासा तो प्रमुख रूप से एक ही है कि सूर्य घूमता है अथवा पृथ्वी ? पृथ्वी और सूर्य में से कौन स्थिर हैं और कौन चल है ? क्योंकि जैनदर्शन पृथ्वी को स्थिर और सूर्य को गतिशील मानता है जबकि वैज्ञानिक पृथ्वी को भी गतिशील मानते हैं ।

उपरोक्त वैज्ञानिक मान्यता से यह तो स्पष्ट हो गया है कि वैज्ञानिक भी सूर्य, बुध, बृहस्पति आदि सभी ग्रहों को गतिशील मानते हैं । अन्तर सिर्फ इतना ही है कि वैज्ञानिक मान्यता के अनुसार अन्य ग्रह सूर्य की परिक्रमा लगाते हैं और सूर्य उन सभी ग्रहों से परिवृत होकर मंदाकिनी आकाशगंगा की परिक्रमा लगा रहा है तथा वह सम्पूर्ण आकाशगंगा किसी और आकाशगंगा की परिक्रमा कर रही हैं, यही क्रम ब्रह्मांड में चल रहा है ।

जबकि जैन दर्शन के अनुसार सूर्य आदि सभी ज्योतिष्क देव मेरु की प्रदक्षिणा लगा रहे हैं ।

किन्तु प्रमुख मतभेद पृथ्वी के गतिशील होने या न होने का है ।

इस विषय में थोड़ी चर्चा आवश्यक है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राचीन काल में मध्यकाल तक समस्त विश्व में यह सर्वमान्य मत प्रचलित था कि पृथ्वी अचल और सूर्य गतिमान है । पृथ्वी का 'अचला' नाम उसकी स्थिरता को ही पुष्ट करता है ।

किन्तु मध्यकाल में इटली के विद्वान गेलीलियो ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी घूमती है । उस समय गेलीलियो के इस कथन को किसी ने स्वीकार नहीं किया, गलत बताया । (वास्तविक दृष्टि से यह था भी गलत क्योंकि नवीनतम वैज्ञानिक खोजों ने ही सूर्य को भी गतिमान सिद्ध कर दिया है ।)

गेलीलियो का यह सिद्धान्त कई शताब्दियों तक विस्मृति के गर्भ में समाया रहा । सोलहवीं शताब्दी के बाद जब यूरोप में धर्मविरोध और वैज्ञानिकता की लहर व्याप्त होने लगी तो उनका ध्यान गेलीलियो के इस सिद्धान्त की ओर गया । कापरनिकस ने इसका जोरदार समर्थन करके इसे पुनर्जीवन प्रदान कर दिया ।

काफी समय तक 'सूर्य स्थिर है' यह सिद्धान्त पूरे जोर-शोर से चलता रहा; किन्तु नवीनतम वैज्ञानिक खोजों ने कापरनिकस के 'सूर्य स्थिर है' इस सिद्धान्त की जड़ें हिला दी हैं । इस विषय में हम सबसे पहले आधुनिक युग के महानतम वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टीन के शब्द उद्धृत करते हैं । वे कहते हैं ।

The relative motion of the members of Solar system may be explained as the older geocentric mode and on the other introduced by Copernicus. Both are legitimate and give a correct description of the motion

(Relativety and Commonense by Denton)

अर्थात् सौर-परिवार के सदस्यों (ग्रहों) का चार प्राचीन सिद्धान्त (पृथ्वी स्थिर है) के अनुसार भलीभाँति समझाया जा सकता है और कापरनिकस के सिद्धांत (सूर्य स्थिर है) के अनुसार भी । (इस दृष्टि से) दोनों ही सत्य हैं और स्थिति का सही विवरण देते हैं ।

उनका अभिप्राय यह है कि गणित की सुविधा के लिए सूर्य को स्थिर माना गया है । निम्न शब्दों में देखिए -

Nevertheless, many complications are avoided by imagining that the sun and not the earth is at rest.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इनके अतिरिक्त क्रिस्टाइल नाम के गणित विद्वान भी पृथ्वी - भ्रमण के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते ।

न्यूयार्क की दी फोर्टियन लॉ सोसायटी के सदस्य भी पृथ्वी की गतिशीलता को स्वीकार नहीं करते ।

'अर्थ इज नाट ए ग्लोब' के अमेरिकन लेखक ने अपनी इस पुस्तक में अनेक युक्तियों से सिद्ध किया है कि पृथ्वी स्थिर हैं ।

इसी प्रकार के विचार अन्य अनेक विद्वानों ने व्यक्त किये हैं ।

उपरोक्त संपूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि वैज्ञानिकों का भी 'पृथ्वी भ्रमणशील' है। यह अन्तिम मत नहीं है ।

फिर भी आश्चर्य है कि स्कूल के बच्चों को यही पढ़ाया जा रहा है कि 'पृथ्वी भ्रमणशील है।'

इस चर्चा को आगे न बढ़ाकर एक चिन्तक के शब्दों को उद्धृत कर देना काफी होगा -

''अभी विज्ञान शोध और प्रयोग के स्तर पर है । बहुत सम्भव है कि जब विज्ञान की शोध पूर्ण हो जाय तो वह उसी स्थान पर पहुंच जाय, जहाँ धर्माचार्य पहले से ही विराजमान है और वह भी इन्ही की भाषा बोलने लगे।'

आगम वचन -

वेमाणिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-कप्पोपवण्णगा य कप्पाइया य । - प्रज्ञापना, प्रथम पद, सू. ५०

(वैमानिक (देव) दो प्रकार के होते हैं, - (१) कल्पोपपन्न (२) कल्पातीत)

ईसाणस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खिं.. इच्चाइ

- प्रज्ञापना, पद २, वैमानिक देवाधिकार

(ईशानकल्प से ऊपर-ऊपर बाकी सब रचना समान है।)

सोहम्म ईसाण सणंकुमार माहिन्द बंभलोय लंतग महासुक्क सहस्सार आणय पाणय आरण अच्चुत हेट्ठिमगेवेज्जग मज्झिमगेवेज्जग उपरिमगेवेज्जग विजय वेजयन्त जयन्त अपराजिय सव्वट्ठसिद्ध देवा य - प्रज्ञापना, पद ६, अनुयोगद्वार सू. १०३, औपपातिक, सिद्धाधिकार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लांतक, महाशुक्र, सहस्त्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत, अधोग्रैवेयक, मध्यमग्रैवेयक, उपरिमग्रैवेयक, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सवार्थसिद्ध के देव (वैमानिक देव) कहलाते हैं ।

वैमानिक देव –

वैमानिकाः । १७।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ।१८।

उपर्युपरि ।१९।

[1]सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्त्रारे-ष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्त-जयन्ताऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धेच । २०।

विमानों में रहने वाले देव वैमानिक हैं ।

यह कल्पोंपपन्न और कल्पातीत दो प्रकार के हैं ।

यह (विमान एवं वैमानिक देव) ऊपर-ऊपर हैं ।

सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्त्रार, आणत, प्राणत, आरण, अच्युत (यह १२ कल्प-स्वर्ग) तथा ९ ग्रैवेयक और (५ अनुत्तरविमान) विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सवार्थसिद्ध इनमें वे (वैमानिक देव) निवास करते हैं ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र १७ से २० तक में वैमानिक देवों के निवास के विषय में बताया गया है ।

यद्यपि अन्य निकायों के देवों के भी विमान होते हैं; किन्तु वैमानिकदेवों के विमानों की यह विशेषता है कि वे अतिशय पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त हो पाते हैं, उनमें निवास करने वाले देव भी विशेष पुण्यवान होते हैं ।

---

१. दिगम्बर परम्परा में १६ कल्प (स्वर्ग) माने गये हैं । वहाँ ब्रह्मलोक *के बाद ब्रह्मोत्तर, लान्तक के बाद कापिष्ठ और शुक्र तथा महाशुक्र के बाद* शतार स्वर्ग और माने गये है । इसलिये वहाँ ब्रह्मोत्तर छठा, कापिष्ठ आठवां; और शुक्र नवां तथा शतार ग्यारहवां कल्प है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसे एक उदाहरण से समझ ले। जैसे एक सामान्य मकान और कोई आलीशान बंगला, जिसमें आधुनिकतम सभी सुविधाएँ उपलब्ध है । मकान या निवास स्थान दोनों ही है। किन्तु जैसा अन्तर इन मकानों में है, वैसा ही अन्तर अन्य देवों और वैमानिक देवों के विमानों में समझ लेना चाहिए ।

कल्पोपपन्न और कल्पातीत का अन्तर – जहां तक इन्द्र, मंत्री सेनापति आदि की व्यवस्था है, वे कल्प कहलाते हैं और उनमें उत्पन्न होने वाले देव कल्पोपपन्न । ऐसी व्यवस्था बारहवें स्वर्गलोक तक ही है ।

(जहाँ इन्द्र आदि की भेद-रेखा नहीं है, सभी देव समान हैं, (इन्हें अहमिन्द्र भी कहते हैं,) वे कल्पातीत कहलाते हैं । ९ ग्रैवेयक और ५ अनुत्तर विमानों के देव कल्पतीत हैं ।

विमानों की अवस्थिति – यह सभी विमान ऊपर-ऊपर हैं । सूत्र का यह कथन सामान्य है । इसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

(१-२) **सौधर्म और ईशानकल्प** – जंबूद्वीप के मेरुपर्वत से असंख्यात योजन (१,१/२ डेढ राजू) ऊपर जाने पर मेरूपर्वत की दक्षिण दिशा में पहला सौधर्म कल्प है और इसी की समश्रेणी में दूसरा ईशान कल्प है। दोनों ही लगड़ाकार (खड़े अर्द्ध चन्द्र आकार के समान) हैं । दोनों मिलकर पूर्ण चंद्र के आकार के दिखाई देते हैं ।

पहले स्वर्ग में १३ प्रतर हैं, दूसरे स्वर्ग में भी १३ प्रतर हैं । पहले स्वर्ग में ३२ लाख विमान हैं और दूसरे देवलोक में २८ लाख ।

पहले स्वर्ग का इन्द्र सौधर्म है । इसे शक्रेन्द्र भी कहा जाता है । दूसरे स्वर्ग का इन्द्र ऐशान है ।

(३-४) **सानत्कुमार और माहेन्द्रकल्प** – पहले तथा दूसरे कल्प से असंख्यात योजन उपर जाने पर पहले कल्प के ऊपर तीसरा कल्प सानत्कुमार है और उसी की सम-श्रेणी में चौथा कल्पमाहेन्द्र है । ये दोनों भी लगड़ाकार हैं ।

इन दोनों स्वर्गो में बारह-बारह प्रतर हैं तथा तीसरे में १२ लाख व चौथे में ८ लाख विमान है ।

(५) **ब्रह्मलोक** – तीसरे और चौथे स्वर्ग से असंख्यात योजन (१/२ राजू) ऊपर जाने पर पांचवाँ ब्रह्मलोक नाम का कल्प है। यह पूर्णचन्द्र के आकार का है । इसमें ६ प्रतर तथा चार लाख विमान है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(६) **लान्तक कल्प** – ब्रह्मलोक स्वर्ग से असंख्यात योजन (१/२ राजू) ऊपर जाने पर छठा लान्तक कल्प आता है । इसमें पाँच प्रतर तथा ५० हजार विमान हैं । इसका आकार पूर्णचन्द्र के समान है ।

(७) **महाशुक्र कल्प** – यह लान्तककल्प से अंसख्यात योजन (१/४ राजू) ऊपर अवस्थित हैं । इसका आकार पूर्ण चन्द्र जैसा है । इसमें चार प्रतर और ४० हजार विमान है ।

(८) **सहस्त्रारकल्प** – यह महाशुक्र कल्प से अंसख्यात योजन (१/४ राजू) ऊपर अवस्थित हैं । इसका भी आकार पूर्ण चन्द्र जैसा है । इसमें चार प्रतर और ६००० विमान है ।

(९-१०) **आणत और प्राणत कल्प** – यह दोनों कल्प सहस्त्रार कल्प से अंसख्यात योजन (१/४ राजू) ऊपर समश्रेणी में अवस्थित हैं । ये दोनों ही लगड़ाकर (खड़े अर्द्ध चन्द्र का आकार) संस्थान वाले हैं । दोनों मिलकर ही पूर्ण चन्द्र आकार के दिखाई देते हैं । इन दोनों में मिलाकर चार प्रतर और ४०० विमान हैं ।

इन दोनों कल्पों का एक ही इन्द्र है, जिसका नाम प्राणत है ।

(११-१२) **आरण-अच्युत कल्प** – आणत और प्राणत कल्प से असंख्यात योजन (१/२ राजू) ऊपर जाने पर ग्यारहवें और बारहवें आरण और अच्युत कल्प अवस्थित हैं । यह दोनों भी लगड़ाकार हैं । इन दोनों में मिलकर चार प्रतर और ३०० विमान हैं ।

इन दोनों कल्पों का भी अच्युत नाम का एक ही इन्द्र है ।

कल्पातीत विमान १४ हैं – ९ नवग्रैवेयक और ५ अनुत्तर विमान ।

नवग्रैवेयक – तीन-तीन की त्रिक में तीन त्रिक है- निचली त्रिक, मध्यम त्रिक और ऊपरी त्रिक ।

बारहवें देवलोक से असंख्यात योजन ऊपर जाने पर नवग्रैवेयक की पहली (सबसे नीचे की) त्रिक आती है । इनके नाम १. भद्र २. सुभद्र ३. सुजात हैं । इस त्रिक में १११ विमान हैं ।

यहाँ से असंख्यात योजन ऊपर दूसरी (मध्यम) त्रिक है । इसके नाम ४. सुमानस, ५. प्रियदर्शन, ६. सुदर्शन हैं. इसमें १०७ विमान हैं ।

इससे असंख्यात योजन ऊपर तीसरी (उपरिम) त्रिक हैं । इनके नाम ७. अमोघ ८. सुप्रतिबुद्ध ९. यशोधर हैं । इस त्रिक में १०० विमान हैं ।

इन तीनों त्रिकों में ९ प्रतर है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पांच अनुत्तर विमान नवग्रैवेयक से असंख्यात योजन (१ राजू) ऊपर जाने पर पाँच अनुत्तर विमानहैं । इनके नाम हैं ।१ विजय २. वैजयन्त ३. जयन्त, ४. अपराजित ५. सवार्थसिद्ध ।

पूर्व दिशा में विजय, दक्षिण में वैजयन्त, पश्चिम में जयन्त और उत्तर में अपराजित तथा सबके मध्य में सवार्थसिद्ध विमान अवस्थित हैं । सवार्थसिद्ध विमान १ लाख योजन का है ।

ये सब मिलकर ८४,९७,०२३ विमान हुए ।

सवार्थसिद्ध विमान से १२ योजन ऊपर सिद्धशिला है । यह ४५ लाख योजन लम्बी-चौड़ी, व गोल, मध्य में ८ योजन और फिर पतली होती हुई दोनों किनारों पर मक्खी के पंख के समान पतली है । सिद्धशिला से और ऊपर सिद्ध आत्मा शाश्वत सुख में विराजमान रहते हैं ।

सिद्धशिला की परिधि १,४२,३०,२४९ योजन, १ कोस, १७६६, धनुष ५ ।।। (पौने छह) अंगुल है । इसका वर्ण शुद्ध स्वर्ण से भी उज्वल, गोक्षीर, शंख, चन्द्र, रत्न, चांदी से भी अधिक उज्वल है ।

किल्विषिक देव – यद्यपि ये देव विमानों के बाहर (बाह्य भाग में) अन्त्यजों के समान रहते हैं, किन्तु फिर भी इनकी गणना वैमानिक देवों के साथ की जाती है । इसलिये. इनका थोडा परिचय दिया जा रहा है ।

किल्विषिक देव तीन प्रकार के हैं –

प्रथम प्रकार के किल्विषिक देव और पहले दूसरे स्वर्गलोक के नीचे रहते हैं । इनकी आयु तीन पल्य की होती है ।

दूसरी प्रकार के किल्विषिक देव पहले-दूसरे स्वर्ग के ऊपर और तीसरे-चौथे स्वर्ग के नीचे के भाग में रहते हैं । इनकी आयु तीन सागर की होती है ।

तीसरी प्रकार के किल्विषिक देव ज्योतिषी देवो के उपर पांचवें स्वर्ग के ऊपर और छठे स्वर्ग के नीचे रहते हैं । इनकी आयु १३ सागर की होती है ।

त्यागी-तपस्वी होकर जो गुरु के विरोधी, निन्दक तथा वीतरागवाणी के उत्थापक होते हैं, वे जीव किल्विषिक देव बनते हैं ।

देवों के कुल भेद – १० भवनपति, १५ परमाधार्मिक, १६ व्यंतर, १० जृम्भक, १० ज्योतिष्क (५ चर और ५ अचर), १२ कल्पोपपन्न, ९ नव ग्रैवेयक, ५ अनुत्तर विमानवासी, ९ लोकान्तिक और ३ किल्विषिक-यह ९९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं । इनके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद करने पर देवों के कुल १९८ भेद हैं ।

आगम वचन –

सोहम्मीसाणेसु देवा केरिसए कामभोगे पच्चुणुभवमाणा विहरंति?

गोयमा! इट्ठा सद्दा इट्ठा रूवा जाव फासा एवं जाव गेवेज्जा अणुत्तरोववातिया णं अणुत्तरा सद्दा एवं जाव अणुत्तरा फासा ।

– जीवाभिगम, प्रतिपत्ति ,३ उ. २, सू. २१९

– प्रज्ञापना, पद २, देवाधिकार

..महिड्ढिया महज्जुइया जाव महाणुभागा इड्ढीए पण्णत्ते, जाव अच्चुओ, गेवेज्जुणुत्तरा या सव्वे महिड्ढीया...

– जीवाभिगम, प्रतिपत्ति, ३ सू. २१७, वैमानिकाधिकार

(सौधर्म तथा ईशान कल्पों में देव कैसे-कैसे काम-भोगों को भोगते हुए विहार करते हैं ?

गौतम ! वह इष्ट शब्द, इष्ट रूप, इष्ट गन्ध, इष्ट रस और इष्ट स्पर्श का ग्रैवेयक तक तथा अनुत्तरोपपातिक देव उससे भी उत्कृष्ट शब्द आदि के सुख का आनन्द लेते हैं ।

अच्युत स्वर्ग तक वह महानुभाग, महान ऋद्धिवाले, महान कांति वाले होते हैं । ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानवासी देव उनसे भी महान ऋद्धि वाले होते हैं ।

अधिकता और हीनता सम्बन्धी विषयों का निरूपण –

स्थितिप्रभावसुखद्यु तिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ।२१।

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीना ।२२।

(कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवों में) स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविषय और अवधिज्ञानविषय –यह सात बातें उत्तरोत्तर अधिक होती हैं ।

गति, शरीर, परिग्रह (ऐश्वर्य), अभिमान (अपनी विभूति का अहंकार) क्रमशः हीन (कम) होते हैं ।

विवेचन – देवों की स्थिति, सुख आदि सम्बन्धी दोनों सूत्र कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवों की अपेक्षा से हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ क्रम नीचे से ऊपर की ओर हैं । जैसे पहले स्वर्ग में जितना सुख आदि हैं, दूसरे स्वर्ग में उससे अधिक हैं । सूक्ष्मता से विचार करने पर पहले स्वर्ग के प्रथम प्रतर के देवों को जितना सुख आदि हैं, उसी स्वर्ग के दूसरे प्रतर के देवो को उससे अधिक है।

वर्द्धमान बातें –

(१) **स्थिति** – स्थिति का अभिप्राय है आयु । इस विषय में विस्तृत वर्णन इसी अध्याय के सूत्र ३० से ५४ तक में किया गया है । किन्तु यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि एक ही विमान के प्रथम प्रतर से दूसरे प्रतर वाले देवों की आयु अपेक्षाकृत अधिक होती है ।

यही बात निम्न ६ विषयों में भी समझ लेनी चाहिए, के क्रमशः उत्तरोत्तर अधिक होती जाती है ।

(२) **प्रभाव** – ऐश्वर्य अथवा विभूति को प्रभाव कहते हैं । लब्धि, ऋद्धि, अनुग्रह, उपग्रह आदि की सामर्थ्य भी प्रभाव है । यह उत्तरोत्तर देवों में अधिक हैं । किन्तु कषाय की मन्दता होने से वे इनका उपयोग नहीं करते हैं ।

(३) **सुख** – इन्द्रियों द्वारा अनुभव रूप सुख (४) **द्युति** – शरीर, वस्त्र आभूषण आदि की कांति-दीप्ति- यह दोनों भी अधिक होते हैं ।

इसका कारण है ऊपर-ऊपर के स्वर्गों में शुभ पद्गलों की प्रकृष्टता होती है ।

(५) **लेश्या- विशुद्धि** – उत्तरोत्तर देवों की लेश्या क्रमशः अधिक विशुद्ध होती है ।

यद्यपि लेश्या का वर्णन सूत्र २३ में किया गया है; किन्तु यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि जिन देवों में एक समान लेश्या बताई गई हैं, उनमें भी नीचे के देवों की अपेक्षा ऊपर के देवों के परिणाम कम संक्लिष्ट होने के कारण उनकी लेश्या अपेक्षाकृत अधिक विशुद्ध होती है ।

(६) **इन्द्रियविषय (७) अवधिज्ञानविषय** – नीचे के देवों की अपेक्षा ऊपर के देवों की इन्द्रियों की ग्रहण शक्ति अधिक होती है । इसी प्रकार उनका अवधिज्ञान भी अधिक विस्तृत और अधिक विषयों को ग्रहण करने वाला तथा निर्मल होता है ।

अवधिज्ञान विषयक संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है –

पहले-दूसरे कल्प के देव ऊपर अपने विमान तक को, तिरछी दिशा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में असंख्यात लाख योजन तक और अधोदिशा में रत्नप्रभा पृथ्वी तक जानते है ।

तीसरे–चौथे स्वर्ग के देव ऊर्ध्व दिशा में अपने विमान तक, तिर्यक् दिशा में असंख्यात लाख योजन तक और अधोदिशा में शर्कराप्रभा भूमि तक देख/जान सकते है ।

इसी प्रकार पाँचवें–छठे स्वर्ग के देव बालुकाप्रभा तक, सातवें–आठवें स्वर्ग के देव पंकप्रभा पर्यन्त, नौवें से बारहवें स्वर्ग तक के देव धूम्रप्रभा तक, अधस्तन और मध्यम ग्रैवेयक के देव तमःप्रभा तक और अनुत्तर विमानवासी देव सम्पूर्ण त्रस नाड़ी के देख/जान सकते हैं ।

हीयमान बातें

निम्न चार बाते ऐसी है जो ऊपर के देवों में क्रमशः उत्तरोत्तर कम होती जाती है ।

(१) **गति** – गति का अर्थ चलना–गमन करने की क्रिया है । ऊपर के देवों में उदासीन भाव बढ़ता जाता है, अतः इनकी इधर–उधर जाने में रुचि कम होती चली जाती है ।

यद्यपि सानत्कुमार आदि देव सातवीं नरकभूमि तक जाने मे समर्थ होते हैं, किन्तु तीसरी नरकभूमि से आगे कभी कोई देव न तो गया ही है और न जायेगा ही ।

(२) **शरीर** – ऊपर–ऊपर के देवों के शरीर का आकार घटता चला जाता है । पहले–दूसरे स्वर्ग के देवों का शरीर ७ हाथ का, तीसरे चौथे का ६ हाथ का, पाँचवे छठे का ५ हाथ का, सातवें,–आठवें का ४ हाथ का ९–१०–११–१२ वें की तीन–तीन हाथ का, नवग्रैवेयकों का २ हाथ का और ५ अनुत्तर विमानवासी देवों का शरीर मात्र १ हाथ का ही होता है ।

(३) **परिग्रह** – ऊपर के स्वर्गों में परिग्रह उत्तरोत्तर कम होता चला जाता है। ऊपर–ऊपर के स्वर्गों के उत्तरोत्तोर विमान संख्या भी कम है और उन देवों का परिवार परिग्रह (आसक्ति) आदि भी अल्प होता चला गया है।

(४) **अभिमन** – ऊपर–ऊपर के देवों की यद्यपि द्युति, शक्ति आदि अधिक–अधिक है, किन्तु उन्हे अपनी विभूति, तेज, लब्धि आदि का अहंकार कम होता चला गया है । इनके अहंकार की न्यूनता का कारण कषायों की मन्दता – भावों की गंभीरता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्य ज्ञातव्य बातें –

वैमानिक देवों सम्बन्धी सूत्रोक्त वर्द्धमान – हीयमान बातों के अतिरिक्त कुछ अन्य सामान्य बातें भी जानने योग्य है ।

(१) **आहार** – यह तो निश्चित है कि प्रत्येक संसारी जीव आहार लेता है, यह बात दूसरी है कि उसके आहार ग्रहण करने की विधि में अंतर है, साथ ही समय के अन्तराल में भी अन्तर हैं ।

इस नियम के अनुसार देव भी आहार लेते हैं; लेकिन वे हम मनुष्यों के समान कवलाहार नहीं लेते, चारों ओर से योग्य पुद्गलो को ग्रहण करके आहार सम्बन्धी आवश्यकता पूरी कर लेते है ।

देव आहार कितने समय के बाद करते हैं यानी एक आहार से दूसरे आहार के बीच में कितना अन्तराल होता है, इस विषय में निश्चित नियम है –

दस हजार वर्ष की आयुवाले देव एक-के दिन बीच में छोड़कर, पल्योपम की आयु वाले देव दिनपृथक्त्व (दो दिन से लेकर ९ दिन तक का समय) से आहार लेते हैं ।

सागरों की आयु वाले देवों के लिये नियम है कि जितने सागर की उनकी आयु होती है, उतने हजार वर्ष बाद वे आहार ग्रहण करते हैं। जैसे- (३३ सागर की आयु वाले सवार्थसिद्ध विमान के देव ३३ हजार वर्ष बाद आहार ग्रहण करते हैं ।

(२) **उच्छ्वास** – श्वासोच्छ्वास जीवन का चिह्न है । इसके सद्भाव से ही प्राणी जीवित माना जाता है । सभी प्राणियों के समान देव भी श्वासोच्छ्वास लेते हैं । इनके लिए स्थिति यह है-

दस हजार वर्ष की आयु वाले देव सात स्तोक[1] में एक उच्छ्वास लेते हैं और एक पल्योपम की आयु वाले एक दिन में एक उच्छ्वास । सागरों की आयु वाले देवों के लिए यह नियम है कि जितने सागर की आयु होती है, उतने ही पक्ष (१५ दिन का समय) में वे एक उच्छ्वास लेते हैं ।

(३) **जीतव्यवहार** – देवलोक में देवों की कुछ शाश्वत परम्पराएँ हैं,

---

१. स्तोक का मान इस प्रकार है – असंख्य समय=१ १ आवलिका, संख्यात आवलिका=१ उच्छ्वास, १ श्वासोच्छ्वास=१ प्राण और ७ प्राण=१ स्तोक।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उनको जीताचार कहा जाता है । इन परम्पराओं का पालन सभी देव स्वेच्छा तथा हँसी–खुशी से करते हैं ।

तीर्थंकर भगवान के च्यवन, जन्म, दीक्षा, कैवल्य, विर्माण कल्याणक के समय आना, उत्सव मनाना आदि देवों का जीताचार है ।

(४) **उपपात** – उपपात का अर्थ उत्पन्न होना है । देवों के जन्म लेने को उपपात कहा जाता है। यहाँ संक्षेप में यह जान लेना उपयोगी है कि कौन–सा जीव किस स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है ।

सम्यग्दृष्टि निर्ग्रन्थ (साधु) सर्वार्थसिद्धपर्यन्त उत्पन्न हो सकते है । चौदहपूर्वधर संयमी मुनि पाँचवें देवलोक से नीचे के स्वर्गों में उत्पन्न नहीं होते, वे ब्रह्मलोक से सर्वार्थसिद्ध तक उत्पन्न होते हैं. जैनलिगं को धारण करने वाले (अन्तरंग से मिथ्यादृष्टि) साधु मरकर नवग्रैवेयक तक में जन्म ग्रहण कर सकते हैं, इससे ऊपर नहीं । अन्यलिंगी मिथ्यादृष्टि साधु अधिक से अधिक अच्युत स्वर्ग तक जन्म ले सकते हैं ।

(५) **अनुभाव** – इसे दूसरे शब्दों में लोकस्थिति कहा जा सकता है । परिणमन अथवा कार्य विशेष में प्रवृत्ति को अनुभाव कहा गया है ।

सामान्यतः यह शंका की जाती है कि देवलोक (स्वर्ग) (और इसी प्रकार नरक भी) (प्राचीन पौराणिक मान्यता के अनुसार पृथ्वी भी) निराधार (आधार रहित) कैसे टिकी हुई है ? वहाँ देवगण कैसे निवास करते हैं, तथा वहाँ उनके रत्नमय विमान कैसे टिके हुए हैं ?

इन समस्याओं का शास्त्रीय समाधान यह है कि लोकस्थिति ही इस प्रकार की है, अनादि काल से ऐसा ही है और अनन्तकाल तक ऐसा ही रहेगा । इसे प्राकृतिक नियम कह सकते हैं ।

इसी स्थिति को शास्त्रों में लोकानुभाव, लोकस्वभाव, जगद्धर्म, अनादि परिणाम सन्तति आदि नामों से कहा गया है ।

आगम वचन –

सोहम्मीसाणदेवाण कति लेस्साओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! एगा तेऊलेस्सा पण्णत्ता । सणंकुमार माहिंदेसु एगा पम्हलेस्सा एवं बंभलोह वि पम्हा । सेसेसु एक्का सुक्कलेस्सा अणुत्तरोववातियाणं. एक्का परमसुक्कलेस्सा ।

– जीवाभिगम, प्रतिपत्ति, ३ उ. १, सू. २१४;

– प्रज्ञापना, पद १७, लेश्याधिकार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(सौधर्म और ईशान कल्प (के देवों) के कितनी लेश्या होती है ?

गौतम! उनके केवल एक तेजोलेश्या ही होती है । सानत्कुमार और माहेन्द्रकल्प में एक पद्मलेश्या होती है। ब्रह्मलोक में भी पद्मलेश्या ही है । शेष कल्पों में केवल शुक्ललेश्या होती है । अनुत्तर विमानवासी (देवों में) परमशुक्ल लेश्या होती है ।)

कप्पेपवण्णगा बारसविहा .. -प्रज्ञापना, प्रथम पद, सू. ४९

ग्रैवेयकों से पहले के) कल्पोपपन्न देव बारह प्रकार के कहे गये हैं ।)

वैमानिक देवों की लेश्या और कल्प का सीमा निर्धारण -

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ।२३।

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ।२४।

(आदि के) दो पीत (तेजो) लेश्या तथा (उनके आगे के) तीन में पद्मलेश्या और (आगे के) शेष (समस्त) कल्पों में शुक्ललेश्या (वाले देव) है ।

ग्रैवेयकों से पहले-पहले (के स्वर्गों को) कल्प कहा जाता है ।

विवेचन - जैसा कि आगमोक्त उद्धरण से स्पष्ट है - पहले-दूसरे स्वर्ग के देवों की तेजोलेश्या है; तीसरे, चौथे, पांचवें स्वर्ग के देवों की पद्मलेश्या है और शेष छठे से आगे के स्वर्गों के देवों की शुक्लेश्या है तथा अनुत्तर विमान वाले देवों की परम शुक्ललेश्या है ।

विशेष - लेश्याओं के स्वरूप का विवेचन और कल्प का विशद विवेचन इसा ग्रन्थ के पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है ।

आगम वचन -

बंभलोए कप्पे... लोगंतिआ देवा पण्णत्ता...

- स्थानांग, स्थान ८, सूत्र ६२३

(ब्रह्मलोक कल्प के अन्त में रहने वाले लोकान्तिक देव कहलाते है।)

सारस्सयमाइच्चा वण्हीवरुणा य गद्दतोया य ।

तुसिया अव्वाबाहा अग्गिच्चा चेव रिठ्टाए ।

- भगवती, शतक ६, उ. ५; स्थानांग सू० ६८४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सारस्वत, आदित्य, वन्हि, वरूण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, आग्नेय और रिष्ट यह सब (९) लोकान्तिक देव हैं ।

लोकान्तिक देव वर्णन –

ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः । २५।

सारस्वतादित्यवन्हिअरुणगर्दतोयतुषियाव्याबाधमरूतोऽ-

रिष्टाश्च । २६।

ब्रह्मलोक जिन देवों का आलय-स्थान है, वे लोकान्तिक देव कहलाते हैं ।

लोकान्तिक देव यह है – (१) सारस्वत, (२) आदित्य, (३) वन्हि, (४) अरूण, (५) गर्दतोय, (६) तुषित, (७) अव्याबाध, (८) मरुत और (९) अरिष्ट ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र २५ और २६ में लोकान्तिक देवों का आलयस्थान और उनके ९ प्रकार बताये गये हैं ।

यहाँ जिज्ञासु के मस्तिष्क में एक जिज्ञासा उठती है कि जब लोकान्तिक देव पाँचवे ब्रह्मलोक कल्प (स्वर्ग) में ही रहते हैं तो उनके लिए अलग से यह सूत्र क्यों रचे गये ? फिर देवों के जो १९८ भेद (९९ पर्याप्त और ९९ अपर्याप्त) बताये गये हैं, वहाँ भी १२ कल्पोपन्न देवों के अलावा ९ प्रकार के लोकान्तिक देव अलग से गिने गये हैं । तो इस पृथकता का क्या कारण है ?

समाधान यह है कि पृथकता का कारण है, लोकान्तिक देवों की विशिष्टताएँ । पाँचवें कल्प के आलय में रहते हुए भी वे ब्रह्मलोक कल्प के अन्य देवों से विशिष्ट हैं ।

उनकी विशिष्टता दो प्रकार की है – प्रथम निवास स्थान की और दूसरी अनुभाव की ।

निवासस्थान – मध्यलोक के असंख्यात द्वीप-समुद्रों में एक अरूणवर नाम का द्वीप है । वहाँ से अत्यन्त सघन अन्धकार पटल निकलता है । वह ऊपर उठता हुआ पाँचवें देवलोक के नीचे तक पहुंचकर आठ भागों में विभाजित हो गया है – चार दिशाओं और चार विदिशाओं में । यह आठ भाग कृष्णराजियाँ कही गई है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह कृष्णराजियाँ ब्रह्मलोक कल्प के तीसरे अरिष्ट नाम के प्रतर के पास दक्षिण दिशा में त्रसनाड़ी में अवस्थित हैं । इसका संस्थान (आकर) कुक्कुट पिंजर (मुर्गे के पिंजड़े) के समान है ।

वहाँ नौ प्रकार के लोकान्तिक देवों के विमान है । आठ विमान आठ कृष्णराजियों में और एक उनके मध्य में ।

इन विमानों के नाम हैं - (१) अर्ची (२) अर्चिमाल (३) वैरोचन (४) प्रभंकर (५) चन्द्राभ (६) सूर्याभ (७) शुक्राभ (८) सुप्रतिष्ट और (९) रिष्टाभ।

इन विमानों में रहने वाले देवों के क्रमशः नाम हैं - (१) सारस्वत (२) आदित्य (३) वन्हि (४) वरुण (अरूण) (५) गर्दतोय (६) तुषित (७) अव्याबाध (८) आग्नेय और (९) अरिष्ट

इस प्रकार इनका निवास ब्रह्मलोक कल्प के देवों से विशिष्ट है ।

अनुभाव विशिष्टता- दूसरी विशिष्टता है अनुभाव की । यह देव आमोद-प्रमोद के लिए भी नहीं जाते[1]। इन देवों में कल्प व्यवस्था नहीं है। सभी देव स्वतन्त्र हैं ।

यह देव विषय वासना से प्रायः मुक्त रहते हैं अतः देवर्षि भी कहलाते हैं।

लोकान्तिक अभिधा का हेतु - लोक का एक अर्थ जन्म-मरण रूप संसार है । यह देव मनुष्य जन्म प्राप्त कर उसी भव से मुक्त हो जाते हैं । अतः इन देवों की लोकान्तिक अभिधा सार्थक हैं[2]। लोकान्तिक विमानों में रहने के कारण भी ये लोकान्तिक कहे जाते हैं ।

आगम वचन -

विजय वेजयन्त जयन्त अपराजिय देवत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता पण्णत्ता ?

---

१. स्थानांग (उ. १) के अनुसार ये देव सिर्फ तीर्थंकर भगवान के जन्म, दीक्षा एव केवलज्ञानोत्पत्ति प्रसंग (कल्याणक) पर उपस्थित होते हैं।
कल्पसूत्र के अनुसार - 'जब तीर्थंकर देव दीक्षा लेने का विचार करते हैं, तब ये देव अपने जीताचार के अनुसार आकर उनसे धर्मतीर्थ प्रवर्तन का प्रार्थना करते हैं ।

२. आन्तरभवे मुक्ति गमनादिति लोकान्तिका : । विस्तार के लिए देखें अभिधान राजेन्द्रकोष भाग ६, पृष्ठ ७१२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सत्थि, अट्ठ वा सोलस वा इच्चाइ । – प्रज्ञापना, पद १५, इन्द्रिय पद

(विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित के देवपने में कितनी द्रव्येन्द्रियां बीत जाती है ?

गौतम! किसी के होती हैं और किसी के नहीं भी होतीं । जिनके होती हैं उनके आठ या सोलह होती हैं ।

(विशेष – एक जन्म की आठ द्रव्येन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, २ नाक, २ कान और २ आंख) मानी गई हैं अत एव दो जन्मों की सोलह द्रव्येन्द्रिया हुईं ।)

अनुत्तर विमानवासी देवों की विशिष्टता –

विजयादिषु द्विचरमाः । २७।

(विजय आदि विमानों के देव दो बार मनुष्य जन्म धारण करते हैं।)

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में विजय आदि विमानवासी देवों की मुक्ति के बारे में संकेत किया गया है । उन्हें द्विचरम बताया गया है । इसका अभिप्राय है कि यह देव अधिक से अधिक दो बार मनुष्य जन्म धारण करेंगे और फिर मुक्त हो जायेंगे ।

जन्म धारण का क्रम इस प्रकार है – विजय आदि विमानसे च्यवकर मानव-पर्याय धारण करते हैं, वहां तपस्या आदि करके पुनः विजय आदि विमान में उपपात और फिर मनुष्य जन्म धारण करके तप-संयम साधना तथा उसी जन्म में मुक्ति की प्राप्ति ।

किन्तु यह उत्कृष्ट स्थिति है, अर्थात् वे देव अधिक से अधिक दो बार मनुष्य बनेगें और कोई-कोई तो एक बार मनुष्य भव पाकर उसी से मुक्त हो जाते हैं ।

यह अधिक से अधिक दो बार मनुष्य जन्म का नियम भी विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमानों के लिए ही है, सर्वार्थसिद्ध विमान के लिए तो स्पष्ट नियम है कि ये देव एकभवावतारी होते हैं यानी सर्वार्थसिद्ध से च्यवकर मनुष्य जन्म और उसी भव से मुक्ति ।

शेष देवों के लिए मुक्ति प्राप्ति का कोई स्पष्ट नियम नहीं है कि वे कितने भव में मुक्ति प्राप्त करेंगे । हां, सम्यक्त्व की अपेक्षा इतना निश्चित है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि तीन भव में मुक्ति प्राप्त कर लेता है तथा क्षायो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पशमिक सम्यग्दृष्टि (यदि सम्यक्त्व न छूटे तो) सात-आठ भव में मुक्ति प्राप्त कर लेता है ।

आगम वचन -

उववाइया मणुआ (सेसा) तिरिक्खजोणिया

- दशवैकालिक, अ. ४, षट्कायाधिकार

(औपपातिक (देव और नारक) तथा मनुष्य के अतिरिक्त सभी (संसारी) जीव तिर्यचयौनिक हैं ।)

तिर्यचयौनिक जीवों का लक्षण -

औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषस्तिर्यग्योनय : ।२८।

(उपपात जन्म वाले और मनुष्यों के अतिरिक्त सभी जीव तिर्यच योनि वाले हैं ।

विवेचन - इस सूत्र में तिर्यचयौनिक जीवों का लक्षण जन्म की अपेक्षा से दिया गया है । कहा गया है कि औपपातिक (जिनका जन्म उपपात से हो - ऐसे देव अथवा नारक जीव होते हैं) तथा मनुष्यों (जिनके मनुष्य आयु और मनुष्यगतिनामकर्म का उदय हो) के अतिरिक्त सभी जीव तिर्यचयौनिक हैं ।

यहाँ यह सामान्य जिज्ञासा हो सकती है कि देवों का वर्णन करते-करते अचानक ही ऐसी क्या आवश्यकता आ पडी कि आचार्य ने तिर्यच योनि का लक्षण बताने वाला सूत्र रच दिया ।

इसका समाधान यह है कि तीसरे और चौथे अध्याय में लोक वर्णन हुआ है । इसमें तीसरे अध्याय में अधोलोक में नारक जीवों का, मध्यलोक में मनुष्य क्षेत्र का - भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क देवों का और ऊर्ध्वलोक में वैमानिक देवों का वर्णन किया गया है ।

इस प्रकार नारक, मनुष्य और देव- इन तीन प्रकार के जीवों का गतियों का लोक के सन्दर्भ में वर्णन हुआ किन्तु तिर्य गति - इन तीनों गतियों की अपेक्षा अधिक अधिक विस्तृत हैं, इसमें जीव राशि भी अत्यधिक हैं, व्यवहार-अव्यवहार जीव राशि, निगोद आदि सभी तिर्यचयौनिक हैं, एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक इसका विस्तार है, सूक्ष्म-स्थूल, त्रसबादर आदि अनेक प्रकार के जीव तिर्यचयौनिक हैं, इनमें से दो इन्द्रिय आदि त्रस तो त्रस नाड़ी में ही हैं, लेकनि स्थावर तो त्रस नाड़ी में भी हैं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और सूक्ष्म स्थावर जीव तो सम्पूर्ण लोक में भरे पड़े हैं, इसीलिए यहाँ तिर्यचयौनिक जीवों का यह विशद लक्षण इस सूत्र में बताया गया है ।

आगम वचन -

असुरकुमाराणं भंते ! देवाणं केवइयं कालट्ठिइ पण्णत्ता ?
गोयमा ! उक्कोसेणं साइरेगं सागरोवमं ...
नागकुमाराणं... ?
उक्कोसेणं दो पलिओवमाइं देसूणाइं...।
सुपण्णकुमाराणं ... ?
उक्कोसेणं दो पलिओवमाइं देसूणाइं ।
एवं एएणं अभिलावेणं.. जाव थणियकुमाराणं जहा णागकुमाराणं.

– प्रज्ञापना, स्थितिपद, भवनपत्याधिकार

(भगवन् ! असुरकुमारों की आयु कितनी होती है ?

गौतम ! उनकी आयु अधिक से अधिक कुछ अधिक एक सागरोपम की होती है ।

नागकुमारों की कितनी आयु होती है ।

अधिक से अधिक कुछ कम दो पल्य की होती है ।

सुपर्णकुमारों की आयु अधिक से अधिक कुछ कम दो पल्य की होती है ।

इसी प्रकार से स्तनितकुमारों तक की आयु नागकुमारों की आयु के समान होती है ।

भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु -

स्थिति : । २९।
भवनेषु दक्षिणआर्धपतीनां पल्योपमर्ध्यम् ।३०।
शेषाणां पादोने ।३१।
असुरेन्द्रयोः सागरोपमधकिं ।३२।

आयु का वर्णन प्रारम्भ किया जाता है ।

भवनवासी (देवों के) दक्षिणार्ध के इन्द्रों की आयु १. १/२ (डेढ़) पल्योपम होती है ।

शेष इन्द्रों की आयु (पाद+ऊन=चतुर्थभाग कम) १ ।।। (पौने दो) पल्योपम की है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दो असुरेन्द्रों की आयु क्रमशः एक सागरोपम और एक सागरोपम से कुछ अधिक होती है ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र २९ में स्थिति (आयु) बताने का सूचन किया गया है, तथा सूत्र ३०,३१,३२ में भवनपति देवों (इन्दों) की उत्कृष्ट आयु बताई गई हैं ।

भवनवासी देवों के असुरकुमार आदि दस भेद हैं और प्रत्येक के दक्षिणार्ध तथा उत्तरार्ध के दो-दो इन्द्र है ।

इनमें से दक्षिणार्द्ध के असुरेन्द्र चमरेन्द्र की आयु एक सागरोपम है और उत्तरार्ध के असुरेन्द्र बलीन्द्र की आयु एक सागरोपम से कुछ अधिक बताई गई है ।

शेष नागकुमार आदि नौ प्रकार के भवनवासी देवों के दक्षिणार्ध के इन्द्रों की आयु १॥ (डेढ) पल्योपम और उत्तरार्ध के इन्द्रों की आयु १॥। (पौने दो) पल्योपम कही गई है ।

विशेष – इनकी जघन्य आयु इसी अध्ययन के सूत्र ४५ में बताई गई है ।

आगम वचन-

दो चेव सागराइं, उक्कोसेण वियाहिया ।
सोहम्मम्मि जहन्नेणं एगं च पलिओवमं ।२२०।
अजहन्नमणुक्कोसा, तेत्तीसं सागरोवमा ।
महाविमाण सव्वट्ठे ठिई एसा वियाहिया ।२४४।

उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन ३६

(सौधर्मकल्प में जघन्य आयु एक पल्य तथा उत्कृष्ट आयु २ सागर की है । ईशानकल्प में जघन्य आयु एक पल्य से कुछ अधिक और उत्कृष्ट आयु दो सागर से कुछ अधिक है ।

सर्वार्थसिद्ध नामक महाविमान के देवों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु ३३ सागर की होती है । इस प्रकार वैमानिक देवों की आयु (स्थिति) का वर्णन किया गया ।)

वैमानिक देवों की आयु

सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ।३३।
सागरोपमे ।३४।
अधिकेच ।३५।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सप्त सानत्कुमारे । ३६।

विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि तु ।३७।

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च। ३८।

अपरा पल्योपमधिकं च । ।३९।

सागरोपमे ।४०।

अधिकेच ।४१।

परत : परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ।४२।

(सौधर्म आदि देवलोकों (के देवों) की आयु क्रमशः बताई जाती है।

(१) सौधर्म (स्वर्ग) में दो सागरोपम की आयुस्थिति है ।

(२) ऐशान में दो सागरोपम से कुछ अधिक (देवों की) आयु है।

(३) सानत्कुमार (स्वर्ग) के (देवों) की आयु सात सागरोपम है ।

(४) माहेन्द्र (स्वर्ग) से आरण–अच्युत (स्वर्ग) तक क्रमशः कुछ अधिक सात सागरोंपम ।

(५) तीन, अधिक सात सागरोपम (३+७=१० सागर)

(६) सात, अधिक सात सागरोपम (७+७=१४ सागर)

(७) दस, अधिक सात सागरोपम (१०+७=१७ सागर)

(८) ग्यारह, अधिक सात सागरोपम (११+७=१८ सागर)

(९–१०) तेरह अधिक सात सागरोपम (१३+७=२० सागर)

(११–१२) पन्द्रह, अधिक सात सागरोपम (१५+७=२२ सागर) (देवों की) आयु है।

आरण–अच्युत (स्वर्ग) से ऊपर नौग्रैवेयक, चार विजय आदि (अनुत्तर विमान) और सर्वार्थसिद्ध (महाविमान) के देवों की आयु अनुक्रम से एक–एक सागरोपम अधिक कही गई है ।

जघन्य (अपरा का वाच्यार्थ) आयु पल्योपम और कुछ अधिक पल्योपम है ।

दो सागरोपम की आयु है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कुछ अधिक (साधिक) दो सागरोपम की आयु है ।

पहले-पहले (स्वर्ग एवं विमानों) की उत्कृष्ट आयु आगे-आगे (स्वर्ग और विमानों) की जघन्य आयु स्थिति हैं ।)

विवेचन – सभी (बारह) कल्पों और ९ ग्रैवेयक तथा ५ अनुत्तर विमानों के देवों की जो उत्कृष्ट और जघन्य आयु आगमोक्त उद्धरण में बताई गई है, वही इन सूत्रों में वर्णित है ।

सूत्रकार ने सूत्र ३३ से ३८ तक उत्कृष्ट आयु स्थिति का वर्णन किया है और ३९ से ४२ तक में जघन्य आयु स्थिति का ।

सूत्र ३७ में सूत्रकार ने लाघव की दृष्टि से ७ सागरोपम को आधार मानकर आगे के देवों की आयु स्थिति का वर्णन किया है ।

सात सागरोपम की (उत्कृष्ट) आयु सानत्कुमार स्वर्ग के देवों की होती है। उनमें विशेष (कुछ) जोड़कर साधिक सात सागरोपम की आयु माहेन्द्र देवलोक के देवों की होती है। सात सागरोपम में तीन सागरोपम मिलाकर दस सागरोपम की उत्कृष्ट आयु ब्रह्मलोक के देवों की होती है।

इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए । यह सूत्रकार का सूत्ररचना कौशल है । आगमोक्त उद्धरण में सब देवों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु सरल एवं स्पष्ट शब्दों में बता दी गई है ।

आगम वचन –

सागरोवममेगं तु, उक्कोसेण वियाहिया ।
पढमाए जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया । १६०।
तिण्णेव सागरा उ. उक्कोसेण वियाहिया ।
दोच्चाए जहन्नेणं, एगं तु सागरोवमं ।१६१ ।

–उत्तरा ३६/१६०/-६१

एवं जा जा पुव्वस्स उक्कोसठिइ अत्थि ता ता परओ परओ जहण्णठिई णेअव्वा ।

(प्रथम नरकभूमि (के नारकियों) की जघन्य आयु दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु एक सागर की होती है।

दूसरे नरक (के नारकियों)की जघन्य आयु एक सागर और उत्कृष्ट आयु तीन सागर है ।

इसी प्रकार पूर्व-पूर्व के नरकों (के नारिकयों) की जो उत्कृष्ट

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति-आयु है वह आगे-आगे के नरकों (के नारकियों) की जघन्य आयु है।)

भोमेज्जाणं जहण्णाणं दसवाससहस्सिया । -उत्तरा० ३६/१७

(भवनवासी देवों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष होती है।)

वाणमंतराण भंते ! देवाणं केवइयं कालठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेण पलिओवमं ।

– प्रज्ञापना, स्थिति पद

(भगवन ! व्यन्तर देवों की आयु कितनी होती है ?)

गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट एक पल्य होती है।)

नारकों तथा भवनवासी और व्यन्तर देवों की आयु-

नारकाणां च द्वितीयादिषु ।४३।

दशवर्षसहस्त्राणि प्रथमायाम् ।४४।

भवनेषु च । ४५।

व्यन्तराणां च ।४६।

परा पल्योपमम् ।४७।

दूसरी आदि नरकभूमियों में (नारकों की) आयु इसी प्रकार ('च' शब्द से द्योतित) है । (अर्थात् जिस प्रकार सूत्र ४२ में वैमानिक देवों के बारे में कही गई है कि पूर्व-पूर्व के देवों की उत्कृष्ट स्थिति ही आगे-आगे के देवों की जघन्य स्थिति है ।)

प्रथम नरकभूमि में नारकियों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष है।

और भवनवासी देवों की जघन्य आयु भी इतनी (दस हजार वर्ष) ही है ।

तथा व्यंतर देवों की भी जघन्य आयु दस हजार वर्ष ही कही गई है । (व्यन्तर देवों की) उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम है ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्रों में नारकी जीवों, भवनवासी देवों तथा व्यंतर निकाय के देवों की जघन्य आयु बताई गई है ।

नारकी जीवों की उत्कृष्ट आयु अध्याय ३, सूत्र ६ मे बताई जा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चुकी है । अतः यहाँ पुनरावृत्ति नहीं की गई है। यहाँ तो पहली नरकभूमि के नारकियों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष बताकर यह सूचन कर दिया गया है कि दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे नरक के नारकियों की जो उत्कृष्ट आयु है, वही क्रमशः तीसरे, चौथे, पाँचवे, छठवें और सातवें नरक की जघन्य आयु है ।

इसी प्रकार भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु स्थिति इसी अध्याय के सूत्र ३०,३१,३२ में बताई गई जा चुकी है । प्रस्तुत सूत्र ४५ में तो उनकी जघन्य आयु दस हजार वर्ष की होती है - यह सूचन किया गया है ।

किन्तु सूत्र ४६ में व्यंतर देवों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष होती है यह बताकर उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम प्रमाण है, यह भी बता दिया गया है । यानी इन दोनों सूत्रों में व्यंतर देवों की जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकार की आयु स्थिति बता दी गई है ।

आगम वचन-

जोईसियाणं भंते! देवाणं ?...

जहण्णेणं पलिओवम् अट्ठ भागो, उक्कोसेणं पलिओवमं वास सतसहस्समब्भहियं। - प्रज्ञापना, स्थिति पद सू. ३९५

(ज्योतिष्क देवों की आयु जघन्य स्थिति पल्योपम का आठवाँ भाग है और उत्कृष्ट स्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम है ।)

गह विमाणे देवाणं पुच्छा -

गोयमा ! जहण्णेणं चउभाग पलिओवमं, उक्कासेणं पलिओवमं।

- प्रज्ञापना, स्थिति पद, सू. ४०१

(भगवन् ! ग्रह विमान में देवों की स्थिति कितनी है ?

जघन्य चतुर्थभाग १/४ पल्योपम और उत्कृष्ट एक पल्योपम।)

णक्खत्तविमाणे देवाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णं चउभाग पलिओवं उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं।

(भगवन् ! नक्षत्र विमान में देवों की स्थिति कितनी होती है ?

गौतम ! जघन्य चतुर्थभाग १/४ पल्योपम और उत्कृष्ट १/२ आधा पल्योपम ।)

तारा विमाणे देवाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवमं अंतोमुहूत्तूणं, उक्कोसेणं. चऊभाग पलिओवमं अंतोमुहूत्तूणं । - प्रज्ञापना, स्थिति पद, सूत्र ४०५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(भगवन् ! तारा विमानों के देवों की स्थिति कितनी है ?

गौतम ! जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त कम पल्योपम का आठवाँ भाग है और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त कम पल्योपम का चतुर्थभाग (१/४) भाग है।)

ज्योतिष्क देवों की आयु (स्थिति)

ज्योतिष्काणामधकिम् । ४८।

ग्रहाणामेकम् ।४९।

नक्षत्राणामर्धम् ।५०।

तारकाणां चतुर्भागः ।५१।

जधन्यात्वष्टभागः । ५२।

चतुर्भागः शेषाणां । ५३।

ज्योतिष्क देव (सूर्य-चन्द्र) की उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्योपम है ।

ग्रहों (के देवों) की उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम होती है ।

नक्षत्रों (के देवों) की उत्कृष्ट आयु आधा (१/२) पल्योपम है।

तारों (के देवों) की उत्कृष्ट आयु चौथाई (१/४) पल्योपम है ।

जघन्य स्थिति (सूर्य चन्द्र की) पल्योपम का आठवाँ भाग (१/८) है ।

तारों को छोड़कर शेष ज्योतिष्क निकाय के देवों (ग्रहों और नक्षत्रों) की जघन्य आयु पल्योपम का चौथाई भाग है ।

विवेचन - आगमोक्त उद्धरण में जो ज्योतिष्क देवों की स्थिति पल्योपम से एक लाख वर्ष अधिक बताई है तथा सूत्र में साधिक (कुछ अधिक) पल्योपम कही है, उसका स्पष्टीकरण यह है -

चन्द्रमा की स्थिति एक लाख वर्ष अधिक और सूर्य की एक हजार वर्ष अधिक होती है। ज्योतिष्क देवियों की स्थिति उत्कृष्ट आधा पल्य और और जघन्य पचास हजार वर्ष होती है ।

प्रज्ञापना वृत्ति पत्राकं १७५ में यह उल्लेख प्राप्त होता है-

चन्द्र विमान में चन्द्रमा उत्पन्न होता है, इसलिए वह चन्द्रविमान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहलाता है । चन्द्रविमान में चन्द्रमा के अतिरिक्त सभी उसके परिवारभूत देव होते हैं । उन परिवारभूत देवों की जघन्यस्थिति पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट किन्ही इन्द्र, सामानिक आदि की लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम ह। चन्द्रदेव की उत्कृष्ट स्थिति तो मूल पाठ में एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम बताई गई है ही । इसी प्रकार सूर्यादि के विमानों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए ।

विशेष – दिगम्बर आम्नय के पाठ में लोकान्तिक देवों की स्थिति के विषय में अलग से यह सूत्र **लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषा** रचकर उनकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति आठ सागरोपम की बताई गई ह।

दिगम्बर आम्नाय का यह सूत्र स्थानांग स्थान ८, सू. ६२३ और व्याख्याप्रज्ञप्ति श. ६, उ. ५ के निम्न पाठ का अनुसरण करता है **लोगंतिकदेवाणं जहण्णमणुवकोसेणं अट्ठसागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता।**

(लोकान्तिक देवों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु आठ सागरोपम है ।)

विशेष शब्दों का स्पष्टीकरण –

प्रस्तुत ग्रन्थ के तीसरे और चौथे अध्याय में कुछ विशेष शब्दों का उल्लेख हुआ है । इनमें से प्रमुख हैं- योजन, रज्जु और पल्योपम, सागरोपम; इनमें से योजन और रज्जु क्षेत्र माप से सम्बन्धित है तथा पल्योपम और सागरोपम काल माप से ।

रज्जु का उल्लेख लोक की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाइ आदि में तथा योजन का उल्लेख मध्यलोक, द्वीप-समुद्र, घनवात आदि, नरकों के प्रस्तटों, आंतरों तथा एक नरक से दूसरी नरक की दूरी, इसी प्रकार स्वर्गों की परास्परिक दूरी आदि बताने के लिए हुआ है ।

पल्योपम और सागरोपम द्वारा मनुष्य तिर्यंच, देव और नारकियों की कालस्थित (आयु) बताई गई है ।

काल के दो भेद है – (१) गणनाकाल और (२) उपमाकाल । जहाँ तक संख्याओं में गिनती की जा सके, वह गणना काल कहलाता है और जहाँ गणना सम्भव न हो उस काल का निर्देश उपमा काल से किया गया है ।

पल्योपम और सागरोपम उपमा काल के भेद हैं । इसीलिए इनके नाम के साथ उपमा शब्द लगा है- यथा-पल्य+उपम=पल्योपम और सागर+उपम=सागरोपम (सागर के बराबर)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पल्योपम और सागरोपम का प्रमाण भगवती सूत्र, शतक ६, उद्देशक ७, सूत्र ६–८ में बताया गया है । उसके आधार पर यहाँ परिचय दिया जा रहा है ।

पल्योपम का माप–

परमाणु[1] = पुद्गल का अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म अविभागी अंश

अनन्त सूक्ष्म परमाणु	=	एक व्यवहार परमाणु[2]
अनन्त व्यवहार परमाणु	=	उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका
८ उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका	=	१ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका
८ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका	=	१ ऊर्ध्वरेणु
८ ऊर्ध्वरेण	=	१ त्रसरेणु
८ त्रसरेणु	=	१ रथरेणु
८ रथरेणु	=	उत्तरकुरू–देवकुरु के मनुष्यों का १ बालाग्र
देवकुरु–उत्तरकुरु के मनुष्यों का ८ बालाग्र	=	हरिवर्ष रम्यकवर्ष के मनुष्यों १ बालाग्र
हरिवर्ष–रम्यक्वर्ष के मनुष्यों का ८ बालाग्र	=	हैमवत–हैरण्यवत के मनुष्यों का १ बालाग्र
हैमवत हैरण्यवत के मनुष्यों का ८ बालाग्र	=	पूर्व–पश्चिम महाविदेह के मनुष्यों का बालाग्र
पूर्व पश्चिम महाविदेह के मनुष्यों का ८ बालाग्र	=	भरत–ऐरवत वर्ष के मनुष्यों का १ बालाग्र
भरत–ऐरवत के मनुष्यों का ८ बालाग्र	=	२ लिक्षा (लीख)

---

१. अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र से भी जिसका छेदन–भेदन न हो सके, ऐसे अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गलपरमाणु को जैनदर्शन में सभी प्रमाणों का आदि प्रमाण माना गया है ।

२. यह भी अत्यन्त तीव्र शस्त्रों, तरंगों, किरणों आदि से नही छेदा जा सकता ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

८ लिक्षा	=	१ यूका
८ यूका	=	१ यवमध्य
८ यवमध्य	=	१ अंगुल (उत्सेधांगुल)

इस अंगुल प्रमाण से –

६ अंगुल	=	१ पाद
२ पाद या १२ अंगुल	=	१ वेंत (वितश्ति)
२ वेंत या २४ अंगुल	=	१ हाथ (रत्नि)
२ हाथ या ४८ अंगुल	=	१ कुक्षि
२ कुक्षि या ९६ अंगुल	=	१ दण्ड (धनुष्य, यूप, नालिका, अक्ष, मूसल)
२००० धनुष्य (दण्ड)	=	१ गाऊ (गव्यूति)
४ गाऊ (गव्यूति)	=	१ योजन (उत्सेध योजन)

इस योजन प्रमाण से एक योजन लम्बा, चौड़ा, गहरा वृत्ताकार (जिसकी परिधि ३ योजन से कुछ अधिक होगी) (पल्या) गड्ढा खोदा जाय उसे दो दिन, तीन दिन, उत्कृष्ट सात दिन के उगे हुएं क्रोडों बालाग्रों के असंख्य छोटे-छोटे खण्ड करके ठसाठस ऐसा भरा जाय जिससे वे बालाग्र न अग्नि से जले, ना वायु से उड़ें, न पानी से गलें, न सड़ें, न नष्ट हों ।

उस गड्ढे (पल्य) में से सौ-सौ- वर्ष बाद एक बालाग्र निकाला जाय। इस प्रकार करते-करते जब वह पल्य (गड्ढा) खाली हो जाय, उसमें एक भी बालाग्र न रहे तो जितने समय में वह पल्य खाली हो, उतने समय को एक सूक्ष्म अद्धा पल्योपम[1] कहा गया है ।

सागर का प्रमाण

उपरोक्त प्रमाण वाले दस क्रोड़ा-क्रोड़ी (करोड़ x करोड़) पल्योपम प्रमाण काल को एक सूक्ष्म अद्धा सागरोपम बताया गया है ।

---

१. पल्य और सागर की गणना आधुनिक युग में प्रचलित गणित परिपाटी के अनुसार भी करने का प्रयास किया गया है । इसका विस्तृत विवरण 'विश्व प्रहेलिका ग्रन्थ' में प्राप्त है । संक्षिप्त सार (गणितानुयोग, प्रस्तावना- प्रो. एल. सी. जैन, पृष्ठ ६४ के अनुसार) यहां दिया जा रहा है --

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

योजन का प्रमाण

उपरोक्त तालिका में जो योजन का प्रमाण दिया गया है, वह उत्सेधांगुल के अनुसार है । किन्तु शाश्वत वस्तुओं; जैसे नरक-पृथ्वी के कांडों, देव-विमानों, लोक की, मध्य लोक की लम्बाई-चौड़ाई आदि का माप प्रमाणांगुल से किया जाता है । यह प्रमाणांगुल का माप इस प्रकार निकाला जाता है-

१००० उत्सेधांगुल=१ प्रमाणांगुल ।

इसका सीधा सा अभिप्राय यह है कि प्रमाण योजन, उत्सेधयोजन का हजार गुना होता है - १ प्रमाण योजन =१००० उत्सेध योजन

उत्सेध योजन का माप आधुनिक गणित प्रणाली १००/११ अथवा ९, १/११ मील होता है और इस गणित के अनुसार प्रमाण योजन का माप ९०९०.९ मील होता है ।

रज्जु का माप

रज्जु का माप कितना है, यानी एक रज्जु कितना लम्बा है, इसके लिए आगमों में असंख्यात कोटा-कोटी योजन शब्द आया है यानी असंख्यात कोटा-कोटी(करोड़xकरोड़) योजन (प्रमाण योजन) विस्तृत एक रज्जु होता है।

रज्जु के मान के विषय में जैनतत्वप्रकाश (स्व. पूज्य अमोलक ऋषिजी म. द्वारा लिखित) में एक दृष्टान्त दिया गया है । वह इस प्रकार है-

---

पल्या तीन प्रकार के होते हैं - (१) व्यवहारपल्य, (२) उद्धारपल्य, (३) अद्धापल्य ।

व्यवहार पल्य - ४.१३ x $(१०)^{४६}$ वर्ष । इसे अविभागी समयों में बदला जा सकता है ।

उद्धारपल्य - ४.१३ x $(१०)^{४४}$ x जघन्ययुक्त असंख्यात x $१०^{७}$ वर्ष । यहाँ जघन्ययुक्त असंख्यात का मान गणना विधि से प्राप्त हो जाता है ।

अद्धापल्य - ४.१३ x $(१०)^{४४}$ x (जघन्ययुक्त असंख्यात) वर्ष।

यहाँ अज्ञात मध्यम संख्यात की अनिर्धृतता को छोड़कर इन सभी को समय राशि में बदला जा सकता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जब उपरोक्त को $(१०)^{१४}$ से गुणित किया जाता है तो संवादी सागर का मान प्राप्त हो जाता है ।

३ करोड़, ८१ लाख, २७ हजार, ९७० मन वजन का एक भार होता है । ऐसे १००० भार अर्थात् ३८ अरब, १२ करोड़, ७९ लाख, ७० हजार मन वजन का लोहे का गोला ६ मास, ६ दिन, ६ प्रहर और ६ घड़ी में जितनी दूरी तय करे, उतनी लम्बी दूर एक रज्जु की होती है। ऐसे १४ रज्जु प्रमाण यह लोक ऊपर से नीचे पर्यन्त है ।

इस कथन को आधार मानकर वैज्ञानिकों ने रज्जु का प्रमाण निकालने का प्रयास किया है ।

वैज्ञानिक मान्यता है कि लोहे के गोले की ऊपर से नीचे की ओर गति ७८५५२ मील प्रति घण्टा है । तथा ६ मास, ६ घण्टे, ६ दिन, ६ प्रहर और ६ घड़ी के ४४८४ घण्टे और २४ मिनट होते हैं । इतने समय में वह लोहे का गोला ३५ करोड, २२ लाख, ५८ हजार ५८९ मील की दूर तय कर लेगा और यह एक रज्जु का प्रमाण होगा ।

इसी प्रकार के दूसरे दृष्टान्त (जिसमें ६ देव तथा बलिपिण्ड लिए छह देवियाँ बताई गई हैं) के आधार पर वाम ग्लास नेप्पिन ने अपनी पुस्तक डेर जैनिस्मस में रज्जु का प्रमाण $१.३०८ (१०)^{२१}$ निकाला है, जो एक देव २०५७१५२ योजन प्रतिक्षण चलते हुए छह महिने में तय करता है ।

इन दोनों ही दृष्टान्तों से लोक के असीम विस्तार का अनुमान किया जा सकता है ।

* * *

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पांचवां अध्याय

अजीव तत्त्व वर्णन

[NON-LIVING ELEMENT (SUBSTANCE)]

उपोद्घात–

प्रथम अध्याय के सूत्र ४ में सात तत्त्व बताये हैं । इनमें से प्रथम तत्त्व है जीव । जीव का वर्णन दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय में हुआ ह। इन अध्यायों में जीव के भाव, चारों गतियाँ आदि सभी बातों का सर्वांगपूर्ण विवेचन हो चुका है ।

अब क्रम प्राप्त तत्त्व हैं अजीव । प्रस्तुत अध्याय में अजीव तत्व का वर्णन किया जा रहा है ।

अजीव का अर्थ है जिसमें जीव न हो । जीव का लक्षण है चेतना उपयोग । इस अपेक्षा से अजीव का लक्षण बताया जा सकता है – उपयोग रहितता । जिसमें उपयोग (ज्ञान–दर्शन) नहो, वह अजीव है । यानी अचेतन द्रव्य, जिसमें चेतना का सद्भाव न हो ।

आगम वचन –

चत्तारि अत्थिकाया अजीवकाया पण्णत्ता, तं जहा–

धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए।

– स्थानांग, स्थान ४, उद्दे. १ सू. २५१

– भगवती शकत ७, उद्दे. १८, सू. ३०५

(चार अजीव अस्तिकाय है – (१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय (३) आकाशास्तिकाय (४) पुद्गलास्तिकाय ।

अजीवकाय के भेद –

अजीवकाया धर्माऽधर्माकाशपुद्गलाः ।१।

अजीवकाय के चार भेद हैं – (१) धर्मास्तिकाय (२) अर्धास्तिकाय (३) आकाशास्तिकाय और (४) पुदगलास्थितकाय ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में अजीवकाय के चार भेद बताये गये हैं ।

अजीवकाय का अभिप्राय – अजीव और अजीवकाय के अभिप्राय में अन्तर हैं । इसमें काय शब्द विशेष हैं । कायशब्द की निरुक्ति इस प्रकार है – **चीयते इति काय : ।**

इस निरुक्ति के अनुसार काय से शरीरावयवी का ग्रहण होता है ।

काय का अर्थ है – बहुत से प्रदेश । यानी जिन द्रव्यों में बहुत से प्रदेश हों, वे अस्तिकाय कहलाते हैं ।

यहां 'अस्ति' शब्द क्रिया नहीं; 'अव्यव' हैं । इसका अभिप्राय हैं सत्ता या सद्भावत्व । अस्तिकाय का अर्थ है वे द्रव्य जो अस्तित्त्ववान है और साथ ही बहुप्रदेशी भी हैं ।

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ऐसे ही द्रव्य हैं, जो अस्तिकाय भी हैं ।

यद्यपि अजीव द्रव्य पांच है– धर्म, अधर्म, आकाश, पुदग्ल और काल। किन्तु काल बहुप्रदेशी नहीं, एक प्रदेशी है । कालाणु रत्नराशि के समान बिखरे –अलग अलग रहते हैं; इसीलिए काल को अस्तिकाय नहीं माना जाता है और यही कारण है कि सूत्रकार ने चार अजीवकाय ही गिनाये है ।

धर्म का अभिप्राय – प्रस्तुत संदर्भ में धर्मास्तिकाय का विशेष अर्थ है । यह वह धर्म नहीं है, जिसे हम प्रतिदिन धर्म संज्ञा से अभिहित करते हैं । यह न श्रुतधर्म है, न चारित्रधर्म ।

धर्म का अभिप्राय है – जीव और पुद्गल को गमन में सहायता देने वाला द्रव्य (fulcrum of motion) । यह उदासीन सहायक है, जीव और पुदग्ल को गति करने के लिए प्रेरित नहीं करता । यही उसी तरह है जैसे मछली के लिए जल । जल मछली को चलने के लिए प्रेरित नहीं करता; लेकिन यदि मछली गमन करना चाहती है तो यह सहायक अवश्य होता है । साथ ही यह भी तथ्य है कि धर्मद्रव्य की सहायता के अभाव में जीव और पुद्गल भी गति नहीं कर सकते ।

इसे अंग्रेजी में (Ether) नाम से कहा गया है । वैज्ञानिक (Ether) की सत्ता स्वीकार करते हैं । उनका मानना है कि बिना इस द्रव्य (Ether) की सहायता के न तरंगें चल सकती हैं, न ध्वनि के परमाणु गमन कर सकते हैं और न विद्युत तरंगें, न लैसर किरणें आदि गति (movement) कर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सकती हैं । इस तत्त्व (Element) के अभाव में मानव, पशु, पक्षी, आदि सभी की क्रियाए रुक जाएँगी, संसार जड़वत् स्थिर रह जायेगा । अतः संसार में जीव एवं पुदग्ल गति का परम सहायक तत्त्व 'धर्मास्तिकाय' माना गया है ।

अर्धास्तिकाय – अधर्मास्तिकाय का कार्य धर्मास्तिकाय से विपरीत है । यह जीव पुद्गल को ठहरने में सहायता देता है । इसे fulcrum of rest कहा जाता है ।

यदि अधर्मास्तिकाय न हो तो एक बार गति में आई वस्तु कभी रुकेगी नहीं, सदा चलती रहेगी ।

अधर्मास्तिकाय भी ठहरने का उदासीन हेतु है, ठीक वृक्ष की छाया की तरह । वृक्ष पथिक को ठहरने के लिए प्रेरित नहीं करता । किन्तु यदि पथिक विश्रान्ति लेना चाहे तो छाया उसकी सहायक होती है ।

आकाशास्तिकाय – यह सभी द्रव्यों का अवकाश (स्थान–आश्रय) देता है । इसे अंग्रेजी में space कहा जाता है ।

पुद्गलास्तिकाय – यह रूप–रस–गन्ध–वर्ण वाला द्रव्य है । इसका स्वभाव ही पूरणगलन (मिलना–बिछुड़ना) है । इसे अंग्रेजी में matter शब्द से कहा गया है ।

प्रस्तुत चार अस्तिकायों में से भारत के अन्य दर्शनों ने धर्म और अधर्म को स्वीकार नही कियां । वैज्ञानिकों ने धर्मास्तिकाय को Ether के नाम से स्वीकार कर लिया है । वैसे इस रूप में धर्म–अधर्म की स्वीकार्यता जैन दर्शन की मौलिक विशेषता है ।

आगम वचन –

कइविहाणं भंते ! दव्वा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा–जीवदव्वा य अजीवदव्वा य । – अनुयगोद्वार, सूत्र १४१

(भगवन् ! द्रव्य कितने प्रकार के होते हैं ?

गौतम ! द्रव्य दो प्रकार के होते हैं – (१) जीव द्रव्य (२) अजीव द्रव्य ।

पंचत्थिकाए न कयावि नासी, न कयाइ नत्थि, न कयाइ भविस्सइ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भुविं च भुवइ अ भविस्सइ अ। धुवे नियए सासए अक्खए, अव्वए अवट्ठिए निच्चे, अरूवी । - नन्दी सूत्र, सूत्र ५८

यह असंभव है कि पाँच अस्तिकाय किसी समय में न थे, या नहीं होते या भविष्य में न होंगे । यह सदा थे, सदा रहते हैं और सदा रहेंगे । यह ध्रुव, निश्चत, सदा रहने वाले, कम न होने वाले, नष्ट न होने वाले, एक से रहने वाले, नित्य और अरूपी हैं।)

मूल द्रव्य और इनका समन्वित लक्षण -

द्रव्याणि जीवाश्च । २।

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ।३।

(सूत्र १ में कहे हुए धर्मादि चार अस्तिकाय) और जीव (यह पाँचों) द्रव्य हैं ।

(सूत्र १-२ में कहे हुए पाँचो द्रव्य) नित्य हैं, अवस्थित हैं और अरूपी हैं ।

विवेचन - द्रव्य का लक्षण तो आगे इसी अध्याय के सूत्र २९ तथा ३७ के अन्तर्गत दिया गया है, किन्तु यहाँ सिर्फ इतना की कहा गया है, जो अजीवकाय के अन्तर्गत चार अस्तिकाय गिनाये गये हैं- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय -यह चारों तथा जीव- जीवास्तिकाय-यह पाँचों द्रव्य हैं । साथ ही नित्य हैं - सदा रहने वाले हैं । कभी नष्ट नहीं होते औरं अवस्थित रहते हैं, इनमें न्यूनाधिकता नहीं होती है । भूत-भविष्य और वर्तमान- तीनों कालों में इनकी सत्ता रहती है।

आगम वचन -

पोग्गलत्थिकायं रूविकायं । - भगवती श. ७, उद्दे. १०

(पुद्गलास्तिकाय रूपी है ।)

पुद्गल का रूपित्व -

रूपिण : पुदग्ला : । ४।

पुद्गल रूपी है ।

विवेचन - 'रूपी' शब्द का विस्तृत अर्थ इसी अध्याय के सूत्र २३ में बताया गया है ।

वैसे रूपी का अर्थ होता है- मूर्त । मूर्त वह है जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण हों ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लेकिन रूपी अथवामूर्तिक का अर्थ चर्मचक्षुओं से दृश्यमान- दिखाई देने योग्य मानना संगत नहीं हैं; क्योंकि पुद्गलपरमाणु इतना सूक्ष्म होता है कि चर्मचक्षुओं से दृष्टिगोचर हो ही नहीं सकता । सूक्ष्म पुद्गल परमाणु तो बहुत दूर, अनन्तानन्त सूक्ष्म परमाणुओं के मेल से बना व्यवहार परमाणु भी दृष्टिगोचर नहीं होता ।[1]

छद्मस्थ मनुष्य चाहे जितने शक्तिशाली दूरवीक्षण और अनुवीक्षण यन्त्रों की सहायता से देखने का प्रयास करे किन्तु परमाणु (यहाँ तक कि व्यवहार परमाणु) को भी दृष्टिगोचर करना उसकी सीमा से परे हैं । उसके ज्ञान का इतना तीव्र क्षयोपशम ही नहीं होता ।

यह तो सिर्फ केवलज्ञानगम्य है । केवली भगवान ही उसे (परमाणु को) प्रत्यक्ष देव और जान सकते हैं ।

अतः रूपी का इतना ही आशय समझना चाहिए । जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श हो -वह रूपी है, मूर्तिक है ।

आगम वचन-

धम्मो अधम्मो आगासं दव्वं इक्किक्कमाहियं ।
अणंताणिच य दव्वाणि कालो पुग्गलजंतवो ॥-उत्तरा. २८/८

(धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक है ।
पुदग्ल, काल और जीव अनन्त होते हैं ।)

द्रव्यों की विशेषता -

आ आकाशादेकद्रव्याणि । ५।
निष्क्रियाणि । ६ ।

(उपरोक्त सूत्र १ में कहे गये हैं द्रव्यों में से) आकाश तक के द्रव्य एक-एक हैं ।

यह द्रव्य निष्क्रिय है ।

---

१. परमाणु दो प्रकार के है-सूक्ष्म और व्यवहार । सूक्ष्म परमाणु तो अव्याख्येय है। व्यवहार परमाणु जो अनन्तानन्त सूक्ष्म परमाणु पुद्गलों का समुदाय है, वह भी शस्त्र,अग्नि,जल आदि से अप्रतिहत रहता ह।
- अनुयोगद्वार सूत्र ३३०-३४६
- देखें - गणितानुयगो पृ. ७५६-५७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन – सूत्र १ में जो चार अजीवकाय- अस्तिकाय बताये हैं, इनमें से आकाश तक के अस्तिकाय एक-एक द्रव्य हैं । अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय – यह तीनों एक-एक द्रव्य हैं । साथ ही यह तीनों निष्क्रिय भी हैं ।

इससे यह स्पष्ट ही ज्ञात हो जाता है कि पुद्गल, जीव –ये दोनों अस्तिकाय- अनन्त है और क्रियावान है तथा काल द्रव्य भी अनन्त है यह बात उद्धृत उत्तराध्ययन सूत्र की गाथा में कही गई है ।

एक-एक द्रव्य का अभिप्राय – एक द्रव्य का अभिप्राय है अखण्डता, अविभाज्यता तथा समग्रता । यानि धर्म, अधर्म और आकाश यह तीनों द्रव्य का अखण्ड हैं, एक हैं, अविभाज्य और समग्र हैं । इन्हें अविभागी समग्र (Indivisible whole) कहा जा सकता है । यही एक-एक द्रव्य कहने का सूत्रकार का आशय है ।

निष्क्रियता का स्पष्टीकरण – इन तीनों (धर्म, अधर्म और आकाश) को निष्क्रिय कहा गया है। निष्क्रियता यहाँ से परिणमनशून्यता नहीं समझनी चाहिए, परिणमन तो प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है, परिणमन के अभाव में द्रव्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है ।

यहाँ निष्क्रियता का अर्थ है गतिशून्यता, गति का अभाव यानि यह द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं जाते । जहाँ है, वहीं स्थिर हैं, अवस्थित हैं, निश्चल हैं ।

धर्म और अधर्म द्रव्य (अस्तिकाय-प्रदेशों का समुच्चय) का एक प्रमुख कार्य यह है कि यह दोनों लोक-अलोक की सीमा का निर्धारण करते हैं । अनन्त आकाश में जहाँ तक धर्म और अधर्म हैं वहाँ तक लोक है और उससे आगे अलोक है।

यदि यह निश्चल न हों तो लोक-अलोक की सीमा का निर्धारण कैसे कर सकते हैं ? सीमा रेखा (Boundry line) तो निश्चल ही होती है।

परिणमनक्रिया और गतिक्रिया का अन्तर एक स्थूल उदाहरण से समझा जा सकता है । जैसे आपका दिल है, वह धड़कता है । यह दिल की धड़कन (Heart-beating) परिणमन कही जा सकती है और रक्त जो धमनियों में बहता है, दौरा करता है, पूरे शरीर में चक्कर लगाता है, यह उसकी गतिक्रिया एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की क्रिया है, शरीर के विभिन्न भागों में दौड़ लगाने की क्रिया है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम वचन –

चत्तारि पएसग्गेण तुल्ला असंखेज्जा पण्णत्ता, तं जहा–

धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, लोगागासे, एगजीवे

– स्थानांग, स्थान, ४ उद्देशक ३, सूत्र ३३४

(प्रदेशों की संख्या की अपेक्षा से चार के बराबर–बराबर असंख्यात प्रदेश होते हैं, यथा–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव के ।)

आगासत्थिकाए पएसट्ठायए अणंतगुणे ।

– प्रज्ञापना, पद ३, सू ४१

(प्रदेशों की अपेक्षा से आकाशास्तिकाय अनन्तुगणा है अर्थात् आकाश द्रव्य के अनन्त प्रदेश होते हैं ।)

रूवी अजीवदव्वाणं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा–

खंधा, खंधदेसा, खंधप्पएसा, परमाणुपोग्गला....

अणंता परमाणुपुग्गला, अणंता दुपएसिया खंधा जाव अणंता दसपएसिया खंधा, अणंता संखेज्जपएसिया खंधा, अणंता असंखिज्जपएसिया खंधा, अणंता अणंतपएसिया खंधा

– *प्रज्ञापना, पद ५*

(भगवन ! रूपी अजीव द्रव्य कितने प्रकार के होते है ?

गौतम ! चार प्रकार के होते हैं, यथा –

स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश परमाणुपुद्गल ।

परमाणु पुद्गल अनन्त होते हैं । दो प्रदेश वाले स्कन्धों से लगाकर देश प्रदेश वाले स्कन्ध तक सब अनन्त होते हैं । संख्यात प्रदेश वाले स्कन्ध अनन्त होते हैं, असंख्यात प्रदेश वाले स्कन्ध भी अनन्त होते है और अनन्त प्रदेश वाले स्कन्ध भी अनन्त होते हैं ।

द्रव्यों मे प्रदेशों की संख्या –

असंख्येया : प्रदेशा धर्माधर्मयो ।७।

जीवस्य ।८।

आकाशस्यानन्ता : ।९।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानां ।१०।

नाणो : । ११।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश हैं ।

एक जीव के प्रदेश असंख्यात हैं ।

आकाश के अनन्त प्रदेश हैं ।

पुदग्ल के प्रदेश संख्यात और असंख्यात है ।

अणु के प्रदेश नहीं होते ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र ७ से १० तक में द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या बताई गई है और सूत्र ११ में कहा गया है कि अणु के प्रदेश नहीं होते ।

प्रदेश का अभिप्राय – प्रदेश का अभिप्राय उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश (part) से है, जिसका आगे कोई खंड या टुकड़ा हो ही न सके । इसे निरंश अंश अथवा अंश रहित अंश (partless part) भी कहा जाता है।

ऐसे अविभागी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय लोकाकाश और एक जीव में असंख्यात है और ये सब बराबर-बराबर हैं, न कम, न ज्यादा ।

अर्थात् संख्या की दृष्टि से जितने प्रदेश एक जीव के हैं, उतने ही धर्मास्तिकाय के हैं, उतनेही अधर्मास्तिकाय के और उतने ही लोकाकाश के।

विशेष – द्रव्य स्थिति इस प्रकार की है कि लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय का एक-एक प्रदेश अवस्थित है तथा जिस समय केवली भगवान केवल-समुद्घात करते है और अपनी आत्मा को लोकव्यापी बनाते हैं, लोक-पूरण समुद्घात करते हैं, उस समय आत्मा का एक-एक प्रदेश भी धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के एक-एक प्रदेश पर अवस्थित हो जाता है। यह स्थिति तभी सम्भव है जब इन चारों द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या समान हो । इसीलिए आगमोक्त उद्धरण में 'तुल्ल' शब्द दिया है ।

सूत्र में पुद्गल द्रव्य के प्रदेश संख्यात और असंख्यात बताये हैं किन्तु आगमोक्त उद्धरण में संख्यात, असंख्यात के साथ अनन्त भी कहे हैं । इसका कारण सूत्रकार की संक्षिप्त शैली है । वास्तव में तों अनन्तप्रदेशी और यहाँ तक कि अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध भी पुद्गल द्रव्य के होते हैं ।

इसका कारण यह है कि एक प्रदेश जितना स्थान घेरता है, उतने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्थान में संख्यात, असंख्यात और अनन्त पुद्गल परमाणु अवस्थित रह सकते हैं । किन्तु एक परमाणु जितने स्थान में एक ही प्रदेश अवस्थित रह सकता है, एक से अधिक नहीं । इसीलिए सूत्र ११ में कहा गया है कि अणु में कोई प्रदेश नहीं होता ।

प्रदेश को अंग्रेजी में space point और परमाणु को atom कहा जाता है।

एक प्रदेश (space point) पर अनन्त परमाणु कैसे समा सकते हैं, इसके लिए एक साधारण उदाहरण उपयोगी होगा । जैसे एक डिब्बा (container) हैं, इसमें तो कोई ठोस (solid) द्रव्य भरा जा सकता है, किन्तु पूरे भरे डिब्बे में, और अधिक ठोस द्रव्य नहीं भरा जा सकता ।

एक परमाणु जितने स्थान पर अवस्थित हैं, उतने स्थान में संख्यात (Numerable) असंख्यात (Innumerable) अनन्त (Infinite) और अनन्तानन्त (Infinite progression) कैसे समा सकते हैं, इसे एक अति साधारण स्थूल उदाहरण से समझा जा सकता है–

पानी से लबालब भरा एक बर्तन (jug) लीजिए । उसमें धीरे–धीरे शक्कर (sugar) डालते जाइये आप देखेंगे कि पानी से पाँच गुनी शक्कर समा गई और पानी के एक बूँद भी बाहर न गिरी ।

इसी प्रकार एक परमाणु घेरे उतने स्थान में अनन्त परमाणु भी समा सकते है ।

सूत्र में जो आकाश के अनन्त प्रदेश बताये हैं, वे सम्पूर्ण आकाश द्रव्य (अस्तिकाय) के हैं अर्थात लोकाकाश और अलोकाकाश–दोनों को मिलाकर सम्पूर्ण आकाश के प्रदेश अनन्त हैं ।

वैसे लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात हैं और अलोकाकाश के अनन्त प्रदेश हैं । इसका कारण यह है कि लोकाकाश की अपेक्षा अलोकाकाश अनन्त गुणा कहा गया है ।

पुद्गल परमाणु तथा अन्य द्रव्यों के प्रदेश में अन्तर – पुद्गल परमाणु तथा अन्य द्रव्यों के प्रदेशों मे प्रमुख अन्तर हैं – संयोग और वियोग का । पुद्गल परमाणु परस्पर मिलते हैं, एक रूप होते हैं और फिर अलग–अलग भी हो जाते हैं ।

ऐसी स्थिति अन्य चारों द्रव्यों के प्रदेशों में नहीं है । वे समुच्चय रूप में रहते हैं । ऐसा कभी नहीं होता कि जीव के कुछ प्रदेश कभी अलग हो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जायें और फिर कभी आकार मिल जायें । वे समुच्चय रूप से एक साथ ही रहते हैं, कभी अलग नहीं होते ।

यही स्थिति धर्म, अधर्म और आकाश के प्रदेशों की भी है ।

आगम वचन –

धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुग्गल जंतवो ।
एस लोगुत्ति पण्णत्तो जिणेहिं वरदंसिहि ॥ –उत्तरा २८/७

(जिसके अन्दर धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव रहते हों उसे सर्वदर्शी जिनेन्द्र भगवान ने लोक कहा है । अर्थात् लोकाकाश में सब द्रव्य रहते हैं ।)

धम्माधम्मे य दो चेव लोगमित्ता वियाहिया ।
लोगालोगे य आगासे, समए समयखेत्तिए ।। –उत्तरा. ३६/७

(धर्म और अधर्म नाम के दो द्रव्य सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं । आकाश लोक में है और इसके बाहर अलोक में भी है । व्यवहार काल समयक्षेत्र में है ।)

एगपएसोगाढा संखिज्जपएसोगाढा....असंखिज्जपएसोगाढा ।

प्रज्ञापना, पद ५, अजीव पर्यवाधिकार

(पुद्गलों के स्कन्ध (अपने-अपने परिमाण की अपेक्षा) आकाश के एक प्रदेश में भी हैं, संख्यात प्रदेशों में भी हैं और असंख्यात प्रदेशों को भी घेरे हुए हैं ।)

लोअस्स असंखेज्जइभागे । प्रज्ञापना, पद २, जीवस्थानाधिकार

(जीवों का अवगाह लोक के असंख्यातवें भाग में होता है ।)

दीवं व... जीवेवि जं जारिसयं पुव्वकम्मनिबद्धं बोंदि णिवत्तेइ तं असंखेज्जेहिं जीवपदेसेहि सचित्तं करेइ खुड्डियं वा महालयं वा।

– राजप्रश्नीय सूत्र, सूत्र ७४

(अपने पूर्वभव में बाँधे हुए कर्म के अनुसार प्राप्त किये हुए शरीर को जीव अपने असंख्यातप्रदेशों से दीपक के समान सचित्त (सजीव) कर लेता है । फिर चाहे वह शरीर छोटे से छोटा हो या बडे से बड़ा हो ।)

द्रव्यों का अवगाह –

लोकाकाशेऽवगाहः । १२।

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने । १३।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक प्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् । १४।
असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ।१५।
प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत् ।१६।

(द्रव्यों का) अवगाह लोकाकाश में होता है ।

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का अवगाह पूर्ण लोकाकाश में है ।

पुद्गल द्रव्यों का अवगाह (लोकाकाश के) एक प्रदेश आदि में भाज्य (विकल्प) से है ।

जीव का अवगाह (लोकाकाश के समस्त प्रदेशों के) असंख्यातवें भाग में होता है ।

(क्योंकि) दीपक (के प्रकाश) के समान उनके (जीवों के) प्रदेशों का संकोच तथा विस्तार होता है ।

विवेचन – अवगाह शब्द के अर्थ हैं – स्थान–लाभ अथवा स्थान ग्रहण करना, या स्थान प्रदान करना । इसे साधारण भाषा में 'समा जाना' भी कहा जा सकता है । यह स्थान प्रदान करना लोकाकाश का कार्य है, अथवा यों भी कहा जा सकता है कि सभी द्रव्य (अस्तिकाय) लोकाकाश में स्थान ग्रहण करते हैं, अथवा लोकाकाश के आधार पर अवस्थित हैं ।

यह कथन व्यवहार नय की अपेक्षा है । तात्त्विक दृष्टि से तो सभी द्रव्य (अस्तिकाय) अपने में ही अधिष्ठित हैं ।

लोकाकाश का अभिप्राय – आकाश द्रव्य (अस्तिकाय) अनन्त है । किन्तु जहां तक जीव–धर्म–अधर्म–पुद्गल की सत्ता अथवा अवस्थिति होती है, वहां तक का आकाश लोकाकाश कहलाता है । उससे आगे का अनन्त आकाश अलोकाकाश कहा गया है ।

पुद्गल और जीव गतिमान द्रव्य (अस्तिकाय) हैं । उनमें स्वाभाविक गतिक्रिया है । वे अपना स्थान बदलते रहते हैं । किन्तु धर्म–अधर्म अस्तिकाय स्थित हैं, अवस्थित हैं, उनमें गतिक्रिया नहीं है, अतः लोक की मर्यादा का विभाग उन्हीं से होता है ।

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि आकाश में जहां तक धर्म–अधर्म अस्तिकाय की अवस्थिति है, वहां तक लोकाकाश है और उससे आगे अलोकाकाश । इसीलिए सूत्रकार ने 'कृत्स्ने' शब्द दिया है । इसका अर्थ होता है ,व्याप्ति अथवा सम्पूर्णतः । अभिप्राय यह है धर्म–अधर्म अस्तिकाय की व्याप्ति सम्पूर्ण लोकाकाश में होती है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसका आशय यह नहीं है कि वहां जीव और पुद्गल की अवस्थिति नहीं है । जीव और पुद्गलस्तिकाय भी हैं अवश्य; किन्तु गतिशील द्रव्य होने से उनकी यहां अपेक्षा नहीं की गई है ।

'भाज्यः' शब्द का पुद्गल के सन्दर्भ में विशेषार्थ – 'भाज्यः' का अर्थ है विकल्प । सूत्र का अभिप्राय है विकल्प से पुद्गलो का अवगाह एक प्रदेश आदि में है ।

पुद्गल द्रव्य अनेक प्रकार के हैं, यथा–अणु, द्वयणुक, त्र्यणुक, संख्येय प्रदेश असंख्येय प्रदेश, अनन्त प्रदेश, अनन्तानन्त प्रदेश आदि ।

इनमें से अणु, द्वयणुक (दो अणुओं का स्कन्ध), त्र्यणुक (तीन अणुओं का स्कन्ध) आदि यहाँ तक संख्यात, असंख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त परमाणुओं का स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश पर भी स्थित रह सकता है, दो प्रदेशो पर भी और असंख्यात प्रदेशों पर भी ।

यानी अधिक अणुओं वाला स्कन्ध आकाश के कम प्रदेश पर अवस्थित रह सकता है; किन्तु पुदग्ल का कोई भी स्कन्ध अपने परमाणुओं की संख्या से अधिक आकाश प्रदेशों को नहीं घेर सकता ।

अधिक अणु संख्या वाला पुद्गल स्कन्ध आकाश के कम प्रदेशों पर कैसे अवस्थित रहता है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि पुद्गल में सूक्ष्मत्व परिणमन शक्ति होती है। उसी शक्ति के कारण उसमें यह क्षमता है । इसी कारण अपने परमाणु संख्या से अधिक अपनी अवस्थिति के लिए उसे आकाश प्रदेशों की आवश्यकता ही नहीं पड़ती ।

अनन्तानन्तपुद्गल परमाणुओं का पिण्ड (महास्कन्ध) भी इसी सूक्ष्म परिणमन शक्ति के कारण आकाश के असंख्यात प्रदेशों में समा जाता है ।

इस सूक्ष्म परिणमन शक्ति का एक और प्रभाव होता है और वह है व्याघातरहितता, अर्थात् न किसी से बाधित होना और न किसी अन्य को किसी भी प्रकार की बाधा पहुंचाना ।

यद्यपि पुद्गल द्रव्य (अस्तिकाय) मूर्त है और अनन्तानन्त परमाणुओं के उसके स्कन्ध भी हैं, किन्तु सूक्ष्म परिणमन शक्ति के कारण वे स्कन्ध न किसी को बाधा पहुंचाते है और न स्वयं ही किसी अन्य द्वारा बाधित होते हैं ।

जीव के अवगाह की विशेषता और उसका कारण – एक जीव का अवगाह लोक के असंख्यातवें भाग में होता है और सम्पूर्ण लोक में भी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा किस प्रकार संभव है? तो बताया गया कि दीपक के प्रकाश के समान संकोच-विस्तार शक्ति (स्वभाव) के कारण ऐसा होता है ।

एक जीव का सम्पूर्ण लोक में अवगाह तो सिर्फ केवलि-समुद्घात के समय होता है । शेष सभी अवस्थओं में एक जीव का अवगाह लोक के *असंख्यातवें भाग में ही होता है ।* किन्तु लोक का असंख्यातवाँ भाग भी असंख्यात प्रकार का होता है, इसिलिए एक जीव का अवगाह भी असंख्यात प्रकार का होता है ।

असंख्यात प्रकार के अवगाह का कारण – संसारी अवस्था में जीव के साथ कार्मण और तैजस् शरीर अवश्य होते हैं और इन्हीं के आकार परिमाण के अनुसार औदारिक शरीर होता है । संसारी जीव इन्ही शरीरों के आकार के अनुसार अपने प्रदेशों का संकोच अथवा विस्तार करता है ।

उदाहरणार्थ – कोई हाथी मरकर मनुष्य बना तो हाथी रूप लम्बे डील-डौल में फैले आत्म-प्रदेश मानव-शिशु के आकार में संकुचित हो जाते हैं । और ज्यों-ज्यों शिशु का शरीर बढ़ता है, युवा होता है, त्यों-त्यों उसी के अनुसार आत्म-प्रदेश भी विस्तार पाते जाते हैं । क्योंकि नियमतः जीव के प्रदेश शरीर में ही व्याप्त रहते हैं, न शरीर का कोई भी भाग आत्मप्रदेशों के रिक्त होता है और न आत्मा के प्रदेश शरीर से बाहर फैले रहते हैं ।

विशेष – समुद्घात आदि तथा वैक्रिय आहारक आदि लब्धियों के प्रयोग की यहाँ अपेक्षा नहीं की गई है, क्योंकि उसमें तो जीव के प्रदेश शरीर से बाहर ही फैलते हैं ।

सूत्र में जो दीपक के प्रकाश की आत्म-प्रदेशों के साथ संकोच-विस्तार की उपमा दी गई है, उसका भी हार्द यही है कि यदि दीपक को कमरे में रख दिया जया तो उसका प्रकाश पूरे कमरे में फैलेगा और यदि किसी पात्र से ढक दिया जाय तो वह सम्पूर्ण प्रकाश पात्र के अल्प क्षेत्र मे ही सीमित होकर रह जायेगा ।

इसी प्रकार जीव-प्रदेश भी छोटे-बड़े शरीर के अनुसार संकोच और विस्तार कर लेते हैं । यह जीव का स्वभाव है ।

यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि धर्म-अधर्म द्रव्यों के प्रदेशों में यह संकोच-विस्तार की शक्ति क्यों नहीं होती ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसका समाधान यह है कि धर्म-अधर्म अस्तिकाय को संकोच-विस्तार की शक्ति की आवश्यकता ही नहीं है। जीव को तो आवश्यकता कर्म-संयोग के कारण है । कर्म-प्रभाव से जैसा भी छोटा-बड़ा शरीर मिला, उसके अनुसार उसे अपना संकोच-विस्तार करना ही पड़ता है । सिद्ध जीवों में कर्म-संयोग न रहने से उनके आत्म-प्रदेश भी तदाकार (शरीर छूटते समय जिस आकार जिस परिमाण के थे, उसी परिमाण और आकार के) बने रहते हैं ।

धर्म-अधर्म-पुद्गल-जीव अस्तिकाय तो लोकाकाश के आधारपर अवस्थित हैं; किन्तु आकाश स्वाधारित है यानी वह अन्य किसी भी द्रव्य (अस्तिकाय) के आधारपर अवस्थित नहीं; वह अपना अधिष्ठान स्वयं ही है, उसे किसी अन्य आधार की आवश्यकता ही नहीं है ।

आगम वचन -

धम्मत्थिकाएणं जीवाणं आगमण-गमण-भासुम्मेस-मण-जोगा वइ-जोगा कायजोगा जे यावन्ने तहप्पगारा चला भावा सव्वे ते धम्मत्थिकाए पवत्तंति ।

गइलक्खणे णं धम्मत्थिकाए ।

(धर्मास्तिकाय जीवों के गमन, आगमन, भाषा, उन्मेष, मनोयोग, वचनयोग, काययोग (के लिए निमित्त होता है), इनके अतिरिक्त और जो भी इस प्रकार के चल भाव हैं, वे सब धर्मास्तिकाय के होने पर ही होते हैं, क्योंकि-

'गति' धर्मास्तिकाय का लक्षण है ।

अहम्मत्थिकाएणं जीवाणं ठाण-निसीयण तुयट्टण मणस्स य एगत्तीभावकरणता जे यावन्ने तहप्पगारा थिराभावा सव्वे ते अहम्मत्थिकाए पवत्तंति ।

ठाण लक्खणे णं अहम्मत्थिकाए ।

(अधर्मास्तिकाय जीवों के लिए ठहरना, बैठना, त्वग्वर्तन (करवट बदलना) और मन की एकाग्रता करता है । इनके अतिरिक्त और जो भी इस प्रकार के स्थिर भाव हैं, वह अधर्मास्तिकाय के होनेपर ही होते हैं; क्योंकि अधर्मास्तिकाय स्थिति लक्षण वाला है ।

आगासत्थिकाएणं जीवदव्वाण य अजीवदव्वाण य भायणभूए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एगेण वि से पुन्ने दोहिवि पुन्ने सयंपि माएज्जा । कोडिसएण वि पुन्ने कोडिसहस्सं वि माएज्जा । अवगाहणालक्खणें णं आगासत्थिकाए ।

–भगवती, श. १३, उ. ४, सूत्र ४८१

(आकाश द्रव्य जीव द्रव्यों और अजीव द्रव्यों को स्थान देने वाला ह। यह एक से भी भरा हुआ है, दो से भी भरा हुआ है, एक करोड़ और एक अरब से भी भरा हुआ है तथा एक खरब जीव तथा पुद्गल स्कन्धों से भी भरा हुआ है । क्योंकि आकाशास्तिकाय अवगाहना लक्षण वाला है ।

जीवों उवओगलक्खणो ।

नाणेण दंसणेण च दुहेण य सुहेण य । – उत्तरा . २८/१०

ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख के द्वारा भी (जीव उपकार करता है) जीव का लक्षण उपयोग है ।

पोग्गलत्थिकाए णं ओरालिय वेउव्वय आहारए तेयाकम्मए सोइंदियचक्खिंदिय घाणिंदिय जिब्भिदिय फासिंदिय मणजोग वयजोग कायजोग आणापाणूणं च गहणं पवत्तति ।

गहणलक्खणेणं पोग्गलत्थिकाए ।

– भगवती १. श. १३, उद्दे. ४, सूत्र ४८१

(गौतम ! पुद्गलास्तिकाय जीवों के लिए औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस्, कार्मण, कर्णेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय, मनोयोग, वचनयोग, काययोग और श्वासोच्छ्वास ग्रहण कराता है । पुद्गलास्तिकाय ग्रहण लक्षण वाला है ।

वत्तणा लक्खणो कालो. – उत्तरा. २८/१०

(काल वर्तना लक्षण वाला है।)

द्रव्यों के कार्य और लक्षण –

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकार : ।१७।

आकाशस्यावगाहः । १८।

शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् । १९।

सुख–दुःख– जीवितमरणोपग्रहाश्च । २०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परस्परोपग्रहो जीवानाम् । २१।

वर्तना परिणामः । क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ।२२।

(गतिमान पदार्थों की) गति में और (स्थितिमान पदार्थों की) स्थिति में उपग्रह करना (उदासीन निमित्त बनना) धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार (गुण या प्रयोजन अथवा लक्षण) हैं ।

अवगाह (स्थान) देना आकाश का गुण अथवा लक्षण है ।

शरीर, वचन, मन और प्राणापान पुद्गल द्रव्य का उपकार है ।

तथा सुख, दुःख जीवन और मरण में निमित्त बनना भी पुद्गल द्रव्य का ही उपकार है ।

परस्पर एक-दूसरे के लिए निमित्त बनना जीव का उपकार है ।

काल का उपकार वर्तना, परिणाम, क्रिया तथा परत्व-अपरत्व है ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र १७ से २२ तक में धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल-इन छह द्रव्यों के गुण अथवा लक्षण बताये गये है।

धर्म और अधर्म - यह दोनों द्रव्य गतिमान और स्थितिमान द्रव्यों के गमन और स्थिरत्व में उदासीन रूप से सहायक है ।

धर्म और अधर्म का अस्तित्व-विचार सिर्फ जैन दर्शन की ही विशेषता है । संसार के किसी भी अन्य धर्म-दर्शन ने इनके अस्तित्व पर विचार नहीं किया । अपितु भगवान महावीर के मद्दुक श्रावक के आख्यान से स्पष्ट है कि तत्कालीन अन्य धर्मावलम्बी पंच अस्तिकायों (धर्म-अधर्म विशेष रूप से) के सिद्धान्त पर, जिनेन्द्र वाणी पर भाँति-भाँति के आक्षेप लगाते थे ।

किन्तु आधुनिक विज्ञान ने इसे स्वीकार किया है । और इसे Ether नाम दिया है । वैज्ञानिकों ने ईथर का जो वर्णन किया वह जैन आगमो में वर्णित धर्मद्रव्य के वर्णन से मिलता-जुलता है ।

Hollywood R. and T. Instruction Lesson 2

What is Ether

The best that anyone could do would be to say that Ether is an invisible body.... is a something that is not a solid, nor liquid, nor gaseous, nor anything else which can be observed by us physically.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

We believe thatEther exists throughout all space of Universe, in the most remote regions of the stars, and at the same time within the earth; and in the seemingly impossible small space which exists between the atoms of all matter. That is to say, Ether is every-where; and that electro-magnetic wave can be propagated everywhere.

ईथर क्या है?

(अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि 'ईथर' अद्दश्य पदार्थ हे । वह न ठोस है, न तरल है, न गैस है और ऐसी वस्तु भी नहीं है जिसे देखा जा सके ।

हम विश्वास करते हैं कि ईथर विश्व (लोक) में सर्वत्र व्याप्त है, सुदूर नक्षत्र मण्डल में भी है, पृथ्वी में भी है और यहाँ तक परमाणुओं के बीच में (परमाणुओं के मध्य की वह दूरी जिसे देखना असम्भव सा है) भी ह। आशय यह है कि ईथर सर्वत्र है, इसीलिए वैद्युत - चुम्बकीय तरंगें भी सर्वत्र गति कर सकती है ।

और अल्बर्ट आइन्स्टीन के अपेक्षावाद के सिध्दान्तानुसार - 'ईथर अभौतिक, अपरिमाण्विक, अविभाज्य, अखण्ड, आकाश के समान व्यापक, अरुप, गति का अनिवार्य माध्यम और अपने आप में स्थिर है ।'

Thus it is proved that Science and Jain Physics agree absolutely so far as they call Dharma (Ether) non-material, non-atomic, non-discrete, continuous, co-extensive with space, invisible and as a necessary medium of motion and one which does not itself move.

(Prof. G.R. Jain)

इस प्रकार वैज्ञानिकों ने भी सिध्द कर दिया है कि धर्म अथवा Ether गति का अनिवार्य सहकारी माध्यम है, इसके बिना गति नहीं हो सकती । हां अभी अधर्म (Fulcrum of rest) के बारे में विज्ञान मौन है; किन्तु यह बहुत संभव है कि एक दिन वह अधर्मास्तिकाय को भी स्वीकार कर ले ।

आकाशास्तिकाय का गुण - आकाश का गुण अवकाश देना है, *वह प्रत्येक वस्तु को अवगाह देता है ।*

अन्य दार्शनिकों ने आकाश का गुण शब्द माना है। वे यह कहते हैं कि ध्वनि आकाश का गुण है । किन्तु आधुनिक विज्ञान ने सिध्द कर दिया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कि ध्वनि आकाश का गुण नहीं है, अपितु पुद्गल द्रव्य के दो परमाणुओं/स्कंधों (atoms of matter and elements) से उत्पन्न होती है ।

पुद्गल द्रव्य के कार्य - पुद्गलास्तिकाय के कार्य सुख, दुःख, जीवन, मरण, शरीर, मन, वचन और प्राणापान (उच्छ्वास-निःश्वास) हैं, इन सबमें पुद्गल द्रव्य निमित्त बनता है ।

शरीर तो स्पष्ट ही पौद्गलिक है, औदारिक वर्गणाओं से निर्मित्त है । इसी प्रकार वचन (भाषा) को वैज्ञानिक भी पौद्गलिक सिध्द कर चुके हैं और इसी प्रकार मन (mind) को भी ।

उच्छ्वास और निःश्वास ये दोनों पौद्गलिक (of matler) हैं । विज्ञान ने भी पुद्गल (matter) ही एक दशा गैस (gas) स्वीकार की है जो वायु रुप होती है । श्वासोच्छ्वास वायु को आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली में oxygen and nitrogen कहा जाता है।

सुख और दुःख जो जीव अनुभव करता है, उनका अन्तरंग कारण सातावेदनीय-असातावेदनीय कर्म है, जो स्वयं पौद्गलिक है । फिर कोमल स्पर्श, सुगन्धित द्रव्य मन को सुख देते हैं, गर्मियों में शीतल वायु आदि भी सुखद होते हैं । इसी प्रकार दुर्गन्ध, रुक्ष और कठोर स्पर्श, तीखे कांटे आदि दुःख की अनुभूति कराते हैं। ये सभी स्पष्टतः पौद्गलिक हैं।

मृत्यु के कारण भी अनेक पुद्गल; जैसे-पत्थर आदि की सांघातिक चोट, बन्दूक की गोली, तीक्ष्ण शस्त्र, तलवार, छुरी आदि स्पष्ट ही स्थूल और पौद्गलिक हैं ।

जीव के कार्य - जीव एक-दूसरे के सहायक बनते हैं, संतजन उपदेश आदि देकर गृहस्थों का उपकार करते हैं । इसी प्रकार मालिक सेवकों को वेतन देकर और नौकर अपने स्वामियों की सेवा करके उपकार करते हैं संसार का प्रत्येक प्राणि एक-दूसरे के उपकार/ सहयोग पर आश्रित है ।

मानव-जीवन का समस्त पारिवारिक, सामाजिक, जातीय और राज्य, राष्ट्र संबंधी ढांचा तो परस्पर के सहयोग/उपकार पर ही खड़ा है ।

काल के उपकार

सूत्र में काल द्रव्य के चार उपकार बताये हैं-१. वर्तना, २. परिणाम, ३. क्रिया और ४. परत्व-अपरत्तव ।

प्रस्तुत सूत्र में जो काल के उपकार गिनाये गये हैं, वे काल को स्वतंत्र द्रव्य स्वीकार करके गिनाये गये प्रतीत होते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काल का वर्णन आगे सूत्र ३८ में करेंगे। यहां तो उसके कार्य ही बताये गये हैं, इन कार्यों से ही काल का संकेत प्राप्त होता है ।

(१) **वर्तना** – यद्यपि प्रत्येक द्रव्य अपनी निजी शक्ति से पर्यायरूप परिणमन करता है, नई-नई पर्याय धारण करता है; किन्तु काल उसमें निमित्त कारण बनता है । इस अपेक्षा से ही वर्तना को कालद्रव्य का उपकार कहा है ।

(२) **परिणाम** – द्रव्य जो स्वजाति को त्यागे बिना अपरिस्पन्द पर्याय रूप परिणमन करता है, उसे परिणाम कहा जाता है । इसके दो भेद है – १. अनादि और २. सादि अथवा आदिमान ।

परिणाम का विस्तृत वर्णन सूत्र ३८ के अन्तर्गत किया जायेगा ।

(३) **क्रिया** – क्रिया का अभिप्राय यहां गति है । वह गति परिस्पन्द रूप भी है और क्रिया अर्थात् गमनरूप भी । यह तीन प्रकार की है – १. प्रयोगगति, २. विस्त्रसागति और ३. मिश्रगति ।

(४) **परत्व-अपरत्व**– परत्व का अभिप्राय ज्येष्ठत्व और अपरत्व का अभिप्राय कनिष्ठता है ।

यह तीन प्रकार का है – १. प्रशसांकृत, २. क्षेत्रकृत और ३, कालकृत।

धर्म महान है, अधर्म निकृष्ट हैं, यह प्रशंसाकृत परत्व-अपरत्व है । अमुक स्थान निकट और अमुक दूर है, यह क्षेत्रकृत परत्व-अपरत्व का उदाहरण है कालकृत परत्व-अपरत्व के बारमें में यह उदाहरण पर्याप्त होगा – राम की आयु १० वर्ष है और श्याम की आठ वर्ष । अतः राम श्याम से ज्येष्ठ है तथा श्याम राम की अपेक्षा कनिष्ठ है ।

इस प्रकार जीव आदि द्रव्यों के उपकार को समझ लेना चाहिए।

आगम वचन :-

पोग्गले पंचवण्णे पंचरसे दुगन्धे अट्ठफासे पण्णत्ते ।

– भगवती, श. १२, उ. ५, सूत्र ४५०

सद्दन्धयार उज्जोओ, पभा छायातवाइ वा ।
वण्णरसगंधफासा पुग्गलाणं तु लक्खणं ।
एगत्तं च पुहत्तं च, संखा संठाणमेव य ।
संजोगा या विभाग य, पज्जवाणा तु लक्खणं ।

– उत्तर. २८/१२-१३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(पुद्गल में पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध, आठ स्पर्श होते है।)

(शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध, और स्पर्श पुद्गलों के लक्षण है ।

एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संयोग और विभाग पुद्गल पर्यायों के लक्षण हैं ।)

दुविहा पोग्गला पण्णत्ता तं. जहा-परमाणुपोग्गला नोपरमाणुपोग्गला चेव । - स्थानांग, स्थान २, उ. ३, सूत्र ८२

(पुद्गल दो प्रकार के होते हैं - परमाणु पुद्गल और नोपरमाणु पुद्गल)

एगत्तेण पुहत्तेण खन्धा या परमाणुणो ।

लोएगदेसे लोए य भइयव्वा ते उ खेत्तओ ॥

-उत्तरा. ३६/११

(परमाणु एकत्वरूप होने से अर्थात् अनेक परमाणु एकरूप में परिणत होकर स्कन्ध बन जाते हैं और स्कन्ध पृथक्रूप होने से परमाणु बन जाते हैं. (यह द्रव्य की अपेक्षा से है)

(क्षेत्र की अपेक्षा से) वे (स्कन्ध और परमाणु) लोक के एकदेश में तथा (एकदेश से लेकर) सम्पूर्ण लोक में भाज्य (असंख्य विकल्पात्मक) हैं।

दोहिं ठाणेहिं पोग्गला साहण्णंति, तं जहा-सइं वा पोग्गला साहन्नंति परेण वा पोग्गला साहन्नंति, सइं वा पोग्गला भिज्जंति परेण वा पोग्गला भिज्जंति । - स्थानांग, स्थान २, उ. ३, सूत्र ८२

(दो प्रकार से पुद्गल एकत्रित होकर मिलते हैं - या तो स्वयं मिलते हैं अथवा दूसरे के द्वारा मिलाये जाते हैं, या तो पुदग्ल स्वयं भेद को प्राप्त होते हैं अथवा दूसरों के द्वारा भेद को प्राप्त होते हैं ।)

पुद्गल का विवेचन -

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त : पुद्गला : २३।

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योत

वन्तश्च ।२४।

अणवःस्कन्धाश्च ।२५।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते । २६।

भेदादणुः ।२७।

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषा : ।२८।

स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले पुद्गल होते हैं ।

शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप (धूप) और उद्योत (चन्द्र का प्रकाश) वाले भी पुद्गल होते हैं. (यह भी पुद्गल की ही पर्यायें हैं.)

पुद्गल के दो प्रकार हैं – (१) अणु और (२) स्कन्ध ।

जुड़ने (संघात) से, टूटने-पृथक-पृथक्, होने (भेद) से तथा जुड़ने और पृथक् होने-दोनों के स्कन्धों की उत्पत्ति होती है ।

अणु भेद से ही उत्पन्न होता है (संघात से नहीं) ।

चक्षु इन्द्रिय से दिखाई देने वाला स्कन्ध भेद और संघात दोनों से ही निर्मित होता है ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र २३ से २८ तक में पुद्गल द्रव्य (अस्तिकाय) के गुण-पर्याय और तथा स्कन्धों के बनने की प्रक्रिया बताया बताई गई है।

पुद्गल के गुण

पुद्गल के प्रमुख गुण चार है – (१) स्पर्श (२) रस (३) गन्ध और (४) वर्ण । और इनके अवान्तर भेद बीस हैं ।

स्पर्श – आठ प्रकार का है – (१) कठिन (२) कोमल (मृदु) (३) भारी (गुरु) (४) हलका (लघु), (५) शीत (ठण्डा), (६) उष्ण (गर्म), (७) चिकना (स्निग्ध) और (८) रूखा (रूक्ष) ।

रस – पाँच प्रकार का है – (१) चरपरा (तिक्त) (२) कडुआ (कटु) (३) कसैला (कषाय) (४) खट्टा (अम्ल) और (५) मीठा (मधुर) ।

गन्ध – के दो प्रकार – (१) सुरभि (सुगन्ध) (२) दुरभि (दुर्गन्ध)।

वर्ण – के पाँच भेद – (१) कृष्ण (काला) (२) नील (नीला) (३) रक्त (लाल) (४) पीत (पीला) और (५) शुक्ल (श्वेत-सफेद) ।

उपर्युक्त स्पर्श आदि चार गुण प्रत्येक पुद्गल परमाणु तथा स्कन्ध में होते हैं और इन बीस भेदों अथवा पर्यायों में से यथासमंभव होते हैं । और इस बीस भेदों के भी उत्तरभेद असंख्यात होते हैं । उदाहरण के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रूप से मधुर रस के भी अनेक भेद होते हैं, कम मीठा, अधिक मीठा आदि और इस कम और अधिक मीठे में भी असंख्यात प्रकार का तरतमभाव होता है ।

यही स्थिति स्पर्श, गन्ध, वर्ण आदि की भी है ।

पुद्गलों के पर्याय

सूत्र २४ में पुद्गलों के असाधारण पर्याय बताये गये हैं । इनका परिचय इस प्रकार हैं ।

(१) **शब्द** - ध्वनि अथवा जिसके द्वारा अर्थ का प्रतिपादन होता है, वह शब्द है । इसके दो प्रकार है वैस्त्रसिक (प्राकृतिक - जैसे बादलों की गर्जना) और प्रयोगज -प्रयत्नजन्य । (प्रयोगज के -तत, वितत, घन, शुषिर, संघर्ष, और भाषा-छह मुख्य भेद हैं ।

(२) **बन्ध** - पुद्गल परमाणुओं/स्कन्धों का एकक्षेत्र अवगाह रूप में परस्पर सम्बन्ध हो जाना बन्ध है । यह शिथिल, गाढ़, प्रगाढ़, आदि अनेक प्रकार का है । इसके प्रमुख भेद तीन हैं - (१) प्रयोगबन्ध (२) विस्त्रसाबन्ध और (३) मिश्रबन्ध ।

जीव के प्रयत्न से होने वाला बन्ध प्रयोगबन्ध हैं; उदाहरणार्थ - औदारिक शरीरवाली वनस्पतियों के काष्ठ और लाख का बन्ध ।

जीव के साथ कर्म-दलिकों का जो बंध होता है, वह भी इसी श्रेणी का हैं ।

(स्वभाव से होने वाला बन्ध विस्त्रसाबन्ध कहलाता है; जैसे-बिजली, मेघ, इन्द्रधनुष आदि का बन्ध)

जीव के प्रयोग का साहचर्य रखकर जो पुद्गलों का बन्ध होता है वह मिश्रबन्ध होता है; जैसे-स्तूप, कुम्भ आदि ।

(३) **सौक्ष्म्य** - (सूक्ष्मता) इसका अभिप्राय पतलापन या लघुता है । या दो प्रकार का है - १. अन्त्य (जो सर्वाधिक सूक्ष्म हो-जैसे परमाणु) और २. आपेक्षिक - यह द्वयणुक, त्र्यणुक आदि में होता हैं। इसका अभिप्राय है चतुरणुक की अपेक्षा त्र्यणुक सूक्ष्म है और त्र्यणुक की अपेक्षा द्वयणुक ।

आपेक्षिक सूक्ष्मता असंख्यात प्रकार की है, जैसे तरबूज की अपेक्षा खरबूजा सूक्ष्म है, खरबूजे की अपेक्षा आम, आम की अपेक्षा आँवला आदि।

(४) **स्थौल्य (स्थूलता)** - इसका अभिप्राय है - मोटापन या गुरुता । इसके भी प्रमुख भेद दो हैं - १. अन्त्य और २. आपेक्षिक ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्त्य का अभिप्राय हैं–सबसे स्थूल स्कन्ध । ऐसा स्कन्ध संपूर्ण लोकव्यापी महास्कन्ध होता है ।

आपेक्षिक स्थूलता के अनेक (असंख्यात) भेद हैं; जैसे–आँवले की अपेक्षा आम स्थूल है, आम की अपेक्षा खरबूजा आदि ।

सूक्ष्म तथा स्थूल के ६भेद भी बताये गये हैं – १. स्थूल–स्थूल २. स्थूल ३. स्थूल–सूक्ष्म, ४. सूक्ष्म–स्थूल, ५. सूक्ष्म, ६. सूक्ष्म–सूक्ष्म. ।

(५) **संस्थान** आकृति को कहा जाता है । इसके प्रमुख भेद दो है – १. आत्म–परिग्रह और २. अनात्म–परिग्रह.

आत्म–परिग्रह जीवों के शरीर के आकार को कहा जाता है । हुण्डक आदि संस्थान इसके उदाहरण हैं ।

अनात्म–परिग्रह के त्रिकोन, चौकोन, गोल, वर्ग, शंकु, आदि असंख्यात भेद हैं ।

(६) **भेद** का अर्थ विश्लेषण अथवा पृथकीकरण है । इसके प्रमुख रूप से पांच भेद हैं –

(क) **औत्कारिक** – लकड़ी आदि को चीरने तथा आघात से होने वाला पृथकी करण औत्कारिक है ।

(ख) **चौणिक** – चूर्ण हो जाना – जैसे गेहूँ आदि को पीसने से होने वाला पृथकीकरण ।

(ग) **खण्ड** – टुकड़े–टुकड़े होना–जैसे मिट्टी आदि को फोड़ने से होने वाला पृथकीकरण ।

(घ) **प्रतर** – मेघ पटल की भांति बिखर जाना । परतें निकलना– जैसे अभ्रक आदि ।

(ङ) **अणुचटन** – जैसे संतरा, आम आदि फल को छीलकर उसके फल तथा छिलके को अलग–अलग कर देना ।

(७) **तम** – तम का अर्थ अन्धकार है । वे श्याम वर्ण वाले पुद्गल–परिणाम जो दृष्टि को प्रतिबन्धित करते हैं, उन्हें तम कहा जाता है ।

(८) **छाया** – किसी भी वस्तु में अन्य वस्तु की आकृति अंकित हो जाना छाया है । यह दो प्रकार की है (१) प्रकाश आवरणरूप और २) प्रतिबिम्ब रूप ।

(९) उष्ण प्रकाश आतप कहलाता है और (१०) शीतल प्रकाश को उद्योत कहा गया है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अणु एवं स्कन्ध : निर्माण आदि के हेतु

पुद्गल के प्रमुख भेद दो हैं - (१) अणु और (२) स्कन्ध । अणु पुद्गल का अविभाजी, सूक्ष्मतम अंश है । वस्तुतः यही पुद्गल द्रव्य है । स्कन्ध इन्हीं संख्यात असंख्यात अणुओं का समन्वित रूप है ।

स्कन्धों का निर्माण (१) पृथकीकरण से, (२) जुड़ने-संयोजन से तथा (३) संयोजन-विसंयोजन-दोनों-इस प्रकार तीनों तरह से होता है ।

उदाहरणार्थ - एक बड़े स्कन्ध के विसंयोजन अथवा विखण्डन से अनेक छोटे-छोटे स्कन्ध बन जाते हैं तथा कई छोटे-छोटे स्कन्धों के संयोजन से एक बड़ा स्कन्ध निर्मित हो जाता है ।

किन्तु अणु का निर्माण सदा ही विसंयोजन से होता है ।

आगम में संयोजन के लिए एकत्व और विसंयोजन के लिए पृथकत्व शब्द दिया गया है ।

चाक्षुष (चक्षु इन्द्रिय से दृष्टिगोचर होनेवाले) **स्कन्धों** का निर्माण केवल भेद और संघात (एकत्व और पृथक्त्व) से ही होता है ।

पुद्गलपरिणाम अति विचित्र और असंख्यात प्रकार का है । यह आवश्यक नहीं कि असंख्यात या अनन्त पुद्गल परमाणुओं द्वारा निर्मित स्कन्ध दृष्टिगोचर हो ही । महास्कन्ध भी सूक्ष्म होता है, वह दिखाई नहीं देता ।

वास्तव में स्थूलता और सूक्ष्मता पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं । जब पुद्गल स्कन्ध सूक्ष्म पर्याय रूप परिणमन करते हैं तो दिखाई नहीं देते और जब वे स्थूल पर्याय रूप परिणमन करते हैं तो दिखाई देने लगते हैं, दृष्टिगोचर हो जाते हैं, चाक्षुष बन जाते हैं ।

एक उदाहरण लें । हाइड्रोजन एक गैस हैं, ऑक्सीजन भी एक गैस है । यह सामान्यतया दिखाई नहीं देती । किन्तु जब हाइड्रोजन के दो अणु और ऑक्सीजन का एक अणु मिलते हैं, परस्पर क्रिया करते हैं तो पानी बन कर दृष्टिगोचर हो जाते हैं ।

शास्त्रीय भाषा में इसे यो कहा जा सकता है - हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के रूप में पुद्गल सूक्ष्म पर्यायरूप परिणमन कर रहे थे । वे अब जल के रूप में स्थूल पर्यायरूप परिणमन करने लगे हैं ।

आगम वचन -

सद्दव्वं वा । - भगवती, श. ८, उ. ९, सप्तदद्वार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(द्रव्य का लक्षण सत् है ।)

माउयाणुओगे (उप्पन्ने वा विगए वा धुवे वा)

–स्थानांग, स्थान १०

(उत्पन्न होने वाले नष्ट होने वाले, और ध्रुव को मातृकानुयोग कहते हैं । (और वही सत् है।)

परमाणुपोग्गलेणं भंते! किं सासए असासए ?

गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासए वन्नपज्जवेहि जाव फासपज्जत्रेहिं असासए । – भगवती, श. १४, उ. ४, सूत्र ५१२

(भगवन ! परमाणु पुद्गल नित्य है अथवा अनित्य ?

गौतम ! द्रव्यार्थिकनय से नित्य है तथा वर्णपर्यायों से लेकर स्पर्शपर्यायों तक की अपेक्षा अनित्य हैं ।)

(**संगति** – भगवती, श. ७, उ. २, सूत्र २७४ में इसी प्रकार का प्रश्नोत्तर जीव के विषय में भी किया गया है ।)

सूत्र में कहा गया है कि जो तद्भाव रूप से अव्यव है, सो ही नित्य है । सूत्रकार का आशय यहाँ द्रव्यों से है कि द्रव्य नित्य हैं । किन्तु आगम वाक्य ने द्रव्य के नित्य और अनित्य दोनों रूपों को स्पष्ट कर दिया है ।

अप्पितणप्पिते । – स्थानांग, स्थान १० सूत्र ७२७

(जिसको मुख्य करे सो अर्पित और जिसको गौण करे सो अनर्पित है । इन दोनों नयों से वस्तु की सिद्धि होती है ।)

द्रव्य (सत्) का विवेचन –

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।२९।

तद्भावाव्ययं नित्यम् ।३०।

अर्पितानर्पितसिद्धेः । ३१।

उत्पाद (उत्पत्ति, व्यय (विनाश) और ध्रौव्य (स्थिरता)–इन तीनों से युक्त जो होता है, वह सत् है ।

जो तद्भाव रूप से अव्यय अर्थात् तीनों काल में विनाशरहित हो, उसे नित्य कहा जाता है ।

मुख्य करने वाली अर्पित (अपेक्षाविशेष) और गौण करनेवाली अनर्पित (अपेक्षान्तर) इन दोनों से सत् (वस्तु) की सिद्धि होती है ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र २९–३०–३१ में सत् का विवेचन तथा इसको सिद्ध करने की विधि का वर्णन किया गया है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सत् का लक्षण – 'सत्' शब्द का सीधा सा अर्थ है । अस्तित्व (Beingness) सत्ता, मौजूदगी, अवस्थिति ।

यहाँ सत् का लक्षण बताया गया है जिसमें उत्पत्ति, विनाश और ध्रुवता- तीनों गुण हों, वही सत् है । आगम वाक्य **'उप्पानेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा'** का प्रस्तुत सूत्र संस्कृत रूपान्तर जैसा है ।

परम्परा में प्रसिद्ध है कि भगवान महावीर ने यही त्रिपदी गौतम गणधर को दी थी, जिससे वे सत् (तत्त्व) को भली-भाँति समझ गये थे ।

'सत्' शब्द भारत के सभी दर्शनों में प्रचलित है किन्तु सभी दर्शनकारों ने इसे भिन्न-भिन्न अर्थ में ग्रहण किया है ।

न्याय-वैशेषिक दर्शन आत्मा आदि कुछ सत् तत्त्वों को कूटस्थ-नित्य और घट-पट आदि को अनित्य कहता है सांख्यदर्शन की मान्यता आत्मा के बारे में कूटस्थनित्य की है और प्रकृति के विषय में नित्यानित्य की ।

कूटस्थ का अभिप्राय है परिणमनहीनता-ध्रुवता ।

औपनिषिदक शांकर मत वेदान्त सिर्फ ब्रह्म को ही नित्य स्वीकार करता है। उसका स्पष्ट आघोष है – ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या । बौद्ध दार्शनिक क्षणिकवादी है । उनका नित्यत्व केवल धाराक्रम अथवा संततिक्रम है ।

किन्तु जैन दर्शन की मान्यता इन सबसे भिन्न है । वह सत को परिणामी नित्य मानता है । परिणामी नित्य का अभिप्राय है – परिनमन होते हुए-पर्यायों के पलटते रहने पर भी वस्तु नित्य है, ध्रुव है ।

इसके लिए उदाहरण दिया गया है – जैसे सोने के कुण्डल तुड़वाकर हार बनवाया जाना। कुण्डल रूप पर्याय का विनाश और हार पर्याय का उत्पाद होते हुए भी सोने की अपेक्षा सोना नित्य है, ध्रुव है ।

इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की प्रक्रिया वस्तु अथवा द्रव्य में निरंतर प्रति समय चलती रहती है । और वही सत् है ।

तद्भाव का अभिप्राय – 'यह वही है, जो पहले था' इस प्रकार की अनुभूति अथवा प्रतिबोध होना तदभाव है । इसे साधारण और बहुप्रचलित *शब्द 'स्वभाव' द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है ।*

तद्भाव अथवा स्वभाव सदा ध्रुव रहता है, उसका कभी नाश नहीं होता, वह अव्यय है, स्थिर है, सदाकाल रहने वाला है ।

पर्यायों के उत्पत्ति – विनाश होते रहने-पलटते रहने पर भी जो द्रव्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को उसके अपने निजी रूप में बनाये रखता है, वह तद्भाव अथवा स्वभाव है, वस्तु की ध्रुवता है और इस कारण सत् अपने स्वभाव से च्युत नही होता।

अर्पित-अनर्पित का अर्थ है मुख्य (primary) और गौण (secondary) स्थिति यह है कि सत् अनन्तधर्मात्मक है । यदि उसका वर्णन किया जाए तो एक समय में किसी एक धर्म का गुण का, ही वर्णन संभव है ।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि वस्तु में अन्य गुण या धर्म हैं ही नहीं अथवा उनका निषेध किया जा रहा है, अपितु इसका अभिप्राय यह कि इस समय जिसका वर्णन किया जा रहा है, वह गुण प्रधान (मुख्य) हैं । और शेष समस्त गुण इस समय अप्रधान (गौण) हैं ।

इसे एक उदाहरण से समझे । किसी ने कहा- 'जैन संत पूर्ण अहिंसक होते हैं ' इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि गुणो का निषेध किया जा रहा है; अपितु इतना ही है कि इस समय कथन-कर्ता की दृष्टि में 'अहिंसक गुण' की प्रधानता है और शेष गुण उसकी दृष्टि में इस समय गौण हैं ।

वस्तुतः अर्पित और अनर्पित शब्द,जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त - स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, सप्तभंगी और नयनाद[1] की ओर संकेत करता है, उसके बीजरूप में यहाँ दिया गया है ।

सत् यानी वस्तु अथवा द्रव्य की सिद्धि अर्पित (मुख्यत्व) और अनर्पित (गौणत्व) के द्वारा ही संभव है । यह जैनदर्शन का मान्य सिद्धान्त है, और उसी का संकेत प्रस्तुत सूत्र में हुआ ।

आगम वचन :-

बंधणपरिणामे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-
णिद्धबंधणपरिणामे, में लुक्खबंधणपरिणामे य ।
समणिद्धयाए बंधो न होति समलुक्खयाएवि ण होति ।
वेमायणिद्धलुक्खत्तणेण बंदो उ खंधाणं ॥१॥
णिद्धस्स णिद्धेण दुयाहिए णं. लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएणं ।
निद्धस्स लुक्खेण उवेइ बन्धों, जहण्णवज्जो विसमो समो वा।२।

– प्रज्ञापना, परिणामपद १३, सूत्र १८५

१. स्याद्वाद, सप्तभंगी, नयवाद का विस्तृत वर्णन प्रथम अध्याय के अन्तिम सूत्र में किया जा चुका है । अतः यहां पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(बन्धनपरिणाम दो प्रकार का बताया गया है; यथा–

स्निग्धबन्धन परिणाम और रूक्षबन्धन परिणाम ।

समान स्निग्धता होने पर बन्धन नहीं होता और समान रूक्षता होने पर भी बन्धन नहीं होता । स्कन्धों का बन्ध स्निग्धता और रूक्षता की मात्रा में विषमता होने पर ही होता है।

दो गुण अधिक होने से स्निग्ध का स्निग्ध के साथ बंधन हो जाता है, तथा दो गुण अधिक होने से रूक्ष का रूक्ष के साथ बन्धन हो जाता ह। स्निग्ध का रूक्ष के साथ बन्धन हो जाता है । किन्तु जघन्य गुण वाले का विषम या सम किसी के साथ भी बन्धन नहीं होता ।)

बन्ध के हेतु, अपवाद आदि का वर्णन

स्निग्धरूक्षत्वाद् बंधः ।३२।

न जघन्य गुणानाम् ।३३।

गुणसाम्ये सदृशानाम् ।३४।

द्व्यधिकगुणानाम् तु ।३५।

बंध समाधिकौ पारिणामिकौ ।३६।

(परमाणुओं का स्कन्धों का) बन्ध स्निग्धता (चिकनाई) और रूक्षता (रूखेपन) से होता है ।

जघन्य गुण (गुणों का अंश) वाले परमाणु में बन्ध नहीं होता।

गुणों के (अंशों के) समान होने पर सदृशों (स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ) का बन्ध नहीं होता ।

किन्तु दो गुण (अंश) अधिक वाले आदि परमाणुओं का बन्ध होता है ।

बन्ध अवस्था मे सम और अधिक गुण (अंश) वाले पुद्गल सम तथा हीन गुण (अंश) वाले पुद्गलों को परिणमाते हैं ।

विवेचन – सूत्र ३२ से ३६ तक में बन्ध का विवेचन किया गया है। बन्ध की योग्यता पुद्गल द्रव्य (परमाणु एवं स्कन्धों) में होती है । इसलिए यह सम्पूर्ण वर्णन पुद्गल से सम्बन्धित है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सूत्र ३२ में कहा गया है कि जब स्निग्ध और रूक्ष पुद्गल परस्पर स्पष्ट होते हैं– एक–दूसरे का स्पर्श करते हैं, तब उनमें परस्पर बन्ध होता है यानी दोनों एक क्षेत्रावगाह (एकमेव) हो जाते हैं ।

यह बन्ध विषयक सामान्य कथन है ।

सूत्र ३३ से ३६ तक बन्ध के अपवाद तथा अन्य विशेषताओं का वर्णन' किया गया है ।

बन्ध के स्पृष्ट, स्पृष्टबद्ध आदि कई भेद हैं । शिथिल, गाढ़, प्रगाढ़ आदि रूप से भी बन्ध कई प्रकार का होता है ।

पुद्गल के आठ स्पर्शों में स्निग्ध और रूक्ष दो प्रकार के स्पर्शों का उल्लेख पिछले सूत्रों में हुआ है । बन्ध में यह दोनों (स्पर्श और रूक्ष) महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । दूसरे शब्द में यह भी कहा जा सकता है कि यह दो बन्ध के प्रमुख आधार है ।

यही सामान्य संकेत सूत्र ३२ में दिया गया है ।

सूत्र ३३ में कहा गया कि जिन पुद्गलों में स्निग्धता अथवा रूक्षता का जघन्य अंश होता है, उनमें बन्धन की योग्यता नहीं होती । इसी कारण उनका बन्ध नहीं होता ।

जघन्य का अभिप्राय – जिस पुद्गल में स्निग्धता अथवा रूक्षता का एक अविभागी प्रतिच्छेद रह जाता है, वह पुद्गल जघन्य गुणवाला कहा जाता है ।

जघन्य गुण वाले ऐसे पुद्गल में परस्पर बन्धन की क्षमता नहीं हो पातो। इसी कारण उनका बन्धन नहीं होता ।

किन्तु दो गुण अधिक गुण वाले पुद्गलों का परस्पर बन्ध होता है ।

बन्ध के समय जो अधिक गुणवाला पुद्गल होता है, वह हीन गुण वाले पुद्गल को अपने रूप में परिणमा लेता है, यानी अपने रूप में उसका परिवर्तन कर लेता है, अपने अन्दर उसे समा लेता है ।

समान गुण वाले पुद्गल जब परस्पर बद्ध होते हैं तो वे परस्पर एक–दूसरे को अपने–अपने रूप में परिणमाते हैं ।

एक उदाहरण लीजिए – चार स्निग्ध गुण वाले पुद्गल का तीन रूक्ष गुण वाले पुदग्ल के साथ बन्ध हुआ तो स्निग्ध गुणवाला पुद्गल रूक्ष गुण वाले पुद्गल को अपने रूप में परिणमा लेगा, यानी दोनों के सम्मिलन से जो स्कन्ध बनेगा वह स्निग्ध गुणप्रधान होगा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसीप्रकार अधिक रूक्ष गुण वाले पुद्गल जब कम स्निग्ध गुण वाले पुद्गल के साथ बन्धन करेंगे तो उनसे निर्मित स्कन्ध में रूक्ष गुण प्रधान होगा।

किन्तु समान रूक्ष और स्निग्ध गुण वाले पुद्गल जब परस्पर बन्धन को प्राप्त होते हैं तो उनसे निर्मित स्कन्ध कभी रूक्षगुणप्रधान होता है तो कभी स्निग्धगुणप्रधान और कभी-कभी उस स्कन्ध में रूक्षता और स्निग्धता दोनों ही समान मात्रा में होती है ।

बन्ध के विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यता में मतभेद है । जानकारी के लिए हम दोनों मान्यताएँ दे रहे हैं ।

भाष्यवृत्ति (श्वेताम्बर) मान्यता के अनुसार बन्ध

	गुण	सदृश	विसदृश
१.	जघन्य+जघन्य	नहीं	नहीं
२.	जघन्य+एकाधिक	नहीं	है
३.	जघन्य+द्विअधिक	है	है
४.	जघन्य+त्रि-अधिक	है	है
५.	जघन्येतर+समजघन्येतर	नहीं	है
६.	जघन्येतर+एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है
७.	जघन्येतर+द्विअधिक जघन्येतर	है	है
८.	जघन्येतर+त्रिअधिक जघन्येतर	है	है

सर्वार्थसिद्धि-दिगम्बर परम्परा के अनुसार बन्ध

	गुण	सदृश	विसदृश
१.	जघन्य+जघन्य	नहीं	नहीं
२.	जघन्य+एकाधिक	नहीं	नहीं
३.	जघन्य+द्विअधिक	नहीं	नहीं
४.	जघन्य+त्रि-अधिक	नहीं	नहीं
५.	जघन्येतर+समजघन्येतर	नहीं	नहीं
६.	जघन्येतर+एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
७.	जघन्येतर+द्विअधिक जघन्येतर	है	है
८.	जघन्येतर+त्रिअधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं

आगम वचन -

गुणाणमासओ दव्वं एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे ॥

- उत्तरा. २८/६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(द्रव्य गुणों के आश्रित होता है, गुण भी एक द्रव्य के आश्रित होते हैं । किन्तु पर्याय द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित होती है। सारांश यह कि द्रव्य में गुण और पर्याय दोनों होते हैं ।)

द्रव्य का लक्षण –

गुणपर्यायवद् द्रव्यं ।३७।

(द्रव्य में गुण और पर्याय होते हैं।)

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में द्रव्य का लक्षण दिया गया है कि द्रव्य में गुण और पर्याय दोनों होते हैं ।

गुण शक्तिविशेष को कहते हैं और भावान्तर तथा संज्ञान्तर को पर्याय कहा जाता है । साथ ही जिसमें गुण और पर्याय दोनों रहते हैं, वह द्रव्य कहलाता है ।

पर्यायों की उत्पत्ति गुणों के परणिमन से भी होती है; जैसे आत्मा के ज्ञान गुण के परिणमन से मतिज्ञान आदि रूप पर्यायें बनती है ।

वैसे गुण द्रव्य में सदैव रहते हैं, सहभावी होते हैं; यथा– आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुण ।

पर्यायें क्रमभावी होती है । कोई भी एक पर्याय द्रव्य में सदा काल स्थायी नहीं रहती; जैसे आत्मा की क्रोध आदि कषाय रूप परिणति तथा पर्याय । यह चिरस्थायी नहीं है ।

इसी प्रकार पुदग्ल के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुण स्थायी है, सहभावी है किन्तु घट, पट आदि पर्यायें क्रमभावी है, चिरस्थायी नहीं है, बदलती रहने वाली है ।

पर्यायों की परिवर्तनशीलता का एकान्त अर्थ क्षणिकवादिता समझना उचित नहीं है । इसमें निश्चय और व्यवहार दृष्टि से विभेद करना अपेक्षित है ।

मनुष्य पर्याय को ही लें । एक जीव जब से माता के गर्भ में आता है और जब तक मृत्यु को प्राप्त होता है, उसकी मनुष्य पर्याय होती है। किन्तु इसमें शिशु अवस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, तरुणावस्था, युवापन, प्रौढ़ता, वृद्धत्व आदि अनेक पर्यायें पलटती रहती हैं । इन्हें अवान्तर पर्याय अथवा पर्याय के अन्तर्गत पर्याय कहा जाता है ।

साथ ही जीव की सिद्ध पर्याय ऐसी पर्याय है जो एक बार प्राप्त होने पर कभी पलटती नहीं, अनन्त काल तक रहती है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार गुण और पर्यायों की विभाजक रेखा स्थायित्व-अस्थायित्व नहीं है, अपितु सहभावी और क्रमभावी है । दूसरी रेखा है- उत्पत्ति की। पर्यायों की उत्पत्ति होती है, जो पर्याय पहले नहीं थी, वह उत्पन्न हो जाती है, जबकि गुण नये उत्पन्न नहीं होते, जितने द्रव्य में होते हैं, उतने ही रहते हैं । .

साथ ही एक-एक गुण की अनन्त पर्यायें सम्भव है ।

गुण भी द्रव्य में अनन्त होते हैं, जीव की अपेक्षा । किन्तु छद्मस्थ के ज्ञान में सभी गुण नहीं आ पाते । आत्मा के ज्ञान-दर्शन-वीर्य आदि कुछ गुणो को ही वह जान पाता है ।

यह सब वर्णन भेद दृष्टि से है; किन्तु अभेद दृष्टि से तो द्रव्य गुण पर्यायात्मक ही है ।

आगम वचन-

छव्विहे दव्वे पण्णत्ते, तं जहा-

धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, अद्धासमये अ, से त दव्वणामे ।

- अनुयोगद्वार सूत्र द्रव्यगुणपर्यायनाम, सूत्र १२४

(द्रव्य छह प्रकार के कहे गये हैं - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय और अद्धासमय (काल)।)

अणंता समया । - भगवती, शतक २५ उ. ५, सूत्र ७४७

(कालद्रव्य में अनन्त समय होते है ।)

काल का वर्णन -

कालश्चेत्येके ।३८।

सोऽनन्तसमय : ।३९।

कोई-कोई आचार्य कहते है कि काल भी द्रव्य है ।

वह (काल) अनन्त समय वाला है ।

विवेचन - प्रस्तुत दो सूत्रों मे काल का वर्णन किया गया है ।

आगमों में काल के दो रूप बताये गये हैं, (१) निश्चयकाल और (२) व्यवहारकाल । वह निश्चय काल समय के रूप में अनन्त है । इसी आधार पर सूत्र में *काल को अनन्त समय वाला कहा है ।*

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार काल भी समय, आवलिका, आणपाण, मुहूर्त, दिन, पक्ष मास, संवत्सर आदि रूप में सागर पर्यन्त है तथा उससे भी आगे अनन्तानन्त तक भी कहा गया है ।

अद्धासमय (काल) के व्यावहारिक रूप से सूत्र २५ में बताये गये क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि का व्यवहार होता है। दिन-मास आदि के व्यवहार का आधार सूर्य-चन्द्र की गति है । इसी कारण इसे मनुष्य क्षेत्र तक ही प्रवर्तमान माना गया है ।

काल द्रव्य है या नहीं, इस विषय में मतभेद हैं ।

इसी कारण सूत्रकार नें 'कालश्चेत्येके' यह सूत्र दिया है कि कोई-कोई आचार्य काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं । सूत्रकार इस विवाद में नही पड़े कि काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं ? उन्होंने तो केवल उल्लेख मात्र करके इस विषय को छोड़ दिया ।

काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने वाले आचार्य उसे (काल को) अन्य द्रव्यों की परिणमन क्रिया में उदासीन सहायक मानते हैं ।

जैसे धर्म और अधर्म अस्तिकाय गति और स्थिति में उदासीन सहायक कारण हैं, उसी प्रकार काल भी परिणमन में उदासीन कारण है ।

दूसरी बात, काल अस्तिकाय नहीं है । काल के सूक्ष्मतम अन्त्य अणु कालाणु हैं, जो रत्न राशिवत् परस्पर स्वतन्त्र हैं । जीव के प्रदेशों तथा धर्म, अधर्म और आकाश के प्रदेशों की भाँति परस्पर सम्बद्ध नहीं है ।

यह काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने वालों की मान्यता है ।

अनुयोगद्वार सूत्र में काल (अद्धा समय) छठा द्रव्य माना गया है ।

आगम वचन -

दव्वस्सिया गुणा । - उत्तरा. २८/६

(गुण द्रव्य के आश्रय होते हैं ।)

दुविहे परिणामे पण्णत्ते, तं जहा-

जीवपरिणामे य अजीवपरिणामे य ।

- प्रज्ञापना, परिणाम पद १३, सूत्र १८१

परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानाम् ।

न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः॥ (इति वृत्तिकार)

(परिणाम दो प्रकार का होता है- जीवपरिणाम, अजीवपरिणाम।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वृत्तिकार ने कहा है कि- एक अर्थ से दुसरे अर्थ में प्राप्त होने को परिणाम कहते हैं । सब प्रकार से दूसरा रूप भी नहीं हो जाता और न सब प्रकार से प्रथम रूप नष्ट ही होता है, उसे परिणाम कहते हैं ।

गुण और परिणाम का स्वरूप तथा भेद और विभाग -

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ।४०।

तद्भावः परिणामः । ४१।

अनादिरादिमांश्च ।४२।

रूपिष्वादिमान् ।४३।

योगोपयोगौ जीवेषु ।४४।

गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं; किन्तु वे (गुण) स्वयं निर्गुण होते हैं, यानी गुणों के आश्रित गुण नहीं रहते ।

उसका भाव (परिणमन) परिणाम है अर्थात् स्वरूप में रहते हुए एक अर्थ से दूसरे अर्थ में प्राप्त होना परिणाम है ।

वह दो प्रकार का है - (१) अनादि और सादि (आदिमान)।

रूपी पदार्थों - (पुद्गलों में वह) सादि है ।

जीवों में योग और उपयोग अनादि है ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्रो में गुणो तथा परिणमन (पर्यायों) का वर्णन किया गया है।

सूत्र ४० में आश्रय शब्द आधार के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है । इसका संकेत परिणामी की ओर हैं । द्रव्य परिणामी है, वह परिणमन करता है । गुण उस परिणामी द्रव्य के आश्रित रहते हैं, किन्तु गुणों के आश्रित गुण नहीं रहते; इस दृष्टि से गुण स्वयं निर्गुण यानी अन्य गुणविहीन होते हैं ।

यदि गुणों के आश्रय में गुण रहते लगें तब तो बड़ी अव्यवस्था हो जायेगी । जीव के ज्ञान गुण में दर्शन, चारित्र, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अन्य गुण भी प्रवेश पा जायेंगे । ऐसी दशा में द्रव्य अपने स्वरूप में ही नहीं रह सकेगा । इसीलिए द्रव्य की यह स्वाभाविक व्यवस्था है कि उसके आश्रित तो अनन्त गुण रहते हैं किन्तु उन गुणों के आश्रित अन्य गुण नहीं रहते । द्रव्य के सभी गुण स्वतंत्र है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस द्रव्य के भाव को–स्वतत्त्व को परिणाम कहा जाता है । परिणाम का अभिप्राय यह है कि अपने स्वरूप का त्याग न करते हुए एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होना ।

इसे साधारण शब्दों में पर्याय कहा जा सकता है । जैसे द्रव्य में उत्तर पर्याय का उत्पाद और पूर्वपर्याय का विनाश होता रहता है किन्तु द्रव्य फिर भी अपने स्वरूप में रहता है, उसके स्वरूप का न विनाश होता है और न ही उसमें परिवर्तन होता है, उसका स्थिरत्व ज्यों का त्यों लगातार त्रिकालव्यापी रहता है ।

यही बात परिणाम के बारे में हैं।

वह परिणाम आदिमान और अनादिमान की विवक्षा से दो प्रकार का है ।

अनादि का अभिप्राय है –सहज, स्वाभाविक रूप में सदा से होने वाला और सदा होता रहने वाला परिणाम । ऐसा परिणाम धर्म, अधर्म और आकाश अस्तिकाय में होता रहता है ।

जीव और पुद्गल में अनादि और आदिमान दोनों प्रकार के परिणाम होते हैं ।

अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व आदि रूप परिणाम तो इन दोनों द्रव्यों में अनादि हैं । किन्तु पुद्गल में स्पर्श, रस, वर्ण, गन्ध के उत्तरभेदों की अपेक्षा आदिमान परिणाम है और योग तथा उपयोग की अपेक्षा जीव में भी आदिमान परिणाम हैं ।

आठ प्रकार के स्पर्श, पाँच प्रकार के रस, पाँच प्रकार के वर्ण, दो प्रकार के गन्ध– इनके तरतम भाव के अनुसार असंख्यात भेद होते हैं, वे सब आदिमान परिणाम हैं, क्योंकि वे अनादि से नहीं है ।

जीव के सात प्रकार के औदारिक, आहारक आदि काय योग, चार प्रकार के वचनयोग और चार प्रकार के मनोयोग भी आदिमान है; क्योंकि यह भी सहज, स्वाभाविक और अनादि नहीं है ।

इसी प्रकार मतिज्ञान आदि आठ प्रकार का ज्ञानोपयोग और चक्षु दर्शन आदि चार प्रकार का दर्शनोपयोग भी आदिमान है ।

यह सभी आत्मा अथवा जीव के आदिमान परिणाम है, इसका कारण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह है कि जीव का इस प्रकार का परिणमन अथवा परिणाम होता हुआ अनुभव में आता है ।

विशेष - योग दो प्रकार का होता है- १. भावयोग और २. द्रव्ययोग । भावयोग आत्मा की विशिष्ट शक्ति (योग शक्ति) है और मन-वचन-काय के निमित्त से जो आत्म-प्रदेशों में परिस्पन्दन होता है, उसे द्रव्ययोग कहा जाता है । प्रस्तुत सूत्र ४४ में योग से द्रव्ययोग समझना चाहिए ।

* * *

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

छठा अध्याय

आस्त्रव तत्त्व विचारणा

(INFLOW OF KARMIC MATTER)

उपोद्घात-

प्रथम अध्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान का वर्णन हुआ, दूसरे से चौथे अध्याय तक सात तत्वों में से प्रथम जीव तत्व का विवेचन, किया गया और पांचवें अध्याय में अजीव तत्व का पूर्ण विवरण दिया जा चुका है ।

अब प्रस्तुत छठे अध्याय में आस्त्रव तत्व का वर्णन किया जा रहा है ।

आस्त्रव के भेद-प्रभेद, ईयापथिक, सांपरायिक आस्त्रव, आस्त्रवों के कारण-मन-वचन-काया के योग, आस्त्रव के अधिकरण, ज्ञानवरण आदि आठ कर्मों के हेतुभूत आस्त्रवों का वर्णन प्रस्तुत अध्याय में है ।

आगम वचन-

तिविहे जोए पण्णत्ते, तं जहा -

मणजोए, वइजोए, कायजोये । -भगवती, श.१६, उ.१, सूत्र५६४

(योग तीन प्रकार का होता है --

(१) मनोयोग, (२) वचनयोग, (३) काययोग ।)

योग के भेद-

कायवाङ् : मनःकर्म योगः ।१।

काय वचन और मन की क्रिया (प्रवृत्ति) योग है ।

विवेचन - शरीर, वचन और मन जब सक्रिय होते हैं, अर्थात् प्रवृत्ति-उन्मुख होते हैं, तब आत्मा के प्रदेशों में जो स्पन्दन-कम्पन होता है, वह *योग कहलाता है । वह योग निमित्त की दृष्टि से तीन प्रकार का है*-१. मनोयोग, २. वचनयोग और ३. काययोग ।

योगों का अर्थात् आत्म-प्रदेशों के कम्पन का आन्तरिक कारण है वीर्यान्तरायकर्म और शरीरनामकर्म आदि का क्षयोपशन ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम तथा शरीरनामकर्म की वर्गणाओं के निमित्त से आत्म-प्रदेशों में कम्पन होना काययोग है ।

इसी प्रकार वीर्यान्तरायकर्म तथा मत्यक्षरादि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हुई वाग्लब्धि के कारण जब जीव वचन बोलने को उद्यत होता है, उस समय का आत्म-प्रदेशों का कम्पन वचनयोग है ।

ऐसे ही वीर्यान्तरायकर्म तथा अनिन्द्रियावरण कर्म से प्राप्त हुई मनो-लब्धि से मनन रुप क्रिया करने को जब जीव उद्यत होता है तब वह मनोयोग कहलाता है । व्यवहार में मन-वचन-काय की प्रवृत्ति ही मन-वचन-काय योग कही जाती है ।

छद्मस्थ के यह योग क्षयोपशमजन्य हैं । किन्तु केवली में जो योग का सद्भाव है, वह क्षायिक भाव की अपेक्षा हैं, क्योंकी वहाँ ज्ञानावरणीय, अन्तराय, साथ ही दर्शनावंरणीय और मोहनीय का पूर्ण रुप से क्षय हो चुका है।

इस कारण केवली भगवान वचन, काय योग की क्रिया करने को उद्यत नहीं होते, यह क्रियाएँ उनके सहज ही होती हैं, (ज्ञानावरणीय कर्म के संपूर्ण क्षय से उनका भावमन आत्मा के ज्ञान गुण में विलीन हो जाता है, अतः भावमन न रहने की अपेक्षा मनोयोग संबंधी क्रिया भी नहीं होती) जबकि छद्मस्थ जीव क्षायोपशमिक भाव के कारण उद्यत होता है । यही केवली और छद्मस्थ के योग में अन्तर है । शैलेशी अवस्था प्राप्त केवली भगवान तो अयोगी हैं ही; उनके किसी भी योग का सद्भाव नहीं है ।)

आगम वचन -

पंच आसवदारा पण्णता, तं जहा-

(१)मिच्छतं, (२)अविरइ, (३)पमाया, (४)कसाया, (६)जोगा ।

-समवायांग, समवाय ५

(आस्त्रवद्वार पाँच होते हैं- (१)मिथ्यात्व, (२)अविरति, (३)प्रमाद, (४)कषाय और (५) योग ।)

आस्त्रव का लक्षण-

स आस्त्रवः ।२।

वह (योग ही) आस्त्रव है ।

विवेचन- 'आस्त्रव' का शब्दार्थ है, बहते हुए किसी पदार्थ-द्रव आदि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का आना-आगमन होना । जिस प्रकार झरोखे (खिड़की) से वायु और नाली से बहता हुआ जल आता है, उसी प्रकार मन, वचन, काय-इन तीनों योगों से (अथवा किसी एक, या दो से भी) कर्मवर्गणाओं का आना, आस्त्रव है ।

आस्त्रव को अंग्रेजी में Inflow of Karmic Matter कहा जा सकता है।

विशेष – आगम में मिथ्यात्व आदि पाँच आस्त्रव बताये गये हैं-वे विशेष अथवा भेद की अपेक्षा से हैं । यह सत्य है कि छद्मस्थ जीव का आस्त्रव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग-इन पाँच रुपों में होता है, अथवा अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार ४,३,२ और १ के रुप में भी होता है ।

किन्तु यहाँ जो आस्त्रव का एक ही हेतु स्वीकार किया गया है वह सामान्य कथन है । यह आस्त्रव-यानी योगरुप आस्त्रव छद्मस्थ और केवली (सयोगी केवली) सभी को होता है ।

पुण्णं पाावसवो तह । – उत्तरा० २८/१४

(वह आस्त्रव दो प्रकार का है-१. पुण्यास्त्रव तथा २. पापास्त्रव ।)

आस्त्रव के दो भेद-

शुभः पुण्यस्य ।३।

अशुभः पापस्य ।४।

शुभयोग पुण्य का आस्त्रव है ।

अशुभयोग पाप का आस्त्रव है ।

विवेचन – योग के ये दोनों भेद स्वरुप की अपेक्षा से हैं। इसका अभिप्राय यह है कि शुभ उद्देश्य से की गई प्रवृत्ति-योग से पुण्य का आस्त्रव होता है और अशुभ उद्देश्ययुक्त प्रवृत्ती-योग से पाप का ।

सामान्यतः शुभयोग अथवा पुण्य आस्त्रव नौ प्रकार से होता है-

(१) **अन्नपुण्य** – भूखे को भोजन से तृप्त करना।

(२) **पानपुण्य** – प्यासे प्रणियों की प्यास शांत करना ।

(३) **शयनपुण्य** – थके हुए प्राणियों को मकान आदि आश्रय देकर उनकी सहायता करना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(४) **लयनपुण्य** – पाट-पाटला आदि आसन देना।

(५) **वस्त्रपुण्य** – वस्त्र आदि देकर सर्दी-गर्मी से रक्षा करना ।

(६) **मनःपुण्य** – हृदय से सभी प्राणियों के सुख की भावना करना।

(७) **वचनपुण्य** – निर्दोष मधुर शब्दों से दूसरों को सुख पहुँचाना।

(८) **कायपुण्य** – शरीर से सेवा आदि शुभ कार्य करना ।

(९) **नमस्कारपुण्य** – नम्रतायुक्त व्यवहार करना।

ये सभी शुभ क्रियाएँ साधारण व्यक्ति, प्राणी मात्र के साथ की जाने पर तो साधारण पुण्य का उपार्जन कराती हैं और जब श्रमण-श्रमणी आदि उत्तम चारित्री के प्रति की जाती हैं तब विशेष पुण्य का बंध होता है ।

अशुभयोग १८ हैं, जिन्हें पापस्थानक भी कहते हैं-

(१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३) अदत्तादन, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया,(९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान, (१४) पैशुन्य, (१५) परपरिवाद, (१६) *रति-अरति*, (१७) *मायामृषावाद* और (१८) *मिथ्यादर्शन शल्य* ।

यह १८ अशुभयोग पाप के कारण हैं, इसलिए पाप हैं ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि योग स्वयं बंध नहीं करते, अपितु यह बंध के हेतु हैं निमित्त हैं, कारण हैं । वास्तव में 'बंध' जिसे कहा जाना चाहिए वह तो कषायों आदि से होता है ।

आगम वचन –

जस्स णं कोहमाणमायालोभा वोच्छिन्ना भवन्ति तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जणइ नो संपराइया किरिया कज्जइ ।

जस्स णं कोहमाणमायालोभा अवोच्छिन्ना भवन्ति तस्स णं संपराइयकिरिया कज्जइ नो इरियावहिया ।

– भगवति, श. ७, उ. १, सूत्र २६७

(जिसके क्रोध-मान-माया-लोभ नष्ट हो जाते हैं उसके ईर्यापथिका क्रिया होती है, उसके साम्परायिक क्रिया नहीं होती ।

किन्तु जिसके क्रोध-मान-माया-लोभ नष्ट नहीं होते उसके साम्परायिक (आस्त्रव) होती है, क्रिया ईर्यापथिका नहीं क्रिया होती ।)

क्रिया की अपेक्षा आस्त्रव के भेद-

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ।५।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह (योग) कषायसहित और कषायरहित होता है तथा कषाय सहित सांपरायिक है और कषाय रहित ईर्यापथिक कहा जाता है ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में 'कषाय' शब्द महत्तवपूर्ण है । 'कषाय' शब्द का निर्वचन विभिन्न आचार्यों ने कोई प्रकार से किया है । इनमें से दो प्रमुख हैं–

प्रथम है – 'कषति इति कषायः ।' जो आत्मा को कसे, उसके गुणों का घात करे, वह कषाय है । और दूसरा है – 'कर्षति इति कषायः' अर्थात् जो संसार रुपी कृषि को बढ़ाये, जन्म–मरण की, नाना दुःखों की, चारों गतियों में भ्रमण की फसल को बढ़ाये, आत्मा को संसार के बन्धनों में जकड़े रखे, वह कषाय है ।

'कषाय' गेरुआ रंग को भी कहते हैं । अध्यात्म की भाषा में क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आवेगों से युक्त मन की स्थिती, वृत्ति को 'कषाय' कहा गया है ।

कषयों सहित जो जीव हैं उनका आस्त्रव सांपरायिक आस्त्रव कहलाता है अर्थात् उनके मन–वचन–काय योगों की क्रियाएँ संसार बन्धन को बढ़ाने वाली, उस बन्धन को द्दढ़ करने वाली तथा आत्मा को पराजित करने वाली हैं ।

और जिन जीवों के कषाय नष्ट हो चुके हैं, जो वीतराग हैं उनकी गमनागमनादि (ईर्या) वाणी वगैरह सभी क्रियाएँ ईर्यापथिकी हैं । यह संसार को बढ़ाने वाली नहीं है ।

इस सूत्र का हार्द यह है की कषाययुक्त आत्मा मन–वचन–काययोग द्वारा जो कर्म बन्ध करती है वह कषाय की तीव्रता–मन्दता के अनुसार अधिक या अल्पस्थिति वाला होता है किन्तु कषाययुक्त आत्माएँ तीनों योग–प्रवृत्ति से जो कर्म बन्ध करती हैं, वह मात्र एक समय की स्थिती वाला–ईर्यापथिक बन्ध होता है ।

आगम वचन–

पंचिन्दिया पण्णत्ता.....चत्तारि कसाया पण्णत्ता.....पंच अविरय पण्णता.....पंचविसा किरिया पण्णता.....।

–स्थानांग, स्थान २, उ०१, सूत्र ६०

(इन्द्रियाँ पाँच होती हैं, कषाय चार हैं अविरति पाँच हैं और क्रियाएँ पच्चीस होती हैं (यह प्रथम सांपरायिक आस्त्रव के भेद हैं ।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सांपरायिक आस्त्रव के भेद-

अव्रतकषायोन्द्रियक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्या पूर्वस्य भेदाः ।६।

पूर्व (सांपरायिक आस्त्रव) के अव्रत, कषाय, इन्द्रिय और क्रिया ये (चार) भेद हैं तथा क्रमानुसार इनकी संख्या पाँच, चार, पाँच और पच्चीस है ।)

विवेचन - सांपरायिक कर्म के बन्धहेतु ही सांपरायिक आस्त्रव हैं । वस्तुतः आस्त्रव और बन्ध में कारण कार्य का सम्बन्ध हैं । यह सम्बन्ध अन्वयव्यतिरेक रुप है अर्थात् जहाँ आस्त्रव होगा वहाँ बन्ध भी अवश्य होगा। हाँ, इतना भेद अवश्य है कि सिर्फ योग रुप बन्धहेतु द्वारा बन्ध मात्र एक समय का ही होता है (सयोगी केवली की अपेक्षा से) और यदि कषाय भी विद्यमान हों तो दीर्घकालीन तथा कटुक-मधुर फल देने वाला बन्ध होता है (छद्मस्थ जीव की अपेक्षा से) ।

यहाँ सकषाय अथवा सांपरायिक बन्धहेतुओं (आस्त्रवों) के भेद गिनाये गये है ।

अव्रतरुप बन्धहेतु अथवा आस्त्रव ५ हैं- (१) हिंसा (२) असत्य, (३) चोरी (४) अब्रह्म और (५) परिग्रह से विरति न होना अव्रत है । इन भावों से होने वाला, अर्थात् अविरति से होने वाला आस्त्रव ५ प्रकार का है।

कषाय ४ हैं- (१) क्रोध (२) मान (३) माया (४) लोभ । इनके कारण होने वाला आस्त्रव कषायास्त्रव कहलाता है और यह चार प्रकार का है ।

इन्द्रिय से अभिप्राय यहाँ इन्द्रिय-विषयों से है । इन्द्रिय-विषयों में राग-द्वेषरुप आत्मा की प्रवृत्ति ही आस्त्रव (भावास्त्रव) है और इसी कारण कर्मवर्गणाओं का आगमन होता है ।

इन्द्रियाँ पाँच हैं, - (१) स्पर्शन (२) रसना (३) घ्राण (४) चक्षु और (५) श्रोत्र । इन इन्द्रियों से होने वाला आस्त्रव भी ५ प्रकार का है । क्रिया- कर्मबन्ध की कारणभूत मन-वचन-काय की चेष्टा को क्रिया कहा जाता है ।

क्रियाएँ[1] २५ हैं । उनके नाम तथा संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

---

१. क्रियाओं के यह नाम तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार हैं। आगे पृष्ठ २६४ की तालिका में आगमोत्क और तत्त्वार्थसूत्रोक क्रियाएं दे दी गई हैं । आगम के अनुसार सम्यक्त्व क्रिया नहीं, संवर है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१) **सम्यक्त्व क्रिया**– सम्यक्त्व का पोषण करने वाली क्रियाएँ । जैसे–देव–वन्दन, गरुवन्दन, जप आदि। इन धार्मिक/धर्म सम्बन्धी क्रियाओं से पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होता है, उनमें रस पड़ता है ।

(२) **मिथ्यात्वक्रिया**– मिथ्यात्तव को बढ़ाने वाली कुगुरु आदि की सेवा ।

(३) **प्रयोगक्रिया**– गमनागमन आदि कषाय भावयुक्त शारीरिक क्रियाएँ।

(४) **समादानक्रिया** – त्याग–पथ अपनाने पर भी भोगों की आर रुचि।

(५) **ईर्यापथिकीक्रिया** – कषाय विमुक्त वचन और काय की प्रवुत्ति।

(६) **कायिकीक्रिया** – दुष्टभाव युक्त शारीरीक प्रयास अथवा चेष्टा ।

(७) **आधिकरणिकीक्रिया**– शस्त्रों आदि हिंसक साधनों को ग्रहण करना ।

(८) **प्राद्वेषिकीक्रिया**– यह क्रिया क्रोध के आवेश में होती है ।

(९) **पारितापनिकीक्रिया**– प्राणियों को पारिताप–संताप देने वाली ।

(१०)**प्राणातिपातिकीक्रिया** – हिंसा अर्थात प्राणियों के प्राणघात की क्रिया ।

(११) **दर्शनक्रिया**– रागयुक्त होकर रमणीय दृश्यों को देखने का भाव।

(१२) **स्पर्शनक्रिया**– स्पर्शन योग्य वस्तु को स्पर्श करने की अभिलाषा।

(१३) **प्रात्ययिकीक्रिया** – प्राणिघात करने में सक्षम नये–नये उपकरणों के निर्माण अथवा उन्हें ग्रहण करने, खरीदने की चेष्टा अथवा प्रयास करना।

(१४) **समंतानुपातनक्रिया** – जहाँ स्त्री–पुरुष उठते–बैठते हों अथवा उनका निर्बाध गमनानुगमन होता हो, वहाँ मल–मूत्र त्यागना ।

(१५) **अनाभोगक्रिया**– बिना देखी तथा स्वच्छ की गई भूमि पर शरीर आदि रखना ।

(१६) **स्वहस्तक्रिया**– जो क्रिया दूसरों के द्वारा की जाने योग्य हो, उसे स्वयं अपने हाथ से कर लेना ।

(१७) **निसर्गक्रिया** – दूसरों को पाप प्रवृत्ती के लिए उत्साहित करना अथवा आलस्य के कारण स्वयं प्रशस्त क्रिया न करना ।

(१८) **विदारणक्रिया** –किसी के द्वारा आचरित पाप को प्रगट कर देना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१९) **आनयनक्रिया**– आवश्यक आदि के विषय में अरिहंत भगवान की जैसी आज्ञा है, उससे अन्यथा निरुपण करना ।

सर्वार्थसिद्धिकार ने इसका नाम 'आज्ञाव्यापादनिक क्रिया' दिया है ।

(२०) **अनाकांक्षाक्रिया**– आलस्य तथा धूर्तता अथवा मूर्खता के कारण आगमोक्त विधी में अनादर करना ।

(२१) **आरम्भक्रिया**–छेदन–भेदन आदि हिंसा क्रिया में स्वयं रत रहना और दूसरों की ऐसी क्रियाओं को देखकर हर्षित होना ।

(२२) **परिग्रहक्रिया**– परिग्रह में ममत्वपूर्ण वृत्ति–प्रवृत्ति रखना । इसे विषय अथवा परिग्रह संरक्षिणि क्रिया भी कह सकते हैं ।

(२३) **माया क्रिया**– ज्ञान–दर्शन–चारित्र आदि में वंचना कपट करना इसके दो रुप होते हैं– प्रथम तो स्वयं अपने को ठगना, यानी कुज्ञान, कुदर्शन, कुचारित्र को सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र समझना; और दुसरा ज्ञान–दर्शन–चारित्र की साधना का दिखावा ढोंग करके अन्य भोले लोगों को ठगना।

(२४) **मिथ्यादर्शनक्रिया** – मिथ्यात्वी जीवों की मिथ्यात्व सम्बन्धी क्रियाओं की प्रशंसा करके उसे और दृढ़ करना । जैसे–कोई व्यक्ति भैंरो, भवानी, विश्वकर्मा आदि देवों की पूजा करता है तो यह कहना कि – यह शक्तिशाली और चमत्कारी देवी–देवता हैं, इनकी पूजा तुम करते हो, वह ठीक ही है आदि ।

(२५) **अप्रत्याख्यानक्रिया**– संयमघाती पापक्रियाओं का त्याग न करना । इन पचीस क्रियाओं में से केवल 'ईर्यापथिकी क्रिया' ही बन्ध का हेतु नहीं है शेष सभी क्रियाएँ कषाय की विद्यमानता के कारण सांपरायिक क्रियाएँ ही हैं ।

उत्तराध्ययन (३१/१२) में भी तेरह क्रियास्थान बताये गये हैं और यही १३ क्रियास्थान सूत्रकृतांग (श्रु० २, अ० २) में बताये गये है; किन्तु वहाँ इन्हें 'दण्ड' शब्द से अभिहित किया गया है । वे तेरह स्थान यह हैं–

(१) **अर्थक्रिया (दण्ड)**– प्रयोजन से होने वाला पापाचरण ।

(२) **अनर्थक्रिया**– बिन प्रयोजन किया जाने वाला पापाचरण ।

(३) **अकस्मात् क्रिया** – किसी को दण्ड देने की इच्छा हो और अचानक किसी अन्य को दण्ड मिल जाए । जैसे–चोरी की आदत को सुधारने के लिए पिता अपने पुत्र को थप्पड़ मारता हे तब अचानक ही माता उसे बचाने बीच में आ जाती है तो उसको चोट लग जाती है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(४) **दृष्टिविपर्यास** – भ्रमवश निरपराधी को अपराधी समझकर मार देना अथवा मित्र को शत्रु समझकर मार देना ।

(५) **हिंसाप्रत्ययिकक्रिया (दण्ड)**– हिंसा के भय से हिंसा करना। जैसे–यह सर्प मुझे डस न ले इस आशंका से सर्प को मार देना ।

(६) **मृषाप्रत्ययिक** – अपने और दूसरों के लिए झूठ बोलना ।

(७) **अदत्तादानप्रयियिक** – अपने अथवा दूसरों के लिए चोरी करना

(८) **अध्यात्मप्रत्ययिक** – मन में होने वाली शोकादि क्रिया ।

(९) **मानप्रत्ययिक** – आठ मदों के वशीभूत होकर अन्य व्यक्तियों की निंदा, अपमान करना, उन्हें अपने से हीन समझना ।

(१०) **मायाप्रत्ययिक** – दूसरों को ठगना, अपने दोषों को छिपाना और अन्य के दोषों को प्रकट करना । कपटपूर्ण व्यवहार करना ।

(११) **मित्रप्रत्ययिक** – अपने मित्रों, आश्रित जनों, परिवारी और स्वजनों को भी छोटे अपराध के लिए कठोर दण्ड देना ।

(१२) **लोभप्रत्ययिक** – भोगोपभोग सामग्री, स्त्री–पुत्र–धन आदि परिग्रह की रक्षा के लिए, संचित रखने के लिए कह देना कि मेरे पास क्या है, अमुक के पास अधिक धन है, सुन्दर स्त्री है, युवा पुत्री है आदि। यद्यपि यह कथन सत्य भी हो सकता है किन्तु लोभ के वशीभूत बोला गया है अतः पाप है।

(१३) **ईर्यापथिक** – उक्त बारह क्रियाओं का त्याग करके शुद्ध संयम का पालन करते हुए गमनागमन आदि सभी क्रियाएँ करना ।

उत्तराध्ययन और सूत्रकृतांग में बतलाई गई इन तेरह क्रिया (क्रिया–स्थान अथवा दण्डस्थान) का अन्तर्भाव प्रस्तुत सूत्र में बताई गई पच्चीस क्रियाओं में सरलता से हो जाता है । [१]

इस प्रकार सूत्रोक्त सांपरायिक आस्त्रव के कुल भेद (अव्रत ५, कषाय ४, इन्द्रिय ५ और क्रिया २५(५+४+५+२५) ३९ हैं ।

---

१ क्रियाओं के अर्थ–परिभाषा तथा क्रम में आगमों की तुलना में तत्त्वार्थसूत्र स्वोपज्ञ भाष्य एवं तत्त्वार्थवार्तिक में अन्तर है । इस अन्तर का मुख्य कारण गुरु परम्परागत धारणा एवं देश–काल की परिस्थिति हो सकता है । यह सम्पूर्ण चर्चा बहुत विस्तृत है अतः यहाँ मूल तत्त्वार्थ भाष्य के अनुसार ही अर्थ व क्रम रखा गया है ।
तुलना के लिए संलग्न तालिका देखें– –सम्पादक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रिया

(कर्मबंध की कारण चेष्टा अथवा योग व्यापार विशेष)

(ठाणांग, पन्नवणा) स्थान २, पद २२	सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन (२/२) (३१/१२)	तत्त्वार्थसूत्र
१ कायिकी	१ अर्थक्रिया (दण्ड)	१ सम्यक्त्वक्रिया
२ आधिकरणिकी	२ अनर्थक्रिया (दण्ड)	२ मिथ्यात्वक्रिया
३ प्राद्वेषिकी	३ हिंसाप्रत्ययिक	३ प्रयोगक्रिया
४ पारितापनिकी	४ अकस्मात	४ समादानक्रिया
५ प्राणतिपातिकी	५ दृष्टिविपर्यास	५ ईर्यापथिकी
१ आरम्भिकी	६ मृषाप्रत्ययिक	६ कायिकी
२ पारिग्रहिकी	७ अदत्तादानप्रत्ययिक	७ आधिकरणिकी
३ मायाप्रत्यया	८ अध्यात्म (मन) प्रत्ययिक	८ प्राद्वेषिका
४ अप्रत्याख्यानिकी	९ मानप्रत्ययिक	९ पारितापानिकी
५ मिथ्यादर्शनप्रत्यया	१० मित्रदोषप्रत्ययिक	१० प्राणातिपातिकी
१ दृष्टिजा	११ मायाप्रत्ययिक	११ दर्शनक्रिया
२ स्पर्शजा	१२ लोभप्रत्ययिक	१२ स्पर्शनक्रिया
३ प्रातीत्यिकी	१३ ईर्यापथिकी	१३ प्रात्ययिकी
४ सामान्तोपानिपातिकी		१४ समंतानुपातन
५ स्वाहस्तिकी		१५ अनाभोगक्रिया
१ नैसुष्टिकी		१६ स्वहस्तक्रिया
२ आज्ञापनिका		१७ निसर्गक्रिया
३ वैदारिणी		१८ विदारणक्रिया
४ अनाभोगप्रत्यया		१९ आनयनक्रिया
५ अनवकांक्षप्रत्यया		२० अनाकांक्षाक्रिया
१ प्रेमप्रत्यया		२१ आरम्भक्रिया
२ द्वेषप्रत्यया		२२ परिग्रहक्रिया
३ प्रायोगिकी		२३ मायाक्रिया
४ सामुदानिकी		२४ मिथ्यादर्शनक्रिया
५ ईर्यापथिकी		२५ अप्रत्याख्यानक्रिया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कुछ शास्त्रों में इन ३९ भेदों में ३ योगों (मन, वचन, काय योग) को सम्मिलित करके ४२ भेद भी आस्रव के माने हैं ।

आस्रव के २० भेद प्रसिद्ध हैं । वे इस प्रकार हैं – (१-५) पाँच आस्रव (मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग) (६-१०) पाँच अव्रत (हिंसा, असत्य, चौरी, अब्रह्म, परिग्रह) (११-१५), पाँच इन्द्रियों का संयम न रखना। (१६-१८) तीन योग (मन, वचन, काय योग) (१९) भाण्ड उपकरण आदि अपना सामान अयतना से उठाना-रखना (२०) सूचीकुशाग्र (सुई-दर्भ) आदि वस्तुओं को अयतना से लेना और रखना ।

इस प्रकार आस्रवों के विभिन्न अपेक्षाओं के कई भेद हैं; किन्तु वे सभी प्रस्तुत सूत्र में बताये गये भेदों का संक्षेप अथवा विस्तार मात्र है । उन भेदों का प्रमुख कारण अपेक्षा हैं, स्वरूपगत नहीं ।

आगम वचन –

जे केई खुद्दका पाणा, अदुवा संति महालया ।
सरिसं तेहि वेरंति असरिसं तियणो वदे ।।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो ण विज्जई ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ।।

– सूत्रकृतांग, श्रु. २, अ. ५, गाथा ६-७

(कर्मबन्धस्थ कारणं अपितु वधकस्य तीव्रभावों मंदभावों ज्ञानभावोऽ ज्ञातभावो महावीर्यत्वमल्पवीर्यत्वं चेत्येदपि ।

– शीलांकवृत्ति

((इस संसार में) जो (एकेन्द्रियादि) छोटे जीवहै अथवा जो महाकाय (हाथी, ऊँट, मनुष्य आदि) प्राणी हैं, इन दोनों प्रकार के प्राणियों (की हिंसा से, दोनों) के साथ समानही वैर होता है अथवा समान वैर नहीं होता; ऐसा नहीं कहना चाहिए ।

क्योंकि इन दोनों (समान वैर होता है, अथवा समान वैर नहीं होता) एकान्त वचनों से व्यवहार नहीं चलता अतः इन दोनों एकान्त वचनों को अनाचार जानना चाहिए ।

कर्मबन्ध का कारण वध करने वाले के तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, महावीर्यत्व और अल्पवीर्यत्व हैं ।)

आस्रव में विशेषता के कारण –

तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभाववीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेष : ।७।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आस्रव में विशेषता तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, वीर्य और अधिकरण की विशेषता से होती है ।

विवेचन – यहाँ विशेषता का अभिप्राय न्यूनाधिकता है । अभिप्राय यह है तीव्रभाव आदि ६ कारणों से आस्त्रव अधिक या कम होता है ।

पूर्व सूत्र में बताये गये ३९ आस्त्रव भेदों के विद्यमान रहते हुए भी इस सूत्र में बताये गये ६ कारणों सें आस्त्रव (कर्मवर्गणाओं के आगमन) में न्यूनाधिकता (कमी-वेशी) हो जाती है ।

तीव्रकषायों सहित परिणाम (भाव) **तीव्रभाव** कहलाते हैं और कषायों की मंदता से प्रभावित जीव के परिणाम **मंदभाव** ।

इसी प्रकार जानबूझकर देखते-भालते भी हिंसादि पापास्रव **ज्ञातभाव** है; उदाहरणार्थ, कीड़ी आदि के समूह पर देखकर भी पैर रखकर निकल जाना।

और अनजान में , बिना देखे, असावधानीवश पैर पड़ जाना **अज्ञात भाव** है ।

वीर्य का अभिप्राय शक्ति अथवा बल है । इस अपेक्षा से शक्तिशाली (महावीर्य) प्राणी का आस्त्रव अधिक होता है, तथा अशक्त(अल्पवीर्य) का कम ।

विशेष – शक्तिशाली पुरुष का आस्त्रव और बंध अधिक होता है तो वीर्यशक्ति की विशेषता से उसकी संवर और निर्जरा भी विपुल परिमाण में होती है । इसीलिए कहा गया है – **जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा** – जो कर्म के उपार्जन में शूरवीर हैं वे धर्म-करणी में भी शूरवीर होते हैं । जैसे अर्जुन-माली ने ११४१ व्यक्तियों की नृशंस हत्या द्वारा उपार्जित पाप तथा अन्य सभी संचित कर्मों का छह मास के अल्पसमय में ही संपूर्ण क्षय करके मुक्ति प्राप्त कर ली थी ।

अधिकरण – जीव और अजीव के भेद से अधिकरण कई प्रकार के हैं । इनका विवेचन अगले सूत्रों में किया जा रहा है ।

वैसे अधिकरण का सामान्य अर्थ आधार अथवा प्रयोजन हैं । उद्देश्य प्राप्ति में सहायक साधनों का भी अधिकरण शब्द में समावेश हो जाता है।

किन्तु अधिकरण के प्रसंगोपात्त तथा विशेष अभिप्राय स्वयं आचार्य अगले सूत्रों में कह रहे हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम वचन –

जीवे अधिकरणं. । – भगवती, श. १६, उ. ३

एवं अजीवमवि । – स्थानांग स्थान २, उ. १, सू. ६०

((आस्रव का) अधिकरण (आधार) जीव है और अजीव भी है ।)

अधिकरण के दो प्रकार –

अधिकरणं जीवाजीवाः ।८।

(आस्रव के) आधार जीव और अजीव दोनों ही हैं ।

विवेचन – प्रयोजन के आश्रय साधन या उपकरण को अधिकरण अथवा आधार कहा जाता है । वह दो प्रकार का है– (१) जीव अधिकरण और (२) अजीव अधिकरण ।

किन्तु यहां जीव से अभिप्राय जीव के हिंसादि भाव हैं, वे ही आस्त्रव *के उपकरण अथवा आश्रय होते हैं अर्थात् जीव के भावों के कारण आस्त्रव* होता है, अतः मुख्य रूप में 'जीव' आस्त्रव का अधिकरण (आधार) हैं। अर्थात् जीव के कषायभाव ही आस्त्रव के साधन, उपकरण अथवा अधिकरण हैं । जो बाह्य अधिकरण (आस्त्रव के आधार) होते हैं वे अजीवाधिकरण कहलाते हैं।

आगम वचन –

संरम्भसमारम्भे आरम्भे य तहेव य । – उत्तरा. २४/२१

तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि न समणुजाणामि । – दशवैकालिक अ. ४

जस्स णं कोहमाणमायालोभा अवोच्छिन्ना भवंति तस्स णं संपराइया किरिया। भगवती, श. ७, उ. १, सूत्र १८

(संरम्भ समारंभ आरम्भ–इन तीनों को (तीन योगों) मन, वचन, काय (और तीन करणों) कृत, कारित, अनुमोदन से करना, कराना और अनुमोदन करना–समर्थन करना । (यह कुल सत्ताइस भेद हुए, इनके) क्रोध मान माया लोभ (इन चार से गुणा करने पर १०८ भेद होते हैं यह जीवाधिकरण के भेद हैं ।))

जीवाधिकरण के भेद --

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषाय –

विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ।९।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आद्य (आदि का जीवाधिकरण) के संरम्भ, समारम्भ, आरंभ, योग, कृत, कारित, अनुमत और कषाय- यह भेद हैं । इन (भेदों) के अनुक्रम से तीन, तीन, तीन और चार भेद हैं ।

विवेचन - संरम्भ, समारम्भ, आरंभ-यह ३ योग (मन, वचन, काय) ३ करण (कृत, कारित, अनुमोदन) और ४ कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) इनको परस्पर गुणा करने से (३x३x३x४)=१०८ भेद जीवाधिकरण (जीव के आस्रव रूप परिणाम) के होते हैं ।

यदि और भी विस्तार की अपेक्षा विचार किया जाय तो क्रोध आदि चारों कषाय अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी, संज्वलन के भेद से प्रत्येक चार-चार प्रकार की हैं । तब १०८ को ४ से गुणा करने पर जीवाधिकरण ४३२ भेद हो जाते हैं ।

संरंभ आदि का संक्षिप्त अर्थ इस प्रकार है ।

हिंसादि करने के प्रयास रूप परिणाम **संरंभ** हैं । हिंसादि करने की सामग्री एकत्र करना **समारम्भ** और हिंसादि में प्रवृत्त हो जाना **आरम्भ** हैं ।

मन, वचन और काय-यह तीन योग हैं ।

कृत का अभिप्राय है स्वयं करना । **कारित** दूसरे को आज्ञा देकर कराना और **अनुमत** (अनुमोदन) अन्य किसी व्यक्ति के हिंसादि कार्यों का समर्थन करना, अथवा उसकी प्रशंसा करना है ।

विशेष - (१) नवकरवाली में जो १०८ दाने होते हैं तथा किसी दोष **में** प्रायश्चित्त रूप नवकार आदि को १०८ बार जप करने का जो विधान शास्त्रों में बताया है, उसका अभिप्राय भी यही ज्ञात होता है कि संरम्भ आदि १०८ भेदों से जो पाप का आस्रव हुआ है, उस पाप की १०८ बार के जप से निर्जरा हो जाये ।

आगम वचन -

निवत्तणाधिकरणिया चेव संजोयणाधिकरणिया चेव ।

स्थानांग २, सूत्र ६०

आइए निक्खिवेज्जा । - उत्तरा. २५/१४

पवत्तमाणं । -उत्तरा. २४/२१-२३

(निर्वतनाधिकरण, संयोगाधिकरण, निक्षेपाधिकरण और प्रवर्तमानाधिकरण (मन-वचन-काय में प्रवर्तमान) यह चार अजीवाधिकरण के भेद होते हैं ।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अजीवाधिकरण के भेद –

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदा : परम् ।१०।

(परं दूसरा) अजीवाधिकरण के (१) निर्वर्तना (२) निक्षेप (३) संयोग और (४) निसर्ग–यह चार भेद हैं तथा इनके अनुक्रम से दो, चार दो और तीन यह उत्तरभेद होते हैं.)

विवेचन – निर्वर्तनाधिकरण दो प्रकार का, निक्षेपाधिकरण चार प्रकार का, संयोगाधिकरण दो प्रकार का तथा निसर्गाधिकरण तीन प्रकार का होता है । इस प्रकार अजीवाधिकरण कुल ११ प्रकार का होता है ।

इन ११ अजीवाधिकरणों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

(१) **निर्वर्तना अधिकरण** – का अभिप्राय रचना करना अथवा उत्पन्न करना है । इसके दो प्रकार है –

(क) **देहदुःप्रयुक्तनिर्वर्तनाधिकरण** – इसका अभिप्राय है– काय अथवा शरीर का दुष्प्रयोग कुचेष्टा करना । और (ख) **उपकरण निर्वर्तनाधिकरण**– का अभिप्राय हिंसा के उपकरण शस्त्र आदि की रचना अथवा निर्माण करना ।

(२) **निक्षेप** का अभिप्राय रखना अथवा धरना है– इसके चार भेद है –

(क) **सहसा निक्षेपाधिकरण** – भय से अथवा शीघ्रता के कारण पुस्तक, शरीर अथवा शरीर मल (मल–मूत्र, श्लेष्म आदि) को सहसा ही अविवेकपूर्वक इधर–उधर फैंक देना, उत्सर्जन – विसर्जन कर देना ।

(ख) **अनाभोगनिक्षेपाधिकर** – शीघ्रता अथवा भय न होने पर भी जीव–जन्तुओं की उपस्थिति का विचार न करके पुस्तक आदि वस्तुओं को रख देना अथवा उचित स्थान पर न रखकर इधर–उधर रख देना ।

(ग) **दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण** – प्रमार्जन किये बिना अथवा अयतना से पुस्तक आदि उपकरणों को इधर–उधर रख देना ।

*(घ) **अप्रत्यवेक्षितानिक्षेपाधिकरण** – बिना देखे ही वस्तुओं को रख देना ।*

(३) **संयोगाधिकरण** – संयोग का अभिप्राय जोड़ना अथवा मिलाना है । संयोगाधिकरण के दो भेद है –

(क) **उपकरण संयोजना** – शीत के कारण ठण्डे हुए अपने शरीर अथवा पात्र आदि को धूप में गर्म हुए रजोहरण से पौंछना, शोधना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(ख) **भक्तपान संयोजना** – भोजन के पदार्थों का एक-दूसरे में मिलाना, जैसे-दूध में चीनी मिला देना । इससे स्वाद बढ़ जाता है ।

(४) **निसर्गाधिकरण** – निसर्ग स्वभाव को कहते हैं । मन-वचन-काय की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, वह निसर्ग है । इसके विपरीत इन तीनों को दूषित रूप से प्रवर्ताना निसर्गाधिकरण है । इसके तीन भेद हैं-

(क) **मनोनिसर्गाधिकरण** – मन में दूषित विचार करना ।

(ख) **वाग्निसर्गाधिकरण** – दुष्ट, कटु, हीलित वचन बोलना ।

(ग) **कायनिसर्गाधिकरण** – इस प्रकार की विकृत शारीरिक चेष्टाएँ करना, शरीर को हिलाना चलाना जिससे हिंसा आदि पापों का अधिक संभावना हो ।

द्रव्य और भाव अधिकरण – वस्तुस्थिति यह है कि अकेला जीव ही आस्रव नहीं कर सकता है और अजीव के तो आस्रव का प्रश्न हीं नहीं है । जीव और अजीव दोनो ही संयुक्त होकर आस्रव के अधिकरण बनते ह। भेद अपेक्षा से जीवाधिकरण को भावाधिकरण और अजीवाधिकरण को द्रव्य अधिकरण की संज्ञा दी जा सकती है ।

इन दोनों अधिकरणों के भी पुनः द्रव्य और भाव से दो-दो भेद किये जा सकते हैं । जीव के स्वयं के रागद्वेषरूप परिणाम भावाधिकरण है और उन परिणामों की ओर प्रवृत्ति-रूचि द्रव्य अधिकरण की जा सकती है ।

अजीव अधिकरण की स्वयं की अपनी नैसर्गिक शक्ति, परिणमना, आकार, तीक्ष्णता, आदि उसका भाव अधिकरण है और वह स्वयं तो द्रव्य अधिकरण है ही । जैसे सूखने को डाले हुए गीले वस्त्र-पात्र आदि पर कोई सूक्ष्म जीव उड़कर गिर जाय, पीड़ित हो अथवा मर ही जाय तो यह भाव अधिकरण है और वह वस्त्र पात्र आदि साधु की असावधानी अथवा शीघ्रता से अथवा वायु आदि के प्रबल वेग से गिर जाय तथा वहाँ भूमि पर रेंगने वाले किसी सूक्ष्म जन्तु का प्राणव्यपरोपण हो तो वह वस्त्रपात्र आदि का द्रव्य अधिकरण है ।

आगम वचन-

णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधेणं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं!

गोयमा ! नाणपडिणीययाए णाणनिण्हवणयाए णाणंतराए णाणप्पदोसेणं णाणच्चासायणाए णाणविसंवादणाजोगेणं .. एवं जहा णाणावरणिज्जं नवरं दंसणनाम घेत्तव्वं ।

– भगवती, श. ८, उ. ९, सू. ७५-७६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(भगवन ! किस कर्म के उदय से ज्ञानावरणीय कार्मण शरीर का प्रयोगबन्ध होता है ?

गौतम ! ज्ञानी की प्रत्यनीकता-शत्रुता करने से, ज्ञान को छिपाने से, ज्ञान में विघ्न डालने से, ज्ञान मे दोष निकालने से ,ज्ञान का अविनय करने से, ज्ञान में व्यर्थ का वाद-विवाद करने से ज्ञानावरणीय कर्म का आस्रव होता है ।

इन उपरोक्त कार्यों में दर्शन शब्द संयोजित करके कार्य करने से दर्शनावरणीय कर्म का आस्रव होता है ।)

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के आस्रवद्वार (बंध हेतु)-

तत्प्रदोषनिन्हवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ।११।

(१) प्रदोष (२) निन्हव (३) मात्सर्य (४) अन्तराय (५) आसादन और (६) उपघात - यहा (ऐसे आत्म परिणाम) ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म के आस्रव (बंध हेतु) है ।

विवेचन - *प्रस्तुत सूत्र में ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मों के बंध* में जो क्रियाएँ अथवा कार्य निमित्त पड़ते हैं अथवा जिनकी वजह से इन कर्मों का बंधन होता है, इन कार्यों को बताया गया है ।

दोनों ही कर्मों के बंधहेतु के एक ही हैं, नाम भी वही हैं, किन्तु जब वह ज्ञान (अवबोध अथवा जानने की क्रिया) से सम्बन्धित होते हैं तब ज्ञानावरणीय कर्मबंध में हेतु बनते हैं और देखने की क्रिया (दर्शन) से सम्बन्धित होते हैं तब वे दर्शनावरणीय कर्म का बन्ध कराते हैं ।

वस्तुतः ज्ञानावरणीय कर्म का कार्य आत्मा के ज्ञान गुण वर आवरण डालना है और दर्शनावरणीय का कार्य दर्शन गुण में बाधा डालना है ।

(ज्ञान और दर्शन दोनों ही सहभावी गुण है)। दर्शन के दूसरे ही क्षण, ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है । देखने के तुरन्त बाद, एक भी क्षण का व्यवधान हुए बिना, ज्ञान होता है, यह सभी प्राणियों की नित्य की अनूभूति है, इसी कारण इन दोनों कर्मों के बंधहेतु भी समान ही हैं ।

सूत्रोक्त बंधहेतु (आस्रवों) का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

(१) **प्रदोष** - ज्ञान, ज्ञानी एवं ज्ञानी के जो साधन है उनके प्रतिद्वेष या ईर्ष्या भाव रखना । मोक्ष के कारणभूत तत्त्वज्ञान को सुनकर भी उसकी प्रशंसा न करना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(२) **निन्हव** – ज्ञान, ज्ञानदाता गुरू का नाम छिपाना तथा अरिहंत भगवान द्वारा प्ररूपित तत्त्वस्वरूप के विपरीत प्ररूपणा करना ।

जमाली आदि ऐसे सात निन्हव परम्परा में प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों की अपने मनमाने ढंग से प्ररूपणा की थी।

यहाँ निन्हव और विरोधी का अर्थ समझ लेना चाहिए । विरोधी तो स्पष्ट विरोधी होता है, वह जिनमार्ग के अतिरिक्त किसी अन्य धर्म परम्परा का अनुयायी होता है, किन्तु निन्हव स्वयं को जिनमार्ग का अनुयायी मानता है, ऐसा कहता भी है, फिर भी जिनोक्त तत्त्व का अपलाप करके मनमाना अर्थ लगाता है और उसी का प्रचार-प्रसार जिनोक्त तत्त्व कहकर करता है ।

(३) **मात्सर्य** – इसका अभिप्राय है ईर्ष्या । ज्ञान और ज्ञानी से ईर्ष्या रखना, जलन रखना ।

(४) **अन्तराय** – ज्ञानाभ्यास में विघ्न डाल देना, पुस्तक आदि छिपा देना आदि । इसी में ज्ञान-प्रसार के साधनों का विरोध भी सम्मिलित है ।

(५) **आसादन** – कोई व्यक्ति दूसरे को ज्ञान का उपदेश दे रहा हो, तत्त्वज्ञान सिखा रहा हो तो उसे संकेत से रोक देना अथवा कह देना-यह *तो कुछ सीख ही नहीं सकता, मंदबुद्धि है, व्यर्थ समय बर्बाद करना है ।*

(६) **उपघात** – आगम अथवा जिनोक्त ज्ञान में व्यर्थ के दूषण लगाना।

भाष्य के अनुसार – ज्ञान एवं ज्ञानी के गुणों को ढकना आसादन है, और ज्ञान को ही अज्ञान मानकर उसे दूषित करना उपघात है ।

विशेष – व्यावहारिक शिक्षा अथवा ज्ञान प्राप्ति में भी यही सभी बातें अनुचित मानी जाती हैं, जो बच्चे ऐसे कार्य करते हैं, उन्हें स्कूल से बाहर निकाल दिया जाता है ।

अतः तात्त्विक दृष्टि के साथ-साथ व्यावहारिक दृष्टि से भी यह सभी बातें अनुचित और ज्ञान-प्राप्ति में बहुत बड़ी बाधक बन जाती है । □

आगम वचन –

परदुक्खणयाये, परसोयणयाए, परतिप्पणयाए, परपिट्टणयाए, परपरियावणयाए, बहूणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए जाव परियावणयाए एवं खलु गोयमा ! जीवाणं अस्सायावेयणिज्जाकम्मा किज्जन्ते ।

– भगवती, श. ७, उ. ६, सू. २८६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(हे गौतम ! दूसरे को दुःख देने से, दूसरे को शोक उत्पन्न कराने से, दूसरे को झुराने से, दूसरे को रुलाने, दुसरे को पीटने से, दूसरे को परिताप देने से, बहुत से प्राणियों और जीवों को दुःख देने से, शोक उत्पन्न कराने आदि परिताप देने से जीव असातावेदनीय कर्मों का आस्रव करते हैं ।

असातावेदनीय कर्म के आस्रव द्वार (बंधहेतु)-

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ।१२।

(१) दुःख (२) शोक (३) ताप (४) आक्रन्दन (५) वध (६) परिदेवन-स्वयं करने से, अन्य को कराने से अथवा दोनों को एक साथ उत्पन्न करने से, असातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है ।

विवेचन - यहाँ असातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण बताये गये है । असातावेदनीय कर्म का कार्य जीव को दुःख की सामग्री मिला देना अथवा दुःखद स्थिति परिस्थिति का संयोग करा देना है । ऐसी विपरीत परिस्थितियों के निर्माण के कारण ही प्रस्तुत सूत्र में बताये गये हैं ।

(१) **दुःख**- आकुलता-व्याकुलता (पीड़ा) का अनुभव होना ।

(२) **शोक** - इष्ट वस्तु के वियोग अथवा अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति के संयोग होने पर चिन्ता करना, यह कैसे दूर हो- इस प्रकार का भाव शोक है ।

(३) **ताप** - निंदा, अपमान आदि से मन में संताप होना ।

(४) **आक्रन्दन** - दुःख अथवा विपरीत परिस्थिति से पीड़ित-प्रताड़ित-परितप्त होकर विलाप करना, आँसू बहाना, उच्च स्वर से रोना ।

(५) **वध**-अन्य प्राणियों के इन्द्रिय आदि प्राणों को पीड़ित करना।

(प्राण दस हैं - ५ इन्द्रियबल, ३. मन-वचन-काय बल, १. आयु, १ श्वासोच्छ्वास । इन्हें किसी भी प्रकार ताड़ना, तर्जना, मारना, पीटना, कटु वचन बोलना आदि से पीड़ित करना वध है ।)

(६) **परिवेदन** - ऐसा दीनता भरा विलाप करना कि सुनने वाले के हृदय में दया जागृत हो जाय, परिवेदन है ।

इन सब बातो मे असातावेदनीय (दुःख देने वाला) कर्म का आस्रव होता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम वचन –

पाणाणुकंपाए भूयाणुकंपाए जीवाणुकंपाए सत्ताणुकंपाए बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टणयाए अपरियावणयाए एवं खलु गोयमा ! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जन्ति । – भगवती, श. ७, उ.३, सूत्र २८६

(हे गौतम ! प्राणियों पर अनुकंपा करने से, भूतों[1] पर अनुकंपा करने से, जीवों पर अनुकंपा करने से, सत्त्वों पर अनुकंपा करने से, बहुत से प्राणियों को दुःख न देने से, शोक न कराने से, न झुराने से, न रुलाने से, न पीटने से, परिताप न देने से जीव सातावेदनीय कर्म का आस्रव करते हैं ।)

सातावेदनीय कर्म के आस्रवद्वार (बंधहेतु)–

भूतव्रत्यनुकंपा दानं सरागसंयमादियोग : क्षान्तिः शौचमितिसद्वेद्यस्य । १३।

(१) भूतअनुकंपा (२) व्रतीअनुकंपा (३) दान (४) सरागसंयम आदि *योग (५) क्षमा (६) शौच–यह (भाव) सातावेदनीय कर्म के आस्रवद्वार (बन्ध* हेतु) हैं ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में सातावेदनीय कर्म के बंधहेतुओं का निरूपण हुआ है । सातावेदनीय आत्मा (संसारी आत्मा) के लिए सुखदायी है । यह सुख–सामग्री का योग मिलाता है और सुखद परिस्थितियों का निर्माण करता है । इष्टसंयोग और अनिष्टवियोग आदि सभी सांसारिक सुख इसी कर्म के प्रभाव से जीव को प्राप्त होते हैं । सातावेदनीय कर्म उपार्जन के हेतुओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है ।

(१) **भूत अनुकंपा** – चारों गतियों के सभी जीव यानी जीव मात्र पर करुणा बुद्धि से दया रखना । इसे सामान्यतः जीव दया कहा जाता है ।

(२) **व्रती अनुकंपा** – व्रत–नियम आदि जिन लोगों ने ग्रहण कर लिए हैं, इनके प्रति दया के भाव रखना। किन्तु यहाँ दया में पूज्यभाव, श्रद्धा निहित है । सर्वव्रती साधु और देशव्रती श्रावकों को सहयोग देना जिससे वे

---

१. प्राणी – दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय वाले जीव, **भूत**–*वनस्पति–कायिक* जीव, **जीव**=पाँचों इन्द्रिय वाले जीव और **सत्त्व**= पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीव कहलाते हैं ।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपने व्रतों में वृद्धि कर सकें, आत्म-साधना में दृढ़ हों, यही व्रती अनुकंपा है ।

(३) **दान**-आहार, औषध, अभयदान, ज्ञान आदि देना। दान विनम्र भावपूर्वक अपने और दूसरे के उपकार के लिए दिया जाता है । दान में सहायक बनना भी दान की श्रेणी में है ।

(४) **सरागसंयमादि योग** - इसमें चार बातें अन्तर्निहित है -

(क) **सरागसंयम** - संयम ग्रहण करने के बाद भी आत्मा में राग के अंश शेष रह जायें ।

(ख) **संयमासंयम** - गृहस्थधर्म, जिसमें संयम और असंयम का मिलाजुला रूप होता है ।

(ग) **अकाम निर्जरा** - परतन्त्रता में भोगों का त्याग ।

(घ) **बालतप** - तत्त्वज्ञान से रहित दशा में काया कष्ट आदि तप।

(५) **क्षांति** - इसका अभिप्राय है क्षमा । क्षमा क्रोध कषाय का उपशम हो जाने पर ही संभव है, अतः उपलक्षण से क्रोध (साथ ही मान) की शांति।

(६) **शौच** - *इसका शाब्दिक अर्थ पवित्रता है । आध्यात्मिक संदर्भ* में लोभ (साथ ही माया-कपट) ही आत्मा की अपवित्रता है । अतः शौच का अभिप्राय है लोभ का त्याग । हृदय का पवित्रता ।

इन हेतुओं अथवा इन क्रियाओं का आध्यात्मिक के साथ-साथ सामाजिक महत्व भी बहुत है । साता और असाता वेदनीय के जो बन्धहेतु है उनका स्पष्ट और प्रत्यक्ष प्रभाव सामाजिक, पारिवारिक जीवन पर पड़ता है। असातावेदनीय के हेतुओं के आचरण से समाज, परिवार सभी दुखी हो जाते हैं, जबकि सातावेदनीय के हेतु सुख के कारण बनते हैं, हर्ष और खुशियों का सागर लहराने लगता है ।

आगम वचन -

पंचहिं ठाणेहिं जीवा दुल्लभबोधियत्ताए कम्मं पकरेंति, तं जहा-

(१) अरहंताणं अवन्न वदमाणे

(२) अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स अवन्नं वदमाणे

(३) आयरियउवज्झायाणं अवन्नं वदमाणे

(४) चउवण्णस्स संघस्स अवण्णं वदमाणे

(५) विवक्कतवबंभचेराणं देवाणं अवन्नं वदमाणे ।

- स्थानांग ५/२/४५६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(पाँच स्थानों के द्वारा जीव दुर्लभबोधि (दर्शनमोहनीय) कर्म का उपार्जन करते हैं - (१) अर्हन्त का अवर्णवाद करने से (२) अर्हन्तप्रज्ञप्त धर्म का अवर्णवाद करने से (३) आचार्य-उपाध्याय का अवर्णवाद करने से (४) चतुर्विध (धर्म) संघ (श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविका) का अवर्णवाद करने से तथा (५) परिपक्व तप और ब्रह्मचर्य के धारक जो जीव देव हुए हैं, उनका अवर्णवाद (जो दोष उनमें नहीं है, वैसे दोष बताकर निंदा करना) करने से।

दर्शनमोहनीय कर्म के आस्रवद्वार (बन्धहेतु)

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ।१४।

(१) केवली (केवलज्ञानी), (२) श्रुत-केवलीकथित, (३) संघ (चतुर्विधधर्मसंघ), (४) धर्म (अहिंसामय) और (५) देवों का अवर्णवाद बोलना दर्शनमोहनीय के आस्रव हैं ।

विवेचन - प्रस्तुत में दर्शनमोहनीय कर्म के आस्रवद्वार बताये गये ह। दर्शनमोहनीय कर्म आत्मा को यथार्थ का अवबोध नहीं होने देता । उसकी (आत्मा की) रुचि अपने स्वभाव की ओर होने में यह बाधा उत्पन्न करता है ।

यहाँ अवर्णवाद शब्द विशिष्ट अर्थ को लिए है । इसका आशय है - किसी वस्तु या व्यक्ति में जो दोष विद्यमान न हों वैसे दोष अपने मनमाने ढंग से लागकर उसकी निन्दा और बुराई करना, अपयश फैलाना ।

(१) **केवली (अवर्णवाद)** - सम्पूर्ण ज्ञानी सर्वज्ञ आत्माओं के विषय में झूठा भ्रामक प्रचार करना, यथा- कोई सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता आदि ।

(२) **श्रुत** - केवली भगवान द्वारा कथित अंग, उपांग आदि श्रुत, गणिपिटक आदि की निन्दा करना, कहना - यह भगवान की वाणी नहीं है, असत्य हैं आदि ।

(३) **संघ** - चतुर्विध संघ (श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविका) में व्यर्थ के दोष लगाना, उनकी निन्दा करना ।

(४) **धर्म** - अहिंसामय धर्म को कायरों का धर्म बताना, कहना कि अहिंसा के कारण ही देश गुलाम हुआ था आदि अनर्गल बाते कहना ।

(५) **देव**-देवों को मांस-मदिरा आदि भक्षण करने वाले रागयुक्त बताना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अवर्णवाद अथवा निन्दा व्यावहारिक जीवन में भी कटुफल प्रदान करती है, व्यक्ति अपमानित होता है, सभी उसे नीची नजर से देखते हैं ।

आध्यात्मिक दृष्टि से अवर्णवाद, चूंकि झूठ का पिटारा है, अतः वह आत्मा को इतना कलुषित बना देता है कि सत्य की ओर उसकी रुचि ही नहीं होती । उसकी आत्मा में झूठ और निन्दा की कालिख बहुत गहराई से जम जाती है, इसी कारण वह सत्य का – सम्यक्त्व का स्पर्श नहीं कर पाती।

आगम वचन –

मोहणिज्जकम्मासरीप्पओग पुच्छा, गोयमा ! तिव्वकोहयाए तिव्वमाणयाए तिव्वमायाए तिव्वदंसणमोहणिज्जयाए तिव्वचारित्तमोहणिज्जाए । भगवती श. ८, उ. ९, सू. ३५१

(प्रश्न–(चारित्र) मोहनीय कर्म के शरीर का प्रयोगबन्ध किस प्रकार होता है ?

उत्तर–गौतम! तीव्र क्रोध करने से, तीव्र मान करने से, तीव्र माया (कपट) करने से, तीव्र लोभ करने से, तीव्र दर्शनमोहनीय से और तीव्र चारित्र मोहनीय से ।)

चारित्रमोहनीय कर्म के आस्रवद्वार (बन्ध हेतु)–

कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य । १५।

कषाय के उदय से होने वाले आत्मा के तीव्र परिणाम चारित्रमोहनीय कर्म के आस्रवद्वार (बंधहेतु) हैं ।

विवेचन – कषाय चार हैं – क्रोध, मान, माया, लोभ । इनके वशीभूत होकर जब आत्मा एकदम उद्वेलित हो उठता है, तब आत्मा के वे तीव्र (उत्कट) कलुषित भाव चारित्रमोहनीय कर्म के आस्रवद्वार बन जाते हैं ।

चारित्रमोहनीय कर्म–संयम में बाधक है ।

नोकषाय मोहनीय के ९ भेद है । इनके बंध के कारण निम्न हैं –

(१) **हास्य मोहनीय** – त्यागी या सत्यव्रतियों का उपहास करना, दीन या निर्धन आदि का मजाक उड़ना, अथवा दूसरों को हंसाने के लिए विदूषकों (भांड़ों) जैसी चेष्टाएं करने से इसका बंध होता है ।

(२) विविध प्रकार की क्रीड़ाओं मे रस लेना, नीति एवं धर्मयुक्त विचारों से अप्रीति रखना, आदि कारणों से **रति–मोहनीय** का बंध होता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(३) दूसरों को उद्विग्न करना, उनके आराम में बाधा पहुंचाना, नीच जनों का संग करना तथा ऐसे ही अन्य कार्य **अरति-मोहनीय** कर्मबंध के कारण हैं ।

(४) स्वयं शोक संतप्त रहना, अन्यों को शोक उपजाना आदि कार्यों से **शोक-मोहनीय** कर्म का बंध होता है ।

(५) स्वयं भयभीत रहना तथा दूसरों को भयभीत करने से **भय मोहनीय** का बंध होता है । भय के प्रमुख हेतु हैं - (१) स्वयं की अथवा अन्य की शक्तिहीनता, (२) भयजनक बात सुनना-सुनाना, (३) भयभीत करने वाले भयानक दृश्य देखना-दिखाना । इहलोक आदि भयों का बार-बार स्मरण करके स्वयं अपने को भयभीत रखना तथा दूसरों को स्मरण कराके उनके मन में भय उत्पन्न करना ।

(६) **जुगुप्सा मोहनीय** के बंध का कारण धर्म एवं धार्मिक व्यक्तियों के प्रति घृणा उत्पन्न करने का प्रयास करना है ।

(७) **स्त्रीवेद** के बंध का प्रमुख कारण कपटाचरण तथा परछिद्रान्वेषण है ।

इसके अतिरिक्त **स्त्रीवेद** के बंध का कारण स्त्रियों के प्रति काम भावना उत्तेजित करने वाली बाते कहना, मन में ऐसे कुत्सित विचार विचार ।

इसी प्रकार (८) **पुरुषवेद** का बंध पुरुषों की वासना भडकाने तथा (९) **नपुंसक वेद** का बंध स्त्री एवं पुरुष दोनों की वासना भडकाने -उत्तेजित करने वाले मानसिक-वाचसिक और शारीरिक क्रिया-कलापों से होता है -

आगम वचन -

चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरतियत्ताए कम्मं पकरेंति, तं जहा-
महारम्भताते महापरिग्गहयाते पंचिंदियवहेणं कुणिमाहारेणं ।

- स्थानांग, स्थान ४, उ. ४, सू. ३७३

(जीव चार प्रकार से नरक आयु का बंध करते हैं - (१) महाआरंभ करने से, (२) महापरिग्रह करने से (३) पंचेन्द्रिय जीवों का वध करने से और (४) मांस खाने से ।)

नरकायुबंध के आस्रवद्वार (बंधहेतु)

बह्वारंभपरिग्रहत्वं च नरकास्यायुषः । १६।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्याधिक आरंभ और परिग्रह (के भाव) नरकगति नरक-आयुष्य के बंध का हेतु (आस्रव द्वार) हैं ।

विशेष – सूत्र १६ से २० इन पाँच सूत्रों में एक बहुजिज्ञासित प्रश्न का समाधान प्रस्तुत हुआ है । प्राणी एक गति (-भव) से दूसरी गति (-भव) में जन्म लेता है, तो उसका कारण कर्म है यह तथ्य जानते हुए भी जिज्ञासा उठती है कि कौन-सा कर्म, कैसी क्रियाएँ, किस गति के बन्धहेतु (-आस्रव) बनते हैं ? अर्थात् वे कौन कर्म से हैं, जिनके करने से प्राणी नरक की यातनाएँ भोगता है, तिर्यंच गति के दुःख झेलता है, या मनुष्य-देव गति में जन्म लेता है । सामान्यतः इन प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत सूत्रों में हैं ।

विवेचन – यहाँ 'बहु' शब्द संख्यावाची भी है और परिमाणवाची भी; इसका अभिप्राय यह है कि आरंभ (हिंसाजनक क्रियाकलाप) अधिक संख्या में तथा अधिक मात्रा में किया जाय तथा तीव्र क्रूर भावों के साथ किया जाय वह 'महा-आरंभ' है । इसी प्रकार महापरिग्रह भी समझना चाहिए ।

वास्तव में 'मेरेपन' की भावना ही परिग्रह है । बाह्य वस्तुओं तथा अपने शरीर आदि पर जो ममत्व भाव होता है, वह परिग्रह ही है । इस ममत्व भाव की तीव्रता ही 'बहु' शब्द से प्रगट की गई है । विशाल संपत्ति होने मात्र से कोई बहु-परिग्रही नहीं होता किंतु परिग्रह के प्रति तीव्र ममत्व आसक्ति होने से प्राणी बहुपरिग्रही' होता है ।

इसके विपरीत कम हिंसा और कम ममत्व वाला जीव अल्पआरंभी और अल्प-परिग्रही होता है ।

सूत्र में आये हुए 'च' शब्द से यह द्योतित होता है कि पूर्व सूत्र **'कषायोदयात्तीव्रपरिणाम'** की भी यहाँ योजना कर लेनी चाहिए । इसका अभिप्राय यह है कि तीव्र क्रोध-मान-माया-लोभ के अध्यवसायों सहित बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरकगति का आस्रवद्वार अथवा बन्धहेतु है ।

आरम्भ और परिग्रह के विषय में सूक्ष्म दृष्टि से विचार करना आवश्यक है । ऐसा भी संभव हो सकता है कि बाह्य दृष्टि से तो व्यक्ति बहुत परिग्रही दिखाई देता हो और वास्तव में वह अत्यन्त अल्प-परिग्रही हो ।

जैसे भरत चक्रवर्ती छह खण्ड के स्वामी थे, बाह्य दृष्टि से बहुत बड़े परिग्रही थे; किन्तु वास्तव में वे वह अत्यन्त अल्पपरिग्रही थे; तभी तो उन्होंने आरीशा भवन में केवलज्ञान का उपार्जन कर लिया था ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अतः आरम्भ परिग्रह की सच्ची कसौटी आत्मा का मूर्च्छाभाव है, बाह्य परिग्रह आदि तो स्थूल दृष्टि है ।

आगम वचन –

चउहिं ठाणेहि जीवा तिरिक्खजोणियत्ताए कम्मं पगरेन्ति, तं जहा–माइल्लताते णियडिल्लताते अलियवयणेणं कूडतुल्ल कूडमाणेणं ।

– स्थानांग, स्थान ४. उ. ४, सूत्र ३७३

(जीव चार प्रकार से तिर्यंच आयु का बन्ध करते हैं (१) छल–कपट से (२) छल को छल द्वारा छिपाने से (३) असत्य भाषण से और (४० झूठा तोलने मापने से ।

तिर्यंचगति के आस्रवद्वार (बन्धहेतु)–

माया तैर्यग्योनस्य । १७।

कपट कुटिलता तिर्यंचगति का आस्रवद्वार – तिर्यंच आयुष्य बन्ध का हेतु है ।

विवेचन – *मायाचार अथवा छल–प्रपंच का भाव रखना, तिर्यंचगति के* आस्रव का कारण है । इससे तिर्यंचगति का बन्ध होता है ।

व्यावहारिक जीवन में तो छल–कपट बुरा है ही, किन्तु धार्मिक जगत में भी जो लोग धर्म के नाम पर पाखण्ड फैलाते हैं, भोले भक्तों को ठगते हैं उनके और भी कटुपरिणाम सामने आते हैं ।

यहाँ तक कि यदि धर्माचरण में भी कपटपूर्वक मन मे वक्रता रख कर प्रवृत्ति करते हैं तो उसके कटुपरिणाम न केवल इसी जन्म में किन्तु अगले जन्म में भी भोगने पड़ते हैं । जैस कि सूत्रकृतांग (२/१/९) में कहा है –

जे इह मायाइ मिज्जती आंगता गब्भायऽणंतसो ।

(जो मायापूर्वक आचरण करता है, वह अनन्त बार जन्म–मरण करता है।)

आगम वचन –

चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्सत्ताते कम्मं पगरेंति, तं जहा–पगति, भद्दताते पगतिविणीययाए साणुक्कोसयाते अमच्छरिताते

– स्थानांग, स्थान ४, उ. ४. सूत्र ३७३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(चार प्रकार से जीव मनुष्यायु का बन्ध करते हैं – (१) उत्तम भद्रसरल स्वभाव होने से । (२) स्वभाव में विनय भाव होने से । (३) दयालु स्वभाव होने से । (४) स्वभाव में ईर्ष्याभाव न होने से ।)

मनुष्यायु के आस्रवद्वार (बन्धहेतु)

अल्पारंभपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्यायुषः ।१८।

(१) अल्प आरम्भ, (२) अल्पपरिग्रह, (३) स्वभाव की कोमलता (निरभिमानता) और (४) सरलता (ऋजुता) – यह मनुष्य आयु के बन्ध हेत है ।

विवेचन – मनुष्यायु बन्ध के चार कारणों में पहला कारण है अल्प–आरम्भ, अल्पपरिग्रह जिस प्रकार 'बहु' का अर्थ परिग्रह की विपलुता के साथ 'ममत्व भाव' की तीव्रता से भी है, बल्कि मुख्यता ममत्व–आसक्ति की है । उसी प्रकार अल्पशब्द भी वस्तु की अल्पता का द्योतक न होकर 'ममत्व' की 'अल्पता' का ही द्योतक है । यद्यपि सामाजिक स्थिति मर्यादा के अनुसार व्यक्ति को परिग्रह की भी मर्यादा–अल्पता करना आवश्यक है, किन्तु उससे भी मानसिक वृत्तियों में परिग्रह के प्रति ममता की अल्पता आनी चाहिए । इसी प्रकार आरम्भ (हिंसा क्रूरता) में भी भावात्मक अल्पता आना जरूरी है।

मूल आगम में चार कारणों के नाम कुछ भिन्न हैं – वहाँ प्रकृति भद्रता अर्थात् स्वभावगत सरलता और स्वभावगत विनीतता का अभिप्राय है–सरलता और विनीतता दिखावटी न हो, किन्तु हृदय की सहज हो । ईर्ष्यालु न होकर गुणानुरागी होना और दयालु होना भी सरलता–ऋतुजा में समाविष्ट हो जाता है ।

आगम वचन –

एगंतबाले णं मणुस्से नेरइयाउयंपि पकरेइ तिरियाउयंपि पकरेइ मणुस्साउयं पि पकरेइ देवाउयं पि पकरेइ।

– भगवती श.१, उ.८, सूत्र ६३

(एकान्त बाल (ज्ञान एवं व्रत रहित) मनुष्य नरक आयु भी बाँधता है, तिर्यंच आयु भी बांधता है, मनुष्य आयु भी बांधता है और देवायु भी बाँधता है ।

चारों आयुय के सामान्य बंध हेतु–

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ।१९।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बिना किसी शील और व्रत (के भाव) सभी गतियों का बंधहेतु है ।

विवेचन *-यहाँ सूत्र गत* ***'सर्वेषाम्'*** *का अर्थ सभी गतियों अर्थात् चारों* गतियों से है । किन्तु अपेक्षादृष्टि अपनाकर कुछ विद्वानों ने इसे पहले बताये गये नरक, तिर्यंच और मनुष्य गति-इन तीन गतियों का हेतु माना है-अर्थात् बिना शील और व्रत वाले जीव नारक, पशु और मनुष्य इन तीन गतियों का ही बंध कर सकते हैं, देव गति का बंध नहीं कर सकते ।

किन्तु उद्धृत आगम वाक्य से स्पष्ट है कि एकान्त बाल (मिथ्यात्वी) भी चारों गतियों का बंध करते हैं । जब वहां सम्यक्त्व ही नहीं है तो शील और व्रतों का प्रश्न ही नहीं उठता ।

भोगभूमि (युगलिया) के मनुष्य और तिर्यंच शील तथा व्रतों के बारे में जानते भी नहीं फिर भी वे नियम से देवगति का ही बंध करते हैं ।

सबसे बढ़कर बात यह है कि शास्त्रों में अनेक कथाएँ ऐसी मिलती है कि मिथ्यात्वी और जिन्होंने कभी किसी शील, व्रत, यम-नियम का पालन नहीं किया वे भी देव बने ।

अतः विस्तृत और सर्वांगपूर्ण दृष्टि से विचार करने पर यही परिणाम निकलता है कि शील और व्रत का पालन न करने वाले जीव सामान्यतः ही चारों गतियों का आयुष्य बांधते हैं ।

व्रत का प्रस्तुत सन्दर्भ में अभिप्राय है - अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह तथा शील का अभिप्राय है इन व्रतों को पुष्ट करने वाले गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत-दिग्व्रत, उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत, अनर्थ दण्डविरमणव्रत (गुणव्रत) तथा सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास, अतिथिसंविभाग व्रत।

आगम वचन -

चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा-

सरागसंजमेणं संजमासजमेणं बालतवोकम्मेणं अकामणिज्जराए ।

- स्थानांग स्थान ४, उ. ४., सू. ३७३

(चार प्रकार से जीव देवायु का बंध करते हैं - (१) सरागसंयम से, (२) संयमासंयम से, (३) बाल तप से और (४) अकामनिर्जरा से ।

देवायु के बंधहेतु -

सरागसंयम-संयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ।२०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१)सरागसंयम, (२) संयमासंयम, (३) अकाम निर्जरा और (४) बालतप–यह चार देवायु के आस्रवद्वार (बंधहेतु) है ।

विवेचन – यहां देवगति के चार बंधहेतु बताये गये है ।

सरागसंयम – संयम ग्रहण कर लेने पर जब तक राग का अंश शेष रहता है, तब तक वह संयम सरागसंयम कहलाता है ।

संयमासंयम– इसका अभिप्राय है–कुछ संयम और कुछ असंयम। सामान्यतः संयमासंयम गृहस्थधर्म है । इसमें त्रस–हिंसात्यागरूप संयम और स्थावर हिंसा को खुला रखना इस रूप में असंयम का आचरण होता हो।

अकाम निर्जरा – पराधीनता से कष्ट सहन करना, या मजबूरी से भूख आदि सहना । जैसे–पति के मर जाने या परदेश चले जाने पर स्त्री अपनी कामेच्छा को मारती है । इसी प्रकार भोजन न मिलने पर विवश व्यक्ति संतोष कर लेता है, आदि ।

बाल तप– 'बाल तप' को अज्ञान तप भी कहते हैं । जिस तपश्चरण या कायाकष्ट में आत्म–शुद्धि का लक्ष्य न रहकर अन्य कोई भौतिक लक्ष्य रहता है ।

यहां यह ध्यान रखने की बात है कि सरागसंयम और संयमासंयम में तो 'सम्यक्त्व' गर्भित ही है, क्योंकि बिना सम्यक्त्व के तो यह हो ही नहीं सकते । किंतु अकाम निर्जरा व बाल तप में ऐसा नियम नहीं है ।

फिर भी दिगम्बर तत्त्वार्थ सूत्र में 'सम्यक्त्व' का अलग से एक सूत्र **'सम्यक्त्व च'** निर्मित करके देवायु के आस्रवद्वारों में गिनाया है । इसका कारण, उद्धृत आगम का आशय प्रतीत होता है; जिसका अभिप्राय यह है कि सम्यक्त्वी जीव आयुष्य पूर्ण करके देव बनते हैं, वैमानिक स्वर्गों में ही उत्पन्न होते हैं ।

जबकि कर्मसिद्धान्त और अध्यात्म विचारणा के अनुसार सम्यक्त्व तो आस्त्रव है ही नहीं; इसके द्वारा किसी भी कर्म का आस्त्रव/बन्ध होता ही नहीं। यदि सम्यक्त्व भी आस्रवद्वार बन जाय तब तो जीव की मुक्ति ही असंभव हो जायेगी । सम्यक्त्व तो संवर है, मिथ्यात्वास्रव को रोक देता है, यही मुक्ति का मार्ग जीव के लिए प्रशस्त करता है और सिद्धात्मा में भी रहता है ।

हाँ, इतना अवश्य है कि सम्यक्त्व का सद्भाव नरकायु, तिर्यचायु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और मनुष्यायु साथ ही स्त्री-वेद नपुंसक वेद, नीच गोत्र, भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क देवायु आदि प्रकृतियों के बन्ध को रोक देता है, तब वैमानिक देवायु ही शेष बचती है, अतः सम्यक्त्व के सद्भाव में वैमानिक देवायु का ही बन्ध हो सकता है । यदि आयु का बन्ध सम्यक्त्व-प्राप्ति से पहले ही हो चुका हो तो बात दूसरी है तब तो सम्यक्त्वी जीव को भी चारों गतियों में जाना ही पड़ता है । उदाहरणार्थ - राजा श्रेणिक को नरक गति में जाना पड़ा ।

फिर भी इतना निश्चित है कि सम्यक्त्व आस्रव/बन्ध त्रिकाल में भी नहीं है ।

आगम वचन -

सुभनामकम्मासरीर पुच्छा ?

गोयमा ! कायउज्जुययाए भावज्जुययाए भासुज्जुययाए अविसंवादजोगेणं सुभनामकम्मासरीर जाव प्पयोगबन्धे ।

असुभनामकम्मासरीर पुच्छा ?

गोयमा ! काय अणुज्जुययाए जाव विसंवायणाजोगेणं अशुभनाम कम्मा जाव पयोगबन्धे । - भगवती, श. ८, उ. ९

(प्रश्न- शुभनामकर्म का (शरीर) बन्ध किस कारण प्राप्त होता है ? उत्तर-है गौतम! काय की सरलता से, भाव (मन) की सरलता से, वचन की सरलता से तथा अन्यथा प्रवृत्ति न करने से शुभनामकर्म के शरीर का प्रयोगबन्ध होता है ।

प्रश्न- अशुभनामकर्म के शरीर का प्रयोगबन्ध किस कारण होता है ?

उत्तर - (इसके विपरीत) काय, मन तथा वचन की कुटिलता से तथा अन्यथा प्रवृत्ति करने से अशुभनामकर्म का प्रयोग बन्ध होता है ।)

शुभ और अशुभ नामकर्म के आस्रवद्वार (बन्धहेतु)-

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्न : ।२१।

विपरीतं शुभस्य ।२२।

योगों की कुटिलता और अन्यथा प्रवत्ति (के भाव) अशुभनामकर्म के आस्रव है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसके विपरीत शुभनामकर्म के आस्रवद्वार है ।

विवेचन – प्रस्तुत दोनों सूत्रों में शुभ और अशुभनामकर्म के आस्रवद्वार बताये गये हैं । सूत्र में अशुभनाम कर्म के आस्रवद्वार बताकर सूचन कर दिया गया है कि इसके (अशुभनामकर्म आस्रवद्वार) विपरीत शुभनाम कर्म के आस्रवद्वार है ।

अशुभनामकर्म के सूत्र में दो कारण बताये हैं – (१) योगवक्रता और (१) विसंवादन ।

योग – तीन हैं – मन वचन, काय । इनकी **वक्रता** अथवा कुटिलता का अभिप्राय है–मन में और, वचन में और तथा आचरण कुछ अन्य होना।

विसंवादन का अभिप्राय है – मत भेद पैदा करना, मित्रों में विग्रह पैदा करना, साधर्मिकों से झगड़ा फसाद लगाना, व्यर्थ का वाद–विवाद करना।

इनके विपरीत मन, वचन, काय–इन तीनों योगों की सरलता–यानी जो मन में हो, वही वचन से कहे और काय–चेष्टा से भी वैसा प्रकट करे तथा मतभेद–विग्रह–वादविवाद–झगड़ा आदि न करे ।

योगवक्रता और विसंवादन में अन्तर यह है कि – जब व्यक्ति अपने ही जीवन में अपने साथ मन, वचन, काय की कुटिलता करे तो वह योगवक्रता है और दूसरों के साथ कुटिलता आदि करना विसंवादन है ।

आगम वचन –

अरहन्त–सिद्ध–पवयण–गुरु–थेर–बहुस्सुए–तवस्सीसुं ।
वच्छलया य तेसिं अभिक्खणाणोवओगे य ॥१॥
दंसण विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारं ।
खण लव तव च्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥२॥
अप्पुव्वणाणगहणे सुयभती पवयणो पभावणया ।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥३॥

– ज्ञाताधर्मथा अ. ८, सूत्र ६४

((१) अर्हत्भक्ति (२) सिद्धभक्ति (३) प्रवचनभक्ति (४) स्थविर (आचार्य) भक्ति (५) बहुश्रुतभक्ति (६) तपस्विवत्सलता (७) निरन्तर ज्ञान में उपयोग रखना (८) दर्शन को विशुद्ध रखना (९) विनय सहित होना (१०) आवश्यकों का पालन करना (११) अतिचाररहित शील और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्रतों का पालन करना (१२) संसार को क्षणभंगुर समझना (१३) शक्ति के अनुसार तप करना (१४) त्याग करना (१५) वैय्यावृत्य करना (१६) समाधि करना (१७) अपूर्वज्ञान को ग्रहण करना (१८) शास्त्र में भक्ति करना (१९) प्रवचन में भक्ति होना (२०) प्रभावना करना । इन कारणों से जीव तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है ।)

तीर्थंकर प्रकृति के बन्धहेतु-

दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तिस्तत्यागतपसी संघसाधुसमाधिवैयावृत्य- करण मर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्ग- प्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्त्वस्य ।२३।

(१) दर्शनविशुद्धि (२) विनयसंपन्नता (३) शील और व्रतों का अतिचार रहित पालन (४) निरन्तर ज्ञानाभ्यास (५) संसार के दुःखों से भय रखना (६-७) शक्ति के अनुसार (न छिपाकार) दान और तप का आचरण (८) संघ और साधु की समाधि (९) वैयावृत्य (१०) अरिहंत भक्ति (११) आचार्य भक्ति (१२) बहुश्रुत भक्ति (१३) प्रवचन भक्ति (१४) आवश्यकों का परिपालन (१५) प्रभावना और (१६) प्रवचन वत्सलता यह सोलह तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के कारण है ।

विवेचन - इन सोलह कारणों को षोडशकारण भावना भी कहा जाता है । इनमें से दर्शनविशुद्धि नाम का पहला कारण तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के लिए अति आवश्यक है; क्योंकि सम्यक्त्वी जीव ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर सकता है, यह नियम है ।

(१) **दर्शनविशुद्ध** - २५ मल-दोषों से रहित शुद्ध निर्मल सम्यक्त्व (इसका विस्तृत विवेचन अध्याय १.सूत्र ४ के अन्तर्गत किया जा चुका है ।)

(२) **विनयसम्पन्नता** - ज्ञान-दर्शन-चारित्र और उनके साधनों का विनय करना तथा क्रोधादि कषायों का उपशमन करके मार्दव भाव रखना ।

(३) **शीलव्रतों का निरतिचार पालन**-अहिंसादि व्रतों मूल गुण और शील, उत्तर गुणों-यम-नियम का निरतिचार दोष रहित आचरण ।

(४) **अमीक्ष्णज्ञानोपयोग** - निरन्तर सतत तत्त्वाभ्यास करना ।

(५) **संवेग** - संसार विषयों से उदासीनवृत्ति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(६-७) त्याग और तप में शक्ति न छिपाना ।

(८) **संघ-साधु समाधि** - धर्मसंघ और साधुओं आदि के विघ्न उपसर्गों को दूर कर उन्हे समाधि पहुंचाना-समाधियुक्त रहने में सहायक बनना।

(९) **वैध्यावृत्य** - रोगी वृद्ध आदि साधुओं की अग्लानभाव से सेवा करना ।

(१०-११-१२) अरिहंत, आचार्य और बहुश्रुत (उपाध्याय) जी की भक्ति करना ।

(१३) शास्त्रों-अंग-उपांगों आदि के प्रति दृढ़ विश्वास, अपूर्व श्रद्धाभक्ति-बहुमान रखना ।

(१४) **आवश्यकापरिहाणि** - आवश्यक के छह अंग हैं - (१) सामायिक (२) चुतर्विंशतिस्तव (३) वन्दना (४) प्रतिक्रमण (५) प्रत्याख्यान और (६) कायोत्सर्ग - इनका यथाविधि पालन करना ।

(१५) **जिन मार्ग** - (जिनधर्म) की प्रभावना करना ।

(१६) **वत्सलता** - चतुर्विध संघ के प्रति वात्सल्यभाव रखना ।

इन सोलह कारणों से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है ।

यहाँ उल्लेखनीय है कि १६ या २० बोलों की आराधना में विशेष तन्मयता, उत्कृष्ट भावना, लिनता आने पर ये तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध निमित्त बनते हैं ।

जैसा कि उद्धृत आगम वाक्य से स्पष्ट है कि तीर्थंकर प्रकृति के उपार्ज़न के २० बोल हैं । यह सिर्फ कथन शैली का भेद है । २० बोलों में यह १६ कारण भी गर्भित हैं । दोनों कथनों में भेद कुछ भी नहीं है ।

आगम वचन -

जातिमदेणं कुलमदेणं बलमदेणं जाव इस्सरियमदेणं णीयागोयाकम्मासरीर जाव पयोगबन्धे ।

जातिअमदेणं. कुलअमदेणं. बलअमदेणं. रूवअमदेणं. तवअमणदेणं. सुयअमदेणं. लाभअमदेणं. इस्सरियमदेणं. उच्चागोयाकम्मासरीर जाव पयोगबन्धे ।

- भगवती, श. ८, उ. सूत्र ३५१

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(जाति मद से, कुल मद से, बल मद से यावत् (से लगाकर) ऐश्वर्य मद से नीचगोत्रकर्म के शरीर का प्रयोग बन्ध होता है ।)

(जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत (ज्ञान), लाभ और ऐश्वर्य इनका मद न करने से उच्चगोत्रकर्म के शरीर का प्रयोग बन्ध होता है ।)

गोत्र कर्म के आस्रवद्वार –

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ।२४।

तद्विपर्ययो निचैवृत्त्यनुत्सेको चोत्तरस्स ।२५॥

पर (दूसरे) की निन्दा करना और अपनी प्रशसा करना तथा दूसरे के विद्यमान गुणों को ढँकना और अपने अविद्यमान गुणों को प्रकाशित करना– दूसरों के सामने प्रगट करना–यह नीचगोत्रकर्म के आस्त्रव हेतु है ।

नीचे गोत्र के आस्रव के विपरीत कारण और नीच वृत्ति तथा अनुत्सेक यह उच्चगोत्र कर्म के आस्रव हेतु है ।

विवेचन – दूसरों की निन्दा, अपनी प्रशंसा और दूसरों के गुणों को ढकना तथा अपने में जो गुण नहीं हैं उन्हे भी दिखाने का प्रयास करना – यह सभी अभिमानी व्यक्ति के कार्य हैं । यह सारे क्रियाकलाप ऐसे व्यक्तियो द्वारा किये जाते हैं जिनमें प्रतिष्ठा योग्य गुण होते नहीं, किन्तु समाज में अपनी प्रतिष्ठा चाहते ही हैं । ऐसे लोगों का खोखलापन इन क्रियाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति पाता है ।

मद अथवा अभिमानमूलक होने के कारण ही ये सभी वृत्ति और प्रवृत्ति नीच गोत्र कर्म के आस्रव का कारण बनती है ।

निरभिमानिता तथा गुणों में बड़ों के सामने विनम्रवृत्ति (नीचैवृत्ति) और स्वयं अपने गुणों का अभिमान न करना, व्यर्थ ही उनका ढिंढोरा न पीटना (अनुत्सेक) – यह उच्चगोत्र कर्म के आस्रव के कारण है ।

इन सभी क्रियाकलापों के मूल में निरभिमानता है । निरभिमानता से ही व्यक्ति ऊँचा उठता है, जैसाकि एक दोहे से स्पष्ट है –

नर की और नल–नीर की गति एकै करि जोय ।

जै तो नीचौ ह्वै चले, ते तौ ऊँचो होय ।

उच्च गोत्र कर्म भी आत्मा की प्रवृत्ति को ऊर्ध्वमुखी बनाता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन कारणों में यह ध्वनित होता है कि जो व्यक्ति वास्तव में गुणी नहीं है, किन्तु अपनी गुण-हीनता को छिपाने और झूठा उत्कर्ष-बड़प्पन दिखाने का प्रयास करता है, वह दुनिया को धोका भले ही दे दे, किन्तु कर्म-सिद्धान्त को धोखा नहीं दे सकता, अपनी इन ढोंगी वृत्तियों के कारण वह परलोक में नीच गोत्र का ही भोग करता है ।

आगम वचन -

दाणंतराएणं लाभंतराएणं भोगतंराएणं उवभोगतराएणं वीरियंतराएणं अंतराइयकम्मासरीप्पयोग बंधे ।

- भगवती श. ८, उ. ९, सूत्र ३५१

(दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य में अन्तराय (विघ्न) करने से अन्तराय कर्म शरीर का प्रयोगबन्ध होता है ।)

अन्तराय कर्म के आस्रवद्वार -

विघ्नकरणमन्तरायस्य ।२६।

विघ्न करना अन्तरायकर्म के आस्रव का कारण है ।

विवेचन -अन्तरायकर्म पाँच प्रकार का है अथवा इसकी पाँच उत्तर प्रकृतियाँ है - (१) दानानन्तराय (२) लाभान्तराय (३) भोगान्तराय (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय ।

यह प्रकृतियाँ दूसरों के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में अन्तराय अथवा विघ्न डालने से बँधती हैं ।

जैसे किसी व्यक्ति को किसी प्रकार का लाभ हो रहा हो, उसमें विघ्न डाल देना, किसी साधु, या जरूरतमंद को कोई दाता दान दे रहा हो तो कह देना-'इस तरह कितनों को दान दोगे, भारत में करोड़ों की संख्या में जरूरतमन्द हैं' और उसको दान पाने में बाधा पहुंचा देना ।

इसी तरह कोई व्यक्ति किसी वस्तु, वस्त्र आदि का भोग-उपभोग करना चाहता है तो उसमें अन्तराय डालना, उसे बलपूर्वक या छलपूर्वक विघ्न डालना भोगान्तराय है ।

यदि कोई व्यक्ति उत्साहपूर्वक धर्मध्यान कर रहा हो, अथवा समाज सेवा या किसी अन्य कार्य में उत्साह प्रगट कर रहा हो तो कह देना - 'कर लो समाजसेवा, पर अन्त में अपयश ही मिलेगा' । इस प्रकार उसके उत्साह को, वीर्यशक्ति को ठण्डा कर देना, निरुत्साहित कर देना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह सभी कार्य अन्तरायकर्म के आस्रवद्वार अथवा बंध के कारण हैं ।

विशेष – *प्रस्तुत अध्याय के ११ से २६ तक के १६ सूत्रों में आठों कर्मों के आस्रव के कारण बताये गये हैं ।* किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि यह तो उपलक्षण मात्र हैं, फिर सूत्र संक्षिप्त शैली का अनुसरण करता है, संकेत देता है, line demark करता है । और जीवन का आयाम (canvas) बहुत विस्तृत हैं, आस्रव के कारण भी असंख्यात-अनन्त हैं, अतः उन सबका भी सूचन इन सूत्रों से समझ लेना चाहिए ।

सात कर्मों का सतत बन्ध – जीव को आयु के अतिरिक्त सात कर्मों (१) ज्ञानावरणीय (२) दर्शनावरणीय (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) नाम (६) गोत्र और (७) अन्तराय का शुभ या अशुभ आस्रव और बन्ध सतत होता रहता है । एक क्षण को भी नहीं रुकता क्योंकि जीव की आन्तरिक प्रवृत्ति-योग-कषाय प्रवृत्ति जब तक निरूद्ध नहीं होती तब तक शुभाशुभ कर्मास्त्रव चालू ही रहता है ।

आयुकर्म का बंध अवश्य वर्तमान आयु की त्रिभागी में होता है । उसके बंध में कुछ विशेषताएँ हैं, वे भी समझ लेनी चाहिए ।

आयुबन्ध का अभिप्राय – आगामी भव में उत्पन्न होने के लिए जीव जब वर्तमान आयु में भावी आयु का बन्ध करता है तो उसी समय वह (१) गति (२) जाति (३) स्थिति (४) अवगाहना (५) प्रदेश और (६) अनुभाग – इन छह का बन्ध करता है । इसे कर्मशास्त्रों में गतिनाम, जातिनाम, स्थितिनाम, अवगाहनानाम, प्रदेशनाम और अनुभागनाम निधत्त आयु कहा गया है ।

निधत्त का अभिप्राय है आयुकर्म के साथ-साथ भोगने योग्य होना ।

आयुबन्ध के समय सर्वप्रथम जीव (१) जाति (एकेन्द्रिय आदि) के नामकर्म के निषेकों को आयुकर्म के साथ सम्बद्ध करता है, यह **जाति निधत्तायु** है । फिर (२) गति (तिर्यंच आदि यदि पंचेन्द्रिय जाति के निषेकों को सम्बद्ध किया हो तो) नामकर्म के पुद्गलों (निषेकों) को सम्बद्ध करता है (यहीं योनि (सर्प आदि) तथा लिंग (स्त्री-पुरुष-नपुंसक) का भी निश्चय हो जाता है) यही **गति निधत्तायु है** । (३) फिर स्थिति (काल-मर्यादा-वर्षों आदि के रूप में) का निश्चय होता है। यह स्थिति प्रदेश नामकर्म के पुद्गल है । अकाल मृत्यु के समय या क्षण-प्रतिक्षण यही नामकर्म के पुद्गल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा से अलग होते रहते हैं, जिन्हें आयु के निषेक झड़ना कहा जाता है। *(४) इसके बाद जीव शरीरनाम कर्म (औदारिक आदि) रूप* ***अवगाहना*** *के* पुद्गलों को बाँधता है । आयु भोगते समय बीमारी, वृद्धावस्था, युवावस्था आदि अनेक कारणों से इन पुदगलों मे चयापचय होता रहता है अर्थात् घटते-बढ़ते रहते हैं । (५) फिर **प्रदेशनाम** कर्म को आयुकर्म के निषेकों के साथ सम्बद्ध करता है । इसका अभिप्राय यह है कि आयु को भोगते समय आयुकर्म का नामकर्म के साथ सम्बन्धित होकर प्रदेशोदय होता है । (६) अनुभाग निधत्तायु का अभिप्राय आयु का विपाकोदय में भोगना है ।

अनुभाग का अर्थ तीव्रमंद रस है । यदि आयुबन्ध के समय आत्मा के परिणाम मंद होते हैं तो अपर्वतनीय (बीच में ही टूटने योग्य शिथिल बन्ध वाली) आयु का बन्ध होता है और तीव्र परिणामों से अनपवर्तनीय (गाढ़ बन्धन वाली आयु जो बीच में नहीं टूटती) आयु का बन्ध होता है ।

आयुबन्ध का समय – यह नियम है कि आयु का बन्ध वर्तमान आयु की त्रिभागी में यानि आयु के तीन भागों में से दो भाग आयु भोग ली जाय तब होता है ।

उदाहरण के लिए किसी मनुष्य की कुल आयु ८१ वर्ष है । तो आगामी जन्म की आयु का बन्ध (८१÷३=२७×२=५४) ५४ वर्ष की आयु में प्रथम बार होगा । यदि किसी कारणवश उस समय न हो सका तो (८१÷५४=२७–३×२=१८ वर्ष+५४ वर्ष) ७२ वर्ष की आयु में होगा ।

इसी तरह सात बार तक त्रिभागी में आयुबन्ध का समय आता है । यदि किसी कारणवश इन सब में भी आयु का बन्ध न हो सका तो इस जन्म में देह छूटने के अन्तर्मूहर्त से एक आवलिका काल के अन्दर-अन्दर अवश्य ही परभव की आयु का बन्ध हो जायेगा ।

क्योंकि यह नियम है कि बिना परभव की आयु बाँधे यह जीव अपने वर्तमान शरीर को छोड़ ही नहीं सकता और साथ ही यह भी नियम है कि आयु समाप्त होने के बाद एक समय मात्र भी वर्तमान शरीर में रह नहीं सकता।

यह त्रिभागी में आयुबन्ध का नियम कर्मभूमिज संख्यात वर्ष की आयु वालों के लिए है । असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमिज और देव,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नारकियों का आयुबन्ध आयु समाप्ति के एक अन्तर्मूहूर्त से आवलिका काल तक में होता है ।

आयुबन्ध का समय – आयुबन्ध लागातार नहीं होता । यह आठ समय में होता है । जिस प्रकार गाय रुक–रुककर पानी पीती है, उसी प्रकार आत्मा भी आयु का बन्ध करती है । जैसे प्रथम समय में कुछ बन्ध कर लिया, फिर रुक गई; इस तरह बीच–बीच में रुकते हुए आयु का बन्ध होता है।

किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि आयुबन्ध में एकाध घण्टा लग जाता होगा । समय बहुत छोटी काल इकाई है । असंख्यात समय की तो एक आवलिका होती है, वह भी एक सेकण्ड के समय में अनेकों गुजर जाती है। अतः यह समझना चाहिए कि संपूर्ण आयुबन्ध (रुक–रुक कर होते हुए भी) सेकण्ड के असंख्यातवें भाग में पूरा हो जाता है ।

शास्त्रकार का कथन है कि परलोक की आयु का बन्ध किस समय होगा, कुछ पता नहीं चलता, इसलिए प्राणी को प्रत्येक क्षण शुभ और श्रेष्ठ भावों में बिताना चाहिए ।

* * *

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सातवाँ अध्याय

आचार–(विरति-संवर)

(CONDUCT)

उपोद्घात–

पिछले (छठे) अध्याय में आस्रव तत्त्व का विवेचन किया जा चुका है । अब क्रम प्राप्त चौथा तत्त्व संवर है। प्रस्तुत सातवें अध्याय में इसी संवर तत्त्व का वर्णन है ।

प्रस्तुत सातवें अध्याय का प्रारम्भ व्रत से हुआ है । विरति भी एक संवर है और सम्यक्त्व संवर के पश्चात इसका क्रम है अर्थात सम्यक्त्व ग्रहण कर लेने के बाद जीव को आस्रवों से विरति होती है, वह व्रतों को धारण करता है । व्रत–धारण ही विरति संवर है । इस विरति संवर का ही प्रस्तुत अध्याय में वर्णन हुआ है ।

व्रतों का स्वरूप, उनकी भावनाएँ, मैत्री–प्रमोद आदि भावनाएँ, व्रतों के प्रकार और लक्षण, व्रती के लक्षण, आगारी और अनगारी व्रती में अन्तर आदि का सर्वांग वर्णन किया गया है ।

प्रस्तुत अध्याय में श्रावक–व्रतों का अतिचार सहित वर्णन है, यह इस अध्ययन की विशेषता है ।

अंत में दान का स्वरूप तथा उसके फल में विशेषता होने के कारण भी बताये गये हैं ।

प्रस्तुत अध्याय का प्रारम्भ व्रतों के लक्षण से होता है ।

आगम वचन –

पंच महव्वया पण्णत्ता, तं जहा–सव्वातो पाणातिवायाओं वेरमणं जाव सव्वातो परिग्गहातो वेरमणं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(महाव्रत) पाँच होते हैं सब प्रकार के प्राणातिपात - हिंसा से विरमण से (सब प्रकार के असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य से बचने से) लगाकर सब प्रकार के परिग्रह से विरमण तक ।

पंचाणुव्वता पण्णत्ता, तं जहा-थूलातो पाणाइवायातो वेरमणं । थूलातों मुसावायातों वेरमणं । थूलातो अदिन्नादाणातो वेरमणं । सदार संतोसे । इच्छापरिमाणे । स्थानांग स्थान ५, उ. १, सूत्र ८९

अणुव्रत पाँच होते हैं - (१) स्थूल प्राणिहिंसा से बचना (२) स्थूल असत्य-भाषण से बचना (३) स्थूल चोरी से बचना (४) स्वदार संतोष (५) इच्छा परिमाण ।

व्रतों के लक्षण और भेद -

हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिव्रतम् ।१।

देशसर्वतोऽणुमहती ।२।

(१) हिंसा (२) अनृत (असत्य) (३) स्तेय (चोरी) (४) अब्रह्म और (५) परिग्रह-इनसे विरत होना व्रत है ।

यह (विरति) दो प्रकार की है - अल्पतः- देशतः और सर्वतः ।

विवेचन - प्रस्तुत दोनों सूत्रों में विरतिरूप व्रतों के लक्षण और भेद बताये गये हैं ।

यहाँ विरति शब्द का अर्थ समझना आवश्यक है (क्योंकि हिंसा आदि का लक्षण स्वयं आचार्य अगले सूत्रो में (८-१२ तक) में कह रहे हैं ।)

विरति का स्वरूप - अविरति आत्मा का अत्याग रूप परिणाम ह। इसमें आशा, इच्छा, वांछा, कामना आदि का सद्भाव रहता है । इन सभी का बुद्धिपूर्वक सोच-समझकर त्याग करना, प्रतिज्ञा ग्रहण करना विरति है ।

यह विरति दो प्रकार की संभव है - (१) अंशरूप में (२) सर्वतः - पूर्णरुप में, पूरी तरह । सर्वतः विरति होना महाव्रत है और अंशतः विरति होना अणुव्रत ।

अणुव्रत अथवा अंशतः विरति में आत्मा की संसार, सांसारिक सुखभोग आदि की अनादिकालीन मूर्च्छा टूटती तो है; पर पूरी तरह नहीं टूटती, इसमें सांसारिकता के प्रति रागभाव का अंश काफी मात्रा में अवशेष रह जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यदि मूर्च्छा न टूटे तो उसके त्यागरूप परिणाम होगे ही नहीं । अतः यह तो स्पष्ट है कि उसका रागभाव कम हुआ । जितने अंश में राग कम होता है, उतनी ही उसकी विरति होती है ।

उदाहरणार्थ – दर्पण पर धूल जमी हुई थी, वायु के संयोग से कुछ अंश में धूल उड़ी, हटी तो उतने ही अंश में दर्पण की उज्वलता दिखाई देने लगी ।

इसी प्रकार आत्मा की मोह–मूर्च्छा जितने अंश में टूटती है, उतने ही अंश में वह विरतिपूर्वक व्रत ग्रहण कर लेता है । यह अणुव्रत कहलाता है।

और जब मोह–मूर्च्छा पूरी तरह टूट जाती है तो उसके अन्दर विरतिभाव पूरी तरह जाग उठता है, वह सभी प्रकार से सांसारिकता का, संसार के सुखों की आसक्ति का त्याग कर देता है । उसकी यह विरति महाव्रत कहलाती है ।

महाव्रत ग्रहण करने वाला तीन करण (कृत, कारित, अनुमोदन) और तीन योग (मन, वचन, काय) से व्रत (हिंसादि सावद्य प्रवृत्ति का त्याग) ग्रहण करता है ।

जबकि अणुव्रती श्रावक सामान्यतया तीन योग और दो करण (अनुमोदन को खुला रखकर) व्रत ग्रहण करता है । अणुव्रती के भांगे आदि भी कई प्रकार के हैं । इनका विवेचन इन व्रतों के सन्दर्भ में अगले सूत्रों में किया जायेगा।

आगम वचन –

पंच जामस्स पणवीसं भावणाओं पण्णत्ता ।

– समवायांग, समवाय २५

(पांचो व्रतों की (प्रत्येक व्रत की पाँच–पाँच के हिसाब से) पच्चीस भावनाएँ कही गई है ।)

व्रतों की स्थिरता के उपाय – भावनाएँ –

तत्स्थैर्यार्थ भावना : पंच पंच ।३।

(सूत्र १ में कहे गये पाँच व्रतों) उनकी पाँच–पाँच भावनाएँ है ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में अहिंसादि पाँच व्रतों की पाँच–पाँच भावनाओं का संकेत किया गया है, किन्तु मूल सूत्र में उन भावनाओं के नाम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा उनके स्वरूप आदि का कोई उल्लेख नहीं है । किन्तु स्वोपज्ञ भाष्य में आचार्य ने स्वयं इस कमी को पूरा कर दिया है ।

भावना का अभिप्राय आत्मा को प्रशस्त भावों से भावित करना है । जिस प्रकार शिलाजीत के साथ लोहे की भावना देकर उसे शुद्ध और शरीर हितकारी रसायन बना दिया जाता है, इसी प्रकार अहिंसादि व्रतों को भी इन भावनाओं द्वारा शुद्ध-विशुद्ध और आत्महितकारी रसायन बना दिया जाता है।

वस्तुतः भावना जाने हुए विषय पर बार-बार चिन्तनं करना है, यह चिन्तन मात्र शब्दों का पुनरावर्तन न होकर गहराई लिए हुए होता है। इन भावनाओं का उपयोग ही यह है कि यह अहिंसादि व्रत आत्मा की गहराई में पैठ जायें और हिंसा आदि विषय-विकार उसमें (आत्मा) से बाहर निकल जायें ।

आधुनिक परामनोवैज्ञानिक विज्ञान (Parapsychology) की यह मान्यता है कि हमारे मन के तीन भाग है- व्यक्त, अवचेतन और अधोचेतन । व्यक्त मन तो प्रगट है ही किन्तु भावनाएँ, संवेग, पुरानी स्मृतियाँ आदि अवचेतन-अधोचेतन मन में संग्रहीत रहती है । और यह भी आश्चर्यजनक तथ्य है कि व्यक्त मन केवल ७% होता है जबकि अवचेतन-अधोचेतन मन ९३% ।

इसे आत्मा की दृष्टि से विचार करें तो हिंसादिक अव्रत भाव, जो अनादि काल से इस आत्मा के साथ संबद्ध हैं, आत्मा के अणु-अणु में प्रविष्ट हो गये हैं, वे भी व्यक्तरूप में बहुत ही कम मात्रा में हमारे प्रत्यक्ष अनुभव में आते हैं, उनका असीमित, अकल्पित भण्डार तो आत्मा में बहुत गहराई में भरा पड़ा है। उसे वैदिक भाषा में मनोमयकोष कहा जाता है ।

भावनाएँ यही काम करती है कि वे इस असीमित अव्रत भंडार की शुद्धि-परिशुद्धि करके वहाँ अहिंसादि व्रतों को प्रतिष्ठित कर देती है ।

प्रस्तुत विवेचन के प्रकाश में अब हम भावनाओं की परिभाषाओं में निहित अर्थ और उनके संकेत को समझने का प्रयास करें ।

आचार्य शीलांक ने **'भावश्चित्ताभिप्रायः** *(चित्त का अभिप्राय भाव है)* कहकर भावना के अभिप्राय पक्ष की ओर संकेत किया है । अभिप्राय, वस्तुतः चित्त की बहुत ही अन्तर्निहित वृत्ति है, जिसका प्रगटीकरण उसके (मानव अथवा प्राणी के) वचनों तथा काय-संकेतों द्वारा होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचारांग (श्रु. २, अ. ८, उ. ६) की टीका में **भावना अध्यवसाये** कह कर चित्त के सूक्ष्म संस्कारों में बार–बार स्फुरित होने वाली विचार–तरंगों की ओर संकेत किया है । वस्तुतः चित्त की यह विचार–तरंगें ही हिंसादि पापों को निकालने का, आत्मा को परिशुद्ध करने का कार्य करती है ।

इसीलिए तो भावना के लिए अंग्रेजी में deep and constant reflection शब्द दिया है, जिसका अभिप्राय है आत्मा की गहराई तक विचारों की तरंगो का–शुभविचार उर्मियो का अनुक्षेपण करना, उन विचारों को स्थायीरूप देना।

विरति का साधन इन भावनाओं का बार–बार अभ्यास करता है ।

अहिंसा आदि व्रतों की पाँच–पाँच भावनाओं का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है ।

(अ) अहिंसा व्रत की भावनाएँ –

(१) **ईर्यासमिति** – ईर्या शब्द में समस्त शारीरिक क्रियाओं का समावेश हो जाता है, किन्तु इसका मुख्य अभिप्राय गमनागमन की प्रवृत्ति से लिया जाता है । इस रूप में इसका अर्थ है अपने शरीर प्रमाण अथवा साढ़े तीन हाथ आगे की भूमि देखकर चलना, जिससे किसी भी जीव का घात न हो जाए, उसे कष्ट न पहुंचे ।

विस्तृत अर्थ में ईर्यासमिति का अभिप्राय है – उठना, बैठना आदि कोई भी शारीरिक क्रिया ऐसी न की जाय जिससे किसी भी प्राणी को तनिक भी कष्ट या पीड़ा हो, अथवा खिन्नता हो, सरल शब्दों में स्व–पर को कष्ट न हो, इस विवेकपूर्वक सभी शारीरिक कियाएँ करना ईर्यासमिति है और इस विचार का अनुचिन्तन ईर्यासमिति भावना है ।

(२) **मनोगुप्ति** – मनोयोग का निरोध अथवा आर्त और रौद्रध्यान का मन में चिन्तन न करना ।

(३) **एषणा समिति** – शास्त्रोक्त विधि से शुद्ध भोजन ग्रहण करना। इसमें तीन बातें गर्भित हैं । (i) निर्दोष आहार प्राप्त करना (ii) निर्दोषितापूर्वक उस भोजन का सेवन करना (खाना) और (iii) आहार क्यों और किसलिए किया जाना चाहिए, इन सभी बातों की सही जानकारी रखना । अतः शुद्ध आहार ही आवश्यकतानुसार ग्रहण करूँ, ऐसी भावना ऐषणा समिती भावना है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुतः आहार इसीलिए शरीर को दिया जाता है कि संयम का पालन सुचारू रूप से होता रहे । इसके लिए शुद्ध आहार बहुत आवश्यक है ।

आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के अनुसार मस्तिष्कीय तंत्रिका संप्रेषकों (न्यूरोट्रांसमीटर) तथा सेरोटोनिन पदार्थ मानव के सम्पूर्ण आवेगों तथा क्रिया-कलापों को नियंत्रित संतुलित करते हैं । शुद्ध आहार द्वारा इनका निर्माण स्वच्छता भरा होता है तो मानव के आवेगों की दिशा भी उन्नति की ओर रहती है, कर्म-क्रियाओं में मन अधिक स्थिर होता है । इसलिए भी शुद्ध आहार अपेक्षित है ।

(४) **आदान निक्षेपण समिति** - इसका अभिप्राय है किसी वस्तु उपकरण आदि को भली-भाँति देखभाल कर उठाना और रखना, जिससे किसी प्राणी की विराधना न हो और उपकरण आदि भी अधिक समय तक सुरक्षित रहें । उपकरण उठाने-रखने में किसी जीव की विराधना न हो सतत ऐसा चिन्तन रखना आदान निक्षेपण समिति भावना है ।

(५) **आलोकित पान भोजन** - का अभिप्राय है सूर्य के प्रकाश में ही भोजन पान से निृवत्त हो जाना, सूर्यास्त्र होने के बाद कुछ भी खाने और पीने की भावना न रखना आलोकित पान-भोजन भावना है ।

अंधकार में भोजन-पान से जीवों की विराधना तो होती ही है, साथ ही अपने स्वयं के स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, विषैला जन्तु आने से अनेक प्रकार के रोग हो सकते हैं ।

अतः अहिंसाव्रत के साधक को यह पाँच भावनाएँ भानी चाहिए जिससे उसका व्रत स्थिर रहे ।

प्रश्नव्याकरण (संवर द्वार) सूत्र में भी अहिंसाव्रत की पाँच भावनाएँ बताई हैं । वहाँ आलोकित पान भोजन की, जगह वचन समिति भावना कही है । वचन-समिती से अभिप्राय है -पापकारी, तीखा, कटाक्षयुक्त वचन न बोलना। ऐसे वचन से अन्य को दुःख होता है, इस अपेक्षा से वह हिंसा ही है । अतः अहिंसाव्रत के साधक को सदा वचन समिति की भावना का चिन्तन करना चाहिए ।

आचारांग सूत्र (श्रु. २, अ. १५) में पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं - (१) ईर्यासमिति भावना (२) मन को सम्यक्दिशा में प्रयुक्त करना- मनःसमिति (३) वचनसमितिभावना (४) आदान, भाण्ड-मात्र निक्षेपणा समिती और (५) आलोकित पान-भोजन ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसूत्र में उल्लिखित एषणा समिति की बजाय आचारांग में वचन समिति बताई गई है ।

भावनाओं के नामों में यह अन्तर अपेक्षाभेद से है, यह अधिक महत्व का नहीं है ।

(ब) **सयत्वत की पाँच भावनाएँ –**

(१) **अनुवीचि भाषण** –पापरहित और शास्त्र में बताई मर्यादा सहित विचारपूर्वक वचन बोलने की भावना रखना, अनुवीचि भाषण भावना है।

(२–५) **क्रोध–लोभ–भय–हास्य–त्याग** – क्रोध, लोभ, भय तथा हास्य, इन चारों के आवेग में मुख से कोई वचन न निकल जाये, ऐसा अनुचिन्तन मन में करते रहना ।

इन चारों का एक रूप है– क्षमा, निर्लोभता, अभय और वचन–संयम। व्रतों का आराधक साधक सदा ही इन क्षमा आदि गुणों का अनुचिंतन करके क्रोध आदि दुर्गुणों को निकाल फैकने के लिए प्रयत्नशील रहता है ।

यही उसकी सत्यव्रत ही स्थिरता हेतु पाँच भावनाएँ हैं ।

प्रश्नव्याकरण ओर आचारांग में भी सत्यव्रत की यही भावनाएँ बताई गई है ।

(स) **अस्तेय (अचौर्य) व्रत की पांच भावनाए –**

(१) **अनुवीचि अवग्रह याचना** – निर्दोष, अनिंद्य और हिंसा आदि से अनुत्पन्न तथा जिस स्थान में हिसा की संभावना न हो, सूक्ष्म जन्तुओं से रहित हो –अपने ठहरने के लिए, विश्राम के लिये ऐसा स्थान ग्रहण करने की भावना रखना ।

(२) **अभीक्ष्णावग्रह याचना** – सदा ही निर्दोष, निरवद्य स्थान प्राप्त हो, इस प्रकार की भावना मन में रखना तथा अपने माँगने से उस स्थान या वस्तु के स्वामी को तनिक भी कष्ट न हो, इस बात का विचार रखना ।

(३) **अवग्रहावधारण** – अपने अवग्रह (कल्प या मर्यादा) के परिमाण के अनुसार ही ग्रहण करना ।

(४) **साधर्मिक अवग्रह याचना** – जिस स्थान पर अपना ही साधर्मिक पहले से ठहरा हो तो उससे उस स्थान की याचना करना ।

(५) **अनुज्ञापित भोजन–पान**–विधिपूर्वक लाये हुए भोजन–पान को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुरु को दिखाकर, उनकी आज्ञा लेकर ग्रहण करना । (यदि व्रत-साधक ऐसा नहीं करता तो वह इसकी गुरू चोरी कहलाती है ।)

प्रश्नव्याकरण सूत्र में इन पाँच भावनाओं के यह नाम दिये हैं -

(१) विविक्तवाससमिति भावना - इसका अभिप्राय भी निरवद्य स्थान है, यद्यपि शब्दार्थ - एकान्तवास ध्वनित होता है; किन्तु वह एकान्त स्थान भी ऐसा होना चाहिए जहाँ साधना में किसी प्रकार का विघ्न न हो ।

(२) अनुज्ञातसंस्तारकरूप अवग्रह समिति भावना - सब कुछ याचना करके ले ।

(३) शय्यासमिति भावना

(४) अनुज्ञात भक्तादि भोजन भावना

(५) साधर्मिक विनयकरण भावना

आचारांग सूत्र के अनुसार ही तत्त्वार्थ सूत्र में पाँच भावनाएँ बताई गई हैं । किन्तु दिगम्बर परम्परा में अस्तेयव्रत की पाँच भावनाएँ दूसरे प्रकार से कही गई हैं -

(१) **शून्यागार** - पर्वत कन्दरा, आदि खाली स्थान को ग्रहण करना।

(२) **विमोचितावास** - दूसरों द्वारा (त्यक्त) छोड़े हुए मकान आदि में रहना ।

(३) **परोपरोधाकरण** - दूसरों को उस स्थान पर ठहरने से नहीं रोकना।

(४) **भैक्ष्यशुद्धि** - शास्त्रविहित भिक्षा की विधि में न्यूनाधिक नहीं करना ।

(५) **सधर्माऽविसंवाद** - साधर्मियों से विसंवाद नहीं करना ।

अस्तेयव्रत की भावनाएँ, यद्यपि ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार से गिनाई हैं, किन्तु सभी का मूल अभिप्राय यही है कि अचौर्यव्रत का साधक सब कुछ मांग कर ले, अपनी मर्यादा और कल्प के अनुसार परिमित मात्रा में ही ग्रहण करे और जो कुछ भी (भोजन-पान आदि सभी कुछ) ग्रहण करे- उन सब को गुरु की आज्ञा से, उन्हें दिखाकर और उनकी अनुमति प्राप्त करके ग्रहण करे (खाए)।

साथ ही वह सब, जो कुछ उसने ग्रहण किया है, उसकी आत्म-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधना में सहायक ही हो, उसमें बाधक न बन जाय, उसमें याचित वस्तु के प्रति अधिकार भावना अथवा अहं भाव न प्रवेश कर जाय ।

(८) **ब्रह्मव्रत की पांच भावनाए –**

(१) **असंसक्तवास समिति** – स्त्री, पशु और नपुंसक जिस शय्या–आसन पर बैठते हों, उसका त्याग करना । इसका अभिप्राय यह भी है कि जहाँ स्त्रियों का बार–बार आवागमन होता हो, घर के आंगन में स्त्रियां बैठती हों और उन पर दृष्टि पड़ती हो, स्त्रियाँ समीप ही (दूसरे कमरे में ही) स्नान–श्रृंगार करती हों, समीप ही वेश्याओं का आवास हो, ऐसे स्थान पर ब्रह्मचर्य व्रत के साधक को नहीं रहना चाहिए ।

इसका अभिप्राय यह है कि जिस स्थान पर रति–राग, विकार, मोह आदि बढ़ने की संभावना हो, वह स्थान ब्रह्मचर्य व्रत के साधक के लिए रुकने या ठहरने या निवास करने योग्य नहीं होता ।

(२) **स्त्रीकथाविरति** – स्त्रियों के काम, मोह, श्रृंगार, सौन्दर्य आदि की कथा न करना ।

(३) **स्त्रीरूपदर्शनविरति** – स्त्री के मनोहर और काम–स्थानकों को राग–पूर्वक न देखना । जंघा, कपोल, कुच, नितंब आदि स्त्री के शरीरगत काम स्थानक हैं । इनको देखने से ब्रह्मचर्यव्रत–साधक के हृदय में विकार उत्पन्न होने की संभावना है ।

(४) **पूर्वरत–पूर्वक्रीड़ितविरति** – पहले की हुई रति–क्रीड़ाओं का स्मरण न करना, उन्हे विस्मृति के गहरे गर्त में डाल देना।

(५) **प्रणीत आहार त्याग** – अधिक स्निग्ध और मिर्च–मसालेदार स्वादिष्ट गरिष्ठ भोजन न करना । क्योंकि रसीला आहार विकार बढ़ाता है ।

आचारांग और प्रश्नव्याकरण सूत्र में भी यही पाँच भावनाएँ बताई गई है ।

वास्तविक स्थिति यह है कि स्त्री हारमोन पुरुष हारमोन (Female and Male Harmones) की स्थिति चुम्बक और लोहे के समान होती है । स्त्री चुम्बक के समान पुरुष को अपनी ओर आकर्षित करती है, खींचती है, तो पुरुष भी स्त्री को अपनी ओर खींचता है । युवा स्त्री पुरुष में तो यह आकर्षण शक्ति अधिक होती है । स्त्री–पुरुष का विजातीय के प्रति आकर्षण शरीर की स्वाभाविक रचना के कारण भी होता है, अतः ब्रह्म–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चारी को उस आकर्षण-दायरे से दूर रहना हितकारी है । प्रणीत आहार से विकारी हुआ पुरूष का चित्त उसकी ओर शीघ्रता और सरलता से खिंच जाता है, अतः ब्रह्मव्रत के साधक को गरिष्ठ आहार के त्याग के साथ-साथ अन्य चारों भावनाओं का भी अनुचिन्तन करते रहना चाहिए जिससे उसका ब्रह्मचर्य व्रत स्थिर एवं दृढ़ हो जाए ।

(य) **अपरिग्रह व्रत की पांच भावनाएं –**

(१-५) स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र- इन पाँच इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों में राग और अमनोज्ञ विषयों में द्वेष की भावना न रखना ।

यह तो संभव नहीं कि व्रती साधक को अनुकूल-प्रतिकूल स्पर्श न हों, मधुर और कटुक रस, सुगन्ध-दुर्गन्ध, बीभत्स और सुन्दर रूप तथा सुखद और कर्णकुट शब्दों का ग्रहण न हो; वह तो होगा ही लेकिन व्रती साधक को चाहिए कि उन में राग-द्वेष न करे, अनुकूल के प्रति आकर्षित न हो और प्रतिकूल के प्रति मन में अरुचि न लाये ।

इन्द्रिय विषयों के प्रति समत्व भावना का बार-बार चिन्तन करता रहे।

विशेष – सामान्यतः पाँच व्रतों की इन पचीस भावनाओं को महाव्रतों की भावना को समझा जाता है । आगम ग्रन्थों में (यथा-आचारांग, प्रश्नव्याकरण आदि) भी ऐसा ही कथन है । क्योंकि आचारांग में इन भावनाओं का वर्णन महाव्रतों के सन्दर्भ में हुआ है । वहाँ पाठ हैं –

''ततो णं समणे भगवं महावीरे उत्पन्ननाणदंसणधरे गोतमादीणं समणाणं णिग्गंथाणं पंचमहव्वयाइं सभावणाइं छज्जीवणिकायाइं आइक्खति भासति परूवेति तं जहा- पुढविकाए जाव तसकाए ।

– आचारांग, श्रु. २, अ. १५, सू. ७७६

(तत्पश्चात् केवलज्ञान-दर्शन के धारक श्रमण भगवान महावीर ने गौतम आदि श्रमण निर्ग्रन्थों को (लक्ष्य करके) भावना सहित पाँच महाव्रतों और पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक छह जीवनिकायों के स्वरूप का सामान्यरूप से कथन किया, विशेष रूप से व्याख्या की और सिद्धान्त तथा तद्व्यतिरिक्त रूप से प्रतिपादन किया ।)

यहाँ एक सामान्य जिज्ञासा उठती है कि इन भावनाओं का अनुचिन्तन सिर्फ महाव्रती श्रमण सन्तों को ही करना चाहिए, अणुव्रती साधकों को नहीं ? क्या अणुव्रती साधकों के लिए इनका विधान नहीं है ? अथवा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उनकी व्रत–साधना में इन भावनाओं का कोई महत्व अथवा स्थान नहीं है?

प्रथम व्रत अहिंसा की ईर्यासमिति भावना को ही लें । क्या अणुव्रती को मार्ग देखकर नहीं चलना चाहिए ? यदि वह न चला तो उसकी क्या स्थिति बनेगी, कहने की आवश्यकता नहीं । ठोकर खाकर दाँत तोड़ लेगा,किसी वाहन की चपेट में आ जायेगा, गन्दगी से पाँव भर लेगा, कोई त्रस जीव उसके पाँवो से कुचल जायेगा ।

इसी प्रकार क्या उसे अन्य चारों भावनाओं का चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं ? क्या वह मन को बेलगाम घोड़े की तरह छोड़ दे, वचन–विवेक न रखे अथवा वस्तुओं को बिना देखे– भाले ही उठाये और रखे।

ऐसी ही जिज्ञासाएँ अन्य व्रतों की भावनाओं के विषय में की जा सकती है ।

इन सभी जिज्ञासाओं का सामान्य समाधान एक ही संभव है और वह यह कि जिस प्रकार व्रतों में 'देश' (आंशिक) और 'सर्व' (पूर्ण) का अन्तर है । उसी प्रकार इन भावनाओं में भी 'देश'और 'सर्व' का अन्तर है । महाव्रती साधक इन्हे (इन भावनाओं को) घूर्ण रूप से चिन्तन करता है और अणुव्रती साधक अपनी मर्यादा के अनुसार आंशिक रूप में ।

जैसे–अणुव्रती के लिए अपनी स्त्री के अंगों को छोड़कर अन्य स्त्रियों को जिनके प्रति वह माता–बहन–पुत्री के भाव ला चुका है, रागपूर्वक देखना अनुचित है, पाप है और सामाजिक दृष्टि से अपराध भी है ।

ऐसी ही बात उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र से भी ध्वनित होती है। उन्होंने इस सूत्र के अपने स्वोपज्ञ भाष्य में भी 'महाव्रत' शब्द इन भावनाओं के सन्दर्भ में नहीं दिया है । सामान्य 'अहिंसायाः' 'सत्यवचनस्य' 'अस्तेयस्य' 'ब्रह्मचर्यस्य' और 'आंकिचनस्य' यह शब्द ही दिये हैं ।

अतः इस प्रकार की सभी जिज्ञासाओं के समाधान के लिए यही समझना अधिक उपयुक्त लगता है कि पाँचों व्रतो की पच्चीस संभावनाएँ सामान्य रूप से वर्णित की गई है । इनका अनुचिन्तन अणुव्रती और महाव्रती–दोनों को ही अपनी–अपनी भूमिकानुसार आंशिक और पूर्ण रूप से सतत करना चाहिए ।

(तालिका पेज ३०४ ३०५ पर देखें)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाँच व्रतों की पच्चीस भावनाएं

(तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार)

अहिंसा	सत्य	अस्तेय	ब्रह्मचर्य	अपरिग्रह
१ ईर्यासमिति भावना	१ अनुवीचि भाषण भावना	१ अनुवीचि अवग्रह याचना	१ असंसक्तवास समिति भावना	१ स्पर्शन इन्द्रिय राग-द्वेष वर्जन भावना
२ मनोगुप्ति भावना	२ क्रोध वचन-त्याग भावना	२ अभीक्ष्ण अवग्रह याचना	२ स्त्रीकथा विरति भावना	२ रसनेन्द्रिय विषय राग-द्वेष वर्जन भावना
३ एषणासमिति भावना	३ लोभ वचन-त्याग भावना	३ अवग्रह अवधारण याचना	३ स्त्रीरूपदर्शन विरति भावना	३ घाणेन्द्रिय विषय राग-द्वेष वर्जन भावना
४ आदान-निक्षेपणा समिति भावना	४ भय वचन-त्याग भावना	४ साधर्मिक अवग्रह याचना	४ पूर्वरत-पूर्वक्रीड़ित विरति भावना	४ चक्षुइन्द्रिय विषय राग-द्वेष वर्जन भावना
५ आलोकित पान-भोजन-भावना	५ हास्य वचन-त्याग भावना	५ अनुज्ञापित भोजन-पान	५ प्रणीत आहार त्याग भावना	५ श्रोत्र इन्द्रिय विषय राग-द्वेष वर्जन भावना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाँच व्रतों की पच्चीस भावनाए

आचारांग (भावना अध्ययन)

अहिंसा महाव्रत

१ ईर्यासमिति
२ मनपरिज्ञा
३ वचनपरिज्ञा
४ आदान–निक्षेपण समिति
५ आलोकित पान–भोजन

सत्य महाव्रत

१ अनुवीचि भाषण
२ क्रोध प्रत्याख्यान
३ लोभ प्रत्याख्यान
४ भय प्रत्याख्यान (अभय)
५ हास्यप्रत्याख्यान

अचौर्य महाव्रत

१ अनुवीचि मितावग्रह याचन
२ अनुज्ञापित पान–भोजन
३ अवग्रह–अवधारण
४ अभीक्षण अवग्रह याचन
५ साधर्मिक के पास से अवग्रहयाचन

ब्रह्मचर्य महाव्रत

१ स्त्री कथावर्जन
२ स्त्री–अंग–प्रत्यंग अवलोकन वर्जन
३ पूर्वभुक्तभोगस्मृति वर्जन
४ अतिमात्र व प्रणीत पान–भोजन वर्जन
५ स्त्री–पशु–नपुंसक संसक्त शयनासन वर्जन

(समवायांग–समवाय २५)

अहिंसा महाव्रत

१ ईर्यासमिति
२ मनोगुप्ति
३ वचनगुप्ति
४ आलोक पान–भोजन
५ आदान भांड मात्र निक्षेपणा समिति

सत्य महाव्रत

१ अनुवीचि भाषण
२ क्रोध–विवेक (क्रोध का त्याग)
३ लोभ–विवेक (लोभ का त्याग)
४ भय–विवेक (भय का त्याग)
५ हास्य–विवेक (हास्य का त्याग)

अचौर्य महाव्रत

१ अवग्रहानुज्ञापनता
२ अवग्रह सीमा परिज्ञान
३ स्वयं अवग्रह अनुग्रहणता
४ साधर्मिकों से अवग्रह की याचना तथा परिभोग
५ साधारण भोजन को आचार्य आदि को बताकर परिभोग करना ।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

१ स्त्री पशुनपुंसक युत शयानासन–वर्जन
२ स्त्री कथा वर्जन
३ स्त्री–इन्द्रिय अवलोकन वर्जन
४ पूर्व–भुक्त पूर्वक्रीड़ित भोगस्मरण वर्जन
५ प्रणीत आहार वर्जन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपरिग्रह महाव्रत					अपरिग्रह महाव्रत
१	मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्द में समभाव				१ श्रोत्रेन्द्रिय रागोपरति
२	''	''	रूप	''	२ चक्षु इन्द्रिय ''
३	''	''	गंध	''	३ घाणेन्द्रिय ''
४	''	''	रस	''	४ रसनेन्द्रिय ''
५	''	''	स्पर्श	''	५ स्पर्शनेन्द्रिय ''

आगम वचन -

संवेगणी कहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा-

इहलोगसंवेगणी परलोगसंवेगणी, आतसरीरसंवेगणी, परसरीरसंवेगणी ।

णिव्वेगणी कहा चउविव्हा पण्णत्ता, तं जहा-

इहलोगे दुचिन्ना कम्मा इहलोगे-
दुहफलविवागसंजुत्ता भवंति ।१।
इहलोगे दुचिन्ना कम्मा परलोगे-
दुहफलविवागसंजुत्ता भवंति ।२।
परलोगे दुचिन्ना कम्मा इहलोगे-
दुहफलविवागसंजुत्ता भवंति ।३।
परलोगे दुचिन्ना कम्मा परलोगे-
दुहफलविवागसंजुत्ता भवंति ।४ । - स्थानांग ४।२

(संवेगणी कथा चार प्रकार की होती है, यथा -
(१) इहलोक-संवेगनी (२) परलोक-संवेगनी
(३) स्वशरीर-संवेगनी (४) परशरीर-संवेगनी

निर्वेदनी कथा के चार प्रकार हैं, जैसे-

(१) इस लोक में किये हुए बुरे आचरित कर्म इसी लोक में बुरा फल देने वाले बनते है ।

(२) इस लोक में किये हुए अशुभकर्म परलोक में दुखद फल देते हैं।

(३) परलोक में (दुश्चीर्ण) बुरे कर्म परलोक में दुखदायी बनते हैं ।

(४) परलोक में किये हुए बुरे कर्म परलोक में दुखदायी बनते है ।

विशेष - इसी प्रकार संवेगनी कथा के अन्तर्गत सुचीर्ण (सुचिण्णा) शुभकर्मों की चतुर्भंगी है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाप विरति की अन्य भावनायें –

हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम् । ४।

दुःखमेव वा ।५।

हिंसा आदि (पाँचो पापों) के होने से इस लोक में कष्ट और परलोक में अनिष्ट का चिन्तन करना ।४।

अथवा (यह हिंसा आदि पाँच पाप) दुःख रूप ही हैं, ऐसी भावना करना ।५।

विवेचन – प्रस्तुत दोनों सूत्रों में हिसां आदि पापों से विरति के लिए किस प्रकार का चिन्तन करना चाहिए, इस बात का निर्देश दिया गया है । सूत्र ४ में हिंसा आदि के प्रत्यक्ष कष्टकारी फल तथा परलोक सम्बन्धी अनिष्ट फल के चिन्तन की प्रेरणा है और सूत्र संख्या ५ में समग्र रूप से एक ही बात कह दी गई है कि हिंसा आदि दुखःरूप ही हैं, अर्थात् पाप करते समय तो आत्मा का उद्वेग तथा संक्लेशरुप परिणाम होते हैं और उसका फल भोगते समय तो अत्यन्त दुःख एवं पीड़ा का अनुभव होता है।

हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म (व्यभिचार, पर–दार–वेश्यागमन आदिः के इस लोकसम्बन्धी कटु फल तो प्रत्यक्ष हैं ही । परिग्रह (धन, जमीन) आदि भी प्रत्यक्ष ही वैर–विरोध व चिन्ता का कारण हैं, इसके लिए प्राण भी चले जाते हैं, पुत्र भाई आदि भी शत्रु बन जाते हैं और परलोक में भी दुर्गति प्राप्त होती है । यह तथ्य भी सुविदित है ।

आगम वचन –

मित्तिं भूएहिं कप्पए ... – सूत्रकृतांग श्रु. २, अ. १५, गाथा ३

सुप्पडियाणंदा – औपपातिक सूत्र १. प्र. २०

साणुक्कोस्सयाए – औपपातिक, भगवदुपदेश

मज्झत्थो निज्जरापेही समाहिमणुपालए ।

– आचारांग श्रु. १, अ. ८, उ. ८, गा. ५

भावणाहिं य सुद्धाहिं, सम्मं भावेतु अप्पयं – उत्तरा १९/९४

अणिच्चे जीवलोगम्मि । – उत्तरा. १८/११

जीवियं चेव रूपं च, विज्जुसंपायचंचलम् । – उत्तरा. १८/१३

(समस्त प्राणियों से मैत्री भाव रखे ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपने से अधिक गुण वालों को देखकर आनन्द में भर जावे ।

दुखी जीवों पर दया करे ।

प्रतिकूल परिस्थितियों में समाधि का पालन करते हुए, निर्जरा की अपेक्षा करता हुआ माध्यस्थ भाव रखे ।

संवेग के लिए शुभ भावनाओं से अपने आपको अच्छी तरह चिन्तन करके अनित्य जीवलोक में जीवन और रूप बिजली चमक के समान चंचल है, यह चिंतन करे ।

योग भावनाएँ एवं शरीर-संसार स्वरूप चिन्तन-

मैत्री प्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्वगुणाधिक्यक्लिश्यमाना विनयेषु ।६।

जगत् कायस्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम् । ७।

सर्व साधारण जीवों में मैत्रीभाव, अधिक गुणवालों में प्रमोदभाव, दुःखी प्राणियों में कारुण्यभाव और अविनयी एवं अयोग्य प्राणियों के प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना (चिन्तन करना) ।

संवेग तथा वैराग्य के लिए जगत् और काय के स्वभाव का चिन्तन करना।

विवेचन – पूर्वोक्त सूत्र ४ अर ५ में दुःखफलौ विपाक प्रदान करने वाली भावनाओं का कथन किया गया था, वहाँ सूचन था कि इन भावनाओं के चिन्तन से हिंसादि पापों से विरति दृढ़ करें ।

जबकि प्रस्तुत सूत्र ६ और ७ में विधेयात्मक भावनाओं के चिंतन की प्रेरणा है । मैत्री आदि विधेयात्मक भावनाएँ हैं । इनके चिन्तन से व्रती साधक में अहिंसा, क्षमा, तितिक्षा और दया के भाव दृढ़ीभूत होते हैं और जगत् के स्वभाव तथा शरीर के स्वरूप की वास्तविकता जानने से – इनके क्षण-क्षण परिवर्तित होते हुए स्वभाव पर अनुप्रेक्षात्मक चिन्तन करने से संवेग और वैराग्य के भाव दृढ़ होते हैं ।

मैत्री भावना- मैत्री का अभिप्राय है – सभी प्राणियों की हित चिन्ता करना – **मैत्रीपरेषां हितचिन्तनं यद्** (शान्तसुधारस भावना) ।

इस मैत्री भावना का आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टीयों से जीवन में काफी महत्व है । (मैत्र भावना से अन्य प्राणी भी प्रभावित होते हैं, यहाँ तक कि हिंसक पशु भी साधक के प्रति उपद्रवों नहीं बनते।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मिक सन्दर्भ में मैत्री का अभिप्राय हैं – अपनी आत्मा की रागद्वेष, क्रोध आदि कषायों से रक्षा, कषायों को उत्पन्न न होने देना, यही आत्मा का हित है और मैत्री भावना से साधक इसी हित को साधता है ।

प्रमोद भावना– गुणों का विचार करके उन गुणों में हर्षित होना, प्रमोद भाव है । इस भावना से साधक में गुणग्रहण का भाव जागृत होता है, वह अधिक से अधिक गुण अपने अन्दर समाविष्ट करने को प्रयत्नशील हो जाता है, वह अवगुणों में भी गुण दर्शन कर उसे ग्रहण करता है, जैसे हंस पानी को अलग करके क्षीर ग्रहण करता है । साधक की आत्मा गुणसंपन्न हो जाती है । इस भावना के अभ्यास से आत्मा में स्वाभाविक मुद्रित वृत्ति प्रसन्नता बनी रहती है ।

कारूण्य भावना – दीन व्यक्तियों पर अनुग्रह का भाव रखना, अथवा दुःखी प्राणियों के कष्ट को मिटाने का भाव करुणा है ।

संसार के प्राणी शारीरिक, मानसिक आदि अनेक प्रकार के दुखों से पीड़ित हैं ।

यद्यपि यह सत्य है कि उन्हे जो दुःख, क्लेश, कष्ट आदि मिले हैं; ये सब उनके पूर्वजन्म के अथवा इसी जन्म के अशुभकर्मों के फल हैं, लेकिन व्रती साधक को यह नहीं सोचना चाहिए कि 'इन्हें अपने किये का फल भोगने दो।' अपितु यथाशक्ति उनके दुःख को दूर करने का उपाय भी करना चाहिए।

माध्यस्थ्य भावना– संसार में सभी अपने अनुकूल नहीं हो सकते । जीवों की रुचि–प्रवृत्ति भिन्न–भिन्न प्रकार की है । कुछ सज्जन, शिष्ट विनयी होते हैं तो दुर्जन दुष्टों की भी कमी नहीं है ।

व्रती साधक का कर्तव्य है कि दुर्जनों और अविनयी पुरुषों (प्राणियों) पर द्वेष न करे; अपितु माध्यस्थ भाव रखे । माध्यस्थ का अभिप्राय है उनकी कल्याण–कामना करते हुए, उनकी अप्रियवृत्तियों के प्रति उपेक्षा भाव रखना, तटस्थ रहना ।

भगवान महावीर की वाणी में –

उवेइ एणं बहिया य लोगं से सव्व लोगम्मि जे केई विण्णू।

– आचारांग १, ४/३

अपने धर्म के विपरीत रहने वाले व्यक्ति के प्रति भी उपेक्षा भाव रखो। क्योंकि जो कोई विरोधी के प्रति उपेक्षा– तटस्थता रखता है, उसके कारण उद्विग्न नहीं होता, वह विश्व के समस्त विद्वानों में शिरमौर है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जगत् और काय के स्वरूप-चिन्तन का फल – प्रस्तुत सूत्र में संवेग और वैराग्य शब्द आया है । संवेग का अभिप्राय है– चतुर्गति रूप संसार से भयभीत होना। दूसरे शब्दों मे यह संसार दुःखमय है। चारों गतियों में दुःख है । जो इन्द्रिय-सुख आदि दिखाई देते भी हैं; उनका भी अन्त दुख ही है । संसार के ऐसे स्वभाव के चिन्तन से हृदय में संवेग जाग्रत होता है ।

शरीर की भी यही दशा है । ग्रन्थों के अनुसार मानव शरीर में साढ़े पांच करोड़ रोग हैं । आज के युग में भी नये-नये रोग सुनने में आ रहे है। शरीर व्याधियों का घर है । क्षण-क्षण में इसमें परिवर्तन हो रहा है, यह स्थाई नहीं है, विनाशधर्मा है। इस प्रकार शरीर के स्वभाव को जानने से इसके प्रति मोह घटता है ।

अतः संसार और शरीर की वास्तविक स्थिति को जानने तथा उसका बार-बार चिन्तन करने से संवेग और वैराग्य में दृढ़ता आती है ।

संवेग का एक अर्थ यह भी है, सम्यक्+वेग–संवेग । धर्म एवं शुभ कार्यों के प्रति उत्साह, तथा वैराग्य का अर्थ है – इन्द्रिय-सुखों से विरक्ति ।

आगम वचन –

तत्थ णं जेते पमत्तसंजया ते असुहं जोगं पडुच्च आयारंभा परारंभा जाव णो अणारंभा । – भवगती, श. १, उ. १, सूत्र ४९

(प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले मुनि भी अशुभयोग को प्राप्त होकर आत्मारम्भ होते हुए भी परारम्भ हो जाते है और पूर्ण आरम्भ करने लगते है ।

विशेष – प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले मुनि भी प्रमाद के योग से पुनः प्राणव्यपरोपण रूप हिसा में लग सकते हैं । अन्य लोगों की तो बात ही क्या?

हिंसा के लक्षण–

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।८।

(प्रमाद के योगपूर्वक प्राणों का वियोग होना हिंसा है ।)

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में 'प्रमत्तयोग', 'प्राण' और 'व्यपरोपण' यह तीनों शब्द महत्वपूर्ण हैं । इनको भली भाँति समझे बिना हिंसा और इसके विपरीत अहिंसा को भी सही अर्थो में समझना संभव नहीं है ।

व्यपरोपण – इसके अनेक अर्थ होते है, जैसे दूर करना, नाश करना,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हिंसा करना, मारना, प्राणों का वियोग करना, प्राणो का वध करना, देहान्तर को संक्रम ,करा देना, दुसरी गति को पहुंचा देना, आदि है ।

व्यपरोपण में मारना, पीटना, ताड़ना, तर्जना आदि भी सभी क्रियाएँ गर्भित हैं जिनसे जीव को कष्ट अथवा दुःख की अनुभूति होती है।

प्राण – प्राण का अर्थ है जीवन धारण करने वाली शक्ति । यह दस है (१) स्पर्शनेन्द्रियबल, (२) रसनेन्द्रियबल, (३) घ्राणेन्द्रियबल, (४) चक्षुइन्द्रियबल (५) श्रोत्रइन्द्रियबल (६) मनोबल (७) वचनबल (८) कायबल (९) श्वासोच्छ्वास और (१०) आयुष्यबल ।

प्रमाद – आत्मा को अपने स्वरूप (या कर्तव्य) के प्रति बेभान करने वाली वृत्ति प्रमाद है। आचरण की दृष्टि से इसके पन्द्रह भेद बताये हैं–

(१) मद (मद्य अथवा मद–अभिमान) (२–६) पाँच इन्द्रियों के विषय (७–१०) विकथा (स्त्रीकथा, राजकथा, भोजनकथा, देशकथा) (११–१४) चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) और (१५) निद्रा ।

इन पन्द्रह प्रकार के प्रमादों में से किसी एक अथवा अधिक के वशीभूत होकर मन–वचन–काया (इनमें से भी किसी एक, दो, अथवा तीनों) के योगों के द्वारा किसी के प्राणों को कष्ट पहुंचाना, मारना, पीटना, ताड़ना, तर्जना देना अथवा जीवन ही समाप्त कर देना हिंसा है ।

यहाँ 'प्रमत्त' शब्द विशिष्ट अर्थ को लिए हुए है । साधारणतया यह शंका उठाई जाती है कि यदि प्रवृत्ति में प्रमाद न हो और किसी जीव का घात हो जाय तो वह हिंसा की कोटि में आता है या नहीं?

इस शंका का कर्मशास्त्रसम्मत समाधान इस प्रकार है – प्रमाद का अस्तित्व छठे गुणस्थान तक रहता है । उसके आगे के गुणस्थानों में प्रमाद छूट जाता है । अतः उससे पहले की (छठवें गुणस्थान तक की) सभी भूमिकाओं में प्रमाद का अस्तित्व रहने से मानव (प्राणीमात्र) को हिंसा का दोष लगता है । हाँ यह अवश्य है कि हिंसा रूप भाव न होने से हिंसा का दोष अति सूक्ष्म मात्रा में लगता है ।

अप्रमत्त अवस्था में यदि शरीर प्रवृत्ति से किसी जीव की विराधना हो जाती है तो वहाँ साधक को हिंसा–दोष कम लगता है ।

इस अपेक्षा से हिंसा के दो भेद किये गये हैं– (१) भावहिंसा (२) द्रव्यहिंसा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावहिंसा – वह है जबकि मन-वचन-काया तीनों योग हिंसा में जुड़े हों, यानी तीनों योगों की प्रवृत्ति हिंसा रूप हो । जैसे-कसाई द्वारा बकरे का वध ।

द्रव्यहिंसा – वह है जहाँ हिंसारूप परिणाम (भाव) न हों, किन्तु अकस्मात् ही किसी का वध हो जाय, कोई मर जाय, जैसे – डाक्टर किसी रोगी की कैंसर की गाँठ निकालने के लिए आपरेशन करता है, चीर-फाड़ करता है, उसकी भावना रोगी की जीवन-रक्षा हैं; किन्तु रोगी मर जाता है तो यह द्रव्यहिंसा है ।

इसी प्रकार कोई श्रमण या श्रावक अच्छी तरह देखभाल कर चल रहा है, उसने देख लिया कि सड़क पर कोई जीव नहीं हैं; किन्तु अकस्मात् कोई चींटी उसके पाँव के नीचे आकर दब जाती है, मर जाती है तो हिंसा रूप भाव न होने से यह द्रव्यहिंसा है ।

उपरोक्त दोनों दृष्टान्तों में हिंसा का दोष नहींवत् है ।

बहुत से अहिंसा के स्वरूप से अनजान व्यक्ति इस प्रकार की शंकाएँ उठाते हैं कि- श्वासोच्छ्वास से असंख्य वायुकायिक जीवों की विराधना होती है तो श्रमण-साधु भी अहिंसक नहीं है ।

उनके इस आक्षेप का निरसन भी उपरोक्त वर्णन से हो जाना चाहिए कि साधु के भाव हिंसा के नहीं है, फिर श्वासोच्छ्वास तो जीवन की/शरीर की स्वाभाविक प्रक्रिया है, इसे रोका नहीं जा सकता, इसे रोकने का अर्थ है आत्महत्या, जो स्वयं हिंसा है । अतः श्वासोच्छ्वास लेता हुआ साधु अहिंसक ही कहा जायेगा ।

आगम वचन –

अलिय ....असच्चं ..संधत्तणं. असम्भव .. अलियं ।
– प्रश्न व्याकरण, आस्रव द्वार २

अदत्तं. तेणिक्को – प्रश्न व्याकरण, आस्रव द्वार ३

अबम्भ मेहुणं – प्रश्नव्याकरण, आस्रव द्वार ४

मुच्छा परिग्गहो – दशवैकालिक अ. ६, गा. २१

(जैसा न हो वैसा स्थापित करना असत्य है ।
बिना दिये हुए को लेना चोरी है ।
मैथुन करना अब्रह्म पाप कहलाता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चेतन–अचेतन रूप परिग्रह में ममत्व भाव रूप मूर्च्छा परिग्रह है ।

असत्य आदि के लक्षण –

असद्भिधानमनृतम् ।९।

अदत्तादानं स्तेयं ।१०।

मैथुनमब्रह्म ।११।

मूर्च्छा परिग्रहः ।१२।

असत् को स्थापित करना/कहना अनृत (अन्:ऋत) असत्य है ।९।

(स्वामी द्वारा) बिना दिये हुए किसी वस्तु को लेना चोरी है।१०।

(स्त्री–पुरूष के) मिथुनभाव अथवा/मिथुन कर्म मैथुन/अब्रह्म है ।११।

(वस्तुओं में) ममत्व भाव (मूर्च्छा) रखना परिग्रह है । १२।

विवेचन – प्रस्तुत ९ से १२ तंक के चार सूत्रों में असत्य, स्तेय, अब्रह्म और पररिग्रह के लक्षण बताये गये है ।

असत्य – इसके लिए सूत्र में अनृत शब्द दिया गया है ऋत का अभिप्राय है जो सरल हो, सत्य हो, त्रिकाल अबाधित हो । जो ऋत है, वह 'सत्' है । यद् ऋतं तत् सत् । इसके विपरीत 'असत्' है । असत् का अभिधान/स्थापन करना असत्य है ।

सत् शब्द के प्रस्तुत संदर्भ में अर्थ हैं – (१) विद्यमान और (२) प्रशंसा । इस प्रकार सूत्रोक्त असत् शब्द से तीन अर्थ प्रतिमासित होते हैं – (१) विद्यमान अथवा सद्भाव का निषेध करना (२) अर्थान्तर करना और (३) निन्दा अथवा अप्रशस्त वचन बोलना ।

सद्भाव अथवा सत्य स्थिति के विपरीत कहना, उसका अन्य अर्थ कर देना, कुछ का कुछ बता देना, आदि सभी विद्यमान के निषेध तथा उसके अर्थान्तर होने से असत्य वचन हैं ।

प्रशस्त से अभिप्राय है– प्रिय और हितकारी वचन । ऐसे वचन जो सत्य होते हुए भी दूसरे के हृदय को दुःखी करें, अप्रशस्त होने से असत्य वचन ही हैं. कटु, कर्कश, निंद्य आदि वचन भी असत्य की कोटिं में ही हैं।

स्तेय – स्वामी द्वारा बिना दिये हुए उसकी वस्तु को उठा लेना, ग्रहण कर लेना, स्तेय अथवा चोरी है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चोरी में लोभवृत्ति विशेष रूप से काम करती है । मानव दूसरे के स्वामित्व की वस्तु का अपहरण और ग्रहण लालच के कारण ही करता है । शास्त्र में कहा है- **लोभाविले आययइ अदत्तं** - प्राणी लोभग्रस्त होकर ही दूसरे की वस्तु लेता है । अतः चोरी की इच्छा से किसी वस्तु को लेना स्तेय कहलाता है ।

यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि 'स्तेय' की सीमा बहुत सूक्ष्म है । दांत कुरेदने के लिए तिनका भी बिना दिये लेना निषिद्ध है । **''दंत सोहणमायस्स अदत्तस्स विवज्जणं** (उत्तरा) ।''

अब्रह्म - चारित्रमोहनीय कर्म की वेद प्रकृति के विपाकोदय से स्त्री-पुरुष में जो स्पर्श आदि की इच्छा होती है, उस इच्छा के अनुरूप जो वचन प्रवृत्ति होती है, तथा कर्म (मिथुन-कर्म) होता है, वह मैथुन है और वही अब्रह्म है- अब्रह्म का सेवन है ।

परिग्रह - परिग्रह का शाब्दिक अर्थ है- सभी ओर से ग्रहण करना (परि-चारों ओर से, ग्रह-ग्रहण करना) । किन्तु प्रस्तुत में परिग्रह का अभिप्राय ममत्व-मूर्च्छा से है । मूर्च्छा का अभिप्राय है - गहरा ममत्व । ममत्व भाव जितना गहरा होगा, मूर्च्छा भी उतनी ही अधिक होगी ।

मूर्च्छा का लौकिक अर्थ बेहोशी अथवा स्वयं का भान भूल जाना है । इसी प्रकार आत्मा जब अपने स्वरूप का भान भूलकर पर में - राग- द्वेष आदि भावों, पौद्गलिक वस्तुओं में गृद्ध हो जाता है, उनसे ममत्व करता है, आध्यात्मिक दृष्टि से यही मूर्च्छा है, यही परिग्रह है ।

विशेष - असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह का निषेध अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए है, अथवा ये हिंसा के ही विस्तार है । क्योंकि आत्मा की राग-द्वेषात्मक वृत्ति ही हिंसा है और राग-द्वेष-मोह के बिना असत्य आदि चारों की प्रवृत्ति संभव ही नहीं हो सकती ।

इसीलिए 'हिंसा' के लक्षण में दिया गया 'प्रमत्तयोग' शब्द इन चारों में भी योजित कर (लगा) लेना चाहिए; जैसे 'प्रमादयोग से असत् को स्थापित करना अनृत (असत्य है)' आदि ।

इसका अभिप्राय यह है कि हिंसा आदि पाँचो पाप पन्द्रह प्रकार के प्रमाद से प्रेरित हुए मन-वचन-काय योगों द्वारा होते हैं ।

इस अपेक्षा से मन में दुर्भाव न रखना, अप्रिय-कटुक-निंद्य वचन नहीं बोलना और काय से ऐसी कोई चेष्टा भी नहीं करना, सत्य है । अर्थात्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मन–वचन–काय तीनों योगों की ऋजुता–सरलता सत्य के लिए अपेक्षित है।

इसी प्रकार मन–वचन–काय–तीनों योगों मे चोरी का भाव न आना, तत्सम्बन्धी वचन न निकलना और शरीर–प्रवृत्ति न होना–अचौर्य है ।

यह स्थिति अब्रह्म के विषय में है । वहां तीनों योगों की वासनात्मक प्रवृत्ति न हो तभी ब्रह्मचर्य माना जायगा ।

और ममत्व/मूर्च्छा भाव का तीनों योगों में न आना अपरिग्रह है ।

आगम वचन –

पडिक्कमामि तिहिं सल्लेहिं – मायासल्लेणं नियाणसल्लेणं मिच्छादंसणं सल्लेणं । – आवश्यक. चतु. आवश्यक. सूत्र ७

(मैं तीन शल्यों का प्रतिक्रमण करता हूँ – (१) मायाशल्य का (२) निदानशल्य का और (३) मिथ्यादर्शनशल्य का । (इस प्रकार प्रतिक्रमण करना ही व्रती का लक्षण है ।)

व्रती की अनिवार्य योग्यता

निःशल्योव्रती ।१३।

(ज्यो शल्यरहित है, वह व्रती है ।)

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में व्रती की अनिवार्य योग्यता की ओर संकेत किया गया है, वह योग्यता है निःशल्य अथवा शल्यरहित होना । इसका अभिप्राय यह है कि जो शल्यरहित होकर व्रत ग्रहण करता है, वही सच्चा व्रती है ।

शल्य, साधारण शब्दों में काँटे अथवा पीड़ाकारी वस्तु को कहा जाता है । इसका व्युत्पत्त्यर्थ है – **श्रृणाति हिनस्ति इति शल्यम् ।** जिस प्रकार पाँव में लगा हुआ काँटा सुख–सुविधापूर्वक चरण नहीं रखने देता, चलने नहीं देता, इसी प्रकार मन में रहा हुआ शल्य व्रतों का सही ढंग से आचरण नहीं करने देता ।

शल्य एक मानसिक दोष है । यह तीन प्रकार का है – (१) माया, (२) निदान और (३) मिथ्यादर्शन ।

माया का अभिप्राय हैं ढोंग, कपट, वंचना; निदान विषय–भोगों की तीव्र लालसा है और **मिथ्यादर्शन** असत्य श्रद्धान है । इसको पलट कर यों भी कह सकते हैं, जिसे तत्व का सही विश्वास न होगा, उसके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हृदय में विषयों की अभिलाषा रहेगी और तब उसके व्रत सिर्फ बाहरी आडम्बर दिखावा मात्र ही रह जायेंगे ।

अतः इन तीनों प्रकार के शल्यों को निकाल कर व्रत ग्रहण करने वाला व्यक्ति ही यथार्थ व्रती (त्यागी) होता है ।

आगम वचन -

चरित्तधम्मे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा-

आगार चरित्तधम्मे चेव अणगार चरित्तधम्मे चेव ।

- स्थानांग, स्थान २, उ. १

आगारधम्मं .. .अणुव्वयाइ इत्यादि ...

- औपपातिक सूत्र श्री वीर देशना

(चारित्रधर्म दो प्रकार का है, यथा (१) आगारचारित्रधर्म अथवा गृहस्थधर्म और (२) अनगारचारित्र धर्म अथवा मुनि धर्म ।

अणुव्रत आदि धारण करना आगार चारित्रधर्म है ।

व्रती के भेद -

अगार्यनगराश्च ।१४।

अणुव्रतोऽगारी ।१५।

(व्रती दो प्रकार के हैं - (१) अगारी और (२) अनगार

अणुव्रतों को धारण करने वाला अगारी (गृहस्थ) व्रती है ।)

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र १४ में व्रती के दो प्रकार बताये गये है - (१) अगारी और (२) अनगार; तथा सूत्र १५ में अगार (गृहस्थ) व्रती का लक्षण बताया गया है कि अणुव्रतों का पालन करने वाला अगार व्रती होता है।

'अनगार' शब्द के दो अर्थ होते हैं - प्रथम, जिसका अपना कोई घर न हो अर्थात् वह अनिकेतचारी हो और दूसरा, जिसके व्रतों में किसी प्रकार का आगार, छूट अथवा Exception न हो ।

अनगार का सरल और बहुप्रचलित शब्द है श्रमण, साधु, निर्ग्रन्थ । इन्ही शब्दों से जन-मानस में अनगार व्रती की पहचान होती है ।

इन सर्वविरत -महाव्रती साधुओं के तीन भेद है - (१) आचार्य (२) उपाध्याय और (३) साधु । यह भेद संघ की व्यवस्था की अपेक्षा से है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन तीनों के ही मूल गुण तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – यह पाँच महाव्रत अथवा सर्वव्रत ही हैं; किन्तु आचार्य के छत्तीस, उपाध्याय के पच्चीस और साधु के सत्ताईस गुण शास्त्रों में बताये गये हैं ।

अनगार और अगार की साधना में मूल भेद यह है कि साधु तो अहिंसा आदि पाँचों मूल गुणों का समग्ररूप से पालन करता हैं; किन्तु अगार (गृहस्थ) साधक इन मूल गुणों का पालन अल्पतः अपनी शक्ति के अनुसार ही कर पाता है ।

समग्ररूप का अभिप्राय है – मन, वचन और काय तीनों योगों और कृत–कारित–अनुमत–तीनों करणों से हिंसा आदि पांचों पापों का त्याग कर देना ।

उदाहरणतः साधु न स्वयं हिसा करता है, न किसी अन्य से करवाता है और न हिंसा करनेवाले का अनुमोदन करता है । मन से भी नहीं करता, हिंसाकारी वचन भी नहीं बोलता है और काया से भी ऐसी कोई चेष्टा नहीं करता जिससे हिंसा का अनुमोदन या समर्थन होता हो ।

इसी प्रकार वह सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य का भी पालन करता है।

साधु १४ प्रकार के अन्तरंग और १० प्रकार के बाह्य परिग्रह[1] का भी सर्वथा त्यागी होता है ।

किन्तु गृहस्थ साधक इतनी उच्च भूमिका पर पहुँचा हुआ नहीं होता, उसे पारिवारिक–सामाजिक दायित्व भी पूर करने होते हैं । इसलिए वह इन मूल गुणों अथवा मूलव्रतों की अंशतः साधना कर पाता है ।

अणुव्रती साधक मन, वचन, काया और कृतकारित से हिंसा

---

१. (क) चौदह प्रकार के अतरंग परिग्रह – (१) मिथ्यात्व (२) राग (३) द्वेष (४) क्रोध (५) मान (६) माया (७) लोभ (८) हास्य (९) रति (१०) अरति (११) शोक (१२) भय (१३) जुगुप्सा (१४) वेद।

(ख) दस प्रकार बाह्य परिग्रह – (१) क्षेत्र (२) वास्तु (३) हिरण्य (४) सुवर्ण (५) धन (६) धान्य (७) द्विपद (८) चतुष्पद (९) कुप्य (१०) मित्र ज्ञाति संयोग (मित्र, स्वजन, परिवारी जन आदि)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आदि पाँचों पापों (बन्धहेतुओं) का त्याग कर देता है किन्तु उसका अनुमोदन खुला रहता है । इसी कारण उसके व्रत अणुव्रत कहलाते है ।

फिर ऐसा भी संभव है कि अपनी परिस्थिति के अनुसार वह ब्रह्मचर्य आदि व्रतों में 'कारित' करण भी खुला रखे । अथवा एक योग एक करण से ही धारण करे ।

इसी अपेक्षा से तो उसके व्रत आगार (छूट या Exception) सहित होते है और वह आगारी साधक कहलाता है, अगारी कहा जाता है ।

आगार यानी घर में रहकर साधना करने के कारण भी उसे अगारी अथवा आगारी कहा गया है ।

अहिंसा आदि पाँचों व्रत, चाहे अगारी साधक के हों अथवा अनगारी साधक के, दोनों के ही यह मूल गुण अथवा मूलव्रत कहलाते हैं ।

आगम वचन –

आगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ, तं जहा–

पंच अणुव्वयाइं तिण्णि गुणव्वयाइं चत्तारि सिक्खावयाइं ।

तिण्णि गुणव्वयाइं, तं जहा–अणत्थदंडवेरमणं दिसिव्वयं उपभोग परिभोग परिमाणं ।

चत्तारि सिक्खावयाइं, तं जहा–सामाइयं देसावगासियं पोसहोववासे अतिहि संविभागे । – औपपातिक सूत्र, श्री वीर देशना, सूत्र ५७

(आगार धर्म तीन प्रकार का है – पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत ।

तीन गुणव्रत यह हैं– (१) अनर्थदण्डविरमण (२) दिग्व्रत और (३) उपभोग–परिभोग परिमाण व्रत ।

चार शिक्षाव्रत है – (१) सामायिक (२) देशावकाशिकव्रत (३) प्रोषधोपवास व्रत और (४) अतिथि संविभाग व्रत ।

श्रावक के गुणव्रत और शिक्षाव्रत ।

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपौषधोपवासोपभोगपरिभोग–परिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ।१६।

और (वह अगारी – गृहस्थ श्रावक) १. दिग्व्रत २. देशव्रत ३. अनर्थदण्ड विरमण व्रत. ४. सामायिक व्रत ५. पौषधोपवास व्रत ६. उपभोग परिभोग परिमाण व्रत और ७. अतिथि संविभाग व्रत – इन सात व्रतों से भी सम्पन्न होता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में गिनाए गये श्रावक के यह सात व्रत, मूलव्रत अणुव्रतों की अपेक्षा, उत्तरव्रत भी कहलाते हैं । आगम में इनमें से प्रथम तीन व्रत गुणव्रत कहे गये हैं और आगे के चार व्रतों को शिक्षाव्रत कहा गया है।

किन्तु एक भेद और भी है । वह यह कि आगमों में दिग्व्रत, उपभोग–परिभोग परिमाणव्रत और अनर्थदण्ड विरमणव्रत– इन तीन व्रतों को गुणव्रत कहा गया है तथा सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और अतिथिसंविभाग व्रत इन चार व्रतों को शिक्षाव्रत कहा गया है ।

देशावकाशिक व्रत को देशंसवर (आंशिक संवर) और पौषधोपवासव्रत को प्रतिपूर्ण संवर भी कहा जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र और आगमों में जो व्रतों के क्रम में भेद दृष्टिगोचर होता है यानी सूत्रकार ने आगमोक्त उपभोग–परिभोग तथा देशव्रत का परस्पर स्थान बदल दिया, उसके तीन कारण संभव दिखाई देते हे ।

१. सूत्र की संक्षिप्त शैली

२. गुणव्रत और शिक्षाव्रत – इस प्रकार के विभाजन को गौण करके उत्तरगुण–इस दृष्टि को प्रमुख रखकर वर्णन कर देना ।

३. देशव्रत के स्वरूप के विषय में मत–भिन्नता ।

देशव्रत के स्वरूप के विषय में आचार्यो की दो परम्परायें मिलती है।

एक परम्परा के आचार्यो का हेमचन्द्र (समन्तभद्र आचार्य आदि) मन्तव्य यह है कि देशव्रत में सिर्फ दिग्व्रत में बांधी हुई सीमाओं को ही प्रतिदिन की उपयोगिता की दृष्टि से और भी सीमित किया जाता है; जैसा कि चौदह नियमों के चिन्तन में श्रावक 'दिसि' शब्द पर विचार करके अपनी प्रतिदिन की गमनागमन की सीमा निश्चित कर लेता है ।[1] यहाँ 'देश' शब्द का अर्थ 'दिशा' माना गया है।

दूसरी परम्परा आवश्यक वृत्ति आदि की यह है कि देशव्रत में श्रावक दिग्व्रत की सीमा तो कम करता है ही, साथ ही भोगोपभोग आदि अन्य व्रतों में निर्धारित द्रव्यों आदि को भी कम कर लेता है कि आज इससे

---

१ योगशास्त्र । ३।८४–

दिग्व्रते परिमाणं यत्तस्य संक्षेपणं पुनः ।
दिने रात्रौ च देशावका शिकव्रतमुच्यते ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अधिक वस्तुओं का सेवन नही करूंगा । साथ ही अन्य सांसारिक प्रवृत्तियों को भी और अधिक अपने दिन भर के अथवा निश्चित काल के लिए सीमित कर लेता है । सावद्य प्रवृत्तियों के त्याग की अपेक्षा ही इसे देशसंवर कहा जाता है ।[1]

इस परिभाषा के अनुसार 'देश' शब्द का अर्थ 'आंशिक' हो जाता है।

श्रावक के इन सात उत्तरव्रतों का हम भी गुणव्रत और शिक्षाव्रतों में विभाजन करके ही संक्षिप्त परिचय देंगे ।

गुणव्रत – यह तीन हैं १. दिग्व्रत २. उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत और ३. अनर्थदण्डविरमण व्रत । श्रावक इन व्रतों को जीवन भर के लिए ग्रहण करता है ।

(१) **दिग्व्रत** – इस व्रत में श्रावक ऊर्ध्व, (ऊँची), अधो (नीची) यानि भूमि से ऊपर आकाश में और पृथ्वी तल से नीचे-सागर, भूमिगृह, आदि में, तिर्यक् दिशा यानि पूर्व-पश्चिम उत्तर और दक्षिण (साथ ही आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य और ईशान) इन सभी दिशाओं में अपने व्यापार आदि सावद्य कार्य हेतु जाने-आने की सीमा का निर्धारण कर लेता है । यथा अमुक दिशा में इतने कोस, मील, किलोमीटर आदि से अधिक गमनागमन नहीं करूंगा ।

(२) **उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत** – एक बार ही जिन पदार्थों का भोग किया जा सकता है व उपभोग कहलाते हैं; जैसे जल, अन्न आदि; और जिन वस्तुओं का बार-बार उपयोग किया जा सकता है , वे परिभोग कहलाते हैं; जैसे वस्त्र, मकान, शैया आदि । इस व्रत में व्रती गृहस्थ उप भोग-परिभोग की सभी वस्तुओं की अपनी आवश्यकतानुसार सीमा निश्चत कर लेता है । इसी को उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत कहा जाता है।

यह सीमा ऐसी होती है जिससे साधक को कष्ट या अभाव का अनुभव भी न हो और व्यर्थ की वस्तुओं का संचय भी न हो ।

साथ ही वह कर्मादानों का त्याग भी करता है ।

उपभोग-परिभोग की २६ वस्तुएं उपासकदशांग सूत्र में बताई गई है और कर्मादान १५ हैं ।

---

१. आवश्यक सूत्र की वृत्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपभोग–परिभोग की वस्तुओं की गणना इस प्रकार है –

१. शरीर पौंछने का अंगोछा आदि २. दांत साफ करने का मंजन आदि. ३ नहाने के काम आने वाले आंवले आदि फल (साबुन) ४. मालिश के लिए तेल आदि ५. उबटन के लिए पीटी आदि. ६. स्नान के लिए जल ७. पहनने के वस्त्र ८. विलेपन के लिए चन्दन आदि (क्रीम आदि सुगन्धित पदार्थ) ९. फूल–पुष्पमाला १०. आभरण (आभूषण) ११२. धूप–दीप १२. पेय पदार्थ १३. पकवान्न मिठाई आदि १४. ओदन–भात आदि पानी में उबालकर पकाए जाने वाले भोज्य पदार्थ २५. सूप–दाल (pulses) आदि, १६. घी, तेल, गुड़ आदि विगय, १७. शाक (Green Vegetables) १८. माधुरक (dry and green fruits) १९. जीमण–भोजन के पदार्थ, २०. पीने का पानी, २१. मुख–वास इलायची आदि, २२ .वाहन–शकट, रथ, यान आदि, २३. जूते–चप्पल २४. शय्या–आसन २५. सचित्त वस्तुएं जो अग्नि आदि से अचित्त न हुई हों, हरे फल, कच्चा पानी आदि २६. भोजन के अन्य पदार्थ ।

यह सूची प्राचीन युग की है । वर्तमान युग में प्रचलित तथा नित्य उपभोग–परिभोग में आने वालो वस्तुओं; जैसे–स्कूटर, कार. टी.वी. टेप ट्रांजिस्टर आदि भी इन्ही वस्तुओं के अन्तर्गत समाविष्ट होते है ।

कर्मादान उन व्यवसायो को कहा गया है, जिनमें अत्यधिक आरम्भ और हिंसा होती है तथा आत्म–परिणामों में क्रूरता की मात्रा अधिक रहती है । यह पन्द्रह है ।–

१. अग्नि सम्बन्धी कार्य; जैसे ईंट, चूने का भट्टा लगाना, कोयले बनाना आदि । (अंगारकर्म)

२. जंगल का ठेका लेकर वृक्ष, घास आदि काटना (वनकर्म)

३. रथ, (स्कूटर, रिक्शा) आदि वाहन बनाकर बेचना (शकटकर्म)

४. विभिन्न प्रकार के वाहन – (रिक्शा, मोटार, टेक्सी आदि) किराये पर देना (भाटकर्म)

५. खान तथा तालाब आदि भूमि खुदवाने का व्यवसाय करना । (स्फोट कर्म)

६. हाथी दाँत आदि का व्यापार (दन्त वाणिज्य)

७. लाख आदि का व्यापार । (लाक्षा वाणिज्य)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

८. शराब आदि नशीली वस्तुएँ बनाने का व्यवसाय (distillary) । (रसवाणिज्य)।

९. बाल (केश) अथवा केश वाले पशुओं का व्यापार, मेंढ़क, मछली, सांप आदि की खाले बेचना, निर्यात (Export) करना भी इसी में सम्मिलित है । (केश वाणिज्य)

१०. जहर (poison) तथा जहरीले केमिकल (chemical) आदि का व्यापार । (विष वाणिज्य)।

११. तेल मिल (Oil mills) आदि का व्यापार । (यंत्र-पीलन कर्म)।

१२. जंगल आदि में आग लगाने का व्यापार । (दावाग्नि दापन कर्म)।

१३. तालाब आदि को सुखाने का व्यवसाय । (सरोह्रद तडांग शोषणता कर्म)

१४. प्राणियों के अवयव काटने, उन्हें नपुंसक बनाने का धन्धा । (निर्लाञ्छन कर्म)

१५. असामाजिक तत्वों को सरंक्षण देना, हिंसक पशुओं को पालना और उनसे धन्धा करना । (असीतजनपोषणता कर्म)

यह और आधुनिक युग में प्रचलित अन्य सभी ऐसे ही हिंसक व्यवसाय जैसे मत्स्य पालन, मुर्गी पालन आदि भी कर्मादानों में समाविष्ट हैं ।

तथ्य यह है कि उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत द्वारा व्रती श्रावक अपने उपभोग-परिभोग में आनेवाली वस्तुओं की सीमा निर्धारण के साथ-साथ हिंसक तथा समाज के लिए अहितकर व्यवसायों का भी त्याग कर देता है। वह अहिंसक ढंग से आजीविका का उपार्जन करता है । बौद्ध परम्परा में इसे सम्यग् आजीविका कहा है ।

(३) **अनर्थदण्डविरमणव्रत** - अग्निकाय, जलकाय आदि स्थावरजीवों की हिंसा तो गृहस्थ की विवशता है, भोजन आदि बनाने में हिंसा करनी ही पड़ती है, फिर भी इसमें वह विवेक रखता है, आवश्यकता से अधिक न पानी ही ढोलता है और न अधिक समय तक आग ही जलाता है; किन्तु व्यर्थ की हिंसा तो वह बिल्कुल भी नहीं करता है, जैसे उद्यान भ्रमण करते-करते एक फूल ही तोड़ लिया ।

आचार्य अभयदेव ने आवश्यक और व्यर्थ हिंसा का विवेचन इस प्रकार किया है -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

''अर्थ प्रयोजनम् ... शरीरपालनादि विषयं'' – अर्थ का अभिप्राय है – आवश्यकता, शरीर पालन–पोषण के लिए अनिवार्य रूप से जो हिंसा करनी पड़ती है वह है अर्थदण्ड । इसके विपरीत जिस हिंसा के बिना भी काम चल सकता हो, वह व्यर्थ हिंसा 'अनर्थदण्ड' है । (–उपासकदशाटीका)

इस व्यर्थ की हिंसा का त्याग श्रावक अनर्थदण्डविरमणव्रत में कर देता है । वह न तो किसी के प्रति अपने मन में बुरे विचार लाता है और न ही हिंसक साधन (छुरी आदि) किसी को देता है । वह किसी को पाप या हिंसा कार्य का उपाय भी नहीं बताता । वह अपनी सारी प्रवृत्ति सावधानी से करता है । यह ध्यान रखता है कि हिंसा आदि पापों से अधिक से अधिक बचाव हो ।

शिक्षाव्रत – यह चार हैं –

(१) **सामायिक** – समस्त सांसारिक कार्यों – सावद्य कर्मों को त्यागकर कम से कम ४८ मिनट (एक मुहूर्त) तक धर्मध्यान करना ।

(२) **देशावकाशिक व्रत** – दिग्व्रत में ग्रहण की हुई दिशाओं की सीमा तथा अन्य सभी व्रतों में ली हुई मर्यादाओं को और भी संक्षिप्त करना, साथ ही देश (आंशिक) पौषध करना, दया पालना, संवर करना और चौदह नियमों का चिंतन करना–देशावकाशिक व्रत है ।

यह संक्षिप्तीकरण व्रती श्रावक अपनी परिस्थिति के अनुसार एक घड़ी (२४ मिनट) से लेकर एक दिन (२४ घण्टे) तक कर सकता है । यदि उसकी सामर्थ्य हो तो और भी अधिक काल के लिए कर सकता है ।

देशावकाशिक व्रत के सम्बन्ध में यह आचार्यो के अभिमत दिये हैं – आजकल तिविहार उपवास वाला व्यक्ति चार प्रहर या इससे अधिक समय का पौषध करे वह देशावकाशिकपौषध माना जाता है ।

चौदह नियम इस प्रकार हैं –

१. सचित्त, २. द्रव्य, ३. विगय–दूध, दही, घी, तेल, गुड़, ४. जूते–चप्पल आदि ५. पान–सुपारी आदि ६. पहनेने–ओढ़ने के वस्त्र, ७. फूल, फूल माला आदि. ८. रिक्शा आदि वाहन का प्रयोग, ९. शैया और आसन, १०. विलेपन–पदार्थ .११ अब्रह्म सेवन, १२. दिशाओं की सीमा पुनःमर्यादित करना, १३. जल की मर्यादा और १४. अशन आदि चारों प्रकार के भोजन की मर्यादा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(३) **पौषधोपवास व्रत** – आहार, शरीर-श्रृंगार, व्यापार आदि सभी कार्यों को त्यागकर एक दिन-रात (अष्ट प्रहर) तक उपाश्रय आदि शांत स्थान में रहकर धर्मचिन्तन, आत्मगुणो का चिन्तवन, पंच परमेष्ठी गुण स्मरण करना पौषधोपवास व्रत है ।

पौषध का शाब्दिक अर्थ है -धर्म-साधना को पुष्ट करने वाला व्रत इसके चार रूप बताये है -

१. आहार पौषध - आहार का त्याग कर पौषध करना ।

२. शरीर पौषध - शरीर के प्रति ममत्व व उसकी साज-सज्जा आदि को छोड़ना, शरीर-निरपेक्ष होना ।

३. ब्रह्मचर्य पौषध-ब्रह्मचर्य का पालन करना ।

४. अव्यापार पौषध- व्यापार आदि से निवृत्त होकर निर्दोष निश्चिन्त हो, धर्माराधना करना ।

जैसा कि कहा है-

आहार-तनु सत्काराऽब्रह्म सावद्य कर्मणाम् ।
त्यागः पर्व चतुष्टय्या तद्विदुः पौषध व्रतम् ॥

- (आवश्यक वृत्ति)

अष्टमी, चतुदर्शी, पूर्णिमा एवं अमावस्या- इन चारों पर्व तिथियों में आहार, शरीर, अब्रह्मचर्य तता सावद्य कर्म का त्याग करना- पौषध है । अर्थात् चारों का सम्मिलित रूप ही पौषध है ।

(४) **अतिथि संविभाग व्रत** - द्वार पर आये अतिथि (त्यागी) को अपने न्यायोपार्जित धन में से विधिपूर्वक आहार आदि देना ।

यह व्रती श्रावक के बारह व्रत हैं।

आगम वचन -

अपच्छिमा मारणंतिआ संलेहणा जूसणाराहणा ।

- औपपा. सूत्र ५७

(अन्तिम समय (मृत्यु के समय) संलेखना की आराधना करें ।)

अन्तिम समय की आराधना -

मारणान्तिकीं संलेखनां जोषिता ।१७।

(मरण के समय संलेखना की आराधना करे।)

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में अन्तिम समय की आराधना का संकेत है। जब कालज्ञान, शरीर की घोर अशक्तता, असाध्य रोग, उपसर्ग आदि किसी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी कारण से यह निश्चय हो जाय कि अब देह– त्याग का अन्तिम समय संनिकट आ पहुँचा है तब साधक हो हँसी – खुशी मृत्यु का सामना करने के लिए तैयारी कर लेनी चाहिए ।

मृत्यु अनिवार्य घटना है, होनी है, फिर उससे डरना या टालने का प्रयास करने हेतु दीन भाव लाना व्यर्थ है । ऐसी स्थिति में स्वयं को स्थिर व शांत करना चाहिए । संलेखना के लिए तैयार हो जाना चाहिए ।

संलेखना का अर्थ है – आहार, मोह आदि को त्याग कर काया और कषायों को कृश करते हुए समताभावपूर्वक मरण का वरण करना । इसे समाधिमरण अथवा उत्तममरण भी कहा जाता है। समभाव से देहत्याग के परिणामस्वरूप साधक को सुगति प्राप्त होती है ।

आगम वचन –

सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा–संका कंखा वितिगिंच्छा परपासंडपसंसा परपासंडसंथवो ।

–उपासक दशांग, अध्ययन १

(सम्यग्दर्शन के पांच प्रधान अतिचार हैं, (जिनको जानना चाहिए किन्तु आचरण नहीं करना चाहिए) यथा १. शंका, २. कांक्षा३. विचिकित्सा ४. दूसरे के पाखंडों की प्रशंसा करना और ५. पाखंडो का संसर्ग करना ।)

सम्यग्दर्शन के अतिचार–

शंकाकांक्षाविचिकित्साऽजन्यदृष्टि प्रशंसासंस्तवा :

सम्यग्दृष्टेरतिचाराः । १८।

१. शंका २. कांक्षा ३. विचिकित्सा, ४. अन्यदृष्टि की प्रशंसा और ५. अन्यदृष्टि का संस्तव– सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार कहे गये हैं ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में आचार्य प्रवर अणुव्रती साधक के व्रतों के अतिचारों का वर्णन प्रारम्भ कर रहे हैं । सर्वप्रथम उन्होंनें व्रतों के आधारभूत सम्यक्त्व के अतिचारों का वर्णन इस सूत्र में किया है ।

जब तक साधक अपने गृहीत व्रतों आदि की साधना में परिपक्व नहीं हो जाता तब तक स्खलना आदि लगने की संभावना बनी रहती है । व्रत के अतिक्रमण के रूप मे चार प्रकार के दोष अथवा कोटियाँ बताई गई है –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१) **अतिक्रम** – व्रत के अतिक्रमण का मन में भाव आना ।

(२) **व्यतिक्रम** – व्रत को उल्लंघन करने के लिए प्रवृत्ति करना ।

(३) **अतिचार** – आंशिक रूप से व्रत का उल्लंघन करना ।

(४) **अनाचार** – व्रत का पूर्ण उल्लंघन कर लेना, व्रत का भंग हो जाना।

इन्हें एक उदाहरण से समझिये –(एक व्यक्ति ने नियम लिया कि आज प्रातःकाल से लेकर कल सूर्योदय तक चाय नहीं पिऊंगा)। उसे नित्य दो–चार चाय पीने की आदत थी ।

कुछ ही घंटे बाद उसके सिर में भारीपन सा आया, शरीर में शिथिलता आई । वह व्रत को भूल गया कि आज चाय पीने का नियम है ।

अब उसकी इच्छा चाय पीने की हुई, यह **अतिक्रम** है । उठकर रसोई घर में पहुँच गया । गैस जलाकर दूध, चीनी, चाय, पानी, रखकर चाय बनाने लगा, यह **व्यतिक्रम** है । चाय बनाकर प्याले में डाल ली, प्याला हाथ में पकड़कर मुँह की ओर ले जाने लगा, होठों तक प्याला पहुँच गया यह **अतिचार** है। जैसे ही चाय का घूंट मुंह में गया, **अनाचार** हो गया; व्रत भंग हो गया, चाय न पीने का नियम टूट गया ।

अतिचार वह दोष है, जिसके कारण व्रत भंग तो नहीं होता; किन्तु उसमें मलिनता का प्रवेश हो जाता है ।

जबकि साधक को अपने ग्रहण किये हुए सभी यम–नियमों, सम्यक्त्व आदि में बिल्कुल भी दोष नहीं लगाना चाहिए । साधक सतत सावधान रहे, इसीलिए 'अतिचार' बताये गये हैं ।

साथ ही आगमोक्त उद्धरण में यह कह दिया गया है **'जाणियव्वा न समायरियव्वा'** अर्थात् यह अतिचार जानने योग्य हैं, आचरण योग्य नहीं है।

आगमोक्त उद्धरण में 'पेयाला' शब्द भी विशेष रुप से ध्यान देने योग्य है । इसका शब्दार्थ है 'प्रधान–प्रधान रूप से – मुख्य रूप से' इसका वाच्यार्थ यह है कि साधक इतने ही अतिचार न समझे, यह तो मुख्य अतिचार गिना दिये गये हैं, इनके अतिरिक्त परिस्थितियों के अनुसार साधक अपनी प्रज्ञा से दोषों का निर्णय कर ले और अपनी साधना को निर्दोष बनाये, व्रतों में किंचित् भी–कैसा भी दोष न लगने दे ।

सम्यग्दर्शन के अतिचारों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१) **शंका** – वीतराग भगवान के वचनों में सन्देह होना ।

(२) **कांक्षा** – इस लोक अथवा परलोक के सुखों की इच्छा ।

(३) **विचिकित्सा** – १. धर्मकरणी के फल में सन्देह, और २. रत्नत्रय के आराधक साधुजनों के तपःकृश मलिन देह को देखकर जुगुप्सा (घृणा) करना ।

भाष्यकार उमास्वाति ने अपने स्वोपज्ञभाष्य में इसका अर्थ दिया है –जिनेन्द्र भगवान ने जो कहा है वह भी यथार्थ है और अन्य दर्शनकारों ने कहा है वह भी सत्य प्रतीत होता है इस प्रकार मतिविलुप्ति (विभ्रम) हो जाना – विचिकित्सा है ।

(४–५) **अन्यदृष्टिप्रशंसा – अन्यदृष्टिसंस्तव** – अन्य (मिथ्या) दृष्टियों की प्रशंसा करना तथा मिथ्यादृष्टियों से अधिक परिचय रखना ।

इस सम्बन्ध में जैन दर्शन के विद्वान आचार्यो का कथन इस प्रकार है–

किसी के सद्गुण की स्तुति–प्रशंसा करना 'प्रमोद भाव' है, गुणज्ञता है । फिर मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा को व्रत का दूषण क्यों माना गया है? क्या मिथ्यादृष्टि में कोई गुण नहीं होता या उसके किसी गुण की प्रशंसा नही करनी चाहिए ?

इसका समाधान है –मिथ्यादृष्टि–प्रशंसा–संस्तुति का अर्थ व भावना यह है कि यहां 'मिथ्यादृष्टि' एक व्यक्ति नहीं, एक धारणा है, मिथ्या मान्यता है, मिथ्या मान्यता जो असत्य है, भ्रान्त है । और उस मिथ्या धारणा के कारण यदि किसी को कोई विशेष उपलब्धि या प्रकर्ष होता भी है तो वह भी 'असत्य का उत्कर्ष है' अतः मिथ्यात्वी की प्रशंसा को असत्य की अथवा असत्यवादियों की प्रशंसा माना गया है । यह मानकर सम्यग् दृष्टि 'मिथ्यात्व' की प्रशंसा या मिथ्यात्वियों के वैचारिक सम्पर्क से सदा दूर रहे ।

मिथ्यात्वी में भी सत्य, दया, दान, करुणा आदि अनेक गुण हो सकते हैं, उन सद्गुणों की प्रशंसा करना सम्यक्त्वी के लिए निषिद्ध नहीं है ।

स्वोपज्ञभाष्य के अनुसार अन्यदृष्टियों के गुणों के केवल मन से उत्कीर्तन को –गुणस्मरण को अन्यदृष्टिप्रशंसा अतिचार कहा है और जो गुण उनमें है अथवा नहीं भी हैं उनको वचन से उत्कीर्तन करना, प्रकर्षता का उद्भावन करना अन्यदृष्टिसंस्तव नाम का अतिचार है ।

सम्यक्त्व, चूँकि महाव्रत और अणुव्रत सभी के लिए आधार है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नींव है अतः सम्यक्त्व के यह अतिचार महाव्रती और अणुव्रती-दोनों प्रकार के साधकों के लिए सामान्य रूप से बताये गये हैं ।

आगम वचन -

थूलगस्स पाणाइवायवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा-वह-बंध च्छविच्छेए-अइभारे-भत्तपाणवोच्छेए । - उपासकदशांग, अ. १

(स्थूलहिंसा का त्याग करने वाले श्रमणोपासक (श्रावक) को पांच प्रधान अतिचार जानने चाहिए, आचरणनहीं करने चाहिए) यथा १. वध (मारना) २. बाँधना, ३. शरीर छेदना ४. अत्यधिक बोझा लादना ५. अन्न-पानी न देना।)

अहिंसाणुव्रत के अतिचार -

व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमम् । १९।

बन्ध वध-च्छविच्छेदाऽतिभारारोपणाऽन्नपान निरोधाः ।२०।

व्रत (अहिंसा आदि ५ मूलव्रत - अणुव्रत) और शील (सात उत्तर व्रत-शीलव्रत) के भी क्रम से पाँच-पाँच अतिचार है ।

१. बन्ध २. वध ३. छविच्छेद ४. अतिभारारोपण और ५. अन्न-पानी रोक देना-अहिंसाणुव्रत के यह पाँच अतिचार है ।

विवेचन - प्रस्तूत सूत्र १९ में यह सूचन किया गया है कि श्रावक के सभी व्रतों के पाँच-पाँच अतिचार है और सूत्र २० में प्रथम अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार बताये हैं -

(१) **बंध** - किसी त्रस प्राणी को बंधन में बांधना, अथवा पिंजड़े में डालना जिससे वह स्वेच्छापूर्वक गमनागमन न कर सके । अपने अधीनस्थ सेवक को निर्दिष्ट समय के बाद उसकी इच्छा के विपरीत रोकना भी बंध (बंधन) अतिचार है ।

(२) **वध** - किसी भी प्राणी को डंडे आदि से मारना, घात या प्रहार करना ।

(३) **छविच्छेद** - किसी प्राणी के अंगोपांग काटना ।

(४) **अतिभार** - बैल आदि पर उसकी शक्ति से अधिक भार लादना तथा अधीनस्थ कर्मचारी से उसकी शक्ति से अधिक कार्य करवाना, अतिभारारोपण है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(५) **अन्न–पाननिरोध** – अपने अधीनस्थ पशु तथा परिवारीजनों और सेवकों को समय से भोजन–पानी आदि न देना, उसमें रोड़ा अटका देना आदि ।

आगम वचन –

थूलगस्समुसावायस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा–सहसब्भक्खाणे रहस्सब्भक्खाणे सदारमंतभेए मोसोवएसे कूडलेहकरणे ।

– उपासकदशांग, अ.१

(स्थूल झूठ के पाँच अतिचार जानने योग्ये हैं, आचरण करने योग्य नहीं, यथा १. बिना सोचे–विचारे सहसा ही कह देना २. गुप्त बात प्रगट कर देना .३ अपनी स्त्री का गुप्त भेद प्रगट कर देना ४. झूठ बोलने का उपदेश देना और ५. झूठे दस्तावेज लिखना ।)

सत्याणुव्रत के अतिचार –

मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहार साकारमंत्रभेदाः ।२१।

१. मिथ्या उपदेश देना २. गुप्त बात कह देना. ३ झूठे लेख बनाना, ४. धरोहर हजम कर जाना और ५. गुप्त मंत्रणा का भंडाफोड़ कर देना – यह सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार है ।

विवेचन– सत्याणुव्रत के पाँच अतिचारों का संक्षिप्त परिचय यह है–

(१) **मिथ्योपदेश** – झूठी बातों से बहकाकर किसी को मिथ्या मार्ग (कुमार्ग) पर लगाना ।

(२) **रहस्याभ्याख्यान** – विनोद या हास्य आदि भावना से किसी का गुप्त रहस्य या मर्म प्रगट कर देना अथवा दोषारोपण करना ।

(३) **कूटलेखक्रिया** – जाली दस्तावेज बनाना, किसी की झूठी निन्दा लिखना/छापना ।

(४) **न्यासापहार** – किसी की रखी हुई धरोहर को हजम कर जाना। यदि वह भूल से कम बता दे (जैसे, रखे हों हजार रुपये और भूल से कह दे पाँच सौ रुपये रखे थे) तो कह देना इतने ही होंगे, तुम बता रहे हो उतने ही ले जाओ । इस प्रकार बाकी के पाँच सौ रुपये हजम कर जाना भी न्यासापहार है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(५) **साकारमंत्रभेद** – पिशुनता (चुगली खाना), दुष्ट भाव से गुप्त मंत्रणा का भंडाफोड़ करना ।

आगम में 'सदारमंत्रभेद' शब्द है, जिसका तात्पर्य है –

पति-पत्नी द्वारा-एक दूसरे के गुप्त भेद या रहस्य प्रकट करना । इनसे कुटुम्ब के कलह आदि की वृद्धि हो सकती है, अनर्थ भी हो सकता है ।

आगम वचन –

थूलगस्स अदिण्णादाणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा-तेनाहडे तक्करप्पओगे विरुद्धरज्जाइकम्मे कूडतुल्ल कूडमाणे तप्पडिरूवगववहारे । – (उपा. अ. १)

(स्थूल चोरी के पाँच अतिचार जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं हैं; यथा –१. चोरी का माल लेना .२ चोरी के उपाय बताना ३. राज्य के विरुद्ध कार्य करना ४. माप और तोल कम-अधिक रखना और ५. मिलावट करना ।

अचौर्याणुव्रत के अतिचार –

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मान प्रतिरूपकव्यवहारा : ।२२।

१. चोरी के उपाय बताना २. चोरी का माल लेना ३. विरुद्ध (विरोधी) राज्य का अतिक्रम करना ४. तौल-माप के पैमाने कम-अधिक रखना और ५. मिलावट (असली में नकली वस्तु मिला देना) करना – यह पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार है ।

विवेचन – अचौर्याणुव्रत के इन पाँच अतिचारों का संक्षिप्त परिचय यह है –

(१) **स्तेन प्रयोग** –चोरी के उपाय बताना अथवा किसी अन्य को चोरी की प्रेरणा देना या दिलवाना ।

(२) **तदाहृतादान** – चौरी की वस्तु को लोभवश खरीद लेना ।

(३) **विरुद्धराज्यातिक्रम** – राज्य द्वारा निर्धारित आयात-निर्यात संबंधी नियमों का उल्लंघन करना, तत्सम्बन्धी कर न चुकाना अथवा कम कर चुकाना । साथ ही जो अपने राज्य के विरोधी राज्य (देश) हैं; उनमें चोरी छिपे जाना । वहां से तस्करी का माल लाकर अपने देश में बेचना अथवा अपने देश का माल उन देशों में बेचना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(४) **हीनाधिकमानोन्मान** – तौलने और नापने के पैमाने (तराजू, मीटर आदि) छोटे बड़े रखना, जिससे कम वस्तु ग्राहक को देकर उसे ठगा जा सके, अधिक लाभ कमाया जा सके ।

(५) **प्रतिरूपक व्यवहार** – अच्छी वस्तु में घटिया वस्तु मिला देना। यथा–पीतल पर सोने का मुलम्मा चढ़ा देना । दूंध में पानी मिला देना आदि ।

आगम वचन –

सदारसंतोसिए पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा–इत्तरिय परिग्गहियागमणे अपरिग्गहियागमणे अणंगकीडा परिविवाह करणे कामभोएसु तिव्वाभिलासो । – उपा. अ. १

(स्वदार संतोषव्रत (ब्रह्मचर्याणुव्रत–स्थूलमैथुनविरमणव्रत) के पांच अतिचार जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं है । वे अतिचार यह हैं – १. इत्वरिक परिग्रहीता गमन, २. अंपरिग्रहीतागमन, ३. अनंगक्रीड़ा, ४. परविवाहकरण ५. कामभोगतीव्रअभिलाषा ।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार–

परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनानंगक्रीडा–

तीव्रकामाभिनिवेशाः ।२३।

१. परविवाह करना ,२ इत्वर परिगृहीतागमन, ३. अपरिगृहीतागमन, ४. अनंगक्रीड़ा और ५. काम का तीव्र अभिनिवेश – यह पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अतिचार बताये गये हैं ।

(१) **परिविवाहकरण** – अपने पुत्र–पुत्रियों के अतिरिक्त कन्यादान के पुण्य की इच्छा से या स्नेहवश अन्य का विवाह करना, करवाना ।

(२) **इत्वर परिगृहीतागमन** – किसी दूसरे के द्वारा स्वीकृत (परिगृहीत) स्त्री के साथ अथवा अपनी छोटी ही अवस्था में विवाहित, गमन के अयोग्य स्त्री के साथ गमन करना, भोग करना ।

(३) **अपरिगृहीतागमन** – वेश्या, जिसका पति विदेश चला गया हो ऐसी वियोगिनी स्त्री, कुमारी कन्या, विधवा तथा जिसका कोई स्वामी न हो ऐसी स्त्रीआदि के साथ भोग करना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(४) **अनंगक्रीड़ा** – कामसेवन के अंगों के अतिरिक्त अंगों से काम का सेवन करना । इसमें काम संबंधी सभी विकृतियों का समावेश हो जाता है।

(५) **तीव्रकामाभिलाषा** – कामभोग में अतिशय आसक्ति रखना । बाजीकरण (आधुनिक युग में कामशक्ति बढ़ाने वाले विटामिन तथा औषधियों) का सेवन करके विभिन्न प्रकार से अत्यधिक लोलुप बनकर कामभोग करना आदि अथवा अपनी स्त्री में भी अधिक लुब्ध रहना ।

यहाँ जिज्ञासु के मन में कई शंकाएँ उभरती हैं, जैसे-

(१) वेश्यागमन का त्याग तो सात व्यसनों में ही हो जाता है, ब्रह्मचर्याणुव्रत तो बहुत आगे की भूमिका है । तब अपरिगृहीतागमन, जिसमें वेश्या आदि का समावेश कर लिया गया है, इसको करने से सिर्फ अतिचार ही क्यों माना गया ? वेश्यागमन करने वाला तो मार्गानुसारी भी नहीं हो सकता, वह तो अच्छा नागरिक भी नहीं है, उसे तो नैतिक व्यक्ति भी नहीं कहा जा सकता ।

(२) यही बात परिगृहीतागमन के बारे में है । क्योंकि पर-स्त्रीसेवन का त्याग तो सप्त व्यसनों में ही हो जाता है ।

जब श्रावक स्वदारसन्तोषव्रत (श्राविका स्वपतिसन्तोष व्रत) अथवा ब्रह्माचर्याणुव्रत की प्रतिज्ञा ग्रहण करता है तब स्पष्ट बोलता है-

''मैं पर-स्त्रीसेवन का त्याग करता हूँ और स्वस्त्री में भी सन्तोष की मर्यादा करता हूँ ।''

ऐसी ही प्रतिज्ञा स्त्री भी (पुरुष शब्द बोलकर) करती है ।

इस स्थिति में अपनी विवाहित स्त्री के अतिरिक्त संसार की सभी स्त्रियाँ पर-स्त्री होती हैं, चाहे वह विधवा हो, वेश्या हो, व्यभिचारिणी हो, कुमारी हो अथवा कोई भी क्यों न हो ।

इसी प्रकार की अन्य शंकाएँ भी प्रथम तीन अतिचारों के संबंध में जिज्ञासू मानव के अन्तर्हृदय में उठती रहती हैं । विभिन्न विद्वानों ने इन जिज्ञासाओं का समाधान करने का प्रयास किया है ।

एक परंपरा के आचार्यों ने 'इत्वरपरिगृहीतागमन' तथा 'अपरिगृहीतागमन' में प्रयुक्त 'गमन' शब्द का अर्थ 'काम-सेवन' न करके 'आना-जाना-गमनागमन' किया है। तदनुसार ऐसा अर्थ बताया- वेश्या आदि तथा अन्य पुरुष की गृहीत (विवाहित) स्त्री के घर (विकारी भाव से) जाना-आना, उसके साथ मार्ग में गमन करना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस स्थिति में यद्यपि उनके उन स्त्रियों से कोई काम–सम्बन्ध नहीं है फिर भी घर जाने–आने के कारण उसके ब्रह्मचर्याणुव्रत में अतिचार लगता है ।

इस विषय में जैसा कि हम सूत्र १८ के विवेचन में कह आये है कि परस्त्री (वेश्या, विधवा, कुमारी कोई भी क्यों न हो) सिर्फ घर जाने तक ही अतिचार है, यदि भोग–संबंध हो गया तो सर्वथा व्रत खण्डित हो जाता है।

यह मत जैन सिद्धान्त बोलसंग्रह, भाग १, पृष्ठ २९९ पर दिया गया है ।

आचार्यश्री आत्मरामजी म. (आगमोक्त उद्धरण में) तथा पूज्यश्री अमोलक–ऋषि जी म. (परमात्ममार्गदर्शक, पृष्ठ १९४ में) अपरिगृहीता का अर्थ अपनी ही मंगनी (वाग्दान–सगाई) की हुई तथा इत्वर परिगृहीता का अर्थ 'अपनी विवाहिता किन्तु अल्पवय वाली–भोग के अयोग्य स्त्री' करके इन सभी शंकाओं और जिज्ञासाओं का समाधान कर दिया है ।

एक जिज्ञासा चिन्तनशील जिज्ञासु उठाते हैं, 'परिविवाहकरण' अतिचार के विषय में कि 'दूसरे का विवाह करना' तो अतिचार है, अतः नही करना चाहिए । तब श्रावक को अपने ही विवाह की छूट हो जायेगी, वह चाहे जितने विवाह करे, उसके स्वीकृत व्रत में कोई अतिचार ही नहीं लगेगा ।

ऐसी स्थिति में तो व्रत का मूल प्रयोजन ही खण्डित हो जायेगा; क्योंकि ब्रह्मचर्याणुव्रत का मूल प्रयोजन उद्दाम काम को नियंत्रित करना है न कि कई स्त्रियों से विवाह करके निराबाध काम सेवन करना ।

अतः ऐसे जिज्ञासु यह मत व्यक्त करते हैं कि, पर–विवाह ' का षष्टी तत्पुरुष समास के अनुसार 'परस्य विवाह' – दूसरे का विवाह न करके अव्वयीभाव समास लगाकर 'पर' अर्थात् दूसरा विवाह ऐसा करना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि काम वासना से प्रेरित होकर ब्रह्मचर्याणुव्रती श्रावक अपना भी दूसरा विवाह न करे ।

यह वर्तमान समय के संदर्भ में है तथा आज के भारतीय विधान के अनुरूप है । प्राचीन समय में बहु विवाह प्रथा थी । अतः स्वदारसंतोष में ही पत्नी हो ऐसा अर्थ नहीं बैठता ।

वस्तुतः चिन्तन करने से अनुभव होता है कि इस जिज्ञासा और तर्क

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में भी वजन है । यह तो स्पष्ट ही है कि ब्रह्मचर्य अणुव्रत की साधना करने वाला श्रावक विशिष्ट विरति वाला होता है । वह रति-क्रीड़ा के सुख में आसक्ति नहीं रखता, पुरुषवेदजनित भावना की शांति के लिए ही और वह भी सिर्फ मर्यादित रूप में ही विषय-सेवन करता है ।

फिर भगवान महावीर के प्रमुख श्रावक आनन्द गाथापति ने जिस प्रकार अब्रह्मसेवन का प्रत्याख्यान किया इससे भी इस धारणा को बल मिलता है कि श्रावक अपना स्वयं का भी दूसरा (पर) विवाह न करे । आनन्द के शब्द हैं –

एक्काए सिवनंदाए भारियाए, अवसेसं सव्वं मेहुणविहिं पच्चक्खाइ।

(एक शिवानन्दा भार्या के अतिरिक्त अवशिष्ट सर्व प्रकार के मैथुन सेवन का प्रत्याख्यान करता हूँ।)

उपरोक्त संपूर्ण विवेचन के प्रकाश में ब्रह्मचर्याणुव्रत के पांचों अंतिचारों का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है –

(१) **परविवाहकरण** – (एक पत्नी के रहते हुए भोगेच्छा से) श्रावक स्वयं अपना भी (पर) दूसरा विवाह न करे और अपने पुत्र-पुत्रियों (क्योंकि उनका विवाह करना श्रावक का पारिवारिक दायित्व है) के अतिरिक्त किसी अन्य का विवाह न करे और न ही कराये ।

(२) **इत्वर परिगृहीतागमन** – अपनी ही विवाहित किन्तु अल्पवय वाली अथवा भोग के योग्य न होने पर स्त्री के साथ काम सेवन न करे ।

(३) **अपरिगृहीतागमन** – जिस कन्या की अपने साथ सगाई हो चुकी हो किन्तु विवाह न हुआ हो, उसके साथ भी उसे अपनी भावी पत्नी मानकर रतिक्रिया न करे ।

(४) **अनंगक्रीड़ा** – काम सेवन के योग्य जो अंग नहीं है उनसे काम सेवन करने की चेष्टा न करे ।

(५) **तीव्रकामअभिनिवेश** – काम क्रीड़ा में आसक्ति न रखे, अपनी विवाहित स्त्री में भी अधिक लुब्ध न रहे । पुरुष वेद की शांति के लिए ही मर्यादित रूप के सिवाय काम-सेवन से बचे, कामोत्तेजक औषधियों का प्रयोग न करे ।

आमग वचन-

इच्छापरिमाणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समायरियव्वा, तं जहा–धणधन्नपरिमाणाइक्कमे खेत्तवत्थुपरिमाणाइक्कमें हिरण्णसुवण्णपरिमाणाइक्कमें दुप्पयचउप्पयपरिमाणाइक्कमें कुवियपरिमाणाइक्कमें । – उपासकदशांग, अ. १

(इच्छापरिमाण के पाँच अतिचार जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं हैं; यथा – (१) धन–धान्यप्रमाणातिक्रम, (२) क्षेत्र–वास्तुप्रमाणातिक्रम, (३) हिरण्य–सुवर्णप्रमाणातिक्रम, (४) द्विपद–चतुष्पदप्रमाणातिक्रम, (५) कुप्यप्रमाणातिक्रम ।)

परिग्रहाणुव्रत के अतिचार–

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणाति – क्रमाः ।२४।

१. क्षेत्र–वास्तु, २. सोना–चांदी, ३. धन–धान्य, ४. दासी–दास तथा ५. कुप्य का प्रमाण बढ़ा लेना, परिग्रहाणुव्रत के अतिचार है ।

विवेचन – बाह्य परिग्रह ९ प्रकार का है । परिग्रहाणुव्रत में साधक इस परिग्रह का परिमाण करता है। सूत्र में इस नौ प्रकार के परिग्रह के २–२ के युगल बनाकर प्रस्तुत व्रत के पाँच अतिचार बताये गये हैं –

(१) **क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम** – क्षेत्र का अभिप्राय है खुली भूमि (खेत, बगीचा) और वास्तु का अभिप्राय वह भूमि जिस पर मकान आदि बना हो । इसे अंग्रेज में open area और covered area कहा जाता है । दोनों प्रकार की भूमियों की जितनी सीमा व्रत ग्रहण करते समय निश्चित की है, उसे बढ़ा लेना ।

(२) **हिरण्य–सुवर्णप्रमाणातिक्रम** – चाँदी (हिरण्य) सोना (सुवर्ण) का प्रमाण बढ़ा लेना, यानी ग्रहण की हुई मर्यादा का अतिक्रमण करना ।

(३) **धन–धान्यप्रमाणातिक्रम** – धन (पशुधन), धान्य (अनाज) का प्रमाण बढ़ाना। धन का अभिप्राय आज के युग में नगद रुपया बैंक बैलेन्स शेयर आदि भी है ।

(४) **दासी–दासप्रमाणातिक्रम** – नौकर चाकरों की निश्चित संख्या को बढ़ा लेना ।

आगम में इसके लिए 'द्विपद–चतुष्पद' शब्द दिया गया है। इसका अर्थ बहुत विस्तृत है । द्विपद में दास–दासी तथा दो पैर वाले पक्षी (जैसे तोता मैना आदि) भी गर्भित है तथा चतुष्पद में घोड़ा, बैल, गाय, ऊँट आदि पशु भी ।

(५) **कुप्यप्रमाणातिक्रम** – बर्तनों आदि का प्रमाण बढ़ा लेना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम वचन -

दिसिवयस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा- उड्ढदिसिपरिमाणाइक्कमे अहोदिसिपरिमाणाइक्कमे तिरियदिसिपरिमाणाइक्कमे खेत्तुवुड्ढिस्स सअंतराश्रद्धा ।

- उपासकदशांग अ. १

(दिग्व्रत के पाँच अतिचार जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं हैं, यथा (१) ऊर्ध्वदिशा प्रमाणातिक्रम (२) अधोदिशा प्रमाणातिक्रम (३) तिर्यक्दिशा प्रमाणातिक्रम (४) क्षेत्र के परिमाण को बढ़ा लेना (५) किये हुए परिमाण को भूल जाना ।

दिग्वत के अतिचार -

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तर्धानानि । २५।

((१-३) ऊँची-नीची और तिरछी दिशाओं में किये हुए परिमाण का अतिक्रमण करना (४) मर्यादित क्षेत्र को बढ़ा लेना और (५) की हुई मर्यादा को भूल जाना - यह पाँच दिग्व्रत के अतिचार है ।

विवेचन - ऊंची-नीची यानी आकाश में पर्वत आदि के ऊपर चढ़ना तथा भूमितल से नीचे भूमिगृह, कन्दरा, सागर आदि में उतरना तथा पूर्व-पश्चिम आदि सभी दिशाओं में जितनी मर्यादा निश्चित की है, उससे आगे चले जाना, यह दिशा (ऊर्ध्व-अधो-तिर्यक्दिशा) नाम के तीन अतिचार है।

क्षेत्र वृद्धि साधक दो प्रकार से कर लेता है - (१) किसी एक दिशा में परिमाण बढ़ा लेता है और (२) कभी-कभी ऐसा भी करता है कि एक दिशा में परिमाण कम करके दूसरी दिशा में उतना ही परिमाण बढ़ा लेता है, ऐसा वह अपने किसी भौतिक स्वार्थ के लिए ही करता है, फिर भी वह मन में यह समझता है कि मेरा कुल परिमाण तो उतना ही रहा, अतः व्रत में दोष नहीं लगा किन्तु वास्तव में यह अतिचार है ।

कभी-कभी प्रमादवश या अन्य किसी कारण से साधक अपनी ग्रहण की हुई मर्यादा को भूल जाता है, यह इस व्रत का पाँचवा अतिचार है ।

आगम वचन-

देसावगासियस्स समणोवासएणं अइयारा... तं जहा-- आणवणपओगे पेसवणपयोगे सद्दाणुवाए रूवाणुवाए बहियापोग्गलपक्खेवे।

-उपासक, अ.१

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(देशावकासिक व्रत के पाँच अतिचार यह हैं – (१) आनयनप्रयोग (२) प्रेष्यप्रयोग (३) शब्दानुपात (४) रूपानुपात और (५) बहिःपुद्गल प्रक्षेप।)

देशावकाशिकव्रत के अतिचार–

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ।२६।

१. आनयनप्रयोग २. प्रेष्यप्रयोग ३. शब्दानुपात ४. रूपानुपात और ५. पुदग्ल प्रक्षेप – यह पाँच देशावकाशिकव्रत के अतिचार है ।

विवेचन – प्रस्तुत व्रत के अतिचारों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है –

(१) **आनयनप्रयोग** – सीमा से बाहर की किसी वस्तु को अन्य व्यक्ति द्वारा मँगवा लेना और (२) किसी वस्तु को बाहर भेज देना **प्रेष्यप्रयोग** है । (३) **शब्दानुपात** का अभिप्राय खाँसने–खखारने आदि शब्दों द्वारा निश्चित सीमा से बाहर अपना अभिप्राय बता देना तथा (४) संकेत आदि द्वारा काम निकाल लेना **रूपानुपात** है । **पुद्गल प्रक्षेप** का आशय है मर्यादित क्षेत्र से बाहर कंकड़ आदि फेंककर अपना काम निकाल लेना ।

आगम वचन –

अणट्ठदण्डवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा ... तं जहा– कंदप्पे कुक्कुइए मोहरिए संजुत्ताहिगरणे उपभोगपरिभोगाइरित्ते ।

– उपासकदशा, अ. १

(अनर्थदण्डविरमणव्रत के पाँच अतिचार है – (१) कन्दर्प (२) कौत्कुच्य (३) मौखर्य (४) संयुक्ताधिकरण और (५) उपभोग परिभोगातिरिक्त।)

अनर्थदण्डविरमणव्रत के अतिचार –

कन्दपकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगाधिकत्वानि । २७।

(१) कन्दर्प (२) कौत्कुच्य (३) मौखर्य (४) असमीक्ष्याधिकरण (५) उपभोग–परिभोगातिरिक्त यह पाँच अनर्थदण्डविरतिव्रत के अतिचार है ।

विवेचन – अनर्थदण्ड का अभिप्राय है –निष्प्रयोजन सावद्य अथवा पापकारी प्रवृत्ति करना । इसके पाँच अतिचारों का स्वरूप निम्न प्रकार है –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१) **कन्दर्प** – कन्दर्प काम (काम की भावना) को कहते है । अतः इस अतिचार में ऐसे वचन बोलने, सुनने अथवा ऐसी चेष्टाओं की परिगणना की जाती हैं जो विकारों को बढ़ाने वाली हो ।

(२) **कौत्कुच्य** – दूसरों का हँसाने के लिए भांड़ों जैसी अश्लील चेष्टाएँ करना ।

(३) **मौखर्य** – बढ़-चढ़कर बोलना, अपनी शेखी मारना ।

(४) **असमीक्ष्याधिकरण** – मन में निरर्थक संकल्प-विकल्प करना, हर स्थान पर बिना प्रयोजन ही बोलते रहना और शरीर से निरर्थक चेष्टाएँ करते रहना ।

आगम में इसे 'संयुक्ताधिकरण' कहा है, जिसका भाव है अनावश्यक रूप में घातक/विस्फोटक शस्त्र आदि का संग्रह करना । या शस्त्र को संयुक्त करके- बन्दूक में कारतूस भरकर, धनुष पर तीर चढ़ाकर रखना । इससे कभी-कभी अनचाहे, अनजाने भी हिंसा हो जाती है ।

(५) **उपोभोगधिकत्व** – उपभोग-परिभोग व्रत में जितनी वस्तुओं का प्रमाण किया है, उसके भीतर ही, किन्तु आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करना उपभोगाधिक नाम अतिचार है ।

आगम वचन-

सामाइयस्स...पंच अइयारा...तं जहा -मणुदुप्पणिहाणे वयदुप्पणिहाणे कायदुप्पणिहाणे सामाइयस्स सइअकरणयाए सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया ।

– उपासकदशांग, अ. १

(सामायिक व्रत के पाँच अतिचार हैं, यथा – (१) मनोदुष्प्रणिधान (२) वचन दुष्प्रणिधान (३) कायदुष्प्रणिधान (४) स्मृति अकरण और (५) अनवस्थिकरण ।)

सामायिक व्रत के अतिचार-

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि ।२८।

((१-३) योग (मन-वचन-काया) दुष्प्रणिधान, (४) अनादर और (५) स्मृतिअनुस्थापन-यह सामायिक व्रत के पाँच अतिचार हैं ।

विवेचन – मन को चलायमान करना **मनोदुष्प्रणिधान** है । वचन और काया को चलायमान करना, सावद्यकारी वचन बोलना, बार-बार आसन बदलना **वचन** और **काया** का **दुष्प्रणिधान** कहलाता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दुष्प्रणिधान के तीन अर्थ हैं – (१)दुरुपयोग करना, (२) जिस प्रकार उचित रूप से उपयोग करना चाहिए उस प्रकार उपयोग न करना और (३) दूषित रूप से उपयोग करना । यह तीनों ही अर्थ यहाँ घटित होते हैं ।

अनादर का आशय है भक्ति तथा रुचि का अभाव । सामायिक को यों ही बेगार की तरह पूरा कर देना ।

स्मृति–अनुपस्थापन का अभिप्राय है विस्मृति । सामायिक के पाठों को भूल जाना, सामायिक का समय स्मृति में न रहना, आज सामायिक की है या नहीं इस प्रकार का विभ्रम हो जाना आदि स्मृति–अनुपस्थापन है ।

आगम वचन –

पोसहोववासस्स समणोवासएणं पंच अइयारा.. तं जहा– अप्पडिलेहिए दुप्पडिलेहिय सिज्जा–संथारे... जाव सम्मं अणणुपालणया)

– उपासक अ. १

(पौषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार यह है – (१–२) अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित, अप्रमार्जित–दुष्प्रमार्जित शय्या संस्तारक, (३–४) अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित, अप्रमार्जित–दुष्प्रमार्जित उच्चार–प्रस्रवण भूमि, (५) प्रोष धौपवास सम्यगननुपालनता।

प्रोषधोपवासव्रत के अतिचार–

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेपसंस्तारोपक्रमणानादर–स्मृत्यनुपस्थापनानि । १२९।

(१–३) अप्रत्यवेक्षित–अप्रमार्जित उत्सर्ग और आदान–निक्षेप तथा संस्तार का उपक्रम, (४) अनादर और (५) स्मृति अनुपस्थापन–यह पाँच अतिचार पौषधव्रत के हैं ।

विवेचन – पौषधोपवास व्रत के पाँच अतिचारों का स्वरूप यह है–

(१) **अप्रत्यवेक्षित–अप्रमार्जित उत्सर्ग** – आँखों से जीव आदि को देखना प्रत्यवेक्षित और कोमल उपकरण (रजोहरण आदि) से साफ करना प्रमार्जन कहलाता है । जीव आदि को भलीभांति देखे बिना और कोमल उपकरण से भूमि को साफ किये बिना ही शरीर–मल–मूत्र–श्लेम आदि का उत्सर्ग कर देना, फैंक देना, डाल देना–अप्रत्यवेक्षित–अप्रमार्जित उत्सर्ग नाम का अतिचार है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(२) **अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित आदान-निक्षेप-** बिना भली भाँति देखे और प्रमार्जन किये ही वस्तुओं (उपकरणों) को उठाना-रखना ।

(३) **अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित संस्तार-उपक्रम-** बिना भली-भाँति देखे और प्रमार्जन किये ही संस्तारक पर बैठ जाना, लेट जाना ।

(४) **अनादर** - श्रद्धा-भक्ति-रुचिपूर्वक पौषध न करना ।

(५) **स्मृति अनुपस्थापन** - पौषध के पाठ, काल आदि विस्मृत हो जाना ।

आगम वचन-

..भोयणतो समणोवासएणं पंच अइयारा तं जहा-सचित्ताहारे सचित्तपडिबद्धाहारे अप्पउलिओसहिभक्खणया दुप्पउलिओसहिभक्खणया तुच्छोसहिभक्खणया ।

- उपासकदशांग, अ.१

(श्रमणोपासक के भोजन (उपभोग-परिभोग व्रत) के पाँच अतिचार यह हैं (१) सचित्ताहार, (२) सचित्त प्रतिबद्धाहार, (३) अपक्वाहार (४) दुष्पक्वाहार और (५) तुच्छौषधिभक्षणता ।)

उपभोग-परिभोगव्रत के अतिचार-

सचित्तसम्बद्धसंमिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः ।३०।

(१. सचित्त आहार, २. सचित्तसम्बद्ध आहार, ३. सचित्तसंमिश्र आहार ४. अभिषव आहार और ५. दुष्पक्वाहारा - यह पाँच अतिचार उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के हैं ।)

विवेचन - सचित्त वनस्पतिकाय का भक्षण करना, **सचित्ताहार** है।

सचित्त से लगी हुई स्पर्शित वस्तु का आहार **सचित्तसंबद्धाहार** है।

सचित्त से मिश्रित वस्तु, जैसे कच्चे तिल के लड्डू आदि **सचित्तसंमिश्र** आहार है ।

इन्द्रियों को पुष्ट करने वाला गरिष्ठ, रसयुक्त भोजन एवं मादक द्रव्य का सेवन करना **अभिषव** आहार है ।

योग्य रीति से न पके हुए दुष्पक्व भोजन का आहार **दुष्पक्वाहार** है।

आगम के क्रमानुसार तीसरा अपक्वाहार है, सचित्त वस्तु का त्याग होने पर बिना पके फल शाक आदि खाना! चौथा दुष्पक्वाहार-आधे पके फल आदि तथा पाँचवाँ तुच्छौषधिभक्षण है-जिसका अर्थ है ऐसी वस्तु जिसमें खाने योग्य कम, फेकने योग्य अधिक भाग हो ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम वचन–

अहासंविभागस्स पंच अइयारा... तं जहा–सचित्तनिक्खेवणया सचित्तपेहणया कालाइक्कमे परोवएसे मच्छरिया ।

– उपासकदशांग, अ. १

(यथासंविभाग व्रत के पाँच अतिचार हैं, यथा – १. सचित्तनिक्षेपणता, २. सचित्तपिधानता, ३. कालातिक्रमदान, ४. परव्यपदेश और ५. मत्सरता।)

अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार –

सचित्तनिक्षेपपिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ।३१।

(१) सचित्तनिक्षेप (२) सचित्तपिधान (३) परव्यपदेश (४) मात्सर्य और (५) कालातिक्रम–अतिथि संविभांग व्रत के यह पांच अतिचार है ।

विवेचन – अतिथि संविभाग व्रत के यह पाँचों अतिचार सर्वविरत श्रमण की अपेक्षा हैं; क्योंकि सचित्त आदि वस्तुओं का त्याग उन्ही के होता है । इन अतिचारों का स्वरूप इस प्रकार है –

(१) **सचित्तनिक्षेप**– सचित्त वस्तु आदि में आहार रख देना ।

(२) **सचित्तपिधान** – सचित्त वस्तु से आहार ढक देना ।

(३) **परव्यपदेश** – दान न देने की भावना से अपनी वस्तु के पराई बता देना, अथवा दूसरे की वस्तु देकर अपनी बता देना ।

(४) **मात्सर्य** – ईर्ष्या अथवा अहंकार की भावना से दान देना ।

(५) **कालातिक्रम** – समय पर दान न देना, असमय में दान के लिए कहना ।

आगम वचन –

अपच्छिम मारणंतिय संलेहणा झूसणाराहणाए पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा–

इहलोगासंसप्पओगे परलोगासंसप्पओगे जीवियासंसप्पओगे मरणासंसप्पओगे कामभोगासंसप्पओगे । – (उपा. १)

(आयु के अन्तिम भाग मरण समय में की जाने वाली संलेखना के पाँच अतिचार जानने चाहिए, इनका समाचरण नहीं करना चाहिए । वे अतिचार है – (१) इहलोकाशंसाप्रयोग (२) परलोकाशंसाप्रयोग (३) जीविताशंसाप्रयोग (४) मरणाशंसाप्रयोग और (५) कामभोगप्रशंसाप्रयोग ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अणुव्रतों के अतिचार

अहिंसाणुव्रत (स्थूल प्राणातिपात विरमण)	सत्याणुव्रत (स्थूल मृषावाद विरमण)	अस्तेयाणुव्रत (स्थूल अदत्तादान विरमण)	स्वदारसंतोषव्रत (स्थूल मैथुन विरमण)	इच्छापरिमाणव्रत (स्थूल ममत्व विरमण)
१ बन्ध	१ मिथ्योपदेश	१ स्तेनप्रयोग	१ परविवाहकरण	१ क्षेत्र–वास्तु प्रमाणातिक्रम
२ वध	२ रहस्याभ्याख्यान	२ स्तेनाहृतादान	२ इत्वर परिगृहीतागमन	२ हिरण्य–सुवर्ण "
३ छविच्छेद	३ कूटलेखक्रिया	३ विरुद्धराज्यातिक्रम	३ अपरिगृहीतागमन	३ धन–धान्य "
४ अतिभारारोपण	४ न्यासापहार	४ हीनाधिकमानोन्मान	४ अनंगक्रीड़ा	४ दासी–दास "
५ अन्नपाण निरोध	५ साकार मन्त्र–भेद	५ प्रतिरूपक व्यवहार	५ कामतीव्राभिनिवेश	५ कुप्य "

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुणव्रतों के अतिचार

दिग्व्रत

१ ऊर्ध्वदिशा व्यतिक्रम
२ अधोदिशा
३ तिर्यक्दिशा
४ क्षेत्रवृद्धि
५ स्मृति अन्तर्धान

उपभोग–परिभोग व्रत

१ सचित्ताहार
२ सचित्तप्रतिबद्धाहार
३ सचित्तमिश्राहार
४ अभिषव आहार
५ दुष्पष्क्वाहार

अनर्थदण्डविरमण व्रत

१ कन्दर्प
२ कौत्कुच्य
३ मौखर्य
४ असमीक्ष्य अधिकरण
५ उपभोग–परिभोगाधिक्य

शिक्षाव्रतों के अतिचार

सामायिक व्रत

१ मनःदुष्प्रणिधान
२ वचनदुष्प्रणिधान
३ कायदुष्प्रणिधान
४ अनादर
५ स्मृति अनुपस्थापन

देशावकाशिक व्रत

१ आनयनप्रयोग
२ प्रेष्यप्रयोग
३ शब्दानुपात
४ रूपानुपात
५ पुदग्लप्रक्षेप

पौषधोपवास व्रत

१ अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित उत्सर्ग
२ अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित आदान–निक्षेप
३ अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तार उपक्रम
४ अनादर
५ स्मृति अनुपस्थापन

अतिथिसंविभाग व्रत

१ सचित्तनिक्षेप
२ सचित्तपिधान
३ परव्यपदेश
४ मात्सर्य
५ कालातिक्रम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संलेखना व्रत के अतिचार–

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानकरणानि ।३२।

(१) जीविताशंसा (२) मरणाशंसा (३) मित्रानुराग (४) सुखानुबंध और (५) निदान करना – यह पाँच अतिचार संलेखना के हैं ।

विवेचन – संलेखना सदा ही जीवन के अन्तिम समय में की जाती है । उस समय साधक का कर्तव्य है कि सभी प्रकार की इच्छाओं का त्याग कर दे । इच्छाओं का शेष रह जाना ही अतिचार है । इन अतिचारों का स्वरूप निम्न है –

(१) संलेखना ग्रहण करके जीवित रहने की इच्छा करना **जीविताशंसा** है ।

(२) रोगादि उपद्रवों से घबराकर मरने की इच्छा **मरणाशंसा** है ।

(३) मित्रों का स्मरण करना **मित्रानुराग** है ।

(४) पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण **सुखानुबंध** है ।

(५) आगामी जीवन में सुख (इन्द्रिय-विषय आदि) भोगने की इच्छा रखना **निदानकरण** यानी निदान करना है।

विशेष – सूत्र १८ से सूत्र ३२ तक अतिचारों का वर्णन किया गया है । यदि भूल से, प्रमाद से, अनजाने में कभी इन अतिचारों का सेवन अथवा आचरण हो जाय तब तक तो यह अतिचार की कोटि में रहते हैं, इनके आचरण से व्रत मलिन ही होता है और यदि इनका आचरण जान-बूझकर किया जाय तो ग्रहण किया हुआ व्रत खंडित हो जाता है ।

अणुव्रतों के अतिचारों की तालिका पृष्ठ ३४२-४३ पर दी गई है ।

सम्यक्त्व और संलेखना के अतिचार

सम्यक्त्व	संलेखना (तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार)
१ शंका	१ जीविताशंसा
२ कांक्षा	२ मरणाशंसा
३ विचिकित्सा	३ मित्रानुराग
४ अन्यदृष्टिप्रशंसा	४ सुखानुबंध
५ अन्यदृष्टिसंस्तव	५ निदानकरण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(आगमानुसार)

१ इहलोकाशंसा प्रयोग
२ परलोकाशंसा प्रयोग
३ जीविताशंसा प्रयोग
४ मरणाशंसा प्रयोग
५ कामभोगाशंसा प्रयोग

आगम वचन–

समणोवासए णं तहारूवं समणं वा जाव पडिलाभेमाणे तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा समाहिं उत्पाएति, समाहिकारएणं तमेव समाहिं पडिलभइ । – भगवती श. ७, उ. १, सूत्र २६३

(श्रमणोपासक तथारूप श्रमण अथवा माहन (श्रावक) को यावत् आहार आदि देता हुआ तथारूप श्रमण अथवा माहन को समाधि उत्पन्न करता है । समाधि देने के कारण उसको भी समाधि प्राप्त होती है ।

दान का लक्षण –

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गोदानम् ।३३।

अनुग्रह के हेतु अपनी किसी भी वस्तु का त्याग करना, दान कहलाता है ।

विवेचन – सूत्र में दान का लक्षण दिया गया है । यहाँ 'अनुग्रह' शब्द का अर्थ उपकार और कल्याण दोनों ही हैं । अर्थात् अपने और दूसरे के उपकार अथवा कल्याण के लिए अपने स्वामित्व की वस्तु का अतिसर्गत्याग कर देना, दान है ।

दान की अनेक परिभाषाओं में एक है – **दानं संविभाग :** यानी दान सम्यक् प्रकार से किया हुआ विभाग है । विद्वानों का अभिमत है कि गृहस्थ श्रावक जो कुछ भी धन आदि सम्पत्ति अर्जित करता है, स्वयं के आवश्यक उपभोग के साथ–साथ उसका उचित विभाजन करके कुछ अंश उपकारी और कल्याण के कार्यों में भी उपयोग करना चाहिए ।

अनुग्रह शब्द के उपकार और कल्याण अर्थ में अपेक्षाभेद से दो आशय फलित होते हैं–

(१) उपकार – यह संसार के सभी प्राणियों के प्रति किया जाता है। इसमें स्वोपकार और परोपकार दोनों ही गर्भित है ।

(२) कल्याण से अभिप्राय आत्म–कल्याण लिया जाए तो श्रावक अणु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्रती महाव्रती साधकों को दान देना स्व-पर-कल्याण साधक है । उन्हें भी समाधि प्राप्त होती है, वे ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना सुगमता से कर पाते हैं और दाता को भी ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप समाधि उपलब्ध होती है।

आगम के उद्धरण में यही बात कही गई है ।

इस दृष्टि से इस प्रकार के दान को श्रद्धादान कहा जाता है ।

अतः दान के मुख्य भेद दो हैं - (१) श्रद्धादान और (२) अनुकंपादान

अनुकंपादान में लौकिक दृष्टि प्रमुख है जबकि श्रद्धादान में आत्मिक-आत्मकल्याणरूप दृष्टि की प्रमुखता है ।

अनुकम्पादान का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण तीर्थंकर भगवान का वर्षीदान है जो वे दीक्षा ग्रहण करने से पहले एक वर्ष तक बिना किसी भेद भाव के मानव मात्र को देते रहते हैं ।

दान के प्रमुख भेद हैं - (१) आहार दान (२) औषधदान (३) अभयदान और (४) ज्ञान-दान । जिनमें अभयदान को श्रेष्ठ माना गया है - **दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं** (आर्य सुधर्मा कृत वीरस्तुति)

फिर विभिन्न अपेक्षाओं से दान के अनेक भेद भी किये गये हैं । ठाणांग में दान के दस भेद गिनाये गये हैं । वे इस प्रकार हैं -

१. **अनुकम्पादान** - कृपा अथवा दया की भावना से दान देना।

२. **सग्रंहदान** - किसी की प्रतिष्ठा बचाने अथवा उन्नति में सहयोगी बनने की भावना से देना ।

३. **भयदान** - राजा, पुरोहित, चुगलखोर, दण्डाधिकारी, रक्षाधिकारी आदि के भय से देना, भयदान है ।

४. **कारुण्यदान** - मृत व्यक्ति के स्वजनों के प्रति करुणाभाव से दिया गया दान । जैसे-किसी व्यक्ति के मर जाने पर उसके जन्मान्तर में सुख मिलने की आशा से लोग वस्त्र, चारपाई, गाय आदि का दान देते हैं ।

५. **लज्जादान** - समाज के बीच कोई कुछ मांग बैठे तो अपनी प्रतिष्ठा अथवा लज्जा बचाने के लिए जो दिया जाता है, वह दान ।

६. **गौरवदान** - यह यश की कामना से दिया जाता है ।

७. ***अधर्मदान*** - *अधर्म में निरत व्यक्तियों को देना ।*

८. **धर्मदान** - धर्मी, धर्माचरण करने वालों को दिया गया दान ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

९. **करिष्यतिदान** – 'आज मैं इसको दे दूँ तो भविष्य मे यह भी मेरा उपकार करेगा,' इस प्रति आशा से दिया जाने वाला दान ।

१०. **कृतदान** – किसी के पहले किये हुए सहयोग–उपकार का बदला चुकाने के लिए जो कुछ दिया जाता है, वह कृतदान है ।

इसी प्रकार अन्य अपेक्षाओं से भी दान के भेदों का वर्गीकरण किया गया है । किन्तु प्रमुख भेद हैं (१) सुदान और (२) कुदान ।

सुदान का अभिप्राय है, देते समय भी दाता की भावना शुभ हो और उसका फल भी आत्म–कल्याणकारी हो ।

कुदान – यह ऐसा दान है कि इसका फल आत्म–कल्याणकारी नहीं होता, इसके फलस्वरूप इन्द्रिय और मन कों सुख देने वाले साधन तो उपलब्ध होते हैं, किंतु वे आत्मा को पतन की ओर अभिमुख करने वाले ही बनते हैं।

मूल बात यह है कि दान में अहंकार और यश आदि की भावना न होनी चाहिए और वह अपने न्याय द्वारा उपार्जित साधनों में से उचित संविभाग करके दिया जाय ।

आगम वचन –

दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं तवस्सिविसुद्धेणं तिकरणसुद्धेणं पडिगाहसुद्धेणं तिविहेणं तिकरणसुद्धेणं दाणेणं।

– भगवती श. १५, सू. ५४१

(द्रव्य शुद्ध से, दातृ शुद्ध से, तपस्वी शुद्ध से, त्रिकरण शुद्ध से, पात्र शुद्ध से दान की विशेषता होती है ।)

दान की विशेषता–

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ।३४।

१. विधि, २. द्रव्य, ३. दाता और ४. पात्र की विशेषता की अपेक्षा दान की विशेषता होती है ।

विवेचन – प्रत्येक क्रिया फलवती होती है, उसका फल अवश्य मिलता है । वह फल दो प्रकार का होता है –सामान्य और विशेष यदि क्रिया सामान्य कोटि की हुई तो उसका फल भी सामान्य होगा और विशेष प्रकार की क्रिया विशेष फलदायी बनेगी ।

दान के विषय में भी यही सत्य है । इसके भी सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के फल प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत सूत्र में यही सूचन किया गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दान के चार अंग है- १. दाता स्वयं, २. द्रव्य-दी जाने वाली वस्तु, ३. दिये जाने की विधि या तरीका और ४. पात्र-लेने वाला व्यक्ति । इन चारों के आधार पर ही दान का विशेष-विशेष फल होता है ।

विशेष का अर्थ यहाँ तरतमभाव अथवा न्यूनाधिकता है ।

(१) **विधि** - दान देने का तरीका (way, method, how) विधि है। देश, काल, श्रद्धा, सत्कार आदि विधि में गर्भित है । उदाहरण के लिए अन्नदान को लें, वह शुद्धतापूर्वक बनाया गया हो, अपने स्वयं के लिए ही निर्मित हो, उसमें से आदरपूर्वक दिया जाय, यह दान देने की विधि है ।

(२) **द्रव्य** - देय वस्तु (what)- जो वस्तु दी जाये, वह लेने वाले के गुणों को बढ़ाने वाली हो, साथ ही जीवन यात्रा मे सहकारी/उपयोगी बने।

(३) **दातृ** - दाता, यह दान का सबसे महत्वपूर्ण अंग है, क्योंकि देने वाला भी वही है और दान का फल भोगने वाला भी वही है ।

दाता के लिए आवश्यक है कि उसके मन-वचन-काय शुद्ध हों। दान देते समय, और उसके पहले तथा पीछे भी, उसके मन मे कंजूसी, ईर्ष्या आदि दुर्भाव न आयें । मधुर वचनों से पात्र का सत्कार करे । काया से उठकर विनय करे, भक्ति और बहुमानपूर्वक विनम्र भाव से दे । मन में यही सोचे कि आज मेरा भाग्य उदय हुआ है कि मैं कुछ देकर स्वयं को धन्य बना सका, इस पात्र ने दान लेकर मुझे सौभाग्य प्रदान किया ।

ऐसे चढ़ते भावों से दिये गये दान का फल उत्कृष्ट होता है ।

(४) **पात्र** - यह तीन प्रकार के होते हैं, महाव्रती, अणुव्रती और श्रावक (अविरत सम्यक्त्वी) । महाव्रती को देने का फल उत्तम (बहुत अच्छा) अणुव्रती को देने का फल मध्यम और सम्यक्त्वी श्रावक को दान सहयोग की भावना से दिया जाता है ।

सामान्य पात्रों की अपेक्षा पात्र (सुपात्र) को दान देने का फल बहुत अधिक होता है ।

विधि आदि चार बातों की अपेक्षा से ही दान के फल में विशेषता आती है अर्थात् यह चारों उत्तम हैं तो फल भी उत्तम होगा और इनकी उत्तमता में जितनी कमी आती जायेगी, फल में भी उतनी ही कमी स्वयमेव होती चली जायेगी ।

विधि, आदि का विचार-विवेक श्रद्धादान में किया जाता है, अनुकंपादान के लिए ऐसा विवेक अनिवार्य नहीं है । जीव मात्र-अनुकम्पा का पात्र है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आठवां अध्याय

बन्ध तत्त्व

(ABSORPTION AND AFFIXMENT OF KARMAPARTICLES)

उपोद्घात–

पिछले सातवें अध्याय में आचार–(विरति संवर) तत्त्व का विवेचन किया जा चुका है । अब क्रम प्राप्त पाँचवाँ तत्त्व बन्ध है । प्रस्तुत आठवें अध्याय में इसी बंध तत्त्व का विवेचन किया गया है।

बंध का स्वरूप, उसके मिथ्यादर्शन आदि हेतु तथा उनका स्वरूप, बंध किस प्रकार होता है, प्रकृति स्थिति–अनुभाग आदि बंध के भेद, प्रकृति बंध के उत्तरभेद, ज्ञानावरण आदि कर्मों के बंध, इनकी उत्तर प्रकृतियों के बंध, इनकी स्थिति, फल प्रदान शक्ति, पुण्य और पाप प्रकृतियों आदि का सर्वांगपूर्ण वर्णन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है ।

अन्त में यह भी बताया गया है कि फल–प्रदान के अनन्तर इन कर्मप्रकृतियों – कर्म–दलिकों का क्या होता है, वे किस दशा में पहुंच जाते हैं ।

प्रस्तुत अध्याय का प्रारम्भ बंधहेतु वर्णन से हुआ है ।

आगम वचन–

पंच आसवदारा पण्णत्ता, तं जहा–मिच्छत्तं, अविरई, पमाया, कसाया, जोगा । – समवायांग, समवाय ५

(आस्रवद्वार पांच कहे गये हैं, यथा (१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) योग ।)

बन्धहेतु–

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाबन्धहेतवः ।१।

(बन्धहेतु पाँच है– (१) मिथ्यादर्शन (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) योग ।)

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में बंधहेतु बताये गये हैं । बंधहेतु का अभि–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राय हैं – बन्ध के कारण (instrument or causes) । अर्थात् जिन कारणों से कर्म वर्गणाओं (पुद्गल) के साथ आत्म-प्रदेशों का बंध होता है वे बंधः हेतु अथवा बन्ध के निमित्त या कारण कहलाते हैं ।

सूत्र में ऐसे ५ हेतु बताये हैं । यह प्रमुख भेद हैं । इनके अवान्तर भेद भी अनेक हैं । बंध हेतुओं के विषय में तीन परम्पराएँ उपलब्ध होती है।

(१) कषाय और योग – यह बंध के दो हेतु है ।

(२) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – यह बंध के चार हेतु हैं।

(३) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग– यह बंध के पाँच हेतु है ।

यद्यपि इन तीनों परम्पराओं में संख्याभेद तो हैं, किन्तु तात्त्विक भेद नहीं है । क्योंकि जहाँ कषाय और योग–यह दो बंधहेतु माने गये हैं, वहाँ मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद का 'कषाय' में अन्तर्भाव कर दिया गया है और ४ बंध हेतु वाली परम्परा में कषाय में प्रमाद का अन्तर्भाव कर दिया गया है।

यद्यपि यह तीनों परम्पराएँ प्रामाणिक हैं, वस्तु तथ्य की सही ज्ञान कराती हैं; किन्तु प्रथम परम्परा अति संक्षिप्त है और दूसरी संक्षिप्त ।

तीसरा परम्परा में पाँच बंधहेतु बताये गये हैं । इनका संक्षिप्त परिचय यह है –

(क) **मिथ्यात्व** – मिथ्यात्व का अर्थ है– वस्तु का यथार्थ श्रद्धान न होना । इसके साथ ही दूसरा अर्थ यह भी होता है कि वस्तु के विषय में अयथार्थ श्रद्धान होना ।

ये दोनों ही बातें एक ही सिक्के के दो पहलू हैं– एक नेगेटिव है और दूसरी पोजीटिव । जिस व्यक्ति को यथार्थ श्रद्धान न होगा, उसे अयथार्थ श्रद्धान तो होगा ही, इसमें दो मत नहीं हो सकते ।

शास्त्रों में मिथ्यात्व के २५ भेद बताये गये हैं, जिनमें मिथ्यात्व का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है ।

(१) अभिगृहीत – पर के उपदेश ग्रहण किया हुआ ।

(२) अनभिगृहीत – नैसर्गिक, यह मिथ्यात्व जीव के साथ अनादि काल से लगा हुआ है । इसमें परोपदेश की अपेक्षा नहीं होती । जीव मोह-विमूढ़ बना रहता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(३) सांशयिक – देव–गुरु–धर्म के स्वरूप के विषय में संशयग्रस्त रहना ।

(४) अनाभोगिक–मिथ्यात्व की प्रबल दशा । यह एकेन्द्रिय आदि जीवों में होता है ।

(५) आभिनिवेशिक – असत्य समझकर भी अपने पक्ष से चिपके रहना । इसी का दूसरा नाम मिथ्याग्रह या दुराग्रह हैं ।

इसी प्रकार मिथ्यात्व के अन्य भेद भी हैं –

(६) लौकिक (७) लोकोत्तर (८) कुप्रवाचनिक (९) अविनय (१०) अक्रिया (११) आशातना (१२) आउया (आत्मा को पुण्य–पाप नहीं लगता) यह मान्यता (१३) जिन वाणी की न्यून प्ररूपणा (१४) जिनवाणी की अधिक प्ररूपणा (१५) जिनवाणी से विपरीत प्ररूपणा (१६) धर्म को अधर्म (१७) अधर्म को धर्म (१८) साधु को असाधु (१९) असाधु को साधु (२०) जीव को अजीव (२१) अजीव को जीव (२२) मोक्षमार्ग को संसार मार्ग (२३) संसार मार्ग को मोक्षमार्ग (२४) मुक्त को अमुक्त और (२५) अमुक्त को मुक्त कहना ।

शास्त्रों में मिथ्या मतवादियों के ३६३ भेद गिनायें गये हैं–क्रियावादियों (जो केवल क्रिया से ही मोक्ष मानते हैं) के १८०, अक्रियावादियों (सिर्फ ज्ञान से ही मोक्ष माननेवाले) के ८४, अज्ञानवादियों (अज्ञान से ही मुक्ति मिलेगी, ऐसा जिनका मत है) के ६७ और वैनयिकों (विनय को ही मुक्ति का साधन मानने वाले) के ३२ भेद है । ये सभी एकान्तवादी होने से मिथ्यात्व में गिने गये है ।

इसी तरह विस्तृत अपेक्षा से विचार किया जाए तो मिथ्यात्व के अगणित भेद हो सकते हैं; किन्तु प्रमुख भेद २५ हैं ।

(ख) **अविरति** – अविरति का अर्थ है हृदय में आशा– तृष्णा का अस्तित्व रहना; पाप कार्यों, आस्रवद्वारों, इन्द्रिय और मन के विषयों से विरक्त न होना ।

स्वरूप की अपेक्षा से अविरति के १२ भेद होते हैं –

(१–६) पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति, यह ५ स्थावर और ६ त्रस काय–चलते फिरते जीव– इन छह काय के जीवों की हिसां का त्याग न करना ।

(७–१२) स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र–यह पाँच इन्द्रियाँ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और छठा मन-इन छहों को अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होने से न रोकना।

(ग) **प्रमाद** – प्रमाद का सामान्य अर्थ आलस्य है । यह मनुष्य के अपने शरीर में रहा हुआ, उसका प्रच्छन्न किन्तु घोर शत्रु है । यह बड़ा मीठा जहर है । सामान्यतः मनुष्य को यह अच्छा लगता है, किन्तु इसका परिणाम बड़ा भयंकर होता है ।

इसी के कारण मनुष्य कुशल-कार्यों-धर्म-कार्यो को नहीं कर पाता, कर्तव्य-अकर्तव्य में असावधानी बरतता है, शुभ परिणति में उत्साह नहीं कर पाता, मोक्षमार्ग की ओर गति-प्रगति नहीं कर पाता है ।

प्रमाद के प्रमुक भेद ५ और उत्तर भेद १५ हैं ।

(१) **मद** – रूप, कुल, जाति, ज्ञान, तप आदि का अभिमान ।

(२-६) **विषय** – पाँच इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति ।

(७-१०) **कषाय** – क्रोध, मान, माया, लोभ-चारों कषायों में प्रवृत्ति।

(११-१४) **विकथा** – स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा, देशकथा- इन चारों निरर्थक और पापकारी कथाओं को करना, कहना, सुनना ।

(१५) **निद्रा** – आलस्य, नींद, सुस्ती में पड़े रहना ।

(घ) **कषाय** – आत्मा के कलुषित परिणाम कषाय है । कषाय ही जन्म और मरण कामूल कारण हैं । कर्मबन्ध में इनकी प्रमुख भूमिका है । बँधी कर्म-वर्गणाओं में इन्हीं के कारण स्थिति (समय मर्यादा) और अनुभाग (रस देने की शक्ति) पड़ता है । संसार में -चारों गतियों में भ्रमण का यही प्रमुख कारण हैं और इनकी उपस्थिति में जीव की मुक्ति नहीं हो पाती ।

कषायों के प्रमुख भेद ४ और अवान्तर भेद २५ हैं । इन सबका वर्णन इसी अध्याय के सूत्र १० में किया जा रहा है ।

(ङ) **योग** – योग का अर्थ है प्रवृत्ति । यह शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की होती है। शुभयोग (प्रवृत्ति) से पुण्य का और अशुभयोग (प्रवृत्ति) से पाप का आस्रव होता है । इसके मुख्य रूप से ३ भेद है और उत्तर भेद १५ हैं।

(१) **मनोयोग**- यह मन की (मानसिक) प्रवृत्ति है । इसके ४ भेद हैं-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(अ) **सत्य मनोयोग** – सत्य सम्बन्धी मानसिक प्रवृत्ति ।

(ब) **असत्य मनोयोग** – असत्य से संबंधित मानसिक प्रवृत्ति।

(स) **मिश्र मनोयोग** – सत्य-असत्य मिश्रित मन की प्रवृत्ति।

(द) **व्यवहार मनोयोग** – व्यवहार लक्ष्यी मानसिक प्रवृत्ति ।

(२) वचन की प्रवृत्ति को 'वचनयोग' कहा जाता है । इसके भी चार प्रकार हैं – (२) सत्य वचनयोग (ब) असत्य वचनयोग (स) मिश्र वचनयोग और (द) व्यवहार वचनयोग ।

(३) **काययोग** – कायिक अथवा कायसंबंधी प्रवृत्ति । इसके उत्तर भेद ७ हैं ।

(अ) **औदारिक काययोग** – औदारिकशरीर की प्रवृत्ति । ऐसा शरीर मनुष्यों और तिर्यंचों का होता है ।

(ब) **औदारिकमिश्र काययोग** – औदारिकशरीर के साथ अन्य किसी शरीर की सन्धि के समय होने वाली कायिक प्रवृत्ति ।

(स) **वैक्रिय काययोग** – यह शरीर देवों और नारकियों के होता है । इस शरीर की प्रवृत्ति ।

(द) **वैक्रियमिश्र काययोग** – वैक्रियशरीर से मिश्रित अन्य किसी शरीर की संधि के समय की कायिक प्रवृत्ति ।

(य) **आहारक काययोग** – आहारक शरीर की प्रवृत्ति । यह शरीर १४ पूर्वधर संयमी मुनि ही अपने तपस्याजन्य लब्धिबल से निर्मित करते हैं।

(र) **आहारकमिश्र काययोग** – आहारक शरीर के साथ अन्य शरीर की संधि के समय होने वाली कायिक प्रवृत्ति ।

(ल) **कार्मण काययोग** – कार्मणशरीर की प्रवृत्ति । जब जीव एक गति से दूसरी गति में जन्म लेने के लिए गमन करता है, तब कार्मण काययोग साथ होता है ।

इस प्रकार ५ मुख्य बन्धहेतुओं के उत्तर भेद (२५ मित्यात्व+१२ अविरति+२५ प्रमाद+२५ कषाय+१५योग)=९२ हैं ।

इन सभी बन्धहेतुओं में मिथ्यात्व सभी का मूल आधार है । अनादि काल से यही जीव को अनन्त संसार मं परिभ्रमण करा रहा है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए सबसे पहले इसी को समाप्त करना अनिवार्य है ।

सूत्र में वर्णित पाँचो बन्धहेतु क्रम से हैं । यदि पहला मिथ्यात्व बन्धहेतु होगा तो शेष आगे के चारों बन्ध हेतु भी अवश्य होंगे ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जिस क्रम से यह बंधहेतु लिखे गये हैं, उसी क्रम से छूटते हैं ।ऐसा नहीं है कि कषाय अथवाप्रमाद बंधहेतु तो छूट जाय; किन्तु मिथ्यात्व अथवा अविरति बंधहेतु बना रहे, कम बंधन कराता रहे ।

अतः इनका क्रम ध्यान में रखना आवश्यक है ।

आगम वचन –

जोगबंधे कसायबंधे – समावायांग, समवाय ५

दोहिं ठाणेहि पावकम्मा बंधंति, तं जहा–रागेण य दोसेण य

रागे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–माया य लोभे य

दोसे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–कोहे य माणे य

– स्थानांग, स्थान २, उ. २; प्रज्ञापना पद २३, सूत्र ५

(बन्ध योग से होता है और कषाय से होता है ।

दो स्थानों (कारणों) से पाप कर्म बँधते हैं – राग से और द्वेष से ।

राग दो प्रकार का कहा गया है – 'माया (कपट) और लोभ ।

द्वेष दो प्रकार का कहा गया है – क्रोध और मान ।)

बन्ध का लक्षण –

सकषायात्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते ।२।

स बन्धः ।३।

कषाय सहित होने से जीव कर्मों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। वह बन्ध है ।

विवेचन – समस्त लोक में पुद्गल वर्गाणाएँ भरी है । इनके कई प्रकार हैं। उनमें से कर्म–योग्य पुदगल वर्गणओं का आत्मा के साथ कर्म–बन्ध के रूप में संबंध होता है । यह बंध कषाय सहित जीव को होता है ।

कषाय से अनुरंजित आत्मा के परिणाम जब प्रकम्पित/स्पन्दित होते हैं तो उनमें एक ऐसी विशेष प्रकार की आकर्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो कर्म–वर्गणाओं को आकर्षित कर लेती है और वे वर्गणाएँ आत्मा के साथ चिपक जाती है, यही जीव के साथ कर्म–वर्गणा का मिलन/कर्मबंध है ।

इसको उदाहरण द्वारा यों समझ सकते हैं – जैसे कोई चिकना वस्त्र बाहर पड़ा हो तो वह वायुमंडल में फैले सूक्ष्म रजकणों को आकर्षित कर लेता है। यही स्थिति कषाययुक्त आत्मा की है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम वचन –

चउव्विहे बंधे पण्णते, तं जहा–पगइबंधे ठिइबंधे अणुभावबंधे पएसंबंधे । – समावायागं, समवाय ४

(बन्ध चार प्रकार का बताया गया है, यथा (१) प्रकृतिबन्ध (२) स्थितिबन्ध (३) अनुभावबन्ध और (४) प्रदेशबन्ध ।)

बन्ध के भेद–

प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः ।४।

१. प्रकृतिबंध २. स्थितिबंध, ३. अनुभावबन्ध और ४. प्रदेशबन्ध– यह बंध की चार विधियां अथवा प्रकार हैं ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में बंध की चार दशाओं को बताया गया है। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

१. **प्रकृतिबन्ध** – जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म–पुद्गलो –स्कन्धों दलिकों, कार्मण वर्गणाओं में विभिन्न प्रकार की शक्ति उत्पन्न हो जाने को प्रकृतिबन्ध कहा जाता है ।

कर्म की मूल प्रकृतियाँ ८ (ज्ञानावरणीय आदि) है और उत्तरप्रकृतियाँ १४८ हैं । प्रकृतिबंध में कर्म–दलिक इन प्रकृतियों के रूप में अवस्थित हो जाते हैं ।

२. ***स्थितिबन्ध*** – *कर्म–दलिकों के आत्मा के साथ चिपके रहने* सम्बद्ध रहने की काल मर्यादा स्थितिबन्ध है ।

३. **अनुभावबन्ध** – अनुभाव का अभिप्राय कर्मों की फल देने की शक्ति है । कर्म किस प्रकार का मंद, मंदतर, मंदतम, तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, फल जीव को वेदन करायेगा यह अनुभागबंध से निश्चित होता है ।

अनुभागबंध को रसबन्ध तथा अनुभागबंध भी कहा जाता है ।

४. **प्रदेशबन्ध** – कर्म–पुद्गलों का जीव के साथ एक क्षेत्रावगाह हो जाना, चिपक जाना, सम्बद्ध हो जाना, प्रदेशबन्ध है । जीव के तीव्र परिणामों से अधिक कर्म–दलिक जीव के साथ सम्बद्ध होते हैं और मन्द परिणामों से कम ।

शास्त्रों में इन चारों प्रकार के बन्ध के लिए मोदक (लड्डुओं) का दृष्टान्त दिया गया है ।

मोदक कोई हलका, कोई भारी, बड़े आकार, छोटे आकार विभिन्न प्रकार का होता है, इसी प्रकार आत्मा के साथ चिपकने वाले कर्म–परमाणु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी कम या अधिक विभिन्न प्रकार के होते है- यह प्रदेश बन्ध का उदाहरण हैं ।

कोई लड्डू वात-पित्तनाशक है, तो कोई गरिष्ठ, दुष्पाच्य और रोग उत्पन्न करने वाला है, यह मोदकों की प्रकृति अथवा स्वभाव है । इसी प्रकार जीव से सम्बद्ध कर्म-पुद्गलों में से किसी का आवरक स्वभाव होता है, और किसी का स्वभाव शरीर का चयोपचय-हानि-वृद्धि करने वाला । इस विभिन्न प्रकार के स्वभाव को प्रकृति कहते हैं । यह **प्रकृतिबन्ध का उदाहरण है ।**

जिस प्रकार एक निश्चित समय तक ही मोदकों के परमाणु चिपके रहते हैं, मोदक रूप में रहते हैं और उसके बाद बिखर जाते हैं, अलग-अलग हो जाते हैं, उनका मोदक रूप समाप्त हो जाता है । इसी प्रकार निश्चित समय तक ही कर्म-परमाणु आत्मा से चिपके रहते हैं, उसके बाद झड़ जाते हैं, अलग हो जाते हैं । यह **स्थितिबन्ध का उदाहरण है ।**

जिस प्रकार लड्डुओं में मधुर, तिक्त आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वाद (रस) होते हैं और फिर मधुर में भी कम मीठा, अधिक मीठा आदि तरतमभाव होता है उसी प्रकार कर्मों में सुखद-दुःखद, शुभ-अशुभ, मन्दतीव्र आदि विभिन्न प्रकार के अनुभाव वेदन कराने की, फल देने की, रस का आस्वादन कराने की शक्ति होती है । यह **अनुभावबंध का उदाहरण है ।**

आचार्य प्रवर ने अपने सूत्र में बंध के इन्ही ४ प्रकारों (भेदों अथवा विधियों) का निर्देश किया हैं; किन्तु कर्मग्रन्थों में अन्य अपेक्षा से भी बन्ध के चार प्रकारों का वर्णन किया गया है । साथ ही कर्म की ११ दशाओं (बंध सहित) का वर्णन किया गया है । प्रसंगोपात्त होने से हम उन सभी का परिचय यहां दे रहे हैं जिससे बंध का विषय सुगमतापूर्वक पूर्ण रूप से समझ में आ जाय ।

१. **बंध** - इसके अन्य अपेक्षा से यह चार भेद हैं -

(क) **बद्ध** -कर्म-प्रायोग्य पुद्गलों-कर्म-दलिकों अथवा कर्म वर्गणाओं का एक जगह (स्थान पर) इकट्ठा हो जाना; जैसे एक स्थान पर सुइयां एकत्रित हो जाये.

(ख) **स्पृष्ट** - आत्म-प्रदेशों से कर्मो का संश्लिष्ट हो जाना, चिपक जाना; जैसे सुइयों को धागे द्वारा मजबूती से बाँध दिया जाय ।

(ग) **बद्ध-स्पृष्ट** - आत्म-प्रदेशों का कर्म-पुद्गलों के साथ एकमेक हो जाना; जैसे दूध और पानी मिल जाते हैं, एक मेक हो जाते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(घ) **निधत्त** – आत्म-प्रदेशों का कर्म-पुद्गलो के साथ अत्यन्त गाढ़ (गहरा) सम्बन्ध हो जाना; जैसे-सुइयों को आग में तपाकर और हथौड़ें से पीटकर एक कर देना ।

यह चारों प्रकार के बंध उत्तरोत्तर गाढ-प्रगाढ़ होते जाते हैं।

(२) **सत्ता** – इसी का दूसरा नाम स्थिति है । जब तक कर्म आत्मप्रदेशों के साथ लगे रहते हैं, उनकी निर्जरा नहीं होती; तब तक वे सत्ता में रहते हैं ।

(३) **उदय** – यह कर्मों की फल प्रदान करने की अवस्था है । इसे अनुभाव भी कह सकते हैं । इसके दो भेद हैं –१. प्रदेशोदय और २. विपाकोदय ।

(क) **प्रदेशोदय** – वह है जिसमें वेदना (कर्म द्वारा दिये जाने वाले फल या कर्म के रस) का स्पष्ट अनुभव नहीं होता; जैसे – मूर्च्छित व्यक्ति को उलटना-पलटना, सुई चुभोना आदि; क्योंकि इस दशा में उसे वेदना का स्पष्ट अनुभव नहीं होता ।

(ख) **विपाकोदय** – में कर्मजन्य वेदना का स्पष्ट अनुभव जीव को होता है । यह अनुभव छह प्रकार से बताया गया है – १. द्रव्य, २. क्षेत्र, ३. काल, ४. भाव, ५. भव और ६. हेतु । इन्हें उदाहरणों से समझना सुगम होगा ।

कोई व्यक्ति मिठाई अधिक खाता है तो उसे शक्कर (sugar) की व्याधि हो जाती है, यह **द्रव्यविपाक** है ।

छाया से धूप में जाने पर उष्णता की अनुभूति **क्षेत्रविपाक** है ।

सर्दी लगकर जाड़े में जुकाम-खाँसी हो जाना **कालविपाक** का उदाहरण है ।

जब वर्तमान में कोई स्पष्ट बाह्य निमित्त न हो, उस दशा में पुरानी स्मृतियों अथवा भावी आशंकाओं में भरकर क्रोधित हो जाना, क्रोध का अनुभव करना, आदि **भावविपाक** है । यह विपाक मान, माया, लोभ आदि से भी होता है ।

भवविपाक – जन्म-सापेक्ष है, जैसे नारकियों की घोर कष्ट वेदना और देवों के दिव्य भोग । क्योंकि ऐसी घोर वेदना अथवा सुखःभोग इन्हीं गतियों और इन्हीं जन्मों में प्राप्त होती है, अन्य गतियों-जन्मों में नहीं ।

हेतुविपाक – में स्पष्ट बाह्य निमित्त कारण पड़ता हैं; जैसे किसी ने गाली दी और सुनने वाले को क्रोध आ गया ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४. **उदीरणा** – कर्मों की निश्चित अवधि से पहले ही, उनकी स्थिति को घात करके, उन्हें भोगकर निर्जरित कर देना–आत्मा से पृथक करे देना उदीरणा कहलाती है । जिस प्रकार कारबेट, पाल आदि में रखकर आम आदि फल समय से पहले ही पका लिये जाते हैं; इसी प्रकार अपना विशेष प्रयत्न करके कर्मों को भी निश्चित अवधि से पहले भोग लेना उदीरणा है ।

उदीरणा के विषय में तीन बातें ध्यान रखने योग्य है–

(क) सामान्य रूप से जिस कर्म का उदय चल रहा है, उसी कर्म के सजातीय कर्म की ही उदीरणा की जा सकती है ।

(ख) उदयावलिका (*एक आवलिका[1] समय की सीमा में उदय आने* वाले) में आये हुए कर्म–दलिकों की उदीरणा नहीं हो सकती ।

(ग) उदीरणा केवल अल्पकषाय द्वारा बंधे हुए कर्मों की ही हो सकती है; तीव्र कषाय द्वारा बंधे कर्मों की नहीं होती ।

५. **उद्वर्तना** – बंधे हुए कर्मों की स्थिति और अनुभाव बढ़ा लेना; उदाहरण के लिए, चोरी करके झूठ बोलना पापकर्म की स्थिति–अनुभाव बढ़ा देता है ।

इसी तरह शुभकर्मों की स्थिति भी बढ़ाई जा सकती है । जैसे किसी रोगी को मधुर शब्दों से सांत्वना देकर उसकी सेवा भी करना ।

६. **अपवर्तना** – यह उद्वर्तना की विपरीत स्थिति है । इसका अभिप्राय है – बंधे हुएकर्मों की स्थिति–अनुभाव कम कर लेना; जैसे–कोई गलत काम करके उसका प्रायश्चित्त करना, पापकर्म की स्थिति–अनुभाव को कम कर देता है और दान देकर अभिमान करने से शुभ कर्म की स्थिति–अनुभाव में कमी आ जाती है, उसका फल कम मिलता है ।

७. **संक्रमण** – विशेष प्रयत्न करके एक कर्म–प्रकृति को दूसरी कर्मप्रकृति में परिवर्तित करे लेना ।

---

१. यद्यपि शास्त्रों में आवलिका को असंख्यात समय का बताया गया है, स्पष्ट काल प्रमाण नहीं गया किन्तु आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा आवलिका में कितना समय (time) होता है, इसका एक अनुमान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है– लगभग १.८७५५७९९७×१०[९] इकाई समय (time unit) मिलकर एक सेकण्ड का निर्माण करते हैं । ऐसे लगभग ३००००० इकाई समय तक एक आवलिका बनाते हैं । (तीर्थंकर, जनवरी ८६)
इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि आवलिका (time) काल का कितना सूक्ष्म अंश है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संक्रमण में निम्न बाते ध्यान रखने योग्य हैं ।

(क) यह सिर्फ सजातीय कर्म-प्रकृतियों में ही हो सकता है; जैसे दर्शनावरणीय कर्म की निद्रा प्रकृति का संक्रमण निद्रा-निद्रा प्रकृति में अथवा निद्रा-निद्रा का निद्रा प्रकृति में हो सकता है, अचक्षुदर्शनावरणीय अथवा अवधि या केवल दर्शनावरणीय में नहीं हो सकता ।

(ख) यह केवल किसी कर्म की उत्तरप्रकृतियों में संभव है, मूल प्रकृतियों में नहीं ।

(ग) आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण नहीं होता ।

(घ) दर्शनमोहनीय का संक्रमण चारित्रमोहनीय में अथवा चारित्रमोहनीय का दर्शनमोहनीय में नहीं होता ।

(ङ) उदय (उदयावलिका) में आई हुई कर्म-प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता; जो प्रकृतियां उदय में नहीं आई हैं, उन्हीं में संक्रमण संभव है।

८. **उपशमन** – इसका अर्थ है उपशांत अथवा शांत करना । जैसे निर्मली (फिटकरी) आदि डालने से पानी की गंदगी तली में नीचे बैठ जाती है और पानी स्वच्छ-साफ दिखाई देने लगता है, इसी प्रकार कर्म का सर्वथा उदय न होने की दशा को उपशमन कहा जाता है ।

उपशमन में उदय और उदीरणा नहीं होती; किन्तु उद्वर्तना, अपवर्तना आदि हो सकते हैं ।

उपशमन का काल पूरा होने पर कर्म पुनः उदय में आकर अपना काम करने लगता है, अर्थात् फल देने लगता है ।

९. **निधत्ति** – निधत्ति, कर्म की ऐसी दशा है जिसमें उदीरणा और संक्रमण नहीं हों सकते; किन्तु उद्वर्तना और अपवर्तना संभव है ।

१०. **निकाचना**– जिस रूप में कर्मों का बन्ध हुआ है, उनका फल उसी रूप में अनिवार्यरूप से भोगना । इसे नियति भी कह सकते हैं । इसमें आत्मा का कोई पुरुषार्थ काम नहीं करता क्योंकि इसमें उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण, उदीरणा आदि नहीं होती । यानी इसमें कोई फेर-फार नहीं होता।

११. **अबाध** – जब तक कर्म सत्ता में ही रहे, उसका उदय प्रारम्भ न हो, वह किसी प्रकार का फल न दे, उस दशा को अबाध कहा जाता है, तथा कर्मबन्ध से उदय में आने तक के – बीच के समय को अबाधा काल।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसके लिए शास्त्रों में बाला-स्त्री का दृष्टान्त दिया गया है । जैसे विवाहित होते हुए भी बालिका-स्त्री अपने युवा तथा भोग-सक्षम पति की काम-भावना को नहीं भड़काती, उसी प्रकार अबाधा काल में कर्म भी जीव को किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाता, वह अबाध बना रहता है ।

इसे यों समझें जैसे बीज बोने के बाद फल पकने तक का समय= क्योंकि पकने के बाद ही फल उपभोग योग्य होता है, उससे पहले नहीं । जिस प्रकार भूमि के अन्दर पड़ा हुआ बीज, माली अथवा किसान की उपभोगेच्छा को नहीं भड़काता उसी प्रकार की कर्म की अबाध दशा है ।

किस कर्म का अबाधाकाल कितना है, यह उस कर्म के स्थितिबन्ध पर निर्भर है । इसकी गणना का साधारण नियम यह है - जितने कोड़ा-कोड़ी सागर की स्थिति बँधे उतने ही १०० वर्ष का अबाधाकाल होता है ।

उदाहरणार्थ ज्ञानावरणीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ा-कोड़ी सागरोपम है तो उसका अबाधाकाल ३०×१००=३००० वर्ष का होगा ।

इसी प्रकार अन्य सभी कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृतियों का (आयु कर्म को छोड़कर) अबाधाकाल ज्ञात किया जा सकता है ।

इस प्रकार कर्मबन्ध की यह ११ स्थितियाँ है । इनमें बन्ध का सम्पूर्ण स्वरूप समाया हुआ है । इन्हे हृदयगम करने पर बन्ध तत्त्व को समझना सरल और सुगम हो जाता है ।

(तालिका पृष्ठ ३६१ पर देखें)

आगम वचन -

अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओं तं जहा-णाणावरणिज्जं दंसणावरणिज्जं वेदणिज्जं मोहणिज्जं आउयं नामं गोयं अन्तराइयं ।

- प्रज्ञापना पद २१, उ. १. सूत्र २८८

(कर्मप्रकृतियां आठ प्रकार की हैं - १. ज्ञानावरणीय २. दर्शनावरणीय ३. वेदनीय ४. मोहनीय ५. आयु ६. नाम ७. गोत्र और ८. अन्तराय ।

मूलकर्म प्रकृतियों के नाम और उनकी उत्तरप्रकृतियों की संख्या का निर्देश -

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः ।५ ।

पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपंचभेदा यथाक्रमम् ।६ ।

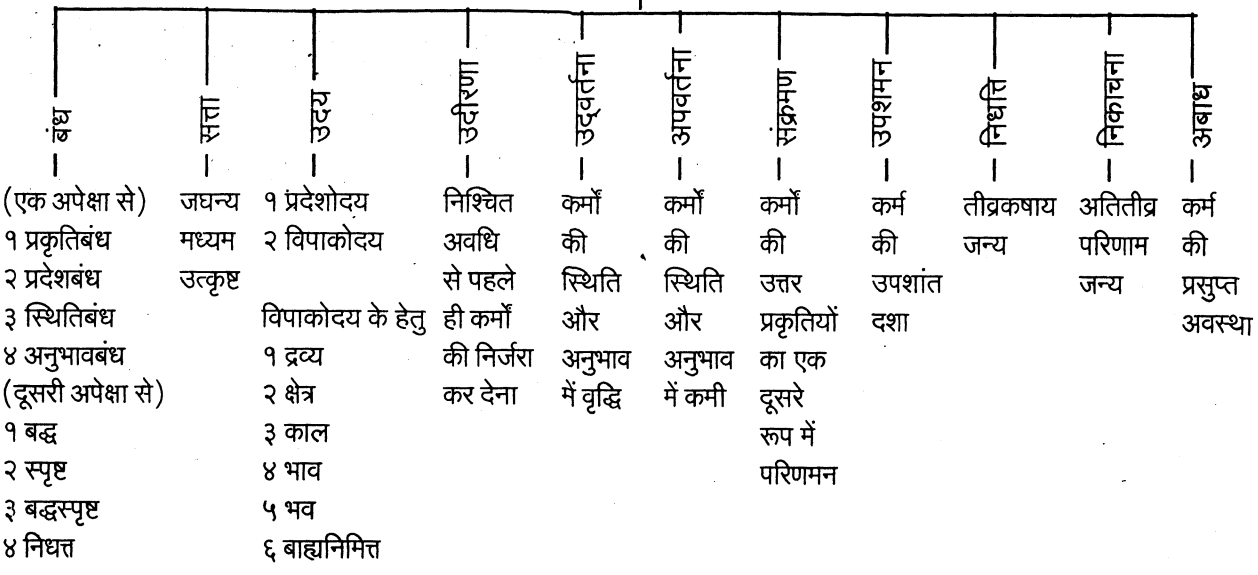
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International

For Personal & Private Use Only

www.jainelibrary.org

कर्म की दशाएं (अवस्थाएं)



नोट :– बंध और उदय में मंद, मंदत्तर, मंदतम तथा तीव्र, तीव्रतर की अपेक्षा तरतमभाव होता है ।

(आद्य) प्रथम (प्रकृतिबन्ध) के (मूल) आठ प्रकार है - १. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय ५. आयु. ६. नाम, ७. गोत्र और ८. अन्तराय

इन (मूलप्रकृतियों) के क्रमश : पांच, नौ, दौ, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पांच भेद (उत्तरप्रकृतियां) हैं ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र ५ में मूल कर्मप्रकृतियों के नाम बताये गये हैं और सूत्र ६ में इन मूल प्रकृतियों के उत्तरभेदों की संख्या का संकेत दिया गया है ।

मूल कर्मप्रकृतियों के लक्षण, स्वभाव और विभिन्न अपेक्षाओं से भेदों का वर्णन इस प्रकार है ।

मूल कर्म प्रकृतियों के नाम, लक्षण अथवा स्वरूप

१. **ज्ञानावरण कर्म** - यह आत्मा के ज्ञान गुण को ढकता है ।

२. **दर्शनावरण कर्म** - आत्मा के दर्शन गुण को आच्छादित करता है।

३. **वेदनीय कर्म** - यह जीव को सांसारिक सुख-दुःखो की अनुभूति कराता है

४. **मोहनीय कर्म** - यह जीव के सम्यक्त्व और चारित्र गुण का घात करता है, जीव को स्वर-पर-विवेक, अपने स्वरूप का श्रद्धान और स्व-स्वरूपरमणता नहीं होने देता, बहिर्मुखीःभवाभिनन्दी बनाये रखता है ।

५. **आयु कर्म** - यह कर्म जीव को किसी एक पर्याय में रोके रखात है, दूसरे शब्दों में इस कर्म के कारण भव धारण होता है, इसी की अपेक्षा लोक में कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति जीवित है ।

६. **नाम कर्म** - इस कर्म के कारण जीव को विभिन्न प्रकार की गति, जाति आदि प्राप्त होती है तथा विभिन्न प्रकार के शरीरों की रचना होती है।

७. **गोत्र कर्म** - इस कर्म के उदय से जीव में पूजय्ता, अपूजय्ता के भाव आहे हैं, वह उँच या नीच कुल में जन्म लेता है अथवा ऊँच-नीच कहलाता है ।

८. **अन्तराय**- यह जीव की वीर्यशक्ति का घात करता है । उसके दान, लाभ, भोग आदि के उत्साह में बाधक बनता है ।

मूल कर्मप्रकृतियों का स्वभाव

१. ***ज्ञानावरण कर्म*** *का स्वभाव आँखों पर पट्टी बँधने जैसा है । जिस*

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार पट्टी बँधने से कुछ भी नहीं दिखाई देता उसी प्रकार इस कर्म के प्रभाव से जीव को अवबोध में बाधा पहुँचती है ।

२. **दर्शनावरण कर्म** का स्वभाव परदे जैसा है । बीच में परदा पड़ा होने से मनुष्य दूसरी तरफ की चीज नहीं देख पाता, इसी प्रकार यह कर्म भी देखने में बाधक बनता है ।

३. **वेदनीय कर्म** शहद लपेटी छुरी के समान है । शहद चाटने से जीव को सुख मिलता है किन्तु छुरी की धार से जीभ कट जाती है तब उसे दुःख होता है । सभी संसारी सुखों की परिणति भी इसी प्रकार दुःख ही है।

४. **मोहनीय कर्म** मदिरा जैसा है । नशे में बेभान मनुष्य जैसे अपने पराये को नहीं पहचान पाता, वैसे ही मोहनीय कर्म आत्मा के स्वर-परविवेक को विलुप्त कर देता है, मोहग्रस्त जीव अपना हिताहित नहीं सोच पाता।

५. **आयु कर्म** लोहे के बेड़ी (बन्दीगृह) के समान है । जिस प्रकार अपराधी को निश्चत समय तक (जितने समय की उसे सजा मिली है उतने समय तक) बन्दीगृह में रहना पड़ता है, उसी प्रकार जीव को अपनी आयु पर्यन्त शरीर में रहना पड़ता है ।

६. **नाम कर्म** चित्रकार के समान है । जिस प्रकार चित्रकार विभिन्न प्रकार के चित्र बनाता है उसी प्रकार नाम कर्म भी विभिन्न प्रकार के शरीरों का निर्माण करता है ।

७. **गोत्र कर्म** की उपमा कुम्हार से दी जाती है । जिस प्रकार कुम्हार के बनाए कुछ घड़े पूजा स्थान पर रखे जाते हैं, पूजनीय-प्रशंसनीय बनते हैं तो कुछ में मदिरा भरी होने के कारण निन्दीय भी बन जाते हैं । उसी प्रकार गोत्र कर्म के कारण जीव ऊँच तथा नीच कुल में जन्म ग्रहण करता है।

८. **अन्तराय कर्म** का स्वभाव कोषाध्यक्ष के समान है । जैसे राजा की आज्ञा होने पर भी भंडारी याचक को धन-प्राप्ति में बाधक बन जाता है । उसी प्रकार अन्तराय कर्म भी साधन-सामग्री होते हुए भी भोग आदि में विघ्न डाल देता है ।

मूल प्रकृतियों के भेद

यह भेद तीन अपेक्षाओं से किये जाते है - १. घातशक्ति. २. आघात शक्ति तथा ३ पुण्य-पाप ।

घातशक्ति की अपेक्षा से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय **घाती कर्म** है; क्योंकि यह जीव की ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुख-वीर्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शक्तियों का घात करते हैं और आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय – यह **अघाती कर्म** हैं, क्योंकि ये आत्मा की निज शक्तियों का घात नहीं करते, इनका प्रभाव शरीर आदि पर ही प्रमुख रूप से पड़ता है, ये जीव को उसी जन्म में टिकाए रखते हैं ।

पुण्य–पाप की अपेक्षा ज्ञानावरणीय आदि चारों कर्म पाप हैं; इनकी सिर्फ सम्यक्त्वमोहनीय, हास्य, रति, पुरुषवेद[1] ये चार उत्तर प्रकृतियाँ पुण्य मानी गई हैं । अघाती कर्मों में सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ है और अशुभ आयु, अशुभनाम, अशुभ गोत्र तथा असातावेदनीय ये पाप प्रकृतियाँ है ।

उत्तरप्रकृतियों की अपेक्षा ४२ प्रकृतियों की गणना पुण्य में और ८२ प्रकृतियों की गणना पाप प्रकृतियों में की जाती है ।

यह आठों मूल प्रकृतियों के स्वभाव, लक्षण आदि का विवेचन है ।

(तालिका पृष्ठ ३६५ पर देखें)।

आगम वचन –

पंचविहे णाणावरणिज्जे कम्मे पण्णत्ते तं ज हा– आभिणिबोहिय णाणावरणिज्जे जाव केवल णाणावरणिज्जे

– स्थानांग, स्थान ५, उ. ३, सूत्र ४६४

(ज्ञानावरण कर्म पाँच प्रकार है (१) आभिनिबोधिक (मति) ज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञानावरण, (३) अवधिज्ञानावरण, (४) मनःपर्यव ज्ञानावरण, (५) केवलज्ञानावरण

ज्ञानावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियां –

मत्यादीनाम् ।७।

(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण (४) मनःपर्यायज्ञानावरण और (५) केवलज्ञानावरण – यह पाँच ज्ञानावरण कर्म के उत्तरभेद है ।

विवेचन – सूत्र में पाँचों उत्तरप्रकृतियों के स्पष्ट नामों का उल्लेख न करके 'मत्यादीनाम्' शब्द से सूचन मात्र कर दिया है । किन्तु आगम में स्पष्ट शब्दों में नामोल्लेख है ।

इन पाँचों उत्तरप्रकृतियों के लक्षण इस प्रकार है –

मतिज्ञान को आवरित करने वाला मतिज्ञानावरण है । इसी प्रकार

---

१. हास्य, रति और पुरुषवेद – यह प्रकृतियाँ सिर्फ तत्त्वार्थ सूत्र में ही पुण्य प्रकृतियाँ मानी गई हैं, अन्य सभी ग्रंथों में यह पाप प्रकृतियाँ है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्म की मूल प्रकृतियाँ

कर्म	नाम	लक्षण	स्वभाव	घाती	अघाती	पुण्य	पाप	उत्तर प्रकृतियां
१	ज्ञानावरणकर्म	ज्ञान गुण का आच्छादान	आँखों पर पट्टी बंधने जैसा	घाती	—	—	पाप	५
२	दर्शनावरणकर्म	दर्शन गुण का आच्छादान	बिच मं परदा हो, ऐसा	घाती	—	—	पाप	९
३	वेदनीयकर्म	सांसारिक सुख-दुख की अनुभूति	शहद लपेटी छुरी जैसा	—	अघाती	पुण्य भी (साता वेदनीय की अपेक्षा)	पाप भी (असाता की अपेक्षा)	२
४	मोहनीय	सम्यक्त्व और चारित्र का घात	मदिरा जैसा	घाती	—	—	पाप	२८
५	आयु	भवधारण	बन्दीगृह के समान	—	अघाती	पुण्य भी (शुभ की अपेक्षा)	पाप (अशुभ की अपेक्षा)	४
६	नाम	मनुष्य आदि नाम	चितेरा (चित्रकार) जैसा	—	अघाती	पुण्य भी (शुभ की अपेक्षा)	पाप (अशुभ की अपेक्षा)	४२ या ९३ (अन्तरभेद सहित)
७	गोत्र	पूज्यता-अपूज्यता	कुम्भकार जैसा	—	अघाती	पुण्य भी (शुभ की अपेक्षा)	पाप (अशुभॉ की अपेक्षा)	२
८	अन्तराय	वीर्यशक्ति का घात	कोषाध्यक्ष जैसा	घाती	—	—	—	५

विशेष : मोहनीय कर्म की सम्यक्त्वमोहनीय, हास्य, रति, पुरूषवेद यह चार प्रकृतियां पुण्य में परिगणित की गई हैं इनके अतिरिक्त शेष सभी २४ प्रकृतियां पाप-प्रकृतियां हैं ।

श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, केवलज्ञान की क्रमशः श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण आवृत करते हैं ।

विशेष – मति आदि पाँचों ज्ञानों का विस्तृत विवेचन पहले अध्याय में हो चुका है ।

आगम वचन –

णवविधे दरिसणावरिणज्जे कम्मे पणत्ते, तं जहा–निद्दा निद्दानिद्दा पयला पयलापयला थीणगिद्धी चक्खुदंसणावरणे अचक्खुदंसणावरणे अवधिदंसणावरणे केवलदंसावरणे । – स्थानांग, स्थान ९, सूत्र ६६८

(दर्शनावरण कर्म नौ (९) प्रकार का होता है; जैसे – (१) निद्रा (२) निद्रानिद्रा (३) प्रचला (४) प्रचलाप्रचला (५) स्त्यानगृद्धि (६) चक्षुदर्शनावरण (७) अचक्षुदर्शनावरण (८) अवधिदर्शनावरण और (९) केवलदर्शनावरण ।

दर्शनावरण कर्म की उत्तरप्रकृतियां –

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचला–
प्रचलास्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च ।८।

((१) चक्षुदर्शन (२) अचक्षुदर्शन (३) अवधिदर्शन (४) केवलदर्शन (यह चारों आवरण रूप) और (५) निद्रा) (६) निद्रानिद्रा (७) प्रचला (८) प्रचलाप्रचला और (९) स्त्यानगृद्धि – यहा ९ दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ अथवा भेद हैं ।)

विवेचन – सूत्र में निद्रा आदि पाँचों प्रकृतियों के नामोल्लेख के बाद 'वेदनीय' शब्द दिया गया है, इसका अभिप्राय यह है कि निद्रा आदि पाँचों प्रकृतियों के बाद वेदनीय शब्द जोड़ लेना चाहिए; जैसे – निद्रावेदनीय आदि।

इसका यह भी संकेत है कि चक्षुदर्शन से केवलदर्शन तक की चारों प्रकृतियाँ आवरण रूप हैं । अतः इनके पीछे आवरण शब्द जोड़ लेना चाहिए, जैसे – चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण आदि ।

('आवरण' शब्द तो 'दर्शन' कर्म के साथ ही संयुक्त है) इसका नाम ही दर्शनावरण कर्म है । अतः इस संकेत को तो सरलतापूर्वक समझा जा सकता है ; इसीलिए आचार्य ने 'आवरण' शब्द सूत्र में नहीं दिया किन्तु *'वेदनीय' शब्द 'दर्शनावरण' शब्द में संयुक्त नहीं, है, इसीलिए इसका स्पष्ट उल्लेख किया है ।*

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१) **चक्षुदर्शनावरण** – यह आँखों द्वारा होने वाले सामान्य सत्ता के प्रतिभास को रोकता है, उस पर आवरण डालता है ।

(२) **अचक्षुदर्शनावरण** – यह चक्षु के अतिरिक्त चारों इन्द्रियों (स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र) द्वारा होने वाले सामान्य प्रतिभास को आवरित कर देता है ।

(३) **अवधिदर्शनावरण** – रूपी पदार्थों के साक्षात प्रतिभास को रोकता है ।

(४) **केवलदर्शनावरण** – समस्त रूपी–अरूपी पदार्थों के साक्षात प्रतिभास को रोकता है ।

(५) **निद्रा** – व्यक्ति सरलता से जाग जाये ऐसी नींद ।

(६) **निद्रानिद्रा**– कठिनता से हाथ–पाँव हिलाने पर जाग सके, ऐसी नींद ।

(७) **प्रचला**– खड़े–खड़े या बैठे–बैठे सो जाना ।

(८) **प्रचला–प्रचला** – चलते–चलते नींद ले लेना ।

प्रकारान्तर से **प्रचला** ऐसी नींद को भी कहा गया है जब शोक, खेद, मद आदि के प्रभाव से बैठे–बैठे ही पाँचो इन्द्रियों का व्यापार हिलना– डुलना, क्रिया–कलाप) रुक जाय तथा **प्रचला–प्रचला** ऐसी प्रगाढ़ निद्रा होती है जिसमें मुंह से लार टपकती है, व्यक्ति हाथ–पैर चलाया करता है, किन्तु सुई चुभोने से भी नहीं जागता ।

(९) **स्त्यानगृद्धि** – जागृत अवस्था में सोचा हुआ काम, इस निद्रा में, व्यक्ति सोता हुआ ही कर डालता है, लेकिन उसे कुछ मालूम ही नहीं रहता, जागने पर स्वयं की चकित रह जाता है कि यह काम मैने कैसे और कब कर दिया ।

इस निद्रा की दो विशेष बाते हैं –

(१) प्राणी में अद्‌भुत बल आ जाता है । सामान्य मनुष्य भी हाथी का दाँत उखाड़ सकता है ।

(२) यदि पहले अन्य गति की आयु न बँधी हो तो ऐसा जीव निश्चित नरक में जाता है ।

आगम वचन –

सातवेदणिज्जे य असायावेदणिज्जे

– प्रज्ञापनापद, २३, उ. २, सू. २९३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

((वेदनीय कर्म दो प्रकार का है - (१) सातावेदनीय और (२) असातावेदनीय।)

वेदनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियां-

सदसद्वेद्ये ।९।

वेदनीयकर्म सद् और असद् भेद से दो प्रकार का है -

विवेचन - वेदनीय कर्म के सातावेदनीय और असातावेदनीय - यह दो भेद है ।

सातावेदनीय कर्म के फलस्वरूप जीव को अनुकुल संयोगों की प्राप्ति होती है जिससे उसे शारीरिक-मानसिक सुख की अनभूति होती है ।

असातावेदनीय कर्म के फलस्वरूप प्रतिकूल संयोगों की प्राप्ति होती है जिससे जीव को मानसिक-शारीरिक दुःख-क्लशों की अनुभूति होती है ।

साता-असाता का लक्षण एक शब्द में कहें तो-

अनुकूल वेदनीयं सुखम्, प्रतिकूलवेदनीयं दुःख -

कह सकते हैं । इष्टवियोग आदि प्रतिकूल संयोग हैं और इष्ट संयोग आदि अनुकूल संयोग हैं ।

आगम वचन-

मोहणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविधे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-दंसणमोहणिज्जे य चरित्तमोहणिज्जे य ।

दंसणमोहणिज्जे तिविहे ...

चारित्तमोहणिज्जे दुविहे ... कसायवेदणिज्जे सोलसविधे नोकसाय वेयणिज्जे णवविधे ..... । - प्रज्ञापन कर्मबन्ध पद २३, उ. २

(भंते ! मोहनीय कर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?)

गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है - (१) दर्शनमोहनीय (२) चारित्रमोहनीय)

दर्शनमोहनीय कर्म तीन प्रका का कहा गया है (१) सम्यक्त्वमोहनीय (२) मिथ्यात्व मोहनीय (३) सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय ।

चारित्रमोहनीय दो प्रकार का कहा गया है - (१) कषायमोहनीय (३२) नोकषायामोहनीय ।

कषायमोहनीय कर्म सोलह प्रकार का कहा गया है - अनंतानु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बंधी क्रोध-मान-माया-लोभ, अप्रत्याख्यानी क्रोध-मान-माया-लोभ, प्रत्याख्यानी क्रोध-मान-माया-लोभ और संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ ।

नोकषायमोहनीय कर्म नौ प्रकार का कहा गया है - (१) स्त्रीवेद (२) पुरुषवेद (३) नपुंसकवेद (४) हास्य (५) रति (६) अरित (७) भय (८) शोक और (९) जुगुप्सा ।

मोहनीयकर्म की उत्तर प्रकृतियां -
दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विषोडशनव-भेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषायनोकषायावनन्तानुबन्ध्य-प्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमान-मायालोभा हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुनपुंसकवेदाः ।१०।

दर्शनमोह, चारित्रमोह, कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय (मोहनीयकर्म के यह प्रमुख चार भेद हैं ।) इनके क्रमशः तीन, दो, सोलह और नौ प्रकार है ।

दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं - (१) *सम्यक्त्व* (२) *मिथ्यात्व और* (३) उभय अर्थात् सम्यक्मिथ्यात्व ।

चारित्रमोहनीय के (प्रमुख) दो भेद हैं - (१) कषायमोहनीय और ९२) नोकषायमोहनीय ।

कषायमोहनीय के सोलह भेद हैं - (१-४) *अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोक्ष*, (५-८) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ, (९-१२) प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ, (१३-१६) संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ ।

नोकषायमोहनीय के नौद भेद हैं - (१) हास्य (२) रति (३) अरित (४) शोक (५) भय (६) जुगुप्सा (७) स्त्रीवेद (८) पुरुषवेद (९) नपुंसकवेद।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में मोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ बताई गई हैं । सूत्र में मोहनीय कर्म के पहले दो भेद बताय हैं - (१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय । पुनः चारित्रमोहनीय के दो भेद किये गये है - (१) क,ायमोहनीय और (२) नोकषायमोहनीय । कषायमोहनीय के सोलह भेद हैं और नोकषाय के नौ (९) भेद हैं ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में मोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ बताई गई है । सूत्र में मोहनीय कर्म के पहले दो भेद बताये हैं- (१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय । पुनः चारित्रमोहनीय के दो भेद किये गये है - (१) कषायमोहनीय और (२) नोकषायमोहनीय । कषायमोहनीय के सोलह भेद है और नोकषाय के नौ (९) भैद है ।

संक्षेप में दर्शनमोहनीय की ३ उत्तरप्रकृतियाँ है और चारित्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(मोहनीय की २५ । इस प्रकार मोहनीय कर्म की कुल उत्तरप्रकृतियों को संख्या २८ है ।

इनका स्वरूप निर्देश इस प्रकार है –

(अ) **मिथ्यात्वमोहनीय** का सामान्य लक्षण यह है कि यह जीव को सम्यक्त्व प्राप्ति में बाधक बनता है । (इसके भेद-प्रभेदों आदि का विस्तृत विवेचन इसी अध्याय के प्रथम सूत्र में किया जा चुका है) इसकी तीन उत्तर प्रकृतियाँ है –

(१) **मिथ्यात्वमोहनीय** – यह जीव की यथार्थ तत्त्वों मं रुचि नहीं होने देता । जीव यथार्थ आत्मस्वरूप और उसके श्रद्धान की ओर उन्मुख नहीं होता ।

(२) **सम्यक्त्वमोहनीय** – यह प्रकृति तो मिथ्यात्वमोहनीयकर्म की ही है, किन्तु इसमें मिथ्यात्व का प्रभाव बहुत कम रहा जाता है । यह सम्यक्त्व का नाश तो नहीं कर सकती; किन्तु चल-मल-अगाढ़ दोष लागकर उसे (सम्यक्त्व को) मलिन बनाती रहती है)।

(३) **सम्यग्मिथ्यात्व** – इसके प्रभाव से जीव में तत्त्वों के श्रद्धान और अश्रद्धान का मिला हुआ भाव रहता है, दही-गुड़ का सा मिश्रित स्वाद समझना चाहिए । जीव की स्थिति डाँवाडोल रहती है ।

(ब) **चारित्रमोहनीयकर्म** – यह आत्मा के चारित्रगुण का घात करता है । इसके दो भेद हैं – (१) कषायमोहनीय और (२) नोकषायमोहनीय ।

(१) **कषाय मोहनीय** – वह है जिससे संसार-परिभ्रमण की वृद्धि होती है। क्योंकि कषाय ही कर्मबंध का विशिष्ट हेतु हैं, कषाय के कारण ही कर्मबंध होता है और जब तक बंध है तब तक जीव मुक्त नहीं हो सकता।

कषायमोहनीय के मूल भेद चार हैं – (१) क्रोध (२) मान (३) मयाा (४) लोभ । इन चारों के पुनः चार-चार भेद हैं – (१) अनन्तानुबंधी ९२) अप्रत्याख्यानी (३) प्रत्याख्यानी और (४) संज्वलन । इस प्रकार कषाय मोहनीय के कुल सोलह (१६) प्रकार हैं ।

(क) **अनन्तानुबन्धी कषाय** – यह आत्मा के साथ कर्मों का अनन्तकाल का अनुबन्ध करता है । सरल शब्दों में, यह आत्मा के साथ अनन्तकाल से लगा हुआ है और यदि सम्यक्त्व न हो तो अनन्त काल तक लगा रहता है ।

यह आत्मा को स्वानुभूति एवं स्व-संवेदन में बाधक बनता है । इसी अपेक्षा से यह आत्मा के सम्यक्त्व का घातक है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१) **अनन्तानुबन्धी क्रोध–** शास्त्र में इस क्रोध की उपमा पर्वत की दरार से दी गई है । जिस प्रकार पर्वत की दरार का मिलना अत्यन्त कठिन है, इसी प्रकार यह क्रोध भी शांत नहीं हो पाता है।

(२) **अनन्तानुबन्धी मान –** वज्र का स्तँभ टूट जाता है, पर झुकता नहीं । उसी प्रकार यह मान भी विगलित नहीं हो पाता ।

(३) **अनन्तानुबन्धी माया–** उसी प्रकार वक्र होती है जैसे बाँस की जड़–गांठ की वक्रता । यह सीधी–सरल किसी भी उपाय से नहीं हो पाती।

(४) **अनन्तानुबन्धी लोभ –** वस्त्र पर गले किरमिची रंग जैसा होता है, जिसका छूटना प्रायः असंभव है ।

(ख) **अप्रत्याख्यानावरण कषाय –** यह जीव को पापों से किंचित् भी विरत नहीं होने देता, जीव श्रावकव्रतों का भी पालन नहीं कर पाता ।

सामान्यतः यह एक वर्ष तक रहता है, यदि एक वर्ष सेअधिक रह जाय तो अनन्तानुबन्धी में परिणत जो जाता है ।

(५) **अप्रत्याख्यानावरण क्रोध –** सूखे तालाब की दरार के समान होता है। जैसे–पानी के संयोग से तालाबा की सूखी मिट्टी में पड़ी दरार समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार यह क्रोध्र भी अधिक परिश्रम से शांत हो जाता है ।

(६) **अप्रत्याख्यानावरण मान–** अधिक परिश्रम से नम जाता है, जैसे अस्थि के स्तम्भ को विशेष प्रयोगों– उपायों से नमाया जा सकता है।

(७) **अप्रत्याख्यानावरण माया –** अधिक परिश्रम से सरलता में परिणत हो सकती है जैसे मेंढ़े का सींग विशेष प्रयोगों से सीधा हो जाता है।

(८) **अप्रत्याख्यानावरण लोभ –** वस्त्र पर लगे कीचड़ की तरह अधिक परिश्रम से साफ किया जा सकता है ।

यहाँ अधिक परिश्रम, प्रयोग और उपाय का अभिप्राय आत्मा द्वारा धर्म–चिन्तन, गुरुवन्दन, उपदेश–श्रवण आदि शुभ क्रियाएँ हैं ।

(ग) **प्रत्याख्यानावरण कषाय –** की स्थिति चार मास की है । इसके प्रभाव से जीव साधु व्रत अंगीकार नहीं कर पाता ।

(९) **प्रत्याख्यानावरण क्रोध –** बालू में खींची गई लकीर के समान होता है । जैसे बालू की लकीर हल्की हवा से ही मिट जाती है, उसी तरह यह क्रोध भी थोड़े से अल्प प्रयास से शांत हो जाता है ।

(१०) **प्रत्याख्यानावरण मान–** काष्ट स्तम्भ के समान है जो थोड़े से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तेल-पानी के प्रयोग से झूक जाता है ऐसे ही यह मान आत्मा के अल्प प्रयास से ही समाप्त हो जाता है ।

११. **प्रत्याख्यानावरण माया** – यह वक्रता प्रयास से सरलता में परिवर्तित हो जाती है। जैसे चलते बैल की मूत्र की लकीर शीघ्र ही सूखकर समाप्त हो जाती है ।

१२. **प्रत्याख्यानावरण लोभ** – यह लोभ उसी प्रकार सरलता से मिट जाने वाला है, जैसे खंजन गाड़ी के पहिए का कीट ।

(घ) **संज्वलनकषाय** – की स्थिति १५ दिन है । यह साधु की चित्त समाधि और शांति नहीं होने देता, यथाख्यातचारित्र का घात करता है । केवलज्ञान-दर्शन का उत्पत्ति में बाधक बनता है ।

१३. **संज्वलन क्रोध** – पानी में खींची गई लकीर के समान बिना प्रयास के स्वयमेव ही शांत हो जाता है ।

१४. **संज्वलन मान**– उसी तरह अपने आप ही विनमित हो जाता है जैसे लता झुक जाती है ।

१५. **संज्वलन माया** – की वक्रता (टेढ़ापन) बाँस के छिलकों के टेढ़ेपन का समान, स्वयं ही मिट जाती है ।

१६. **संज्वलन लोभ** – हल्दी फिटकरी के रंग के समान अपने आप ही मिट जाने वाला है ।

(स) **नोकषायमोहनीय** – 'नो' का अर्थ- ईषत्, अल्प (Megre) अथवा सहायक (Auxiliary) है अतः नोकषाय का अर्थ हुआ अल्प अथवा छोटे कषाय या सहायक कषाय

वास्तव में नोकषाय प्रधान कषायों के साथ उत्पन्न होते हैं और उन्हें उत्तेजित करते हैं । एक अपेक्षा से इन्हे मानसिक विकार भी कहा जा सकता है । पश्चिमी मनोविज्ञान शास्त्रियों ने इन्हें मूल प्रवृत्ति (Instincts) कहा है।

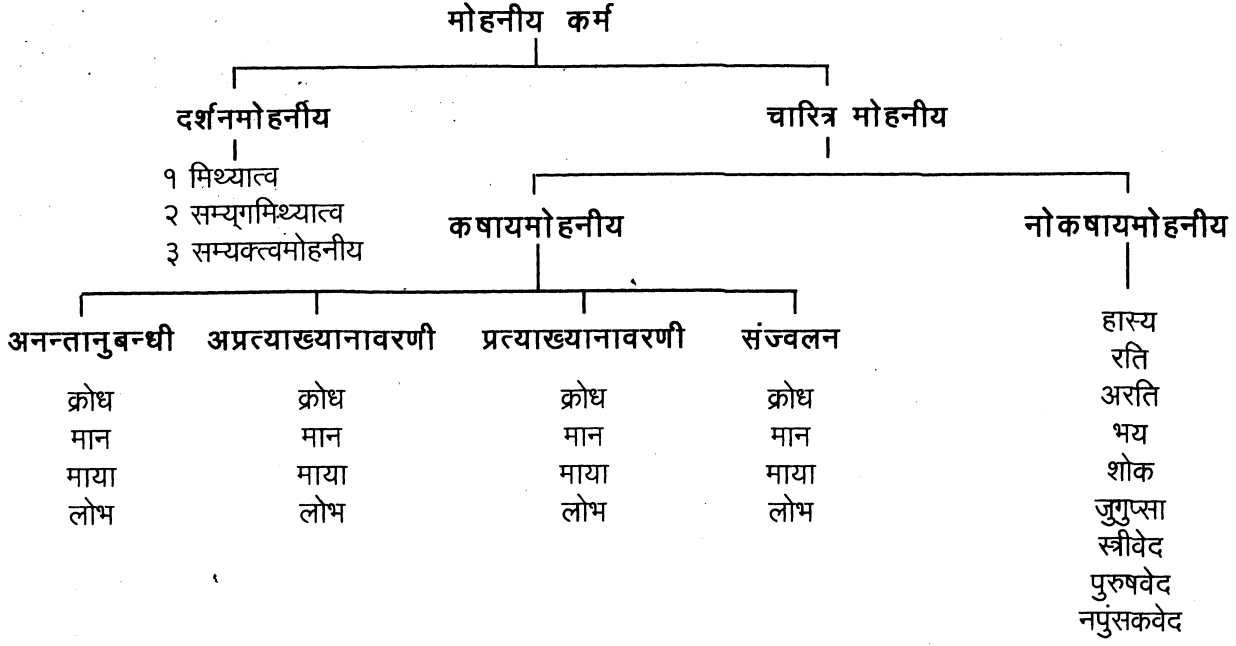
१. **हास्य** – हँसी, मजाक, भाँड़ आदि जैसी चेष्टाएँ ।

२-३. **रति-अरति**- सचित्त-अचित्त पदार्थों में सकारण अथवा अकारण रुचि और अरुचि होना । अथवा सांसारिकता की ओर अभिरुचि और *संयम में अरुचि भी रति-अरति है ।*

४. **शोक** – इष्टवियोग, अविष्टसंयोग आदि के कारण होने वाला मानसिक क्लेश

५. **भय** – स्वयं अपने जीवन, शरीर, धन, पुत्र आदि की रक्षा के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्बन्ध में होनेवाली आशंका-कुशंका के कारण होने वाले जड़ता तथा पलायन के संवेग (Fear Feeling) ।

६. **जुगुप्सा** – घृणा के भाव (Feelings of Hatred); और दूसरे के कुल-शील में दोष लगाना, अपमान-तिरस्कार करना ।

७. **स्त्रीवेद**– पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा ! यह कामाग्नि छाने (उपले-कण्डे) की आग के समान होती है, जो ऊपर तो राख से ढकी रहती है और अन्दर ही अन्दर सुलगती रहती है ।

८. **पुरुषवेद** – स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा यह कामाग्नि, तृण की अग्नि के समान है जो शीघ्र ही जल उठती है और जल्दी ही बुझ भी जाती है ।

९. **नपुंसकवेद** – स्त्री-पुरुष दोनों से रमण करने की इच्छा । यह कामाग्नि नगर-दाह के समान दीर्घकाल तक ठंडी नहीं होती, सुलगती रहती है ।

१०. **नपुंसकवेद** – स्त्री-पुरुष दोनों से रमण करने की इच्छा । यह कामाग्नि नगर-दाह के समान दीर्घकाल तक ठंडी नहीं होती, सुलगती रहता है ।

इस प्रकार मोहनीय कर्म की कुल (दर्शन मोहनीय की ३ और चारित्रमोहनीय के अन्तर्गत कषाय मोहनीय की १६ तथा नोकषाय मोहनीय की ९) २८ प्रकृतियाँ हैं । (तालिका पृष्ठ ३७३ पर देखे)

आगम वचन –

आउए णं भंते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते ?

चउविहे पण्णत्ते, तं जहा-णेरइयाउए तिरियआउए मणुस्साउए देवाउए । – प्रज्ञापना पद २३, उ .२

(भगवन् ! आयुकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

गौतम ! चार प्रकार का कहा है, यथा (१) नरक आयु (२) तिर्यंच आयु (३) मनुष्य आयु और (४) देव आयु ।

आयुकर्म की उत्तरप्रकृतियां –

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि । ११।

(आयुकर्म के चार भेद हैं – (१) नारकायु (२) तिर्यंच आयु (३) मनुष्य आयु और (४) देवायु ।

विवेचन – आयुकर्म के कारण ही 'अमुक मनुष्य पशु आदि जीवित है' यह कहा जाता है । नारक आदि आयु का अभिप्राय यही है कि जीव का उन गतियों में उत्पन्न होना और जीवित रहना ।

आयुकर्म की विशेषता यह है कि इसका उदय जन्म ग्रहण करते ही (गर्भज जीवों की अपेक्षा-गर्भ में आने के प्रथम समय से ही) शुरू हो जाता है और प्रति समय भोगा जाता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम वचन –

णामेणं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! बायालिसविहे पण्णत्ते–तं जहा–

गतिनामे (१) जातिनामे (२) सरीरणामे जाव (३) तित्थगरणामे (४२) – प्रज्ञापना पद २३, उ. २, सूत्र २९३;, समवायांग समवाय ४२

(भन्ते ! नाम कर्म कितने प्रकार का है ?

गौतम ! नामकर्म बयालीस प्रकार का है । यथा गतिनाम जातिनाम, शरीरनाम यावत् तीर्थंकर नाम ।)

नामकर्म के भेद –

गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्श रसगन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपौद्योतोच्छ्वासविहायो–गतयः प्रत्येक(शरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशांसि सेतराणि) तीर्थकृत्त्वं च ।१२।

(१) गति (२) जाति (३) शरीर (४) अंगोपांग (५) निर्माण (६) बंधन (७) संघात (८) संस्थान (९) संहनन (१०) स्पर्श (११) रस (१२) गंध (१३) वर्ण (१४) आनुपूर्वी (यह १४ पिंड प्रकृतियाँ) (१५) अगुरुलघु (१६) उपघात (१७) पराघात (१८) आतप (१९) उद्योत (२०) उच्छ्वास (२१) विहायोगति (२२) तीर्थंकर (यह ८ प्रत्येक प्रकृतियां) (२३) प्रत्येकशरीर (२४) त्रस (२५) सुभग (२६) सुस्वर (२७) शुभ (२८) सूक्ष्म (२९) पर्याप्ति (३०) स्थिर (३१) आदेय (३२) यशःकीर्ति (यह त्रसदशक – १० प्रकृतियाँ) तथा इनसे उलटी (३३) साधारणशरीर (३४) स्थावर (३५) दुर्भग (३६) दुःस्वर (३७) अशुभ (३८) बादर (३९) अपर्याप्ति (४) अस्थिर (४१) अनादेय और (४२) अयशःकीर्ति – (यह १० स्थावरदशक) – इस प्रकार नाम कर्म की ४२ उत्तरप्रकृतियां हैं ।

विवेचन – नामकर्म की प्रकृतियों के मूल ४ भेद हैं – (१) पिण्ड प्रकृतियाँ (२) प्रत्येक प्रकृतियाँ (३) त्रसदशक और (४) स्थावरदशक । इनके क्रमशः उत्तर भेद १४+८+१०+१०=४२ हैं । यही प्रकृतियाँ आगमोक्त उद्धरण और प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है ।

किन्तु बंध, उदय, सत्ता आदि की विचारणाहेतु नामकर्म की ९३ प्रकृतियाँ मानी गई हैं । इसका कारण यह है कि १४ पिंडप्रकृतियों के अवान्तर भेद भी हैं । जैसे–गति पिण्डप्रकृति के देवगति, नरकगति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तिर्यंचगति, मनुष्यगति यह चार भेद है । इसी प्रकार जाति आदि के भी अन्तरभेद हैं । इन भेदों को गणना में लेने से नामकर्म की ९३ प्रकृतियाँ हो जाती है ।

नाम कर्म की इन ९३ प्रकृतियों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है।

(१) **गतिनाम कर्म** – इसके उदय से जीव को सुख-दुःख भोगने योग्य पर्याय अथवा गति की प्राप्ति होती है। इसके चार भेद हैं –नरकगतिनाम, तिर्यंचगतिनाम, मनुष्यगतिनाम, देवगतिनाम । १-४

(२) **जातिनामकर्म** – अनेक वस्तुओं मे समानता द्योति करना जाति है । जैसे-काले, गोरे, यूरोपियन, अमेरिकन, भारतीय आदि सभी मानव मानवजाति कहलाते हैं । इसी प्रकार इस कर्म के उदय से भी जीवों को पांच जातियों में विभाजित किया गया है । इस विभाजन का आधार हैं – इन्द्रियाँ-इन्द्रियों की प्राप्ति ।

एकेन्द्रियजातिनामकर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय कहा जाता है; क्योंकि उसे एक स्पर्शेनेन्द्रिय ही प्राप्त होती है । इसी प्रकार द्विदिन्द्र, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय यह जीव की जातियाँ उसे प्राप्त इन्द्रियों के अधार पर मानी जाती है और यह प्राप्ति उसे क्रमसः **द्वीन्द्रियानामकर्म, त्रीन्द्रियनामकमर्क, चउरिन्द्रियनामकर्म** और **पंचेन्द्रियनामकर्म** के उदय से होती है । ५-९ ।

(३) **शरीरनामकर्म** – इस कर्म के उदय से जीव को शरीर की प्राप्ति होती है । यह कर्म पाँच प्रकार का है ।

औदारिकशरीरनामकर्म – इससे जीव को औदारिक शरीर प्राप्त होता है । इस शरीर की रचना स्थूल पुदग्लों से होती है। सभी मनुष्यों और तिर्यचो का शरीर औदारिक होता है ।

वैक्रियशरीरनामकर्म – इस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर की रचना होती है जो सूक्ष्म पुद्गलो से निर्मित होता है तथा जिससे विभिन्न प्रकार के रूप बनाये जा सकते हैं । ऐसा शरीर देव-नारकियों को जन्म से प्राप्त होता है, कुछ तिर्यंचो को भी इस शरीर की उपलब्धि होती है तथा तप आदि से मनुष्य भी प्राप्त कर सकते हैं ।

आहारकशरीरनामकर्म – इस कर्म के उदय से चौदह पूर्वधर संयमी श्रमण आहरकशरीर की रचना कर सकते हैं । उन्हें तपस्या से ऐसी लब्धि प्राप्त होती है । यह शरीर लब्धि द्वारा निर्मित होता है ।

तैजसशरीरनामकर्म – इस कर्म के उदय से तैजस शरीर की प्राप्ति जीव को होती है । इसी के कारण जीव के शरीर में दीप्ति रहती है । यह शरीर प्रत्येक संसारी जीव को होता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कार्मणशरीरनामकर्म – इस कर्म के उदय से कार्मण शरीर की रचना होती है। यह शरीर आत्मा के साथ लगे हुए (संबद्ध) पुदग्लो का पिण्ड है। यह शरीर प्रत्येक संसारी आत्मा के होता है । (१०–१४)

(४) **अंगोपांगनामकर्म** – इस कर्म के उदय से जीव के शरीर में अंग और उपांगों की रचना होती है ।

अंग ८ हैं – दो भुजाएँ, दो जंघाएँ, पीठ, पेट, छाती और मस्तक तथा अँगुलियाँ आदि उपांग है ।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर की अपेक्षा अंगोपांगनामकर्म के ३ भेद है (अ) औदारिक अंगोषांगनामकर्म (ब) वैक्रिय अंगोपांगनामकर्म और (स) आहारक आंगोपांगनामकर्म ।

अपने नाम के अनुरूप ये तीनों कर्म अंग और उपांगों की रचना करते हैं । (१५–१७)

(५) **शरीरबंधननामकर्म** – इस कर्म के उदय से पहले ग्रहण किये हुए औदारिक आदि शरीर–पुद्गलो के साथ नये ग्रहण किये हुए औदारिक आदि पुदग्लों का बन्धन होता है ।

चूंकि शरीरी औदारिक आदि के भेद से ५ हैं, इसलिए इस शरीरबंधन नाम कर्म के भी ५ भेद हैं – (अ) औदारिकशरीरबंधनामकर्म (ब) वैक्रिय शरीरबंधनानामकर्म (स) आहारकशरीरबंधन नामकर्म (द) तैजस्शरीर बंधनानामर्क और (य) कार्मणशरीरबंधनानामकर्म ।

परमाणु (जैनदर्शन के अनुसार यह स्कन्ध है, जिसे वैज्ञानिक परमाणु कहते हैं) के क्षेत्र में आधुनिक विज्ञान ने जो प्रगति की है उसमें अधुनातन खोज है टी.ई. फिलेमिना (Tunnelling of Electrons Fillemina)। इस खोज़से परमाणुओं के बंधन को स्पष्ट देखा जा सका है ।

आधुनिक विज्ञान ने ऐसे सूक्ष्मदर्शक (Microsocpe) का निर्माण कर लिया है जो वस्तु को उसके मूल आकार से तीन करोड़ गुना करके दिखाता है । इस यंत्र से वैज्ञानिकों ने देखा कि जब दो परमाणु पास आते हैं, एक–दूसरे से सटते हैं तो उनके इलेक्ट्रोन्स परस्पर एक–दूसरे में संक्रमित होते हैं, और दोनों ही परस्पर बंध जाते हैं, दोनों का बंधन हो जाता है, एक क्षेत्रावगाह की स्थिति बन जाती है ।

इसी प्रकार औदारिक आदि शरीरों के पूर्वगृहीत पुद्गल परमाणुओं का नये ग्रहण किये हुए परमाणुओं से बंधन होता है । १८–२२।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(६) **संघातननामकर्म** – यह कर्म पहले ग्रहण किये हुए शरीर के पुद्गलों पर नये ग्रहण किये हुए शरीर-योग्य पुद्गलो को व्यवस्थित ढंग से स्थापित करता है । इसके उपरान्त वे नये पुद्गल पहले पुद्गलों से गाढ़ रूप से परस्पर एक दूसरे से बँध जाते हैं ।

पाँच प्रकार के शरीर योग्य पुद्गलो को स्थापित करने की दृष्टि से इस कर्म के भी पाँच भेद हैं – (अ) औदारिकशरीरसंघाताननामकर्म (ब) वैक्रियशरीरसंघाताननामकर्म (स) आहारकशरीरसंघाताननाम कर्म (द) तैजसशरीरसंघाताननामकर्म (य) कार्मणशरीरसंघाताननामकर्म ।

जो कर्म औदारिकशरीरयोग्य नये ग्रहण किये जाते हुए पुद्गलों को पूर्वगृहीत, परिणत औदारिकशरीर-पुद्गलों को परस्पर समीप लाकर, सटाकर व्यवस्थितरूप से स्थापित कर दे, जिससे वे बँधने योग्य हो जाये, उस कर्म को **औदारिकशरीरसंघाताननामकर्म** कहा गया है ।

इसी प्रकार अन्य चारों शरीर संघातन नामकर्म को समझा जा सकता है ।

वस्तुस्थिति यह है कि संघाताननामकर्म बन्धननामकर्म की पूर्वभूमिक निभाता है । जिस प्रकार इलैक्ट्रिक बैल्डिंग करने वाला धातुओं के दो टुकड़ो को पहले व्यवस्थित करके एक-दूसरे के समीप **रखता है**, एक-दूसरे को कौने आदि सभी दृष्टियो से मिलाता है, फिर सटाकर-चिपकाकर रखता है, दोनों टुकड़ों के बीच में थोड़ा भी स्थान/स्पेस (Space) नहीं रहने देता, जिससे वे सही ढंग से जुड़ जायें । यह काम संघातन नामकर्म का है । २३-२७

(७) **संहनननामकर्म** – इस कर्म के उदय से शरीर में हड्डियों की संरचना और व्यवस्था एवं उनकी परस्पर संस्थिति एवं बंध होता है । अस्थियाँ (bones) सिर्फ औदारिकशरीर में ही होती हैं इसलिए इसका प्रभाव भी सिर्फ औदारिकशरीर में ही होता है, अन्य शरीरों में नहीं ।

अस्थियों की व्यवस्था, परस्पर बंध-सम्बन्ध, दृढ़ता आदि की विशेषता से इस कर्म के छह उत्तर भेद हैं ।

(अ) **वज्रऋषभनाराचसंहनननाकर्म** – वज्र का अर्थ कील, ऋषभ का अर्थ वेष्टन पट्ट और नाराच का अर्थ मर्कट बंध है । इस संहनन में संधि की दोनों हड्डियाँ परस्पर एक दूसरी से आँटी लगाए हुए होती हैं, उन पर तीसरी हड्डी का वेष्टन या पट्टा कसा होता है और चौथी हड्डी इनमें कील की तरह मजबूती से फँसी होती है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वज्रऋभनाराचसंहनननामकर्म के उदय से ऐसा सुदृढ़ अस्थि बंधन जीव के शरीर का होता है ।

(ब) **ऋषभनाराचसंहननामकर्म** – इस धर्म के उदय से हुए अस्थिबंधन में हड्डियों की आँटी और वेष्टन पट्टा तो होते हैं, कील नहीं होती। इसकी सुदृढ़ता वज्रऋषभनाराच संहनन की अपेक्षा कम है ।

(स) **नाराचसंहननामकर्म** – इस कर्म के उदय से प्राप्त अस्थिबंधन में सिर्फ हड्डियों की आँटी ही होती है, वेष्टन आदि नहीं होते ।

(द) **अर्धनाराचसंहननामकर्म** – इस कर्म के उदय से हुए अस्थिबंधन में हड्डियों का एक छोर मर्कटबंध से जुड़ा होता है और दूसरा छोर कील से भिदा होता है।

(य) **कीलिकासंहननामकर्म** – के उदय से ऐसा अस्थिबंधन होता है, जिसमें हड्डियाँ परस्परप कील से जुड़ी होती है ।

(र) **सेवार्तसंहननामकर्म** – के उदय से अस्थिबंधन में हड्डियाँ पर्यन्त भाग में परस्पर एक-दूसरी में अड़ी सी रहती है ।

अतः इनके सुचारू संचालन, हलन-चलन (movement) के लिए सदा चिकने पदार्थों, तेल-मालिश आदि की आवश्यकता रहती है ।

आधुनिक युग में मानव और पशुओं में सेवार्त संहनन ही मिलता हैं। डाक्टर लोग तथा (anatomist) जानते है कि अस्थि शीघ्र ही टूटने वाली भंजनशील तथा अन्दर से पोली (Hollow) होती है जिसमें गाढ़ा बसा जैसा द्रव्य भरा रहता है । यदि किसी कारणवश वह चिकना गाढ़ा पदार्थ सूख जाय तो हड्डियाँ परस्पर खड़-खड़ाने लगती हैं, मुड़ नहीं पाहतीं, काम नहीं करतीं, जोड़ों में चुभन (acne) हो जाता है । (२८-३३)

(७) **संस्थाननामकर्म** – इसका प्रभान शरीर की रचना तथा आकृति पर पड़ता है । शरीर, जो लम्बा-छोटा आदि होता है, वह इसी कर्म के कारण है । इसके छह भेद है ।

(अ) **समचुतरस्रसंस्थाननामकर्म** – इस कर्म के प्रभाव से शरीर सुन्दर आकार वाला होता है । सम का अर्थ समान, चतुर का अर्थ चार और अस्र कोण को कहते हैं । पालथी मारकर बैठने पर जिस मनुष्य के शरीर के चारों कोणों (एक घुटने से दूरसे घुटने तक, बाएँ घुटने से दाएँ स्कन्ध तक, दाएँ घुटने से बाएँ स्कन्ध तक और आसन से कपाल तक यह चार कोण हैं) की दूरी या अन्तर समान हो, (वह समचतुरस्र संस्थान कहलाता है और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जिस कर्म के उदय से ऐसा शरीर निर्मित हो उसे समचतुरस्रसंस्थान नाम कर्म कहा जाता है ।

(ब) **न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थाननामकर्म** – इस कर्म से ऐसे शरीर की रचना होती है, जिसमें नाभि के उपर के अवयव तो स्थूल (मोटे) होते हैं और नीचे के अवयव अपेक्षाकृत कम स्थूल अथवा पतले । न्यग्रोध अथवा वट वृक्ष भी ऐसा ही होता है, इसीलिए इनका नाम न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान रखा गया है ।

(स) **सादिसंस्थाननामकर्म** – इस कर्म के कारण ऐसे शरीर की रचना होती है, जो न्यग्रोध परिमंडल से उलटा होता है अर्थात् नाभि से ऊपर के अवयव पतले और नीचे के अवयव स्थूल (मोटे) होते हैं ।

(द) **कुब्जसंस्थाननामकर्म** – इस कर्म के प्रभाव से कुबड़े शरीर की रचना होती है ।

(य) **वामनसंस्थाननामकर्म** – इस कर्म के कारण जीव का शरीर वामन (बौना) ऊँचाई में छोटा होता है ।

(र) **हुण्डसंस्थाननामकर्म** – इस कर्म के प्रभाव से शरीर बेडौल होता है, उसका कोई भी अवयव-अंगोपांग प्रमाण के अनुसार नहीं होता ।

(३४-३९)

(८) **वर्णनामकर्म** – इस कर्म के प्रभाव से शरीर का रंग निर्मित होता है । वर्ण पाँच हैं – १. कृष्ण (काला-Black), २. नील (नीला-तोते के पंख जैसा), ३. लोहित (तांबे Copper या सिन्दूर जैसा लाल), ४. हारिद्र (हल्दी जैसा पीला Yellowish) और ५. सित (शंख जैसा सफेद White)।

इसी अपेक्षा से इस कर्म के उत्तर भेद भी ५ हैं ।

जिस कर्म के कारण शरीर का रंग काला हो वह कृष्णवर्णनाम कर्म है।

इसी प्रकार नीलवर्णनामकर्म, लोहितवर्णनाम कर्म, हारिद्रवर्णनाम कर्म और सित (श्वेत) वर्णनाम कर्म है ।

यहाँ वैज्ञानिक मान्यता दूसरे ढंग की है, वे शरीर के वर्ण को पर्यावरण पर आधारित मानते हैं । उनका विचार है कि दक्षिणी अफ्रीकी आदि जातियों के लोगों का रंग काला इसलिए है कि वहाँ कड़ी धूप पड़ती है और इस प्रचण्ड सूर्यताप से इनके शरीर का रंग काला पड़ जाता है । इसके विपरीत ठंडे देशों (इंग्लैंड आदि) के मनुष्य का रंग गोरा है, क्योंकि वहाँ सूर्यताप कम होता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु यह धारणा पूर्ण सत्य नहीं है । एक ही माता-पिता के दो पुत्रों (यहाँ तक कि युगल पुत्रों) में एक रंग का गोरा और दूसरे का साँवला होता है।

इंगलैंड आदि ठंडे देशों में भी सभी गोरे नहीं होते । कुछ के शरीर का रंग (Complexion) गोरा (whitish) होता है तो कुछ का गेहुंआ (wheatish) ।

गोरे रंग में अनेक भेद हो जाते हैं; जैसे - खड़िया जैसा (egg white) सिन्दूर जैसा लालिमा लिये हुए गोरा (Redish white) आदि-आदि । कुछ प्रसिद्ध लोगों डिजरायली, पामर्स्टन, प्रसिद्ध कवि मिल्टन आदि का शरीर साँवले रंग का था । भैस यूरोप में भी काली ही होती है। इसी तरह पीले शरीर वाले मनुष्य भी बहुत होते हैं ।

अतः यह मानना अधिक उचित होगा कि शरीर का वर्ण तो वर्णनाम कर्म के द्वारा निश्चित होता है; किन्तु उसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन पर्यावरण से हो सकता है; किन्तु इतना निश्चित है कि शरीर का मूल वर्ण (Complexion) पूरी तरह नहीं बदल सकता । (४०-४४)

(१०) **गंधनामकर्म** - इसके उदय से जीव के शरीर से गंध निकलती रहती है ॥ यह गंध दो प्रकार की होती है (१) सुरभि और (२) दुरभि अथवा खुशबू तथा बदबू । इस अपेक्षा से इस कर्म के भी दो भेद हैं - (१) **सुरभिगंधनामकर्म** - ऐसा शरीर जिसमें से केशर-कस्तूरी आदि जैसी सुगन्धि निकलती है और (२) **दुरभिगन्धनामकर्म** - इसमें से सड़े मांस आदि सी बदबू निकलती है ।

तरतमभाव की अपेक्षा गन्ध के भी अनेक भेद हो जाते हैं ।

इस तथ्य से आज का विज्ञान भी सहमत है । खोजी कुत्ते अपराधियों के शरीर से निकलने वाली गंध के आधार पर ही उसे खोज निकालते हैं । सुगन्धित क्रीम-पाउडर-स्नो आदि सौन्दर्य-प्रसाधनों के प्रयोग से बहुत सी स्त्रियां और पुरुष भी अपने शरीर से निकलती हुई बदबू को दबाकर शरीर कोसुगन्धित करने का प्रयास करते हैं। (४५-४६)

(११) **रसनामकर्म** - इसके उदय से शरीर विभिन्न प्रकार के रस से युक्त होता है । दूसरे शब्दों में यह कर्म शरीर के रस का निर्माण करता है । रस ५ हैं (१) तिक्त (काली मिर्च जैसा चरपरा) (२) कटु (नीम जैसा कड़वा) (३) कषाय (हरड़-बहेड़ा जैसे स्वाद वाला -कसायला) (४) अम्ल (नीबू, इमली जैसा खट्टा) और (५) मधुर (मिश्रीआदि जैसा मीठा)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी आधार पर इस कर्म के भी पाँच भेद हैं – (अ) तिक्तरसनाम-कर्म (ब) कटुरसनामकर्म (द) कषायरसनामकर्म (य) अम्लरसनामकर्म और (स) मधुरसनामकर्म । इन नामों के अनुसार ही इन कर्मों के उदय से शरीर उस-उस रस वाला होता है । (४७-५१)

(१२) **स्पर्शनामकर्म –** स्पर्श का अभिप्राय व्यक्ति की त्वक् संवेदना है । शरीर को छूने से जिस प्रकार का अनुभव हो उसे स्पर्श कहते हैं । स्पर्श नामकर्म का उदय शरीर की त्वक् संवेदना को ही निश्चित करता है ।

स्पर्शनामकर्म के उत्तर भेद आठ है-

(अ) गुरुस्पर्शनामकर्म (ब) लघुस्पर्शनामकर्म (द) मृदुस्पर्शनामर्क (य) कर्कशस्पर्शनामकर्म (फ) क्षीतस्पर्शनामकर्म (ज) उष्णस्पर्शनामकर्म (झ) स्निग्धस्पर्शनामकर्म और (ट) रूक्षस्पर्शनामकर्म । (५२-५९)

अपने-अपने नाम के अनुरूप इन कर्मों के उदय से जीव को प्राप्त शरीर क्रमश : १. लोहे जैसा भारी २. रूई जैसा हल्का ३. मक्खन जैसा कोमल ४. गाय की जीभ जैसा खुरखुरा ५. बर्फ जैसा ठंडा ६. आग जैसा गर्म ७. घी जैसा चिकना और (८) बालू जैसा रूखा होता है ।

१३. **आनुपूर्वीनामकर्म –** इस कर्म का उदय तब होता है जब जीव नया जन्म लेने के लिए विग्रह गति (मोड़ वाली गति) द्वारा अपने नये जन्म स्थान पर जाता है ।

इस कर्म का उदय विग्रह गति में ही होता है, अतः इसका अधिक से अधिक उदयकाल ३ समय मात्र का है ।

इसके चार भेद हैं-

(अ) **नरकानुपूर्वी नामकर्म –** इस कर्म के उदय से जीव विग्रह गति से गमन करता हुआ विश्रेणी स्थित नरक में अपने जन्मस्थान पर पहुंचता है।

इसी प्रकार (ब) **तिर्यचानुपूर्वीनामकर्म** के उदय से तिर्यंच सम्बन्धी जन्मस्थान पर (स) **मनुष्यानुपूर्वीनामकर्म** के उदय से मनुष्य सम्बन्धी जन्सस्थान पर और (द) **देवानुपूर्वीनामकर्म** के उदय से देव सम्बन्धी जन्मस्थान पर पहुँचता है । (६०-६३)

इस कर्म का उदय तभी होता है जब जीव को नया जन्म लेने के लिए विषम श्रेणी से गमन करना पड़ता है, समश्रेणी से गमन करते समय इसके उदय की आवश्यकता ही नहीं पड़ती ।

(१४) **विहायोगतिनामकर्म –** इस कर्म का प्रभाव जीव की गमन क्रिया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(चलने का ढंग या तरीका) पर पड़ता है । चाल दो प्रकार की हो सकती है – शुभ अथवा अशुभ । अतः इस कर्म के भी दो भेद है–

(अ) **शुभविहायोगतिनामकर्म** – के उदय से जीव की चाल शुभ होती है, वह सुहावना लगता और (ब) **अशुभविहायोगितनामकर्म** के उदय से उसकी चाल अशुभ या असुहावनी होती है । (६४–६५)

इस प्रकार १४ पिण्ड प्रकृतियों के (गति नाम के ४, जाति नाम के ५ शरीरनाम के ५, अंगोपांगनाम के ३, शरीरबंधननाम के ५, संघातननाम के ५, संहनननाम के ६, संस्थाननाम के ६, वर्णनाम के ५, गंधनाम के २, रसनाम के ५, स्पर्शनाम के ८, आनुपूर्वीनाम के ४ और विहायोगतिनाम के २ भेद । यह (४+५+५+३+५+५+६+६+५+२+५+८+४+२=६५) कुल उत्तर भेद ६५ हैं ।

आठ प्रत्येक प्रकृतियां – इनकी कोई अन्तर प्रकृति न होने से यह प्रत्येक प्रकृतियाँ कहलाती है । यह आठ हैं –

(१) **पराघातनामकर्म** के कारणं व्यक्ति दूसरे बलवान को भी दर्शन अथवा वाणी से निष्पभ्र करने में समक्ष होता है ।

इसका दूसरा लक्षण यह भी है कि दूसरे को आघात पहुचाने वाले सींग नख आदि अवयव जिससे प्राप्त हों वह पराघातनाम कर्म है ।

(२) **उच्छ्वासनामकर्म** – इस कर्म के उदय से जीव श्वासोच्छ्वास लेता और छोड़ता है ।

(३) **आतपनामकर्म** – इस कर्म के प्रभाव से जीव का स्वयं का शरीर तो गर्म नहीं होता; किन्तु उष्ण प्रकाश करता है ।

(४) **उद्योतनामकर्म** – शीतल प्रकाश करने वाले शरीर की प्राप्ति।

(५) **अगुरुलघुनामकर्म** – न अत्यन्त भारी न अत्यधिक हल्का शरीर प्राप्त होना ।

(६) **तीर्थकरनामकर्म** – इसके उदय से जीव को धर्म व तीर्थ का प्रवर्तन करने की क्षमता प्राप्त होती है । धार्मिक जगत में यह सर्वोत्कृष्ट पुण्य प्रकृति मानी गई है ।

(७) **निर्माणनामकर्म** – इसके कारण जीव के अंग–उपांग यथास्थान व्यवस्थित होते हैं ।

(८) **उपघातनामकर्म** – इसके उदय से जीव के शरीर में ऐसे अंग–उपांग निर्मित हो जाते हैं, जिनसे वह स्वयं ही कष्ट पाता हैं; जैसे प्रतिजिह्वा आदि ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह आठ प्रत्येक प्रत्येक प्रकृतियां हैं ।

त्रसदशक में दस प्रकृतियां होती हैं । ये निम्न है –

(१) **त्रसनामकर्म** – इस कर्म के उदय से जीव को त्रसकाय की प्राप्ति होती है । यह शरीर दो इन्द्रिय से लकर पाँच इन्द्रिय वाले जीवों को प्राप्त होता है । ऐसे जीव अपने हित की प्राप्ति और अहित निवृत्ति के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को गमन क्रिया करते हैं; चलते-फिरते हैं ।

(२) **बादरनामकर्म** – इस कर्म के उदय से जीव को बादर (स्थूल) शरीर की प्राप्ति होती है ।

(३) **पर्याप्तिनामकर्म** – इस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियों से युक्त होता है । पर्याप्ति आतमा की एक विशेष शक्ति है जो आहार शरीर आदि के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें आहार, शरीर रूप परिणत करती है । यह शक्ति पुदग्लों के उपचय से अभिव्यकस्त होती है जिस कर्म के कारण आत्मा की यह शक्तिविशेष स्फुटित होती है, उसे पर्याप्ति नामकर्म कहते हैं ।

पर्याप्ति छह हैं – १. आहारपर्याप्ति २. शरीरपर्याप्ति ३. इन्द्रिय पर्याप्ति ४. श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति ५. भाषापर्याप्ति और ६. मनःपर्याप्ति

इन छहों पर्याप्तियों द्वारा ग्रहण किये हुए पुदग्ल समान नहीं हैं, सब अलग-अलग वर्गणाएं हैं , इस बात को आधुनिक विज्ञान ने भी सत्यापित कर दिया है । विज्ञान का साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि भाषा की (ध्वनि तरंगे) अलग होती है और शरीर निर्माणकारी पुद्गल दूसरे प्रकार के ।

यहाँ एक जिज्ञासा हो सकती है कि उच्छवासनामकर्म और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति नामकर्म में अन्तर क्या है? क्योंकि दोनों का ही काम श्वसाचोच्छ्वास लेना और छोड़ना है ।

इसका समाधान यह है कि इन दोनों में कार्य-कारण का भेद है । श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति तो जीव को श्वासोच्छ्वासयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करने में सक्षम बनाती हैं; जबकि उच्छ्वासनामकर्म के उदय से वह शक्ति कार्य रूप में परिणत होती है, जीव श्वासोच्छ्वास की क्रिया करता दिखाई देता है ।

सामान्य शब्दों में श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति को शक्ति और उच्छ्वासनामकर्म को अभिव्यक्ति भी कहा जा सकता है । किन्तु यहाँ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अभिव्यक्ति का विस्तृत रूप ग्रहण करना चाहिए, इन्द्रियों (आँख, कान आदि) से ही जाना जा सके, अभिव्यक्ति का इतना ही अर्थ लेना उचित नहीं होगा; अपितु सूक्ष्मातिसूक्ष्म संवेदनशील यंत्रों के सहयोग से जो इन्द्रियों द्वारा जाना जा सके, 'अभिव्यक्ति' का इतना विस्तृत अर्थ लेना चाहिए । क्योंकिं पेड़पौधे आदि साँस लेते हैं, यह सिर्फ इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता; जबकि आधुनिक वैज्ञानिक संवेदनशील यंत्रों द्वारा जान सकते हैं ।

(४) **प्रत्येकशरीरानामकर्म** – इस कर्म के उदय से प्रत्येक जीव को अपना स्वतंत्र शरीर प्राप्त होता है ।

(५) **स्थिरनामकर्म** – इस कर्म के उदय से जीव के हड्डी दाँत आदि स्थिर रहते हैं ।

इस कर्म का दूसरा लक्षण यह भी दिया है – सात धातुएँ (रस, रुधिर, मांस, मेद, हाड़, मज्जा और वीर्य) तथा सात उपधातुएँ (वात, पित्त, कफ, शिरा, स्नायु, चाम और जठराग्नि) स्थिर रहें, दुष्कर तपश्चरण से भी रोग नहीं होवे, वह स्थिर नाम कर्म है ।

(६) **शुभनामकर्म** के उदय से नाभि के उपर के अवयव शुभ होते हैं ।

(७) **सुभगनामकर्म** – के उदय से जीव सबको प्रिय लगता है, चाहे वह उनका कोई उपकार न करे, यहाँ तक कि कोई सम्बन्ध भी नहो ।

(८) **सुस्वरनामकर्म** के उदय से जीव का स्वर मधुर और प्रीतिवर्धक होता है ।

(९) **आदेयनामकर्म** के उदय से जीव का वचन बहुमान्य या सर्वमान्य होता है ।

(१०) **यशःकीर्तिनामकर्म** के उदय से जीव को यश और कीर्ति की प्राप्ति होती है ।

स्थावरदशक की भी दस प्रकृतियाँ हैं । यह त्रसदशक प्रकृतियों से विपरीत प्रभावशाली होती है ।

१. **स्थावरनामकर्म** के उदय से जीव को ऐसा शरीर प्राप्त होता है जिससे वह अपने हिताहित में गमन नहीं कर पाता । एक शरीर एकन्द्रिय जीवों को ही प्राप्त होता है ।

२. **सूक्ष्मनामकर्म** के उदय से जीव को ऐसा सूक्ष्म शरीर मिलता है जो आंखों से नहीं दिखाई देता । यह इतना सूक्ष्म होता है कि न स्वयं किसी से रुकता है और न किसी को रोकता ही है । यह शरीर भी एकेन्द्रिय जीवों को ही मिलता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३. **अपर्याप्तनामकर्म** के उदय से जीव अपनी योग्य पर्याप्तियों को भी पूर्ण नहीं कर पाता ।

४. **साधारण शरीरनामकर्म** के उदय से अनन्त जीवों को एक ही शरीर प्राप्त होता है ।

आधुनिक विज्ञान अमीबा आदि जीवों को एक-कोशीय कहकर यह स्थापित करता है कि वे स्वयं अपने कोशों का विभाजन करके दूसरा नया जीव पैदा कर देते हैं और इस प्रकार अपनी (यानी जीवों की) संख्या बढ़ाते चले जाते हैं ।

किन्तु जैनदर्शन की (सैद्धान्तिक, साथ ही व्यावहारिक) मान्यता के अनुसार नया जीव उत्पन्न किया ही नहीं जा सकता । रज-वीर्य के मिश्रण से जीव की उत्पत्तियोग्य परिस्थिति का निर्माण होता है, न कि जो पुत्र रुप में जीव उत्पन्न हुआ, उसके रूप में किसी नये जीव का निर्माण हुआ ।

वास्तविकता यह है कि अमीबा आदि जीव साधारण शरीर वाले हैं। उनका शरीर तो एक ही (वही) रहता है और उसमें अनन्त जीव आकर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं । Dead cell कहकर विज्ञान ने भी इन जीवों का अथवा उनमें से अनेक का मरण स्वीकार किया है कि जो कोश मर जाते हैं उनमें प्रजनन क्षमता (Generating power) नहीं रहती ।

५. **अस्थिरनामकर्म** के उदय से नाक-भौंह-कान आदि अस्थिर अथवा चपल रहते हैं ।

इसका दूसरा लक्षण यह भी है कि किसी कारण से धातु तथा उपधातुएँ स्थिर नहीं रहें, चलायमान हो जाएँ, रोग आदि हो जाएँ, वह अस्थिरनामकर्म है ।

६. **अशुभनामकर्म** के उदय से नाभि से नीचे के अवयव अशोभनीय होते है ।

दूसरे मत से नाभि से ऊपर के अवयव मस्तक आदि भी अशुभ होते हैं ।

७. **दुर्भगनामकर्म** के उदय से जीव परोपकारी होते हुए भी लोगों को अप्रिय होता है ।

८. **दुःस्वरनामकर्म** के उदय से जीव का स्वर सुनने वालों को अप्रिय और कर्कश लगता है यानी स्वर ही कर्णकटु होता है ।

९. **अनादेयनामकर्म** के उदय से जीव का वचन युक्तियुक्त और हितकारी तथा सत्य होते हुए भी लोग उसे मान्य नहीं करते है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

नामकर्म की उत्तरप्रकृतियां (४२ भेद)

१ — १४ पिण्डप्रकृतियां

(१) गतिनामकर्म
(२) जातिनामकर्म
(३) शरीरनामकर्म
(४) शरीरअंगोपांगनामकर्म
(५) शरीरबन्धननामकर्म
(६) संघातननामकर्म
(७) संहनननामकर्म
(८) संस्थाननामकर्म
(९) वर्णनामकर्म
(१०) गंधनामकर्म
(११) रसनामकर्म
(१२) स्पर्शनामकर्म
(१३) आनुपूर्वीनामकर्म
(१४) विहायोगतिनामकर्म

२ — ८ प्रत्येक प्रकृतियां

(१) पराघातनामकर्म
(२) उच्छ्वासनामकर्म
(३) आतपनामकर्म
(४) उद्योतनामकर्म
(५) अगुरुलघुनामकर्म
(६) तीर्थंकरनामकर्म
(७) निर्माणनामकर्म
(८) उपघातनामकर्म

३ — १० त्रसदशक

(१) त्रसनामकर्म
(२) बादरनामकर्म
(३) पर्याप्तनामकर्म
(४) प्रत्येकशरीरनामकर्म
(५) स्थिरनामकर्म
(६) शुभनामकर्म
(७) सुभगनामकर्म
(८) सुस्वरनामकर्म
(९) आदेयनामकर्म
(१०) यशःकीर्तिनामकर्म

४ — १० स्थावरदशक

(१) स्थावरनामकर्म
(२) सूक्ष्मनामकर्म
(३) अपर्याप्तनामकर्म
(४) साधारणशरीरनामकर्म
(५) अस्थिरनामकर्म
(६) अशुभनामकर्म
(७) दुर्भगनामकर्म
(८) दुःस्वरनामकर्म
(९) अनादेयनामकर्म
(१०) अयश-कीर्तिनामकर्म

१४ पिण्ड प्रकृतियों के अवान्तर भेद

१ गतिनाम

१. नरकगतिनाम
२. तिर्यंचगतिनाम
३. मनुष्यगतिनाम
४. देवगतिनाम

२ जातिनाम

१. एकेन्द्रियजातिनाम
२. द्वीन्द्रियजातिनाम
३. त्रीन्द्रियजातिनाम
४. चउरिन्द्रियजातिनाम
५. पंचेन्द्रियजातिनाम

३ शरीरनाम

१. औदारिकशरीरनाम
२. वैक्रियशरीरनाम
३. आहारकशरीरनाम
४. तैजस्शरीरनाम्
५. कार्मणशरीरनाम्

४ शरीरअंगोपांगनाम

१. औदारिकअंगोपांगनाम
२. वैक्रियअंगोपांगनाम
३. आहारकअंगोपांगनाम

५ शरीर बंधननाम

१. औदारिकशरीरबन्धननाम
२. वैक्रियशरीरबन्धननाम
३. आहारकशरीरबन्धननाम
४. तैजस्शरीरबन्धननाम
५. कार्मणशरीरबन्धननाम

६ संघातननाम

१. औदारिकशरीरसंघातननाम
२. आहारक ''
३. वैक्रिय ''
४. तैजस् ''
५. कार्मण ''

७ संहनननाम

१. वज्रऋषभनाराचसंहन
२. ऋषभनाराच ''
३. नाराच ''
४. अर्द्धनाराच ''
५. कीलिका ''
६. सेवार्त ''

Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

८
संस्थाननाम

१. समचतुरस्रसंस्थाननाम
२. न्यग्रोधपरिमण्डलनाम
३. सादि
४. कब्ज
५. वामन
६. हुण्ड

९
वर्णनाम

१. कृष्णवर्णनाम
२. नीलवर्णनाम
३. लोहितवर्णनाम
४. हरिद्रवर्णनाम
५. सितवर्णनाम

१०
गंधनाम

१. सुरभिगंधनाम
२. दुरभिगंधनाम

११
रसनाम

१. तिक्तरसनाम
२. कटुरसनाम
३. कषायरसनाम
४. अम्लरसनाम
५. मधुररसनाम

१२
स्पर्शनाम

१. गुरुस्पर्शनाम
२. लघुस्पर्शनाम
३. मृदुस्पर्शनाम
४. कर्कशस्पर्शनाम
५. शीतस्पर्शनाम
६. उष्णस्पर्शनाम
७. स्निग्धस्पर्शनाम
८. रूक्षस्पर्शनाम

१३
आनुपूर्वीनाम

१. नरकानुपूर्वीनाम
२. तिर्यंचानुपूर्वीनाम
३. मनुष्यानुपूर्वीनाम
४. देवानुपूर्वीनाम

१४
विहायोगतिनाम

१. प्रशस्तविहायोगतिनाम
२. अप्रशस्तविहायोगतिनाम

१०. **अयशःकीर्तिनाम कर्म** के उदय से जीव को भलाई करने पर भी बुराई ही मिलती है, उसका अपयश ही होता है।

इनमें त्रसदशक (१० प्रकृतियों) की गणना पुण्यप्रकृतियों में तथा स्थावरदशक की गणना पाप-प्रकृतियों में की जाती है ।

इस प्रकार सूत्र में बताई गई नामकर्म की ४२ प्रकृतियों के कुल भेद ९३ (१४ पिण्ड प्रकृतियों के ६५ भेद, ८ प्रत्येक प्रकृतियां, १० त्रसदशक और १० स्थावर दशक=६५+८+१०+१०=९३) होते हैं ।

कुछ कर्मग्रन्थकार बन्धननामकर्म के ५ के स्थान पर १५ भेद मानते हैं । इनके मतानुसार नामकर्म की प्रकृतियां १०३ होती हैं । किन्तु १०३ प्रकृति वाला मत सर्वमान्य नहीं है, अतः प्रचलन में भी नहीं हैं । बंध, उदय, सत्ता आदि कर्म की विभिन्न विचारणाओं में ९३ प्रकृतियां ही स्वीकार की गई हैं और इन्हीं के आधार पर संपूर्ण कर्म-विचारणा की गई ।

(- तालिका पृष्ठ ३८७-८८-८९ पर देखे)

आगम वचन -

गोए णं भते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-उच्चागोए य नीयागोए य ।

- प्रज्ञापना पद २३, उ. २, सूत्र २९३

(भगवन् ! गोत्रकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

गौतम ! वह दो प्रकार का है - (१) उच्चगोत्र (२) नीचगोत्र ।

गोत्रकर्म के भेद -

उच्चैर्नीचैश्च ।१३।

(गोत्र कर्म की दो प्रकृतियां है- (१) उच्चगोत्र और (२) नीचगोत्र ।

विवेचन - सामान्यतः उच्चगोत्र का लक्षण है उत्तम कुल में जन्म लेना और नीच गोत्र का अभिप्राय है लोकनिन्द्य कुल में जन्म ग्रहण करना है।

किन्तु कौन-सा कुल उच्च है और कौन-सा नीच ? यह मानदंड समय-समय पर बदलता रहता है, उच्चगोत्री भी निन्द्य कर्म करते हैं तो उनकी संसार में निन्दा होती है ।

यदि भारत की वर्णव्यवस्था की अपेक्षा से विचार किया जाए तो क्षत्रिय उच्चगोत्री हैं, किन्तु क्या उस वंश में लोकनिन्द्य पुरुषों ने जन्म नहीं लिया?

अतः ऊँच नीच गोत्रकर्म का लक्षण का इस प्रकार दिया गया है-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं ।

– गोम्मटसार कर्मकांड मूल १३/९

जहां ऊँचा आचरण होता है, वहां उच्चगोत्र और जहां नीचा आचरण होता है वहां नीच गोत्र होता है।

ऊँचे आचरण का अभिप्राय अहिंसा, सत्य, कुलीनता, शिष्टता आदि है और नीचे अथवा निम्न आचरण का अभिप्राय हिंसा, झूठ, अशिष्टता आदि बुरा चाल–चलन तथा आचरण है ।

कर्मसिद्धांत और जैनदर्शन की दृष्टि में जाति और कुल का कोई महत्व नहीं है, वहां तो आचरण का ही महत्व है, जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है –

सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो ।

न दीसइ जाइविसेस कोई । – उ. १२/३७

तप की विशेषता प्रत्यक्ष में देखी जा रही है, किन्तु जाति की कोई विशेषता नहीं दीखती । महान् चमत्कारी ऋद्धि सम्पन्न हरिकेश मुनि को देखो, जो श्वपाकपुत्र चाण्डाल का बेटा है ।

सारांक्ष यह है– निंद्य कुल में जन्म नीच गोत्र कर्म से मिलता है । उच्च माने जाने वाले कुल में जन्म उच्च गोत्र कर्म के कारण होता है। देशकाल के प्रभाव से उच्च–नीच की परिभाषाए बदलती रहती है ।

उच्च गोत्र के उदय से जीव धन रूप आदि से हीन होता हुआ भी ऊँचा माना जाता है और नीच गोत्र कर्म के उदय से जीव धन, रूप आदि संपन्न होते हुए भी नीचा माना जाता है ।

आगम वचन–

अंतराए णं भंते ! कम्मे कतिविधे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविधे पण्णत्ते, तं जहा–दाणंतराइए लाभंतराइए भोगंतराइए उवभोगंतराइए वीरियंतराइए ।

– प्रज्ञापना पद २३, उ. २, सू. २९३

(भगवन् ! अंतरायकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

गौतम ! वह पाँच प्रकार का है, यथा (१) दानान्तराय (२) लाभान्तराय (३) भोगान्तराय (४) उपभोगान्तराय (५) वीर्यान्तराय

अन्तराय कर्म की उत्तरप्रकृतियां–

दानादीनाम् ।१४।

दान आदि (अन्तराय कर्म के भेद) है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन – अन्तराय कर्म की पाँच उत्तरप्रकृतियाँ है– (१) दानान्तराय (२) लाभान्तराय (३) भोगान्तराय (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय।

अन्तराय का अर्थ विघ्न है । उपरोक्त पाँचों प्रकृतियाँ जीव के दान लाभ आदि में विघ्न रूप होती है ।

१. **दानान्तराय कर्म**– दान की सामग्री, उत्तम पात्र, अवसर आदि हो और दान का सुफल जानते हुए भी देने में उत्साह न होना, दानान्तराय कर्म के उदय का परिणाम है ।

२. **लाभान्तराय कर्म** – दाता, देय वस्तु सभी उपलब्ध होते हुए भी जीव को इष्ट वस्तु की प्राप्ति न होना, इस कर्म के उदय का प्रभाव है।

३. **भोगान्तराय कर्म** – भोगों की इच्छा रखते हुए तथा भोग सामग्री होते हुए भी न भोग पाना इस कर्म के उदय का प्रभाव होता है ।

४. **उपभोगान्तराय कर्म**– उपभोग्य वस्तु के भोग में इस कर्म का उदय बाधक बनता है ।

५. **वीर्यान्तराय कर्म** – उदय से नीरोग और बलवान होते हुए भी जीव सत्वहीन जैसा आचरण करने लगता है । उसके बल, वीर्य, पराक्रम आदि क्षीणप्राय हो जाते हैं । उसका उत्साह, उमंग, साहस, शक्ति ,क्षमता आदि आत्मिक शक्तियों का ह्रास हो जाता है ।

आगम वचन –

उदही सरिसनामाणं, तीसइ कोडिकोडीओ ।
उक्कोसिया ठिइ होइ, अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ।।१९।।
आवरणिज्जाण दुण्हंपि, वेयणिज्जे तहेव य ।
अन्तराए य कम्मम्मि, ठिइ एसा वियाहिया ।।२०।।
उदहीसरिसनामाणं, सत्तरि कोडिकोडीओ ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ।।२१।।
उदहीसरिसनामाणं, वीसई कोडिकोडीओ ।
नामगोत्ताण उक्कोसा, अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ।।२३।।
तेत्तीस सागरोवमा, उक्कोसेण वियाहिया ।
ठिइ उ आउकम्मस्स, अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ।।२२।

– उत्तराध्ययन ३३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सातावेदणिज्जस्स..जहन्नेण बारसमुहुत्ता ।

– प्रज्ञापना पद २३, उ. २, सूत्र २९३

जसोकित्तिनामएणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठमुहुत्ता उच्चगोयस्स पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठमुहुत्ता ।

– प्रज्ञापना पद २३, उ. २, सूत्र २९४

(ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मूहर्त की होती है। १९-२० ।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर और जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त की होती है ।२१।

नाम और गौत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ीकोड़ी सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है ।२३।

आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है ।२२।

सातावेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त होती है ।

हे गौतम ! यशःकीर्तिनामकर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की होती है और उच्च गोत्रकर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की होती है।)

आठों कर्मो की स्थिति (duration)-

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परास्थितिः । १५।

सप्ततिर्मोहनीयस्य ।१६।

नामगोत्रयोर्विंशतिः । १७।

त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाण्यायुष्कस्य ।१८।

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ।१९।

नामगोत्रयोरष्टौ ।२०।

शेषाणामन्तर्मुहूर्तम् ।२१।

आदि के तीन अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है ।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्टस्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है ।

आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम है ।

वेदनीय कर्म की (अपरा) जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है ।

नामगोत्र कर्म जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है ।

शेष पांच कर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय और आयुष्य कर्म) की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है ।

विवेचन – सूत्र १५ से २१ तक के सात सूत्रों में आठों मूल कर्म-प्रकृतियों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बताई गई है ।

उत्कृष्ट का अभिप्राय है अधिक से अधिक और जघन्य का अर्थ कम से कम है ।

उत्कृष्ट और जघन्य – यह वस्तु के अन्तिम (एक उस पार का और दूसरा इस पार का) दोनों छोर हैं । किन्तु इनके मध्य में असंख्यात भाग होते हैं, अर्थात् जीवों के भावों की तरतमता के अनुसार कर्मों की मध्यम स्थिति भी असंख्यात प्रकार की होती है ।

इतना ही नहीं, अन्तर्मूहूर्त (४८ मिनट से कम समय) के ही असंख्यात भाग होते हैं । निगोदिया जीव एक श्वासोच्छ्वास मात्र में ही साढ़े सत्रह बार जन्म-मरण कर लेता है और अन्तर्मुहूर्त काल में ६५५३६ बार जन्म-मरण करता है।

मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अन्तराय-इन चार घाती कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति संज्ञी पर्याप्त गर्भोत्पन्न मिथ्यादृष्टि मनुष्य को ही सम्भव है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र-इन छह कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में बन्ध होता है और मोहनीय का जघन्य स्थितिबन्ध नौवें अनिवृत्तिबादरसम्पराय गुणस्थान में होता है । यह सभी स्थितिबंध सम्यग्दृष्टि संयमी मुनि के होते हैं ।

आयुष्य कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबंध मिथ्यात्वी मनुष्य भी कर सकता है और सम्यग्दृष्टि संयमी मुनि भी । मिथ्यात्वी करे तो सातवी नरक का बन्ध होता है और संयमी मुनि सर्वार्थसिद्ध विमान में जाता है । इन दोनों ही जगह उत्कृष्ट आयु है ।

आयुष्य की जघन्य स्थिति मनुष्य और तिर्यंचों में ही सम्भव है ।

स्थिति का अभिप्राय – स्थिति का अभिप्राय है कि बँधा हुआ कर्म कितने समय तक जीव के साथ सम्बद्ध रहेगा ? इसे अंग्रेजी शब्द duration

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से भी अभिव्यक्त किया जा सकता है । साथ ही, यह भी निश्चित है कि स्थिति पूर्ण होते ही कर्म स्वयं ही निर्जीर्ण होकर आत्मा से पृथक हो जायेगा, झड़ जायेगा ।

विशेष– प्रस्तुत सूत्रों में सांपरायिक अर्थात् सकषाय स्थिति का निर्देश किया गया है । किन्तु ईर्यापथिक क्रिया से अर्थात् कषाय के अभाव में जो सातावेदनीय का बंध होता है, उसे गौण कर दिया गया है।

ईर्यापथिक क्रिया की अपेक्षा साता वेदनीय की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति मात्र दो समय है । पहले समय में सातावेदनीय का बंध होता है और दूसरे समय में उसकी निर्जरा हो जाती है ।

यह स्थिति केवल तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान में ही होती है, अन्यत्र कहीं भी यह संभव नहीं है ।

आठ कर्मों की स्थिति

क्रम	कर्म का नाम	उत्कृष्ट स्थिति	न्यूनतम स्थिति
१	ज्ञानावरण	३० कोटि-कोटी सागर	अन्तर्मुहूर्त
२	दर्शनावरण	'' ''	'' ''
३	वेदनीय	'' ''	१२ मुहूर्त
४	मोहनीय	७० '' ''	अन्तर्मुहूर्त
५	आयु	३३ सागर ''	''
६	नाम	२० कोटाकोटी सागर	८ मुहूर्त
७	गोत्र	'' ''	'' ''
८	अन्तराय	३० ''	अन्तर्मुहूर्त

आगम वचन–

अणुभागफलविवागा – समवायांग, विपाकश्रुत वर्णन
सव्वेसिं च कम्माणं – प्रज्ञापना पद २३, उ. २ उत्तरा २३/१७
उदीरिया वेइया य निज्जिन्ना – भगवती श. १, उ. १, सूत्र ११

नोट : १. मुहूर्त ४८ मिनट का होता है और अन्तमूहूर्त में ४८ मिनट से कुछ कम समय (क्षण) होते है ।
२. ईर्यापथ आस्रव की दृष्टि से वेदनीय कर्म की न्यूनतम स्थिति सिर्फ २ समय (सैकिण्ड का अनन्तवाँ भाग) होती है। प्रथम समय में बंध और द्वितीय समय में निर्जरा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(सब कर्मों का अनुभाग उन-उन कर्मों के फल का विपाक है । अर्थात् उनमें फलदान शक्ति का पड़ जाना और उदय में आकर अनुभव होने लगना सो अनुभव, अनुभाव या अनुभाग है ।

उस अनुभव के बाद उन कर्मों की फल देकर निर्जरा हो जाती है।)

अनुभावबन्ध का स्वरूप-

विपाकोऽनुभावः ।२२।

स यथानाम ।२३।

ततश्च निर्जरा ।२४।

विपाक अर्थात् फलदान शक्ति तथा उसका वेदन अनुभव या अनुभाव है ।

वह (अनुभाव या अनुभव) उन-उन कर्म प्रकृतियों के नाम अथवा स्वभाव के अनुसार ही होता है।

उस अनुभव अथवा अनुभाव के पश्चात् निर्जरा हो जाती है अर्थात् वे बँधे हुए कर्मदलिक आत्मा से पृथक् हो जाते है।

विवेचन -'वि' उपसर्ग का अर्थ 'विविध' अथवा 'अनेक प्रकार का' और पाक का अभिप्राय परिणाम अथवा फल है, पाक से अभिप्राय परिपक्व होने, पकने अथवा उपभोगयोग्य होने का भी है । अतः विपाक का अभिप्राय प्रस्तुत सन्दर्भ के पक जाने, फल देने योग्य हो जाने से है।

इस फल का अनुभव होनाही अनुभाव है । अर्थात् जीव जब अपने बाँधे हुए विविध प्रकार के कर्मों का फल अनेक प्रकार से सुखरूप या दुःखरूप अनुभव करता है, भोगता है; कर्म की अपेक्षा से वह अनुभाव कहा जाता है। अनुभाव यानी अनुभव कराने की शक्ति ।

वह अनुभाव कर्मों के नाम अथवा स्वभाव के अनुसार होता है।

जैसे -ज्ञानावरणीय के उदय से जीव में बुद्धिहीनता आती है, वह विविध विषयों को जान नहीं पाता, स्मृति नहीं रहती आदि-आदि।

इसी प्रकार साता-असता वेदनीय के उदय से जीव को सुख-दुःख की अनुभूति होती है और अन्तराय के उदय से लाभ आदि में विघ्न पड़ता है ।

शेष सभी कर्मों का फल उनके नाम और स्वभाव अनुसार समझ लेना चाहिए ।

इस प्रकार फल-भोग कराने के बाद कर्मों की निर्जरा हो जाती है, वे झड़ जाते हैं, आत्मा से अलग हो जाते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सूत्र २४ में जो 'च' शब्द दिया है उसका विशेष अभिप्राय है। क्योंकि निर्जरा कर्मों के फल प्रदान के बाद तो होती ही है किन्तु तपस्या द्वारा भी होती है। इस संबंधी सूत्र अगले अध्याय में दिया गया है। यहाँ तो 'च' शब्द से सिर्फ सूचन मात्र किया गया है ।

आगम वचन–

सव्वेसिं चेव कम्माणं, पएसग्गमणन्तगं ।
गण्ठियसत्ताइयं, अन्तो सिद्धाण आहियं ।
सव्वजीवाण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं ।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बद्धगं । –उत्तरा३३/१७–१८

(सब कर्मों के प्रदेश अनन्त है, उनकी संख्या अभव्य राशि से अधिक और सिद्धराशि से कम है।

सब जीवों का एक समय का कर्म–संग्रह छह दिशाओं से होता है और आत्मा के सब प्रदेशों में सब प्रकार से बँध जाता है।

प्रदेशबन्ध का स्वरूप–

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढस्थिताः
सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ।२५।

नाम अर्थात् कर्मप्रकृतियों के कारण और सभी ओर से योगों की क्रिया द्वारा अनन्तानन्त प्रदेश वाले (कर्म) पुद्गलस्कंध आत्मा के सभी प्रदेशों में सूक्ष्म रूप से एक क्षेत्र अवगाह होकर दृढ़तापूर्वक बँध जाते हैं, वह प्रदेशबन्ध है ।

विवेचन – प्रस्तुत सुत्र में प्रदेशबन्ध का स्वरूप बताया गया है। इस सूत्र में निम्न बाते प्रतिफलित होती है–

१. आत्मा के साथ बँधने वाले कर्मपुद्गलो से ही ज्ञानावरणादि आठों मूल प्रकृतियो तथा उत्तर–प्रकृतियों की रचना होती है।

२. यह कर्मपुद्गल मन–वचन–काय के योगों की विशेषता–हलन–चलन क्रिया आदि से छहों दिशाओं (सभी दिशाओं) से संग्रह किये जाते हैं।

३. इन पुद्गलस्कंधों की संख्या अनन्तानन्त होती है।

४. यह पुद्गल आत्मा के सभी प्रदेशों में दृढ़तापूर्वक स्थिर रूप से बंध जाते हैं।

५. बँधने का अभिप्राय एक क्षेत्रावगाह है । जिन आकाश प्रदेशों में आत्मा अवस्थित है, उन्ही में यह कर्म–पुद्गल भी अवस्थित हो जाते हैं, उसी प्रकार जैसे–लौह–पिण्ड में अग्नि के कण प्रविष्ट हो जाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

६. ये पुद्गल सूक्ष्म होते हैं, स्थूल नहीं होते ।

इन विशेषताओं को जानने के बाद यह जिज्ञासा सहज ही उठती है कि प्रदेशबन्ध तो सामान्य रूप से अनन्तानन्त पुद्गल स्कन्धों से होता है और फिर इनमें से ज्ञानावरणादिक प्रकृतियों की रचना होती है तो आठों कर्म-प्रकृतियों को कितना-कितना भाग मिलता है, यानी बँध हेए कर्मपुद्गलों का कर्म-प्रकृतियों में विभाजन किस प्रकार होता है ?

इसका समाधान यह है-

प्रदेशबंध द्वारा बँधे हुए अनन्तानन्त पुद्गलों में आयुकर्म को सबसे कम भाग मिलता है और नामकर्म को आयु की अपेक्षा कुछ अधिक गोत्र कर्म को नामकर्म के समान भाग की प्राप्ति होती है ।

इनसे कुछ अधिक भाग ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय को प्राप्त होता है तथा इन्हें प्राप्त होने वाला भाग समान है ।

इनसे भी अधिक भाग मोहनीयकर्म को प्राप्त होता है और सबसे अधिक भाग वेदनीय कर्म को ।

इस विभाजन का आधार अथवा रहस्य इन कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति में निहित है । (जो पृष्ठ ३९५ पर दी हुई तालिका में स्पष्ट रूप से अंकित की गई है ।) सिर्फ वेदनीय कर्म का भाग इसका अपवाद है, इसका कारण यह है कि जीव को वेदनीय कर्म का ही वेदन (सुखःदुःख रूप) अधिक और प्रति समय स्पष्ट रूप से होता रहता है । अन्य कर्म जैसे आयु वेदन तो नहींवत् है, अन्य कर्मों के फल की अनुभूति भी जीव उतनी तीव्रता से नहीं करता जितनी तीव्रता से वेदनीय के फल की अनुभूति करता है । इसी कारण वेदनीय का भाग सर्वाधिक है ।

आगम वचन -

सायावेदणिज्ज....मणुस्साउए देवाउए सुहणामस्स णं.उच्चा-गोत्तस्स. इत्यादि ॥ -प्रज्ञापना, पद २३, उ.१

(सातावेदनीय..मनुष्यायु, देवायु, शुभ नाम, उच्च गोत्र आदि । (यह पुण्य रूप है ।)

पुण्य प्रकृतिया-

सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामागोत्राणि पुण्यम् ।२६।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सातावेदनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, हास्य, रति, पुरुषवेद, शुभ आयु, शुभनाम और शुभ गोत्र-यह आठ प्रकृतियाँ पुण्य प्रकृतियाँ है ।

विवेचन -प्रस्तुत सुत्र में पुण्य प्रकृतियाँ बताई गई है । इसका फलितार्थ यह है कि इनके अतिरिक्त शेष सब पाप प्रकृतियां है ।

विस्तार की अपेक्षा पुण्य प्रकृतियाँ ४२ हैं -

(१) सातावेदनीय (२) उच्चगोत्र (३) मनुष्यगति (४) मनुष्यानुपूर्वी *(५) देवगति (६) देवानुपूर्वी (७) पंचेन्द्रिय जाति (८) औदारिकशरीर (९)* वैक्रियशरीर (१०) आहारकशरीर (११) तैजसशरीर (१२) कार्मणशरीर (१३-१५) औदारिक, वैक्रिय, आहारकशरीर के अंगोपांग (१६) वज्रऋषभनाचाराचसंहनन (१७) समचतुरस्रसंस्थान (१८) शुभवर्ण (१९) शुभगंध (२०) शुभरस ९२१) शुभस्पर्श (२२) अगुरुलघुनाम (२३) परावातमनाम (२४) उच्छ्वासनाम (२५) आतपनाम (प्रतापी होना) (२६) उद्योतनाम (तेजस्विता) (२७) शुभविहायोगति (२८) शुभनिर्माण नाम (२९) त्रसनाम (३०) बादर नाम (३१) पर्याप्तिनाम (३२) प्रत्येकनाम (३३) स्थिरनाम (३४) शुभनाम (३५) सुभगनाम (३६) सुस्वरनाम (३७) आदेयनाम (३८) यशोकीर्तिनाम (३९) देवायु (४०) मनुष्यायु (४१) तिर्यंचायु और (४२) तीर्थंकरनाम ।

इन ४२ प्रकृतियों के उदय से जीव पुण्य का फल भोगता है ।

पुण्य प्रकृतियों को जानने के साथ-साथ पाप-प्रकृतियों को भी जानना *उपयोगी है । पाप-प्रकृतियाँ ८२ है, वह इस प्रकार है-*

(१-५) पाँच ज्ञानावरणीय (६-१०) पाँच अन्तराय (११-१९) दर्शनावरण की ६ प्रकृतियाँ (२०) असातावेदनीय (२१) मिथ्यात्व मोहनीय (२२) नीच गोत्र (२३) स्थावर नाम (२४) सूक्ष्मनाम (२५) अपर्याप्तिनाम (२६) साधारण नाम (२७) अस्थिरनाम (२८) अशुभनाम (२९) दुर्भगनाम (३०) दुःस्वरनाम (३१) अनादेयनाम (३२) अयशोकीर्तिनाम (३३) नरकगति (३४) नरकायु (३५) नरकानुपूर्वी (३६-५१) अनन्तानुबन्धी आदि १६ कषाय (५२-६०) हास्यादि ९ नोकषाय (६१) तिर्यंचगति (६२) तिर्यचानुपूर्वी (६३) एकेन्द्रियत्व (६४) द्वीन्द्रियत्व (६५) त्रीन्द्रियत्व (६६) चुतरिन्द्रियत्व (६७) अशुभविहायोगति (६८) उपघातनाम (६९-७२) अशुभवर्णादि चार (७३-७७) ऋषभनाराच आदि ५ संहनन (७८-८२) न्यग्रोधपरिमण्डल आदि ५ संस्थान

इन ८२ प्रकृतियों के उदय से जीव पाप रूप फल भोगता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेष – (१) सम्यक्त्वमोहनीय (२) हास्य (३) रति और (४) पुरुषवेद– इन चार प्रकृतियों की गणना पुण्यरूप में इसी ग्रन्थ (तत्त्वार्थ सूत्र) में की गई है; अन्यत्र सभी ग्रन्थों में यह (सम्यक्त्व मोहनीय को छोड़कर, क्योंकि इसका उल्लेख पाप–पुण्य किसी भी विभाजन में कही भी नहीं मिलता है– इसका कारण यह है कि इसका बन्ध ही नहीं होता) सभी प्रकृतियाँ, पाप–प्रकृतियों में गिनी गई हैं, अर्थात् हास्य, रति और पुरुषवेद को पाप–प्रकृति माना गया है।

पं. सुखलालजी ने इसी सूत्र के विवेचन के बाद टिप्पण में कहा है–

''इन चार प्रकृतियों को पुण्यरूप मानने वाला मतविशेष बहुत प्राचीन है, ऐसा ज्ञात होता है; क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में उपलब्ध इनके उल्लेख के उपरान्त भाष्यवृत्तिकार ने भी मत भेद को दरसाने वाली कारिकाएँ दी हैं और लिखा है कि इस मंतव्य का रहस्य सम्पद्राय विच्छेद के कारण हमें मालूम नहीं होता। हाँ, चतुर्दशपूर्वी जानते होंगे ।''

इस भेद का मूल कहाँ है तथा आधार क्या है ? यह विज्ञों के लिए विचारणीय है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नौवां अध्याय

संवर तथा निर्जरा

(CHECK AND ANNIHILATIN OF KARMA-PRTICLES)

उपोद्घात–

पिछले आठवें अध्याय में बंध तत्त्व का वर्णन किया जा चुका है। प्रस्तुत नौवें अध्याय में संवर और निर्जरा इन दो तत्त्वों का विवेचन किया जा रहा है ।

यद्यपि संवर तत्त्व का वर्णन पिछले सातवें अध्याय में भी किया जा चुका है; किन्तु वह सिर्फ विरति–संवर था, उसे अपेक्षा से आंशिक संवर भी कहा जाता है ।

प्रस्तुत अध्याय में संवर का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

संवर का वर्णन करते हुए पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस उत्तम धर्म, बारह वैराग्य भावना, बाईस परीषहजय आदि संवर के साधन–उपायों/भेदों का भी विवेचन है ।

तदनन्तर निर्जरा के साधनभूत बारह प्रकार का तप, चांरो प्रकार के ध्यान तथा विभिन्न साधकों की अपेक्षा निर्जरा के तरतमभाव आदि विषयों का विवेचन इस अध्याय में प्राप्त होता है। ध्यान–तप का वर्णन विशेष विस्तार के साथ किया गया है, इसका कारण यह है कि ध्यान निर्जरा अत्यधिक प्रभावी हेतु और मोक्ष–प्राप्ति का प्रत्यक्ष साधन है ।

प्रस्तुत अध्याय का प्रारम्भ संवर लक्षण से होता है।

आगम वचन–

निरुद्धासवे संवरो । – उत्तरा २९/११

समिई गत्ती धम्मो अणुपेह परीसह चरित्तं च।
सत्तावन्नं भेया पणतिगभेयाइं संवरणे ॥ – स्थानांगवृत्ति, स्थान१

तवसा निज्जरिज्जइ । – उत्तरा. ३०/६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(आश्रव का निरोध हो जाना (रुक जाना) संवर है ।

इस संवर के समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र यह भेद होते हैं । जिनके क्रमशः ५,३,१०,१२,२२ और ५ भेदों को जोड़ने से कुल भेद ५७ होते हैं ।

तप से (कर्मों की) निर्जरा होती है।

संवर-निर्जरा के लक्षण और संवर के उपाय-

आस्रवनिरोधः संवरः ।१।

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ।२।

तपसा निर्जरा च । ३।

आस्रवों का निरोध संवर है ।

वह संवर, गुप्ति, समिति, धर्म-पालन से, अनप्रेक्षाओं के चिन्तवन से, परीषहों पर विजय प्राप्त करने से, और चारित्र के पालन से - इस प्रकार ६ कारणों से) होता है।

तप से निर्जरा और (संवर) दोनों ही होते हैं ।

विवेचन : संवर का लक्षण - आस्रव अथवा कर्म-पुद्गलो के आगमन का निरोध अर्थात् उनका रुक जाना संवर है । 'संवर' शब्द का अर्थ ही है- निरोध ।

तात्त्विक भाषा में कर्मों के आगमन के निमित्त है- मन-वचन-काय के योग, एवं मिथ्यात्व तथा कषाय आदि । जब इनका निरोध होता है तो सुखःदुःख रूप फल देने वाले कर्मों के आगमन का अभाव हो जाता है, उसे ही संवर कहा जाता है ।

आस्रव का विशेष वर्णन छठे अध्याय के प्रथम सूत्र में किया जा चुका है ।

आस्रव का प्रतिपक्षी संवर है ।

साधना के विविध प्रकार की दृष्टि से इनके अनेक भेद उपभेद है। जैसे-

(१) **सम्यक्त्वसंवर-** यह मिथ्यात्व द्वारा होने वाले कर्म आस्रव को रोकता है ।

(२) **विरतिसंवर** - अविरति भाव (हिंसा, असत्य, स्तेय, मैथुन, परिग्रह आदि) से होने वाले आस्रव को रोकता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(३) **अकषायसंवर** – क्रोध–मान–माया–लोभ आदि कषायों से होने *वाले कर्मास्रव का निरोध करना ।*

(४) **अप्रमादसंवर** – प्रमाद से होने वाले आस्रव का निरोध।

(५) **योगसंवर** –अशुभयोगों से होने वाले आस्रव को रोकना ।

संवर के मूल दो भेद हैं – (१) भावसंवर और (२) द्रव्यसंवर ।

कर्मो के पुद्गलों का आस्रव अथवा रुक जाना द्रव्यसंवर है और इन कर्मों के पुद्गलों के आस्रव को रोकने में जो आत्मा के भाव निमित्त बनते हैं, वह आत्म–परिणाम भावसंवर है ।

संवर के मूल रूप से छह कारण है–

(१) तीन गुप्ति, (२) पांच समिति, (३) दस धर्म, (४) बारह अनुप्रेक्षा, (५) बाईस परीषहों पर विजय प्राप्त करना और (६) पांच चारित्रों का पालन करना। वास्तव में ये सब साधना के रूप है जिनसे 'आस्रव' का निरोध होता है ।

इस सब भेदों का कुल योग ५७ हैं अर्थात् संवर के ५७ भेद हैं ।

तप में एक विशिष्टता है कि उसके द्वारा संवर तो होता ही है, साथ ही निर्जरा–कर्मों का क्षय भी होता है ।

इन सब के लक्षण, स्वरूप आदि आगे कहे जा रहे हैं ।

आगम वचन –

गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो । –उत्तरा. २४/२६

(सभी अशुभ अर्थो (प्रयोजनों) से योगों (मन–वचन–काय) को रोकने को गुप्ति कहा गया है ।)

गुप्ति का लक्षण–

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः। ४।

(योगों की विवेकपूर्वक यथेच्छ प्रवृत्ति को रोकना गुप्ति है)

विवेचन – योग का विवेचन अध्याय छः के पहले सूत्र में किया जा चुका है ।

योग तीन होते हैं– (१) मन (२) वचन और (३) काय । इन तीनों को सम्यक् प्रकार से निरोध करना यानी अशुभ की ओर न जाने देना, गुप्ति है ।

गुप्ति का अभिप्राय है गुप्त करना, रोकना, निश्चल करना अथवा शांत करना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

योग तीन होने से गुप्ति भी तीन हैं - (१) मनोगुप्ति (२) वचनगुप्ति (३) कायगुप्ति ।

मनोयोग को दुष्ट संकल्पों, विचारों से रहित रखना, मन में दुर्ध्यान और दुश्चिन्तन न होने देना, **मनोगुप्ति** है ।

वचनयोग का दुष्प्रयोग न करना, विवेकपूर्वक वचन योग को शांत रखना अथवा मौन का अवलम्बन लेना, **वचनगुप्ति** है ।

काययोग का नियमन तथा निश्चलन **कायगुप्ति** है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि गुप्ति निवृत्ति रूप है, प्रवृत्ति रूप नहीं है । गुप्ति में मन-वचन-काय तीनों के अशुभ योगों का निरोध करना ही मुख्य है ।

आगम वचन-

पंचसमिईओ पण्णत्ता, तं जहा-

ईरियासमिई, भाषासमिई, एसणासमिई, आयाणंभंडमत्तनिक्खेवणा समिई, उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्ल परिठावणिया समिई ।

- समवायांग, समवाय ५

(समिती पाँच प्रकार की होती हैं - (१) ईर्यासमिति (२) भाषासमिति, (३) एषणासमिति, (४) आदानभण्डमात्रनिक्षेपणासमिति (आदान निक्षेपण समिति) और (५) उच्चार (पुरीष) प्रस्रवण (मूत्र) खेल (निष्ठोपन अथवा थूक) सिंघाण (नाक का मैल) जल्ल (पसीना) परिष्ठपना (डालना) समिति ।

समितियों का नामोल्लेख -

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गा : समितय : ।५।

(१) ईर्या (२) भाषा (३) एषणा (४) आदान-निक्षेप और ९५) उत्सर्ग यह पांच समितियाँ है ।

विवेचन - सूत्र ४ में जो 'सम्यग्' शब्द आाय है, उसकी अनुवृत्ति यहाँ इस सूत्र में भी की जायेगी, क्योंकि ईर्या, भाषा आदि शब्द सामान्य हैं, यह संवर तभी बन सकेंगे, जबकि 'विवेकपूर्वक' ऐसा विश्लेषण इन से पहले लग जाय ।

उदाहरणार्थ - ईर्या का अर्थ चलना और भाषा का अर्थ बोलना है। अपने इस रूप में यह संवर नहीं है । संवर तो तभी होगा, जब व्यक्ति विवेकपूर्वक गमन क्रिया करेगा, विवेकपूर्वक वचन बोलेगा ।

अतः संवर के प्रसंग में इनके यह नाम होंगे - (१) सम्यग्ईर्या, (२)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यगभाषा (३) सम्यग्एषणा (४) सम्यग आदान-निक्षेपण और (५) सम्यग्उत्सर्ग।

छह काय (पांचो स्थावर और त्रस) के जीवों की रक्षा तथा उनकी दया के विचार से भूमि को भली-भाँति देखकर आगे दृष्टि रखकर शांन्ति पूर्वक धीर-धीरे गमन करना, चलना **ईर्यासमिती** है ।

प्रसंग के अनुसार अथवा धर्म-प्रेरणार्थ हितकारी (जीवों के लिए कल्याणकारी) मित (परिमित), सत्य और संदेह रहित वचन बोलना अथवा विवेकपूर्वक वचन बोलना **भाषा समिति** है।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सत्य वचन भी कटु न हों, जिससे सुनने वाले को दुःख पहुंचे । जैसे काणे को काणा कहने से उसे दुःख होता है। इसलिए सत्य होते हुए भी काणे को काणा न कहें । कटु, कठोर, मर्मघाती भाषा का प्रयोग सत्य को भी दूषित कर 'असत्य' कोटि में पहुंचा देता है।

आवश्यक साधनों, जो जीवन-यात्रा के लिए अनिवार्य हों, की निर्दोष गवेषणा करके उन्हें प्राप्त करने का प्रयास करना **एषणा समिती** है।

प्रत्येक वस्तु को भली भाँति देखकर, प्रमार्जित करके उठाना या रखना **आदान निक्षेप समित** है ।

अनुप्रयोगी वस्तु यथा -शरीर के मल आदि को देखभाल कर जीवरहित ऐसे प्रासुक स्थान में डालना जिससे किसी अन्य प्राणी को कष्ट न हो, **उत्सर्ग समिती** है।

आगम वचन-

दसविहे धम्मे पण्णत्ते, तं जहा-

खंती १, मुत्ती २, अज्जवे ३, मद्दवे ४, लाघव ५, संजमे ६, सच्चे ७, तवे ८, चियाए ९, बंभवेरवासे १०। - समवायांग, समवाय१०

(दस प्रकार का धर्म कहा गया है : क्षान्ति (क्षमा), मुक्ति (आकिंचन्य), आर्जव, मार्दव, लाघव (शौच), सत्य, संयम, तप त्याग और ब्रह्मचर्य ।

धर्म के प्रकार-

उत्तम : क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्म ।६।

(१) उत्तम क्षमा (२) उत्तम मार्दव (३) उत्तम आर्जव (४) उत्तम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शौच (५) उत्तम सत्य (६) उत्तम संयम (७) उत्तम तप (८) उत्तम त्याग (९) उत्तम आंकिचन्य और (१०) उत्तम ब्रह्मचर्य – यह दस उत्तम (सर्वोत्तम) धर्म हैं ।

विवेचन – 'धर्म' शब्द बहुत व्यापक है, संपूर्ण जीवन ही इसके आयाम में समा जाता है। अतः इसकी परिभाषाएँ भी अनेक दी गई हैं ।

वस्तुतः धर्म शब्द धृ–धारणे धातु से व्युत्पन्न हुआ है । इसका अर्थ है जो धारण किया जाता है और जो दुर्गति से बचाता है, वह धर्म है।

यहाँ जो क्षमा आदि दश धर्म बताये हैं, वे भी धर्म के इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हैं ।

इस प्रसंग में धर्म को व्यक्ति में सदा स्थिर रहने वाली वृत्ति–प्रवृत्ति समझा जाना चाहिए, जिसका कार्य है शोधन । शोधन कषायों का, राग–द्वेष का, परिग्रह तथा बाह्य वस्तुओं का यहाँ तक कि शरीर के प्रति अनुरागभाव का भी ।

इस शोधन द्वारा धर्म आत्मा के शुद्ध स्वभाव को प्रगट करने में सक्षम होता है, आत्मा अपने अन्तर में प्रवाहित समतारस का आनन्द पाता है।

सूत्रोक्त दस धर्मों का परिचय इस प्रकार है –

(१) **क्षमा** – क्रोध का निग्रह । क्रोध के बाह्य कारण उपस्थित होने पर भी तितिक्षा, सहिष्णुता रहे, हृदय शान्त रहे, उद्विग्नता उत्पन्न न हो। तथा क्रोध को विवेक एवं विनय से निष्फल कर देना क्षमा है।

(२) **मार्दव** – मान का निग्रह; मन में मृदुता तथाविनम्रता होना मार्दव गुण है । रूप, जाति, कुल, ज्ञान, तप आदि किसी भी उपलब्धि पर गर्वित न होना मार्दवभाव की साधना है ।

(३) **आर्जव** – कुटिलता का निग्रह । मन वचन–काय की सरलता।

(४) **शौच** – निर्लोभता । आसक्ति और अनुराग का अभाव। यहाँ तक कि स्वयं के जीवन और आरोग्य के प्रति भी लोभ न रहे । एक शब्द में सभी प्रकार की आसक्ति का त्याग ।

(५) **सत्य**– हित–मित–प्रिय वचन बोलना । सत्य में भाव, भाषा और काया तीनों की सरलता अपेक्षित होती है।

समवायांग सूत्र में साधु के मूल गुणों में **भावसच्चे, करणसच्चे, जोग सच्चे** अर्थात् भावसत्य, करणसत्य और योगसत्य बताये गये हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावसत्य का अभिप्राय है- भावों में परिणामों में सदा सत्य का भाव रहे । करणसत्य का अभिप्राय करणीय कर्तव्यों की सम्यक् प्रकार से करना और योग-सत्य तो मन-वचन काया की सत्यता है ही ।

सत्यधर्म में ये तीनों ही अन्तर्निहित है ।

(६) **संयम** - मन-वचन-काया का नियमन । इसके मूल भेद २ है- (१) प्राणीसंयम और (२) मन एवं इन्द्रियों का संयम ।

स्थानांग में इसके चार भेद बताये हैं मन-वचन-काया और उपकरण संयम । सूत्रकृतांग में संयम के सत्रह भेद[1] बताये गये हैं ।

इस प्रकार विभिन्न अपेक्षाओं से संयम के अनेक भेद हैं किन्तु मूल बात है आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही प्रवृत्तियों का नियमन एवं पवित्रता ।

(७) **तप** - आत्म-विशुद्धि की प्रक्रिया और दूसरे शब्दों में मलिन वृत्तियों का शोधन । कर्मक्षय हेतु की जाने वाली सभी साधनाएँ तप है।

तप का विशेष वर्णन इसी अध्याय में आगे किया गया है।

(८) **त्याग** - सचित्त-अचित्त-सभी प्रकार के परिग्रह उपरतिविरक्ति। हृदय में उत्सर्ग 'छोड़नी है' इस भाव का प्रवर्तन होना ।

(९) **आकिंचन्य** - ममत्व का अभाव । अपरिग्रही होना ।

(१०) **ब्रह्मचर्य** - काम-भोग विरति और आत्म-रमणता ।

इस सूत्र में इन सभी धर्मों को 'उत्तम' विशेषण से विशेषित किया गया है । 'उत्तम' का अभिप्राय उत्कृष्ट है, अर्थात् यह सभी धर्म उत्कृष्ट शुद्ध निर्मल भावों से ग्रहण/धारण किये जाने चाहिए ।

आगम वचन -

अणिच्चाणुप्पेहा १. असरणाणुप्पेहा २, एगत्ताणुप्पेहा ३, संसाराणुप्पेहा ४। - स्थानांग, स्थान उ. १, सूत्र २४७

अण्णत्ते (अणुप्पेहा) ५, अन्ने खलु णाति संजोगा अन्ने अहमंसि। असुइअणुप्पेहा ६ - सूत्रकृतांग, श्रु. २, अ. १, सूत्र १३

---

१. संयम के १७ भेद की गणना दो प्रकार से की गई है -

(अ) ५ इन्द्रियों का निग्रह, ५ अव्रत का निरोध, ४ कषाय-विजय और ३ योग की विरति=१७

(ब) ५ स्थावर, ४ त्रस की हिंसाविरति रूप नौ प्रकार संयम, १० प्रेक्षासंयम, ११ उपेक्षासंयम, १२. अपहृत्यसंयम, १३ प्रमृज्यसंयम, १४ काय संयम, १५ वाक्संयम, १६ मनःसंयम तथा १७ उपकरणसंयम।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अवायाणुप्पेहा ७ । –स्थानांग, स्था. ४, उ. १, सू. २४७
संवरे (अणुप्पेहा) ८ ।
जा निरस्सावि‌णी नावा, सा उ पारस्सगामिणी ।
– उत्तरा. २३/७१
णिज्जरे (अणुप्पेहा) ९। – स्थानांग, स्था. १, सू. १६
लोगे (अणुप्पेहा) १०। – स्थानांग, स्था. १, सू. ५
बोहिदुल्लहे (अणुप्पेहा) ११ ।
संबोहि खलु पेच्च दुल्लहा । – सूत्रकृतांग, श्रु. १, गा. १
धम्मे (अणुप्पेहा) १२ – उत्तम धम्मसुई हु दुल्लहा ।
– उत्तरा. १०.१८

(१) अनित्यानुप्रेक्षा (२) अशरणानुपेक्षा (३) एकत्वानुपेक्षा (४) संसारानुप्रेक्षा ।

(५) अन्यत्वानुप्रेक्षा (ज्ञातिजनों के सम्बन्ध भिन्न है और मैं भिन्न हूँ)

(६) अशुचिअनुप्रेक्षा ।

(७) अपायानुप्रेक्षा । (आस्रवानुप्रेक्षा)

(८) संवरानुप्रेक्षा – जीव नाव में छिद्र नहीं होता, वरी पार ले जा सकती है (निरस्सावि‌णी – आश्रवरहित, अर्थात् संवरयुक्त ।)

(९) निर्जरानुप्रेक्षा, (१०) लोकानुप्रेक्षा (११) बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा संबोधि – ज्ञान को प्राप्त करना दुर्लभ है ।

(१२) धर्मानुप्रेक्षा (उत्तम धर्म का सुनना बड़ा दुर्लभ है।)

वैराग्य भावनाएँ –

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोक–बोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा ।७।

(१) अनित्य (२) अशरण (३) संसार (४) एकत्व (५) अन्यत्व (६) अशुचि (७) आस्रव (८) संवर (९) निर्जरा (१०) लोक (११) बोधिदुर्लभ और (१२) धर्म– इन बारह को भली प्रकार समझकर इनके स्वरूप का बार–बार चिन्तन करना, अनुप्रेक्षा है ।

विवेचन – 'प्रेक्षा' शब्द का अभिप्राय है देखना और अनुप्रेक्षा का अभिप्राय है– चिन्तन–मननपूर्वक देखना, मन को उसमें रमाना, उन संस्कारों को दृढ़ करना ।

दशवैकालकिचूर्णि (पृष्ठ २९) में अनुप्रेक्षा का लक्षण दिया गया है–

अणुप्पेहा णाम जो मणसा परियट्टेइ णो वायाए

– जिसका मन से (वचन से नहीं) चिन्तन किया जाये, वह अनुप्रेक्षा है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यही बात उक्त सूत्र में कही गई है कि स्वाख्यात – भली–भांति समझे/जाने हुए तत्त्व का चिन्तन करना, मनन करना अनुप्रेक्षा है ।

अनुप्रेक्षाएँ १२ हैं । इनका स्वरूप इस प्रकार है–

(१) **अनित्य अनुप्रेक्षा** – इन्द्रियों के विषय, धन–यौवन और यह शरीर आदि सभी अनित्य हैं, इस प्रकार चिन्तन करना ।

(२) **अशरणानुप्रेक्षा** – धन–वैभव, ज्ञातिजन आदि संसार में कोई भी शरण (रक्षक) नहीं है । मृत्यु, बीमारी आदि से कोई भी रक्षा नहीं कर सकता ,ऐसा चिन्तन करना ।

(३) **संसारानुप्रेक्षा** – यह चतुर्गतिक संसार दुःख से भरा है । **एगन्त दुक्खे जरिए व लोयं** – इस सम्पूर्ण संसार के सभी प्राणी दुःखी हैं, कहीं भी सुख नहीं है । देवों के सुख की भी अन्तिम परिणति दुःख ही है तब मनुष्य गति के सुख तो हैं ही किस गिनती में और पशुओं के दुःख तो प्रत्यक्ष ही दिखाई देते हैं तथा नरक गति तो घोर कष्टों की खानि है, इस प्रकार चिन्तन करना।

इस चिन्तन से व्यक्ति की सांसारिक सुखों के प्रति आसक्ति मिटती है।

(४) **एकत्व अनुप्रेक्षा** – मेरी आत्मा अकेली है इस प्रकार की भावना। **एगो मे सासओ अप्पा णाणदंसणं–संजुओ** – ज्ञान–दर्शन से संपन्न मेरी आत्मा शाश्वत है, अन्य सभी संयोग अस्थायी हैं । इस भावना से आत्म–प्रतीति दृढ़ होती है।

(५) **अन्यत्व अनुप्रेक्षा** – शरीर, कुटुम्ब, जाति, धन–वैभव आदि *से मैं अलग हूँ, ये मेरे नहीं, मैंने इनका नहीं –ऐसी भावना ।*

न संति बाह्या मम केचिनार्था,
भवामि तेषां न कदाचनोऽहम् ।

इस प्रकार की भावना का सतत अनुचिन्तन करने से भेदविज्ञान दृढ़ होता है ।

(६) **अशुचि अनुप्रेक्षा** – यह शरीर अशुचि है, रक्त आदि निंद्य और घृणास्पद वस्तुओं से भरा है, इसकी उत्पत्ति भी घृणित पदार्थों से हुई है, इस प्रकार का अनुचिन्तन । इससे शरीर के प्रति ममत्वभाव क्षीण होता है।

(७) **आस्रव अनप्रेक्षा** – आस्रवों के अनिष्टकारी और दुःखद परिणामों पर चिन्तन करना । कर्मों का आगमन किन–किन कारणों से होता है, उन पर विचार करके उनके कष्टदायी रूप का चिन्तन करना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(८) **संवर अनुप्रेक्षा** – दुःखद आस्रवो को रोकने– निरोध करने के सम्यक्त्व व्रत आदि उपायों का चिन्तन करना ।

(९) **निर्जरा अनुप्रेक्षा** – कर्मों के क्षय करने के उपायों का, उनके स्वरूप का बार–बार अनुचिन्तन करना ।

(१०) **लोक अनुप्रेक्षा** – लोक की शाश्वतता, अशाश्वतता आदि का चिन्तन करना । इस भावना से तत्त्वज्ञान विशुद्ध और दृढ़ होता है। साथ ही लोक के विष में जो अनेक प्रकार की भ्रमित धारणाएँ फैली हुई हैं, उनका भी निरसन हो जाता है, श्रद्धा शुद्ध हो जाती है ।

(११) **बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा** – बोधि का अभिप्राय है– सम्यग्ज्ञान, साथ ही सम्यक्दर्शन और सम्यग्चरित्र । इस रत्नत्रयरूप बोधि की प्राप्ति जीव को दुर्लभ है, इस प्रकार का अनुचिन्तन करके, बोधिप्राप्ति किन उपायों से और कैसे होती है, इनका बार–बार विचार करना ।

(१२) **धर्म अनुप्रेक्षा** – श्रुतधर्म, चारित्रधर्म, निश्चय–व्यवहार आदि की अपेक्षा, अथवा रत्नत्रयरूप धर्म का बार–बार चिन्तन करना।

अनुप्रेक्षा को एक प्रकार से ज्ञान की जुगाली कहा जा सकता है, जैसे गाय आदि पशु खाने का बाद एकान्त शांत स्थान पर बैठकर जुगाली करके भोजन को सुपाच्य बना लेते हैं; उसी प्रकार सीखे/जाने हुए ज्ञान को अनुप्रेक्षाओं द्वारा हृदयंगम कर लिया जाता है (बार–बार के चिन्तन–मनन से वह ज्ञान दृढ़ हो जाता है, भली प्रकार जम जाता है, अन्तर चेतना तक व्याप्त हो जाता है, फिर कभी विस्मृत नहीं होता।)

आमग वचन –

सम्मं सहमाणस्स.... णिज्जरा कज्जति ।

– स्थनांग, स्थान ५, उ. १, सू. ४०९

बावीस परिसहा पण्णत्ता, तं जहा–दिगिंछापरीसहे१....

.... जाव दंसणपरीसहे २२। – समवायांग, समवाय २२

(परीषह दो प्रयोजनों से सहन किये जाते हैं – (१) मार्ग से च्युत न होने –पीछे न हटने के लिए और (२) कर्मनिर्जरा के लिए । समभावपूर्वक परीषह सहन करने वाले को कर्मनिर्जरा होती है ।

परीषह बाईस (२२) हैं – (१) क्षुधापरीषह (२) पिपासापरीषह (३) शीतपरीषह (४) उष्णपरीषह (५) दंशमशकपरीषह (६) अचेलपरीषह (७) अरतिपरीषह (८) स्त्रीपरीषह (९) चर्यापरीषह (१०) निषद्या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परीषह (११) *शय्या परीषह (१२) आक्रोश (१३) वध परीषह (१४) याचना* परीषह (१५) अलाभ परीषह (१६) रोग परीषह (१७) (१८) जल्ल अथवा मल परीषह (१९) सत्कार पुरस्कार परीषह (२०) प्रज्ञा परीषह (२१) अज्ञान *परीषह और (२२) दर्शन परीषह)*

परीषहों के नाम और सहन के कारण –

मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं. परिषोढव्याः परीषहाः ।८।

क्षुत्पिपासाशीतोष्णंदंशमकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्या–ऽऽक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कार पुरस्कारप्रज्ञा–ऽज्ञानाऽदर्शनानि ।९।

(संवर–रत्नत्रयरूप) मोक्षमार्ग से च्युत नहीं हो जावे, इसलिये तथा कर्मों की निर्जरा के लिए परीषहों को (समभाव से) सहन करना चाहिए ।

परीषह बाईस हैं – (१) क्षुधा, (२) तृषा (३) शीत ९४) उष्ण (५) दंशमशक (६) नग्नता (७) अरति (८) स्त्री (९) चर्या (१०) निषद्या (११) शय्या (१२) आक्रोश (१३) वध (१४) याचना (१५) अलाभ (१६) रोग (१७) तृणस्पर्श (१८) मल (१९) सत्कार पुरस्कार (२०) प्रज्ञा (२१) अज्ञान और (२२) अदर्शन ।

विवेचन – परीषह का लक्षण है– परिषह्यत इति परीषहः। – जो सहे जायँ वे परीषह है । इसका सीधा सा अर्थ है– आत्म–साधना में जितनी बाधाएँ (अनुकूल या प्रतिकूल) उपस्थित हों, उन्हें मन में आर्तध्यान अथवा संक्लेश रूप परिणाम किये बिना समभावपूर्वक सहन करना परीषहजय है।

ऐसी बाधाएँ अनेक हो सकती हैं, किन्तु वर्गीकरण की दृष्टि से मुख्यतः बाईस (२२) बताई हैं –

(१) **क्षुधा–परीषह** – क्षुधा की तीव्र वेदना होने पर भी यदि प्रासुक निदोर्ष आहार न मिले तो उस वेदना को समभाव से सहना ।

(२) **पिपासा – परीषह** – तीव्र प्यास लगने पर भी सचित्त जल की मन से भी इच्छा न करना, तृषा वेदना को समभाव से सहना ।

(३) **शीत–परीषह** – ठंड से होने वाले कष्ट को समता से सहना।

(४) **उष्ण–परीषह** – गर्मी से होने वाले कष्ट को समभाव से सहना।

(५) **दंशमशक–परीषह** – दंशमशक का यहाँ अभिप्राय है चींटी, मच्छर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बिच्छू, साँप आदि सभी प्रकार के जन्तु । इनके द्वारा त्रास दिये जाने पर मन में खिन्न न होना अपितु समभाव से उस पीड़ा को सहना ।

(६) **अचेल-परीषह** - वस्त्र अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर अब में अचेलक हो जाऊंगा-ऐसा सोचकर मन में खिन्नता न लाना ।

आचार्य इसे नग्न परीषह भी मानते हैं ।

(७) **अरति-परीषह** - स्वीकृत मोक्ष मार्ग की साधना में अनेक कठिनाइयाँ आने पर भी मन में उद्वेग अथवा मार्ग के प्रति अरुचि भाव न होने देना ।

(८) **स्त्री-परीषह** - सुन्दर स्त्रियों के हाव-भावों से मन में विकृति न आने देना इसी प्रकार स्त्री-साधिका को भी पुरुष के प्रति मन में विकार न लाना ।

(९) **चर्या-परीषह** - आगम में कहा गया है - **विहार चरिया मुणिणं पसत्था**- मुनियों का विहार करना प्रशस्त है । साधक एक स्थान पर ही अवस्थित न हो अपितु भ्रमणशील रहे। चर्या यानी गमन करते समय खेद न करना ।

(१०) **निषद्या-परीषह** - ध्यानस्थ मुनि के समक्ष भय का प्रसंग आ आजाय तब भी आसन से च्युत न होना । अथवा भय का प्रसंग न आये तो भी आसन से नहीं डिगना ।

(११) **शय्या-परीषह** - कोमल, कठोर जैसी भा शय्या मिले, उसमें खेद न करना ।

(१२) **आक्रोश-परीषह** - कटुक-कटोर-अप्रिय वचनों को सुनकर भी चित्त में क्रोध न लाना अपितु समभाव से सहना ।

(१३) **वध-परीषह** - अपने को मारने-पीटने वाले व्यक्ति पर रोष न करना, उस पीड़ा, को समभाव से सहना, उसे अपना उपकारी समझना।

(१४) **याचना-परीषह** - क्षुधा-तृषा से अत्यधिक पीड़ित होने पर भी दीनतापूर्वक याचना न करना; अथवा दाता न दे तो अभिमान या आक्रोश पूर्ण वचनों द्वारा उसे प्रताड़ित न करना ।

(१५) **अलाभ-परीषह** - संयम निर्वाह योग्य वस्तुएँ आहार तथा उपकरण आदि प्राप्त न हो सकें तो खिन्न न होगा ।

(१६) **रोग-परिषह** - किसी प्रकार की शारीरकि मानसिक व्याधि होने होने पर उसे पूर्वकृत कर्मविपाक मानकर समभाव से सहना ।

(१७) **तृण-स्पर्श** - तृण आदि की स्पर्शजन्य पीड़ा को समता से सहना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१८) **मल-परीषह** – मैले शरीर को देखकर ग्लानि न करना तथा स्नान आदि की इच्छा न करना, पसीने से भीगे हुए शरीर से जुगुप्सा न करना।

(१९) **सत्कार-पुरस्कार परीषह** – सत्कार मिलने पर हर्षित और न मिलने पर खेद न करना, सम-भावों में निमग्न रहना ।

(२०) **प्रज्ञा परीषह** – विद्वत्ता अथवा चमत्कारिणी बुद्धि होनेपर अभिमान न करना ।

(२१) **अज्ञान-परिषह** – उद्यम और भरपूर प्रयास करने पर भी ज्ञान न हो पाये तो चित्त में उदास न होना । मन में हीन भाव न लाना ।

(२२) **अदर्शन-परीषह** – दीर्घकाल तक साधना (तपस्या) करनेपर भी सूक्ष्मतथा अतीन्द्रिय ज्ञान या कोई विशिष्ट उपलब्धि न हो तो अपनी तपस्या को निष्पल समझकर श्रद्धा से विचलित न होना, अपितु श्रद्धा को दृढ़ रखना और साधना में उत्साह बनाये रखना। आगम में इसे 'दर्शन परीषह' कहा है जिसका तात्पर्य स्वर्ग-नरक सम्बन्धी श्रद्धा अथवा दर्शन से डिगे नहीं।

इस प्रकार इन परीषहों को समभावपूर्वक सहन करके, इन्हें विजय करने से -परीषहजय से संवर होता है ।

आगम वचन -

नाणावरणिज्जे णं भंते ! कम्मे कति परीसहा समोयरंति ?

गोयमा ! दो परीसहा समोयरंति, तं जहा-पन्ना परीसहे नाणपरी- सहे य ।

(भगवन ! कौन-कोन से परीषह ज्ञानावरणीय कमी से आते हैं?

गौतम! दो परीषह आते हैं (१) प्रज्ञापरीषह और (२) अज्ञान परीषह)

वेयणिज्जे णं भंते ! कम्मे कति परीसहा समोयरंति ?

गोयमा ! एक्कारसपरीसहा समोयरन्ति तं जहा-

पंचेव आणुपुव्वी चरिया सेज्जा वहे य रोगे य ।

तणफास जल्लमेव य एक्कारस वेदणिज्जंमि ॥

(भगवन ! वेदनीय कर्म मे कौन-कोन से परीषह लिये जाते हैं ?

गौतम ! ग्यारह (११) परीषह लिये जाते हैं ।

(१) क्षुधा (२) तृषा (३) शीत (४) उष्ण (५) दंशमशक (६)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चर्या (शय्या) (८) वध (९) रोग (१०) तृणस्पर्श और (११) मल (जल्ल)।

दंसणमोहणिज्जे णं भंते ! कम्मे कति परीसहा समोययरन्ति ?

गोयमा ! एगे दंसणपरीसहे समोयरइ ।

चरित्तमोहणिज्जे णं भंते ! कम्मे कति परीसहा समोयरंति ?

गोयमा ! सत्त परीसहा समोयरन्ति, तं जहा-

अरती अचेल इत्थी निसीहिया जायणा य अक्कोसे ।

सक्कारपुरक्कारे चरित्तामाहंमि सत्ते ते।

(भगवन ! दर्शनमोहनीय कर्म से कितने परीषह होते हैं ?

गौतम ! एकदर्शन परीषह ही गिना जाता है।

भगवन ! चारित्रमोहनीय कर्म से कितने परीषह होते हैं ?

गौतम ! सात परीषह होते हैं - (१) अरति (२) अचेल (३) स्त्री (४) निषद्या (५) याचना (६) आक्रोश और (७) सत्कार-पुरस्कार

अंतराइए ण भंते ! कम्मे कति परीसहा समोयरंति ?

गोयमा ! एगे अलाभारीषहे समोयरइ ।

(भगवन ! अन्तरायमकर्म में कितने परीषह होते हैं ?

गौतम ! एक अलाभपरीषह होता है।)

सत्तविहबंधगस्स णं भंते ! कति परीसहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! बावीस परसीहा पण्णत्ता, वीसं पुणवेदेइ, जं समयं सीयपरीसहं वेदेति णो तं समयं उसिणपरीसह वेदेइ, जं समयं उसिणपरीसह वेदेइ णों तं समय सीयपरीसहं वेदेइ, जं समयं चरियापरीसहं वेदेति णो तं समयं निसीहियापरीसहं वेदेति, जं समयं निसीहियापरीसहं वेदेइ णो तं समयं चरियापरीसहं वेदेइ ।

....एवं अट्ठविहस्स बंधगस्स वि सत्त विहस्स बंधगस्स वि।

(भगवन् ! सात प्रकार के कर्मबंध वालों के कितने परीषह होते हैं?

(गौतम ! बाईसों परीषह ही होते हैं । किन्तु एक काल में वेदन (अनुभव) बीस का ही होता है। क्योंकि शीत-उष्ण तथा चर्या-निषद्या (इन दोनों युगलों) में से एक-एक का ही वेदन संभव है ।

..... इसी प्रकार आठ प्रकार के कर्म बंधकों को भी होते है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

छव्विहस्स बंधगस्स ... चोद्दस परीसहा पणत्ता,, बारस पुण वेदेइ ।

(छह प्रकार के (कर्म के) बंधकों को चौदह परीषह होते हैं. किन्तु एक काल मे वे वेदन बारह का ही कर सकते हैं । क्योंकि शीत-उष्ण में से एक का और चर्या-शय्या में से किसी एक का ही वेदन संभव है ।)

इसी प्रकार छद्मस्थ वीतराग को भी होता है।

एक्कविहबंधगस्स सजोगिभवत्थकेवलिस्स एक्कारस परीसहा पण्णत्ता, नव पुण वेदेइ ।

सेसं जहा छव्विहबंधगस्स ।

(एक प्रकार के कर्मबंध वाले सयोगिभवस्थ केवलि के ११ परीषह कहे गये हैं, किन्तु एक समय में वेदन नौ (९) का ही होता है।

शेष छह प्रकार के बंधवाले के समान समझना चाहिए ।

अबधगस्स अजोगिभवत्थ केवलिस्स.. एक्कारस परीसहा पण्णत्ता नव पुण वेदेइ । – भगवती, श. ८, उ. ८, सू. ३४३

(अबंधक (बिना बन्ध वाले) केवलि के ११ परीषह कहे गये है किन्तु एक समय में वेदन नौ (९) का ही संभव है ।

परीषहों के अधिकारी, कारण और एक साथ संभाव्यता-

सूक्ष्मसंपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ।१०।

एकादशजिने ।११।

बादरसंपराये सर्वे ।१२।

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ।१३।

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ।१४।

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कार पुरस्काराः ।१५।

वेदनीये शेषाः ।१६।

एकादयोभाज्यायुगपदैकोनविंशते : ।१७।

सूक्ष्म संपराय तथा छद्मस्थ वीतराग में चौदह परीषह होते हैं ।

जिनेन्द्र भगवान को ग्यारह परीषह हो सकते हैं ।

ज्ञानावरणकर्म के कारण प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अदर्शनपरीषह का कारण दर्शनमोहनीयकर्म और अलाभ परीषह का कारण अंतरायकर्म है ।

अचेल, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार ये परीषह चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से होते है।

शेष सभी परीषहों का कारण वेदनीय कर्म का उदय है ।

एक साथ, एक जीव में एक समय में एक से उन्नीस (१९) तक परीषह हो सकते हैं ।)

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र संख्या १०-११-१२ में यह बताया गया है कि किस जीव को अधिक से अधिक कितने परिषह हो सकते हैं । साथ ही १७ वें सूत्रमें यह बताया है कि एक से लेकर उन्नीस (१९) तक अधिक से अधिक एक साथ परीषह हो सकते हैं । सूत्र १३-१४-१५-१६ में यह निर्देश है कि किस परीषह के लिए कौन-सा कर्म कारण पड़ता है ।

इन सभी सूत्रों में परीषहों की संभाव्यता की अपेक्षा से १७ वां सूत्र महत्वपूर्ण है । इससे यह फलित होता है कि कम से कम एक परीषह भी हो सकता है और अधिकतम परीषहों की संख्या विभिन्न जीवों की अपेक्षा सूत्र १०-११-१२ तथा १७ में बताई गई है।

इन सभी सूत्रों का यह भी अभिप्राय है कि अमुक संख्या में परीषह होना 'संभव' है, 'अनिवार्य' नहीं है. यानी यहाँ Probability का सिद्धान्त मानना चाहिए । दूसरे शब्द में (Possibility) संभाव्यता बताई गई है । यह सभी परीषह अवश्य ही हों, ऐसा अनिवार्य (Comspulsory) नहीं है।

परीषहों के कारण – परीषहों के कारण है- कर्म अर्थात् कर्मों का उदय । इन बाईसों परीषहों के आधारभूत कारण चार कर्म हैं – (१) ज्ञानावरणीय (२) मोहनीय (३) अन्तराय सौर (४) वेदनीय ।

ज्ञानावरणीयकर्म के कारण दो परीषह होते हैं (१) प्रज्ञा और (२) अज्ञान । दर्शनमोहनीय दर्शन परीषह का कारण है और चारित्रमोहनीय के उदय से सात परीषह होते हैं – (१) अचेलकत्व (२) अरति (३) स्त्री (४) निषद्या (५) आक्रोश (६) याचना और (७) सत्कार-पुरस्कार ।

अन्तराय केवल एक अलाभ परीषह का कारण है।)

वेदनीय का उदय ग्यारह परीषहों का जनक है- (१) क्षुधा (२) तृषा (३) शीत (४) उष्ण (५) दंशमशक (६) चर्या (७) शय्या (८) वध (९) रोग (१०) तृणस्पर्श और (११) मल परीषह ।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार ज्ञानावरणीयजनित २. मोहनीयजनित ८. अंतरायजनित १. और वेदनीयजनित ११ यो कुंल २२ परीषह ४ कर्मजनित हैं।

सूक्ष्मसंपराय आदि का स्पष्टीकरण – सूत्र संख्या १० में सूक्ष्मसंपराय, छद्मस्थ वीतराग तथा सूत्र संख्या १२ मे बादरसंपराय शब्दों का प्रयोग हुआ है । यह गुणस्थानों के नाम है।

गुणस्थान चौदह हैं, इनके नाम इस प्रकार है–

(१) मिथ्यात्व (२) सासादन (३) मिश्र (४) सम्यक्त्व (५) देशविरत (६) प्रमत्तविरत (७) अप्रमत्तविरत (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्ति बादरसम्पराय, (१०) सूक्ष्मसम्पराय, (११) उपशांतमोह, (१२) क्षीण मोह (छद्मस्थ वीतराग केवली), (१३) सयोगिकेवली, (१४) अयोगिकेवली गुणस्थान।

इस गुणस्थानों का विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ के प्रथम अध्याय सूत्र ७ के अन्तर्गत किया जा चुका है ।

गुणस्थान जीव के आत्म–विकास के परिचायक हैं तथा क्रमशः होते हैं । ज्यों–ज्यों ज्ञान–दर्शन–चारित्र में जीव उन्नति करता जाता है, त्यों–त्यों वह एक के बाद दूसरा –यों क्रमशः गुणस्थानों पर चढ़ता जाता है।

सूत्र १० में जो कहा गया है कि सूक्ष्मसंपराय से छद्मस्थवीतराग तक १४ परीषह होते हैं, इसका अभिप्राय यह है कि दसवे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों (मनुष्यों) में १४ परीषह होना संभव है ।

वे चौदह परीषह यह हैं– क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, प्रज्ञा, अज्ञान, अलाभ, शैया, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ।

शेष आठ परीषह मोहकर्मजनित होने के कारण इन गुणस्तानवर्ती जीवों में संभव नहीं है; क्योंकि यहाँ मोह नहींवत् है अथवा उसका अभाव है।

जिनेन्द्र भगवान को ग्यारह परिषह संभव बताये हैं। वे परीषह वेदनीय कर्मजनित है और वेदनीय कर्म का इन दोनं गुणस्थानों में सद्भाव है । यह परीषह है– क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल।

सूत्र १२ में जो कहा गया है कि 'बादरसंपराय में सभी परीषह होते हैं' उसका अभिप्राय यह है कि पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर नौवें बादरसंपराय गुणस्थान तक के सभी जीवों को सभी (बाईसों) परीषह होते है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपरोक्त विवेचनगत सूत्रों में अधिकतम संभव परीषहों की संख्या का निर्देश हैं किन्तु १७ वें सूत्र में यह बताया गया है कि एक साथ अधिक से अधिक १९ परीषहों का वेदन जीव (जिस जीव को २२ परिषह संभव है) कर सकता है ।

इसका हेतु यह है कि कोई भी जीव शीत और उष्ण परीषह में से किसी एक का एक समय में वेदन कर सकता है, परस्पर विरोधी होने का कारण दोनों का एक साथ वेदन संभव नहीं है।

इसी प्रकार शय्या, चर्या और निषद्या में से जीव एक समय में एक का ही वेदन कर सकता है, तीनों का एक साथ नहीं कर सकता ।

अतः शीत, उष्ण, चर्या, शय्या, निषद्या में से २ का वेदन संभव हो सकने के कारण २२ परीषहों में से तीन कम करने से १९ परीषह शेष बचते हैं, उन्हीं का वेदन हो सकता है ।

आगम वचन –

सामाइयत्थ पढमं, छेदोवट्ठावणं भवे बीयं ।
परिहारविसुद्धीयं. सुहुम तह संपरायं ।
अकसायमहक्खायं छउमत्थस्स जिणस्स वा।
एवं चयरित्तकरं, चारित्तं होइ आहियं ।

– उत्तरा २८/३२-३३

((१) सामायिक (२) छेदोपस्थापना (३) परिहारविशुद्धि (४) सूक्ष्मसम्पराय और (५) यथाख्यात (बिना कषायवाला) यह छद्मस्थ अथवा जिन (अर्हन्त भगवान) के चारित्र कहे गये हैं । ये कर्मों को समूल नष्ट करने वाले हैं ।)

चारित्र के प्रकार–

सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहार विशुद्धिसूक्ष्मसंपरया
यथाख्यातमितिचारित्रम् ।१८।

चारित्र पाँच प्रकार का है – (१) सामायिक (२) छेदोपस्थापन (३) पहरिहारविशुद्धि (४) सूक्ष्मसंपराय और (५) यथाख्यात ।

विवेचन – संसार बढ़ाने वाली क्रियाओं से विमुख होकर मोक्ष–प्राप्ति के लिए किया जाने वाला प्रयत्न अथवा क्रिया चारित्र है । उस प्रयत्न से आत्मा के परिणामों मे विशुद्धि आती है । इस विशुद्धि के तरतम भाव की अपेक्षा पाँच प्रकार के चारित्र माने गये है । यही पाँच भेद सूत्र में उल्लिखित हैं । इन पाँचों प्रकार के चारित्रों का परिचय इस प्रकार है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१) **सामायिकचारित्र** – समस्त सावद्य योग (पापक्रियाओं अथवा *रागद्वेषमूलक एवं विषय-कषाय बढ़ाने वालो क्रियाओं*) का त्याग ।

(२) **छेदोपस्थापनाचारित्र** – प्रथम दीक्षा के उपरान्त जो जीवनभर के लिए व्रतो का ग्रहण होता है, वह छेदोपस्थापनीय चारित्र है। सामान्यतः इसे बड़ी दीक्षा भी कहा जाता है।

इसका दूसरा लक्षण यह भी है कि किसी दोष-सेवन के कारण महाव्रत दूषित हो जायें तब नये सिरे से जो व्रतों का ग्रहण कराया जाता है अथवा नई दीक्षा दी जाती है, वह छेदोपस्थापनीय चारित्र है ।

इस दशा में पूर्व दीक्षा-पर्याय के वर्षों को गणना नहीं की जाती और ज्येष्ठ साधु भी नवदीक्षित बन जाता है।

(३) **परिहारविशुद्धिचारित्र** – विशिष्ट प्रकार के तपोप्रधान आचार का पालन ।

(४) **सूक्ष्मसंपरायचारित्र** – इसमें सिर्फ लोभ (संजल्वन लोभ कषाय) का बहुत ही सूक्ष्म अंश शेष रह जाता है । यह चारित्र दशवें गुणस्थान में होता है, उससे नीचे के गुणस्थानों में नहीं होता ।

(५) **यथाख्यातचारित्र** – इस चारित्र में कषायों का अंश बिल्कुल भी नहीं होता, इसमें आत्मा के शुद्ध निर्मल परिणाम होते हैं । इसीलिए इसे वीतराग चारित्र भी कहा जाता है। यह ११ वें से १४ वें तक चार गुणस्थानों में ही होता है ।

इस प्रकार ३ गुप्ति, ५ समिति, १२ भावना, १० धर्म, २२ परीषहजय और ५ चारित्र- संवर के यह ५७ भेद हैं, जिनसे आस्रवों का निरोध होता है। (तालिका पृष्ठ ४२० पर देखें)

आगम वचन-

बाहिरिएतवे छव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-

अणसण ऊणोयरिया भिक्खायरिया य रसपच्चाओ । कायकिलेसो पडिसंलीणया वज्झो तवो होई ।

– भगवती, श. २५, उ. ७, सू. १८७

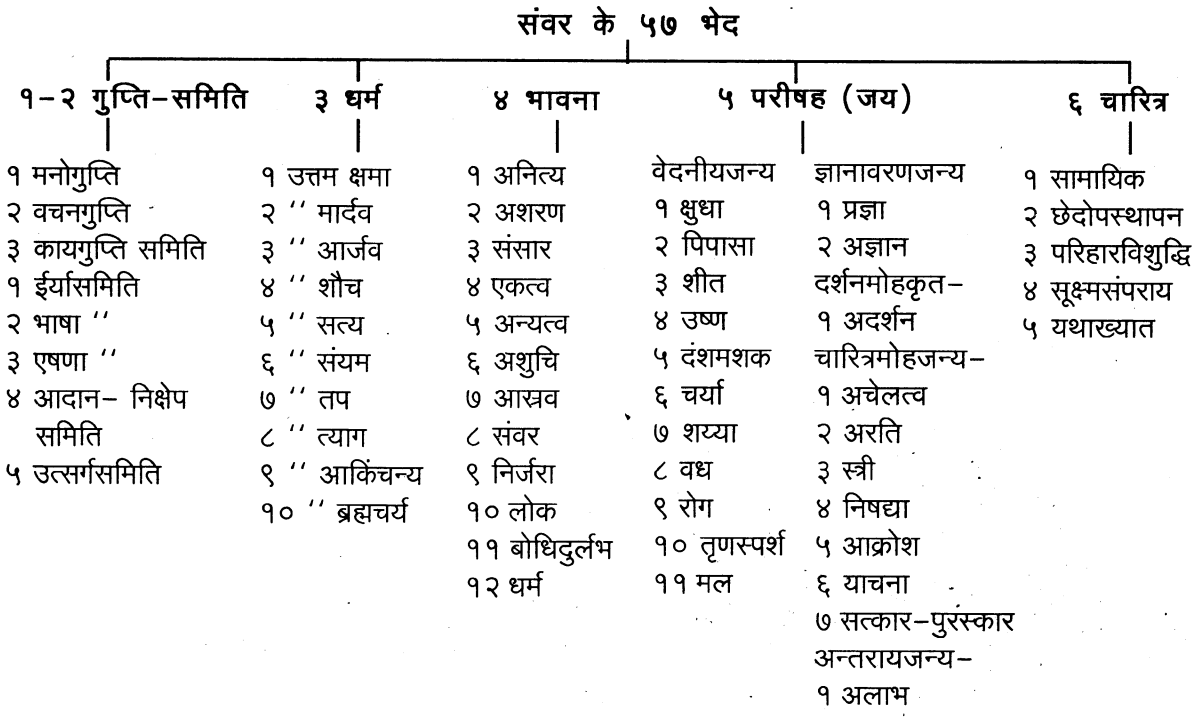
(बाह्य तप छह प्रकार के कहे गये हैं, यथा (१) अनशन, (२) ऊनोदरी (३) भिक्षाचर्या, (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश और (६) प्रतिसंलीनता।

अब्भिन्तरए तवे छव्विहे पण्णत्ते तं जहा-

पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं सज्झाओं झाणंविउस्सग्गो ।

– भगवती श. २५, उ. ७, सू. २१७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

(आभ्यन्तर तप छह प्रकार का है- (१) प्रायश्चित (२) विनय, (३) वैयावृत्य (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान, और (६) व्यत्सुर्ग ।)

तप के भेदोपभेद -

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकाय-क्लेशाः बाह्यं तपः ।१९।

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ।२०।

नवचतुर्दशपंचद्विभेदं यथाक्रमम् प्राग्ध्यानात् ।२१।

(१) अनशन (२) अवमौदर्य (ऊनोदरी) (३) वृत्तिपरिसंख्यान (४) रस परित्याग (५) विविक्त शय्यासन और (६) काय क्लेश - यह छह बाह्य तप हैं।

(१) प्रायश्चित्त (२) विनय (३) वैयावृत्य (४) स्वाध्याय (६) *व्युत्सर्ग और (६) ध्यान - यह छह उत्तर अर्थात् आभ्यन्तर तप हैं।*

ध्यान से पहले के (पाँच आभ्यन्तर) तपों के यथाक्रम से नौ, चार, दस, पांच और दो (उत्तर) भेद हैं ।

विवेचन - प्रस्तुत ३ सूत्रों में से सूत्र १९ मे बाह्य तपों के तथा सूत्र २० में आभ्यन्तर तपों के छह-छह भेद बताये है तथा सूत्र २१ में आभ्यन्तर छह तपों मे से ५ तपों के उत्तरभेद बताये हैं ।

यथा-प्रायश्चित्त के ९, विनय के ४, वैयावृत्य के १०, स्वाध्याय के ५ और व्युत्सर्ग के २ उत्तर अथवा अवान्तर भेद है ।

तप - जैन दर्शन में तप बहुत ही व्यापक शब्द है । इसके विभिन्न अपेक्षा और विविक्षाओं से अनेक लक्षण (परिभाषाएँ) दिये गये हैं । उनमें से कुछ को समझ लेना उपयोगी रहेगा, जिससे 'तप' का हार्द हृदयंगम हो जाय।

आवश्यक मलयगिरि (खण्ड २, अ. १) मे कहा गया है-

तापयति अष्टप्रकारं कर्म इति तपः।

(जो आठ प्रकार कें कर्मों को जलाए - तपाए, वह तप है ।

यही बात सर्वार्थसिद्धिकार ने **कर्मक्षयार्थ तप्यते इति तपः** तथा राजवार्तिककार ने **कर्मदहनात्तपः** (यानी कर्मों के क्षय के लिए अथवा उनके दहन के लिए) कहकर कही हैं ।

मोक्ष पंचाशत् (४८) में **'तस्माद्वीर्यसमुद्रेकात् इच्छा निरोधस्तपो विदुः** कहकर इच्छाओं के निरोध को तप बताया है ।

इन परिभाषाओं से यह फलित होता है कि जिन क्रियाओं से कर्मों का क्षय हो और आत्मा की विशुद्धि हो, वे सभी तप है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक शब्द में एक साधक ने इस भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है।

आत्मशोधिनी क्रिया तपः ।

आत्मा की विशुद्धि करने वाली क्रिया तप है ।

इससे यह भी स्पष्ट होता की कोई भी क्रिया - चाहे वह अनशन हो, ऊनोदरी हो, विनय, प्रायश्चित्त, स्वाध्याय, ध्यान आदि कुछ भी हो, यदि वह क्रिया कर्मक्षय तथा आत्म-शुद्धि में सहायक नहीं बनती, आत्मा का अभ्युत्थान नहीं करती तो वह तप नहीं हैं।

सारांश यह है कि तप का आवश्यक उद्देश्य और लक्षण-कर्मक्षय तथा आत्म-विशुद्धि एवं आत्मोन्नति है ।

इस तप के प्रमुख रूप से दो भेद है - (१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर।

बाह्य तप का लक्षण समवायांग ६, अभयदेववृत्ति में इस प्रकार दिया गया है- **''बाह्य शरीररयपरिशोषणेन कर्मक्षपणहेतुत्वादिति-** अर्थात् जिससे बाह्य शरीर का शोषण और कर्मक्षय हो।

सरल शब्दों में देह तथा इन्द्रियों के निग्रह और नियन्त्रण के लिए की जाने वाली वे सभी क्रियाएँ जो कर्मक्षय का कारण भी हों, बाह्य तप हैं ।

बाह्य तप बाहर दिखाई देने वाले तप हैं, इनका प्रभाव शरीर, इन्द्रियों आदि पर पड़ता दिखाई देता है। अतः इसे बाह्य तप कहा है ।

आभ्यन्तर तप की परिभाषा समवायांगवृत्ति में इस प्रकार दी गई है।

आभ्यन्तरं चित्तनिरोध प्राधान्येय कर्मक्षपणा हेतुत्वादिति

चित्तनिरोध की प्रधानता द्वारा कर्मक्षय करनेवाली क्रियाएँ आभ्यन्तर तप हैं ।

अर्थात् आभ्यन्तर तप में चित्तविशुद्धि प्रमुख है।

बाह्य तप-

बाह्य तप के छह भेद हैं-

१. **अनशन तप** - अशन (अन्न), पान (जल आदि पेय पदार्थ), खादिम (मेवा, मिष्टान्न आदि) तथा स्वादिम मुख को सुवासित करने वाले इलयाची, सुपारी आदि -इन चारों प्रकार के पदार्थों का 'अशन' शब्द से ग्रहण किया जाता है और अनशन का अभिप्राय है, इन चारों प्रकार के भोज्य पदार्थों का त्याग अथवा 'पान' के अतिरिक्त तीन प्रकार के पदार्थों का त्याग ।

अनशन तप तब कहलाता है जब शरीर के साथ-साथ आत्म-शुद्धि का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी लक्ष्य हो, अपच आदि की दशा में भोजन-त्याग अनशन तो हैं; परन्तु अनशन तप नहीं है ।

समय सीमा की दृष्टि से अनशन तप के मुख्य भेद दो हैं -(१) इत्वरिक (काल की निशचित मर्यादा सहित) और (२) यावत्कथिक (जीवन भर के लिए किया जाने वाला अनशन) ।

इत्वरिक अनशन तप - सावकांक्ष भी कहलाता है, इसमें एक निश्चित समय पूरा होने के बाद भोजन-प्राप्ति की आकांक्षा अथवा इच्छा रहती है । प्रक्रिया की दृष्टि से इसके छह भेद हैं-

(अ) **श्रेणीतप**- यह चतुर्थ भक्त (उपवास), षष्ठभक्त, (बेला-दो दिन का उपवास) अष्टमभक्त (तेला-तीन दिन का उपवास) से लेकर मासोपवास और षट्मासोपवास (छह महीने के उपवास) तक होता है ।

(ब) **प्रतरतप** - है यह भी अनशन तप किन्तु यह अंको के क्रमानुसार किया जाता है; उदाहरणार्थ १,२,३,४; २,३,४,१; ३,४,१,२; ४,१,२,३ आदि अर्थात् ४×४=१६ के कोष्ठक में अंक आकें, ऐसा तप ।

(स) **घनतप** - ८×८=६४ कोठों में अंक आवें एसा अनशन तप।

(द) **वर्गतप** - ६४×६४=४०९६ कोठों में अंक आवें ऐसा अनशन तप ।

(य) **वर्गवर्गतप**-४०९६×४०९६=१६७७२१६ कोठों में अंक आवें ऐसा तप ।

(र) **प्रकीर्णकतप** - इसके प्रमुख १३ प्रकार है -(१) कनकावली (२) रत्नावली (३) एकावली (४) मुक्तावली (५) बृहत्सिंहनिष्क्रड़ित (६) लघुसिंहनिष्क्रीड़ित (७) गुणरत्नसंवत्सर (८) सर्वतोभद्र प्रतिमा (९) महाभद्र प्रतिमा (१) भद्र प्रतिमा (११) यवमध्यप्रतिमा (१२) वज्रमध्यप्रतिमा (१३) वर्धमान आयंबिल तप ।

इनको विस्तारपूर्वक समझने के लिए अन्तकृद्दसासूत्र देखना चाहिए।

यावत्कथिक अनशनतप- निरवकांक्ष तप है, क्योंकि इसमें भोजन की इच्छा ही नहीं रहती, इसमें जीवन भर के लिए आहार का त्याग कर दिया जाता है। साधारण भाषा में इसे संथारा भी कहते हैं । यह छह प्रकार का है-

(अ) **भक्तप्रत्याख्यानतप** - जीवन भर के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग ।

(ब) **पादपोपगमनतप** - जीवन भर के लिए आहार और शरीर का त्याग छिन्न वृक्ष की भाँति निश्चल-स्थिर हो जाना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(स) **प्रतिक्रम** – भक्त प्रत्याख्यान अनशन वाले प्रतिक्रमण करते है।

(द) **अप्रतिक्रम** –पादपोपगमन वाले प्रतिक्रमण नहीं करते।

(य) **निर्हारिम** – जिनके शरीर की अंत्येष्टि होती है।

(र) **अनिर्हारिम** – इनके शरीर की अन्येष्टि नहीं होती; क्योंकि ये पर्वत गुफा आदि निर्जन प्रदेश में संथारा करते हैं ।

(२) **ऊनोदरी तप** – ऊन=कर्म अर्थात् पेट में जितनी भूख है, उससे कम आहार ग्रहण करना। इसी का दूसरा नाम अवमौदर्य है जो सूत्र में दिया गया है।

उक्त अर्थ भोजन की अपेक्षा से है; किन्तु ऊनोदरी का वास्तविक अभिप्राय कम करना है । वह कमी भोजन, वस्त्र, उपकरण, मन-वचन-काय योगों की चपलता में भी की जाती है।

ऊनोदरी के मुख्य भेद दो हैं – (१) द्रव्य ऊनोदरी (२) भाव ऊनोदरी।

द्रव्य ऊनोदरी के तीन उत्तर भेद हैं (१) आहार की अल्पता (२) वस्त्र की अल्पता (२) उपकरण की अल्पता ।

भाव उनोदरी के ८ भेद है – (१) क्रोध (२) मान (३) माया (४) लोभ (५) राग (६) द्वेष (७) क्लेश-इनको कम करे और (८) थोड़ा बोले।

(३) **वृत्तिपरिसंख्यानतप** – इसका अभिप्राय है लालसा कम करना। विभिन्न वस्तुओं के प्रति अपनी इच्छाओं को कम या सीमित करना ।

साधु की अपेक्षा इसे भिक्षाचारी तप कहा गया है । साधु इस तप के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के अभिग्रह लेता है; जैसे-आज इतने (संख्या में उदाहरणतः ६,७ आदि) ही घरों में भिक्षा हेतु जाऊँगा, अथवा अमुक मुहल्ले में ही जाऊँगा आदि-आदि ।

किन्तु श्रावक भिक्षा से भोजन प्राप्त नहीं करता । वही अपनी वृत्तियों को संक्षिप्त करता है । श्रावक के १४ नियम, जो प्रतिदिन चिन्तन किये जाते है, इसी तप की ओर संकेत करते हैं अर्थात् इस तप की साधना के अन्तर्गत आते है ।

(४) **रसपरित्याग** – इस तप का उद्देश्य स्वादवृत्ति पर विजय पाना है । जीभ को स्वादिष्ट लगने वाली और इन्द्रिय को उत्तेजित करने वाली भोज्य वस्तुओं का त्याग करना, रसपरित्याग तप है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसमें मुख्यतः घी, तेल, दूध, दही मिठाई – इन विकृतियों का त्याग किया जाता है। साथ ही मिर्च मसालेदार, गरिष्ठ वस्तुओं का भी त्याग होता है।

इसमें प्रणीतरस का परित्याग और सादा सात्विक भोजन लिया जाता है। प्रमुख उद्देश्य है । ऐसा भोजन जो चित्तवृत्तियों को शांत रखे, उन्हें चंचल न होने दे और सात्विकता की ओर मन की वृत्तियों की झुकाव हो जाय, मन धर्म की ओर –सदाचार की ओर अभिमुख रहे ।

(५) **विविक्तशय्यासन तप** – सूत्रकार ने यह नाम दिया है, उत्तराध्ययन सूत्र में भी यही नाम है किन्तु भगवती आदि आगमों में इस तप का नाम 'प्रतिसंलीनता' दिया है । इनमें सिर्फ नामों का ही भेद है, अर्थ में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं । यह दोनों नाम एकार्थवाची है ।

प्रतिसंलीनात का अर्थ है– अब तक जो इन्द्रिय, योग आदि बाह्य प्रवृत्तियों में लीन थे उन्हें अन्तर्मुखी बनना–आत्मा की ओर मोड़ना ।

इसके ४ प्रकार है –

(अ) **इन्द्रिय–प्रतिसंलीनता**– इन्द्रियों को अपने विषयों की ओर जाने से रोकना ।

(ब) **कषाय–प्रतिसंलीनता** – क्रोध–मान–माया–लोभ इन कषायों का शमन करना ।

(स) **योग–प्रतिसंलीनता** – मन–वचन–काया के योगों की चपलता का निरोध ।

(द) **विविक्त शय्यासन सेवना** – एकान्त, शान्त, बाधारहित स्थान में सोना, बैठना; जहाँ दंश–मशक आदि क्षुद्र जीवों की बाधा न हो तथा स्त्री, पशु आद का निर्बाध आवागमन न हो ।

सूत्रकार ने सूत्र में इस अंतिम भेद 'विविक्त शय्यासन' का ही उल्लेख किया है; किन्तु अन्तिम में उससे पहले के सभी भेदों का ग्रहण हो जाता है, इस न्याय के अनुसार 'प्रतिसंलीनता तप' के सभी भेदों का इस अन्तिम भेद के उल्लेख से ग्रहण हुआ समझना चहिए । फिर भगवती आदि आगमों में भी प्रतिसंलीनता तप दिया गया है, अतः उनसे भी यह पुष्ट है।

(६) **काय–क्लेश तप**– कायक्लेश का अर्थ है, शरीर को इतना अनुशासित कर लेना–साध लेना कि वह ठण्ड, गर्मी, आदि की बाधाएँ और उपसर्ग–परीषह सहन करते हुए भी स्थिर व अव्यथित रह सके ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शरीर को अनुशासित विभिन्न प्रकार के आसनों से और साधनाओं से किया जाता है ।

काय-क्लेश तप में स्वेच्छा से केशलौंच, आसन, आतापना आदि ली जाती है। इसी के अन्तर्गत प्राणायाम का अभ्यास आता है।

यद्यपि आसन बहुत हैं, किन्तु अपने शरीर की शक्ति और परिस्थिति के अनुसार आसन अपनाकर इस तप के मूल उद्देश्य (शरीर को चंचलता रहित, स्थिर और निश्चल बनाने) को प्राप्त किया जाता है ।

(तालिका पृष्ठ ४२६ पर देखें)

आभ्यन्तर (अन्तरंग) तप

(१) **प्रायश्चित्ततप** – पापों की अथवा दोषो की विशुद्धि के लिए किया जाने वाला तप; अथवा भूलशोधन- पापशोधन की साधना ।

(२) **विनयतप**- गुरुजनों तथा अपने से छोटों के प्रति आदर-बहुमान और सन्मान; बड़ों के प्रति विनम्रता और छोटों के प्रति स्नेह वात्स्ल्य।

वस्तुतः विनयतप से मान विगलितो हात है । यह तप मान-अभिमान को विजय करने की साधना है ।

(३) **वैयावृत्त्यतप** – निःस्वार्थ और अग्लान भाव से गुरु, जेष्ठ साधु, वृद्ध, रोगी, आदि की सेवा- परिचर्या करना।

(४) **स्वाध्याय** – स्वाध्याय शब्द के निर्वचन कई प्रकार के किये गये हैं -

'सु'- सुष्ठु-भली भाँति, 'आङ्' मर्यादा के साथ अध्ययन को *स्वाध्याय कहा जाता है ।*

'स्वयमध्ययनम् स्वाध्यायः' – अपने आप ही अध्ययन करना, निदिध्या-सन-मनन करना ।

स्वस्यात्मोऽध्ययनम् – अपनी आत्मा का अध्ययन करना ।

स्वेन स्वस्य अध्ययनं – अपने द्वारा अपनी आत्मा का अध्ययन।

वस्तुतः स्वाध्यायतप आत्म-कल्याणकारी और आत्म-स्वरूप को बताने वाले ग्रन्थों का अध्ययन है । साथ ही उस ज्ञान को चिन्तन-मनन द्वारा हृदयंगम करना भी इस तप के अन्तर्गत है ।

(५) **व्युत्सर्ग तप** – व्युत्सर्ग (वि+उत्सर्ग) का अभिप्राय है विशेष प्रकार से त्यागना । निःसंगता, अनासक्ति और निर्भयता को हृदय में रमाकर जीवन की-देह (शरीर) की लालसा अथवा ममत्व का त्याग, व्युत्सर्ग तप है।

इसे सामान्य रूप से कायोत्सर्ग भी कह दिया जाता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(६) **ध्यान** – चित्त की एकाग्रता, शरीर–मन–वाणी का निरोध ध्यान है । ध्येय में चित्त की एकाग्रता, निष्कंप दीपशिखा के समान चित्तवृतित्यों की अचंचलता ध्यान है ।

ध्यान तप में चित्त की अपने आलंबन (ध्येय) में पूर्ण रूप से एकाग्रता, तल्लीनता, स्थिरता होती है और चित्त अथवा मन के साथ ही वाणी भी (वचनयोग भी) इसमें लीन तथा शरीर निष्कंप, अचल, निश्चल हो जाता है।

अतः तीनों योगों का निरोध तथा स्थिरता और ध्येयं में एकाग्रता, तल्लीनता ही ध्यान है।

आगम वचन–

णवविधे पायच्छित्ते पण्णत्ते, तं जहा–आलोअणारिहे पडिकम्म–णारिहे तदुभयारिहे विवेगारिहे विउसग्गारिहे तवारिये छेदारिहे मूलारिहे अणवट्ठाप्पारिहे – स्थानांग, स्थान, ९ सूत्र ४२

(प्रायश्चित्त ९ प्रकार का कहा गया है – (१) आलोचनायोग्य (२) प्रतिक्रमणयोग्य (३) तदुभययोग्य (४) विवेकयोग्य (५) व्युत्सर्गयोग्य (६) तपयोग्य (७) छेदयोगय (८) मूलयोग्य (परिहारयोग्य) और (९) अनवस्था अथवा उपस्थापना योग्य)

प्रायश्चित्त तप के प्रकार–

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गपश्छेद्पहिरारौप–स्थापनानि । २२।

प्रायश्चित्त तप के नौ (९) प्रकार हैं – (१) आलोचना (२) प्रतिक्रमण (३) तदुभय (आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों) (४)विवेक (५) व्युत्सर्ग (६) तप (७) छेद (८) परिहार और (९) उपस्थापन ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में प्राचश्चित्ततप के भेद बताये गये हैं ।

प्रायश्चित्त का अभिप्राय –प्रायश्चित्त प्राकृत भाषा के **'पायच्छित'** शब्द से निष्पन्न हुआ है । 'पाय' का अर्थ है पाप और 'छित्त' का अर्थ है, उसको छिन्न–भिन्न करना, मिटाना, समाप्त करना। अतः प्रायश्चित्त का अभिप्राय है पाप को शोधन ।

धर्मसंग्रह (अधिकार ३) मे कहा गया –

प्रायः पापं विनिर्दिष्ट चित्त तस्य विशोधनम् ।

पाप के शोधन की प्रक्रिया प्रायश्चित्त है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपनी भूल को जानकर, उसका भली प्रकार से विशोधन करके, उन भूलों को पुनः न करना–दोषो का पुनः आचरण न करना, प्रायश्चित्त तप है।

भूल अथवा पाप की विशेषता के अनुसार उसके विशोधन की प्रक्रिया में भी अन्तर आ जाता है। इस अपेक्षासे प्रायश्चित्त तप के ९ भेद कहे गये है ।

(१) गुरु अथवा ज्येष्ठ साधु के समक्ष अनजान में हुई अपनी भूल को निष्कपट भाव से निवेदन कर देना **आलोचना** है । अतिक्रम व्यतिक्रम आदि साधारणपापों की शुद्धि आलोचना से हो जाती है।

(२) दोष अथवा भूल के लिए हृदय में खेद करना और भविष्य मं भूल न करने का संकल्प करके पूर्व में हुई भूल के लिए 'मिच्छाभि दुक्कडं' देना–मेरा वह पाप मिथ्या हो, ऐसा भावपूर्वक कहना **प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त'** है ।

(३) कुछ दोष अथवा पाप ऐसे होते हैं जो सिर्फ आलोचना और प्रतिक्रम से शुद्ध नहीं हो पाते । अतः इनकी विशुद्धि के लिए आलोचना (गुरु के समक्ष निष्कपट हृदय से निवेदन) और प्रतिक्रमण (हार्दिक अनुताप पूर्वक मिथ्या दुष्कृत दना) यह दोनों ही किये जाते हैं । इसे **तदुभय प्रायश्चित्त** कहा जाता है ।

(४) प्रमादवश अथवा भूल से कल्पनीय आहार, उपकरण आदि ग्रहण करने में आजाय और उसका ज्ञान बाद में हो, कि यह वस्तु तो मुझे ग्रहण करनी ही नहीं थी, तो उसी समय उसको अलग करे देना **विवेक प्रायश्चित्त** है ।

(५) दुःस्वप्न आदि की शुद्धि के लिए समय की मर्यादा निश्चित करके, (यथा, एक घड़ी, एक मुहूर्त आदि) वचन तथा काय के व्यापारों को न करना, कायोत्सर्ग करना, **व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त** कहा जाता है।

(६) सचित्त के स्पर्श हो जाने पर उसकी दोष शुद्धि के लिए उपवास, बेला, तेला आदि बाह्य तप करना **तपप्रायश्चित्त** है ।

(७) अपवाद मार्ग का सेवन करने से अथवा जान–बूझकर कारणवश दोष लगाने पर जो कुछ दिनों की अथवा महीनों की दीक्षा पर्याय कम कर दी जाती है, वह **छेद प्रायश्चित** है ।

(८) जान बूझकर महाव्रतों में दोष लगाने पर दोषी व्यक्ति के साथ कुछ दिन, मास आदि तक संपर्क न रखना, उसे संघ से बाहर निकाल देना, **परिहार प्रायश्चित्त** कहलाता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(९) क्रूरतापूर्ण आचरण तथा महाव्रतों को भंग करने पर संघ से अलग रखकर घोर तप कराना और वह तप पूरा कर लेने पर पुनः नई दीक्षा देना, **अनवस्था अथवा उपस्थापना प्रायश्चित्त** है ।

इसके अतिरिक्त भगवती (२५/७) आदि शास्त्रों में दसवाँ **पारांचिक प्रायश्चित्त** और बताया गया है । वह केवली, प्रवचन, संघ के अवर्णवाद आदि बहुत ही गम्भीर दोष की शुद्धि के लिये दिया जाता है। इसमें साधु को १२ वर्ष तक के लिए संघ से निष्कासित किया जा सकता है और बहुत ही कठोर तप से उसकी शुद्धि होती है।

उपर्युक्त वर्णित सभी प्रायश्चित्त उत्तरोत्तर गम्भीर-गम्भीरतर होते हैं और इनकी शुद्धि की साधना भी उत्तरोत्तर कठिन होती है।

आगम वचन- विणए सत्तविहे पण्णत्ते तं जहा-णाणविणए दंसणविणए चरित्तविणए मणविणए वइविणए कायविणए लोगोवयारविणए ।

– भगवती, श. २५, उ. ७, सू. २१९

(विनय सात प्रकार का है, यथा – (१) ज्ञानविनय (२) दर्शनविनय ९) चारित्रविनय (४) मनविनय (५) वचनविनय (६) कायविनय और (७) लोकोपचारविनय ।

विनय तप के भेद –

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ।२३।

विनय तप चार प्रकार का है- (१) ज्ञानविनय (२) दर्शनविनय (३) चारित्र विनय और (४) लोकोपचारविनय ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में चार प्रकार के विनय बताये गये हैं (भगवती, स्थनांग आदि अंग ग्रन्थों में सात प्रकार के विनय कहे गये है । यहाँ उपयोगी होने से हम सात प्रकार के विनय का परिचय देंगे ।

विनय का अर्थ है -नम्रता, मृदुता, अहंकाररहितता, आदर भाव । गुणियों और गुणों के प्रति आदर-सम्मान **विनयतप** है ।

(१) **ज्ञानविनय** – आलस्यरहित होकर श्रद्धा और आदर के साथ जिनोक्त शास्त्रों का अभ्यास करना, इन पर बार-बार चिन्तन करना, स्मृति में दृढ़ करना ज्ञानविनय कहलाता है । साथ ही मति-श्रुत-अवधि-मनः पर्यव और केवलज्ञानियों के प्रति श्रद्धा विश्वास और आदर-सम्मान के भाव रखना भी ज्ञानविनय है । गुणियों की अपेक्षा ज्ञानविनय के पाँच भेद माने जाते है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(२) **दर्शनविनय** – जिनोक्त तत्त्वों के प्रति दृढ़ श्रद्धा रखना, सम्यग्दर्शन में किसी का प्रकार दोष न लगाना, शंका आदि न करना दर्शनविनय है ।

गुणियों की अपेक्षा दर्शनविनय के दो भेद है – (१) **शुश्रुषाविनय** – इसमें शुद्ध सम्यक्त्वियों का आदर–सम्मान–सत्कार करना, उन्हें उच्च आसन देना आदि आते हैं । और (२) **अनाशातना विनय** में अरिहंत भगवान, जिनोक्त धर्म, आचार्य, उपाध्याय, साधु स्थविर, कुल, गण, चतुर्विध संघ, शुद्धक्रियापालक, संभोगी, पाँच ज्ञानों से युक्त ज्ञानी पुरुष आदि श्रद्धापूर्वक भक्ति–गुणानुवाद करना सम्मिलित होता है। इस अपेक्षा से दर्शनविनय के १५ *भेद माने गये है ।*

(३) **चारित्रविनय** – सामायिक, छेदोपस्थापनीय, पहिराविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यात– इन पाँच प्रकार चारित्रों मे से किसी एक काभी पालन करने वाले चारित्र साधकों की विनय करना, इनको श्रद्धा–भक्ति बहुमान देना चारित्रविनय है ।

चारित्र और चारित्र पालन करने वाले साधकों की अपेक्षा इसके पाँच भेद है ।

(४) **लोकोपचारविनय** –गुरु, गणाधिक्य आदि के सम्मुख आने पर आगे बढ़कर उनका स्वागत करना, उनके आने पर खड़े हो जाना, जब वे जायें तो उनके पीछे–पीछे चलना, उनके सम्मुख दृष्टि नीची रखना, वन्दन करना, आसन आदि देना लोकोपचार विनय है ।

(५) **मनविनय**– गुणियों के प्रति मन में सदैव प्रशंसा के भाव रखना।

(६) **वनचविनय** – वचन से गुणियों का गुणोत्कीर्तन और संस्तुति करना ।

(७) **कायविनय** – सभी काय–सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ ऐसी करना, जिसेस निरभिमानता और विनम्रता प्रगट हो ।

आगम वचन–

वेयावच्चे दसविहे पण्णत्ते तं जहा–आयरिवेआवच्चे... जाव संघवेयावच्चे । – भगवती श. २५, उ. ७, सू. २३५

(वैयावृत्य दस प्रकार का कहा गया है, यथा – (१) आचार्यवैयावृत्य (२) उपाध्ययवैयावृत्त्य (३) शैक्षवैयावृत्य (४) ग्लान–वैयावृत्य (५) तपस्वी–वैयावृत्य (६) स्थविर–वैयावृत्य (७) साधर्मी–वैयावृत्य (८) कुल वैयावृत्य (९) गण–वैयावृत्य और (१०) संघ–वैयावृत्त ।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वैयावृत्य तप के भेद-

आचार्योपाध्यातपस्विशैक्षकग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ।२४।

वैयावृत्य तप दस प्रकार का है - (१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) तपस्वी (४) शैक्ष (५) ग्लान (५) गण (७) कुल (८) संघ ९९) साधु और (१०) मनोज्ञ स्वधर्मी-इनकी सेवा, परिचर्या करना।)

विवेचन - सेवा करने योग्य पुरुषों (साधकों) की अग्लान भाव से सेवा करना, उन्हें सुख साता पहुँचाना वैयावृत्य तप है ।

सेवा करने योग्य साधक दस प्रकार के है, जिनके नाम सूत्र में गिनाए हैं; इसी अपेक्षा से वैयावृत्य तप के भी दस भेद है ।

१. आचार्य (संघ के नियंता, व्रत और आचार का सवयं पालन करने वाले तथा अनयों से पालन कराने वाले), २. उपाध्यय (श्रुत का अभ्यास कराने वाले) ३. तपस्वी (उग्र तप करने वाले) ४. क्षैक्ष (नवदीक्षित साधु) ५. ग्लान (रोगी साधु) ६. गण (एक सम्पद्राय के साधु) ७. कुल (गुरु भ्राता वृन्द) ८ संघ (जिनधर्म के अनुयायी साधु-साध्वी ९. प्रव्रज्याधारी साधु और १०. मनोज्ञ (स्वधर्मी) इन सबको आहार, पात्र आदि आवश्यक वस्तुएँ देना-दिलाना, ज्ञानवृद्धि में सहयोग देना, पैर दबाना आदि सभी प्रकार से सुख-साता पहुँचाना, वैयावृत्य तप है ।

आगम में 'साधु' के स्थान पर 'स्थविर' शब्द आया है। स्थविर का अर्थ है जो साधु ज्ञान, आयु आदि में वृद्ध हों, दीर्घ दीक्षा पर्याय वाले हों। सूत्र में आगत 'साधु' शब्द से भी 'स्थविर' का अर्थ लेना चाहिए क्योंकि 'शैक्ष' यानीनवदीक्षित साधु का उल्लेख पृथक से हुआ है । फिर वृद्ध साधुओं को सेवा की अधिक आवश्यकता होती भी है।

आगम वचन-

सज्झाए पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा-

वायणा पडिपुच्छणा परिअट्टणा अणुप्पेहा धम्मकहा ।

- भगवती श. २५, उ. ७, सू. २३६

(स्वाध्यायतप पाँच प्रकार का है- (१) वाचना (२) परिपृच्छना ९३) परिवर्तना (आम्नाय) (४) अनुप्रेक्षा और (५) धर्मकथा ।

स्वाध्यायतप के प्रकार-

वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ।२५।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१) वाचना (२) प्रच्छना (३) अनुप्रेक्षा (४) आम्नाय और (५) धर्मोपदेश – स्वाध्यायतप पाँच प्रकार का है ।

विवेचन – प्रस्तुत सुत्र में स्वाध्याय तप के पाँच प्रकार बताये है।

(१) गुरुमुख से मोक्ष मार्ग प्रदर्शक ज्ञान का सुनना, उसके शब्दों और अर्थों को समझना, **वाचना** है; अथवा सत्शस्त्रों को पढ़ना वाचना है ।

(२) वाचना द्वारा ग्रहण किये हुए ज्ञान के शब्द तथा अर्थ संबन्धी किसी भी शंका को गुरु से अथवा बहुश्रुतज्ञानी से पूछकर उसका निवारण करना, समाधान प्राप्त करना, **प्रच्छना** है ।

(३) सीखे हुए हुए शंकारहित ज्ञान को बारम्बरा चिन्तन, मनन करके हृदयंगम करना, **अनुप्रेक्षा** है ।

(४) पाठ को बार–बार उच्चारणपूर्वक घोखना, उसका परावर्तन करके स्मृति में सुदृढ़ करना **आम्नाय–परिवर्तना** है।

(५) अपने सीखे हुए हुए ज्ञान को अन्य लोगों को सुनाना, जिससे दे उन्मार्ग को छोड़कर सुमार्ग ग्रहण करें, सत्य तथ्य कोपहचान कर उस पर श्रद्धाशील बने, सन्मार्ग का आचरण करें यह **धर्मोपदेशना** है ।

'धर्मोपदेश' के लिए आगमों में 'धर्मकथा' शब्द व्यवहृत हुआ है। किन्तु आशय इन दोनों शब्दों का एक ही है।

धर्मकथा के चार भेद हैं –

(अ) **आक्षेपणी कथा** –श्रोताओं को मोह से हटाकर तत्त्वज्ञान की ओर आकर्षित करने वाली कथा ।

(ब) **विक्षेपणी कथा** – श्रोताओं को कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग की ओर लाने वाली इस कथा में पहले कुमार्ग का वर्णन करके फिर उसमें दोष दिखाकर सुमार्ग का प्रतिपादन किया जाता है ।

(स) **संवेजनी कथा** – कर्मों के फलों का वर्णन करके वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा

(द) **निर्वेदनी कथा** – श्रोताओं को संसार के दुःखों का वर्णन' करके संसार–सुखों से उदासीन बनाने वाली कथा ।

आगम वचन–

विउसग्गे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–दव्वविउसग्गे य भावविउसग्गे य

– भगवती श. २५, उ.७ सूत्र २५०

(व्युत्सर्ग तप दो प्रकार का है (१) द्रव्यव्युत्सर्ग और (२) भावव्यत्सुर्ग

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्युत्सर्ग तप के प्रकार –

बाह्याभ्यन्तरोपध्यो : २६।

व्युत्सर्ग तप दो प्रकार का है (१) बाह्य उपधि का त्याग और (२) आभ्यन्तर उपधि का त्याग ।

विवेचन – उत्सर्ग का अभिप्राय त्यागना अथवा छोड़ना है । त्याग सदा ऐसी वस्तु का किया जाता है जो त्याज्य हो, छोड़ने योग्य हो । ऐसी वस्तुएँ दो प्रकार की हो सकती हैं – (१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर

बाह्य वस्तुएँ बाह्य परिग्रह होती हैं, ये शरीर और संसार संबन्धी अनेक प्रकार की हैं । और आभ्यन्तर त्याज्य वस्तुएँ है –मन में उद्वेग उत्पन्न करने वाले विषय, कषाय, अहंकार, ममकार, आशा, इच्छा आदि ।

उक्त सूत्र में इन दोनों ही प्रकार के त्याग को 'व्युत्सर्ग तप' कहा है।

बाह्य और आभ्यन्तर की अपेक्षा ही व्युत्सर्ग तप के दो भाग आग मों में बताये गये हैं – (१) द्रव्यव्यत्सुर्ग और (२) भाव्युत्सर्ग

द्रव्यव्युत्सर्ग चार प्रकार का है –

(१) **शरीरव्युत्सर्ग** – शरीर के प्रति ममत्व का त्याग ।

(२) **गणव्युत्सर्ग** – एक सम्प्रदाय के साधुओं का समूह गण कहलाता है । उसका त्याग विशिष्ट कारणवश ही किया जाता है और वह कारण है विशिष्ट आत्म–साधना, विशेष गुणों का उपार्जन, विशिष्ट ज्ञानाभ्यास आदि ।

गण का व्युत्सर्ग सदा ही गुरु की अनुमति से किया जाता है।

गुरु भी उसी शिष्य को गण–त्याग की अनुमति देते हैं, जिसमें यह आठ गुण हों (१) ज्ञान (२) क्षमा (३) जितेन्द्रियता (४) अवसरज्ञता (५) धीरता (६) वीरता (७) दृढ़ शरीरवान और (८) शुद्ध श्रद्धा–अर्थात् इन आठ गुणों का धारक ही गण–व्यत्सर्ग तप का आचरण करता है ।

(३) **उपधिव्युत्सर्ग** – उपधि संयम साधना में सहायक उपकरणों को कहा जात है । इस तप में साधक वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों का यथाशक्ति त्याग करता है, उनकी मात्रा अनिवार्यता की कोटि तक न्यूनतम करता है।

(४) **भक्तपानव्युत्सर्ग** – भक्त–पान का अभिप्राय है – भोजन आदि। साधक भक्त–पान के प्रति असक्ति का त्याग करता है।

भक्त–पान का त्याग अनशन नाम के प्रथम बाह्य तप में भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होता है । किन्तु उसमें और भक्त-पानव्युत्सर्ग तप में अन्तर 'इच्छा' का 'अनासक्ति' का है । भक्त-पान व्युत्सर्ग तप में साधक भोजन आदि के प्रति अनासक्ति धारण करता है । यदि शरीर को धारण करने अथवा चलाने के लिए भोजन करना ही पड़े तो उसी तरह (धन्य अनगार के समान) करता है, जैसे कि साँप बिल में प्रवेश करता है, अर्थात् साधक अनासक्त भाव से भोजन को उदरस्थ कर लेता है।

भाव व्युत्सर्गतप - तीन प्रकार का है-

(१) **कषाय-व्युत्सर्ग** - क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों का त्याग ।

(२) **संसार-व्युत्सर्ग** - चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण कराने वाले आस्रवों का त्याग करना तथा कामना-वासना का त्याग करके भाव-संसार का उत्सर्ग करना, यह संसार-व्युत्सर्ग तप है।

(३) **कर्म-व्युत्सर्ग** - कर्म (ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म) बंध के हेतुओं का त्याग कर्म-व्युत्सर्ग तप है ।

कहीं-कहीं आगमों में व्युत्सर्ग तप के लिए कायोत्सर्ग शब्द भी प्रयुक्त हुआ हैं; किन्तु भाव दोनों का समान ही है। क्योंकि द्रव्य-कायोत्सर्ग में भी शरीर आदि के प्रति ममत्व का त्याग होता है, अनासक्तवृत्ति धारण की जाती है और भाव-कायोत्सर्ग में कषाय, संसार (भाव-संसार) कर्म (बंध के हेतु) का त्याग साधक करता है । किन्तु फिर भी कायोतर्स्ग शब्द अधिक व्यापक है, यह इरियावहिया आदि दोषों की शुद्धि के लिए भी किया जाता है।

आगम वचन-

केवतियं कालं अवट्ठियपारिणामे होज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्क समयं उक्कोसेणं अन्तोमुहुत्तं ।

- भगवती श. २५, उ. ६, सू. १५० (द्वार २०)

(अवस्थित परिणाम (ध्यान के परिणाम) कितने समय तक रहते हैं?

गौतम ! कम से कम एक समय तक और अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ।)

अन्तोमुहुत्तमित्तं चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि ।

छउमत्थाणं झाणं जोगनिरोहो जिणाणं तु ।।

- स्थानांगवृत्ति, स्थान ४, उ. १, सूत्र २४७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक वस्तु (ध्येय) पर चित्त का अवस्थान अन्तर्मूहूर्त मात्र तक रहता है। छद्मस्थ और जिन (केवली भगवान) के योगनिरोध (मन-वचन-काय की क्रिया को रोकना-एक ध्येय पर अवस्थित करना) ही ध्यान है।

ध्यान का लक्षण और उसका अधिकतम समय -

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ।२७।

आमुहूर्तात् ।२८।

उत्तम संहनन वाले (जीव) का एकाग्रचिन्ता (एक विषय में चित्त वृत्ति) का निरोध (स्थापन) करना ध्यान है ।

यह (ध्यान) (एक) मुहूर्त तक (अन्तर्मुहूर्त तक) ही रह सकता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र २७ में ध्यान के अधिकारी तथा ध्यान का लक्षण दिया गया है और सूत्र २८ में ध्यान का अधिकतम काल बताया गया है कि वह कितने समय तक स्थिर रह सकता है।

ध्यान का लक्षण - ध्यानशतक (२) में कहा गया है-

जं थिरमज्झवसाणं झाणं

स्थिर अध्यवसान ध्यान है ।

मन की दो अवस्थाएँ है - (१) चंचल और (२) स्थिर । इनमें से मन की स्थिर अवस्था ध्यान है ।

अग्र शब्द का अर्थ मुख है और चिन्ता शब्द का अभिप्राय चिन्तन अथवा चित्त की वृत्ति है । चित्त की वृत्तियों का एक विषय पर अवस्थित अथवा एकाग्र हो जाना ध्यान है ।

'उत्तम संहनन' शब्द का रहस्य - उत्तम संहनन में भाष्य मं दो संहनन स्वीकार किये गये हैं -(१) वज्रऋषभनाराच संहनन और (२) वज्रनाराच संहनन । किन्तु दिगम्बर परम्परा में तीसरा नाराच संहनन भी माना गया है।

यहाँ मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से उत्तम संहनन वालों को ही ध्यान का अधिकारी कहा गया है क्योंकि मोक्ष उत्तम संहनन वालों को ही प्राप्त होता है। किन्तु सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो आर्त-रौद्रध्यान के रूप में सभी संसारी जीवों के ध्यान होता है। किन्तु वह ध्यान संसार को बढ़ाने वाला है अतः उसे ध्यान-तप के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

दूसरी अपेक्षा यहाँ शुक्लध्यान (जो केलवज्ञान तथा मोक्ष का प्रत्यक्ष)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवं साक्षात् हेतु है) की है क्योंकि वर्तमान युग के मानवों का उत्तम संहनन न होने पर भी उन्हें धर्मध्यान होता है।

मोक्ष की साधना अति कठिन साधना है और यह भी सत्य है कि बलवान अथवा सुदृढ़ शरीर में ही सुदृढ़ मन का निवास होता है। अतः मन की स्थिरता (मोक्ष-प्राप्ति की दृष्टि से) सुदृढ़ शरीर की अपेक्षा रखती है, इसी कारण यहाँ 'उत्तम संहनन' शब्द दिया गया है।

तीसरा बात यह है कि अन्तर्मुहूर्त काल तक चित्त की एकाग्रता और योगों को निरोध उत्तम संहनन वालों के ही संभव है। अन्य संहनन वाले जीवों में इतने काल तक चित्त को एकाग्र रखने की क्षमता नहीं होती । उनका ध्यान बहुत ही अल्प समय का होता है। जैसा कि आगम उद्धरण 'जहन्नेण एक्क समये' से स्पष्ट है।

ध्यान और ध्यान-प्रवाह- यहाँ प्रत्यक्षदर्शी के मन में जिज्ञासा उठती है कि बहुत से लोग (योगी आदि) तो अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय तक यहाँ तक कि दिन, पक्ष, मास तक ध्यान करते हैं । फिर अधिकतम अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान हो सकता है इस वाक्य की सत्यता कैसे संभव है?

इस शंका से समाधान के लिए 'ध्यान' और 'ध्यान-प्रवाह' इन दो शब्दों का अन्तर समझना आवश्यक है।

साधारणतया श्वास के सूक्ष्मीकरण और शरीर के शिथिलीकरण तथा एकासन से स्थिर रहने की अवस्था को ही लौकिक दृष्टि वाले ध्यान तथा समाधि मान लेते है और वैसा ही प्रचार-प्रसार भी करते हैं ।

जबकि ध्यान में चित्त की एकाग्रता, निर्वात स्थान में दीपशिखा की अंकपदशा की भाँति मन का एक विषय पर केन्द्रित होना अनिवार्य है । दिन, पक्ष, मास आदि लम्बे समय तक ध्यान-समाधि लगाने वाले योगियों का ध्यान प्रवाह रूप में बहता रहता है, अनेक विषयों, वस्तुओं, ध्येयों पर घूमता रहता है; अतः उसे एक अपेक्षा से ध्यान का प्रवाह तो कह सकते हैं, किन्तु एकाग्रचिन्तानिरोधरूप ध्यान नहीं, क्योंकि चित्तनिरोधरूप ध्यान यदि इतना लम्बा सध जाये तो फिर मुक्ति होने में विलम्ब ही नहीं होगा ।

अतः यह निश्चित है कि उत्तम संहनन वाले मनुष्यों का ही ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक रह सकता है ।

आगम वचन -

चत्तारि झाणा पण्णत्ता, तं जहा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अट्टेझाणे, रोद्देझाणे, धम्मेझाणे सुक्केझाणे

– भगवती, श. २५, उ. ७, सूत्र २३७

ध्यान चार प्रकार के कहे गये हैं – (१) आर्तध्यान (२) रौद्रध्यान (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान ।

ध्यान के भेद –

आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि । २९।

(ध्यान के चार भेद हैं – (१) आर्तध्यान (२) रौद्रध्यान (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में चार प्रकार के ध्यान बताये है और उनके नाम भी गिनाये हैं– आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ।

'अर्ति' शब्द का अर्थ चिन्ता, पीड़ा, शोक, दुःख, कष्ट आदि है । इनके सम्बन्ध से जो ध्यान होता है, वह **आर्तध्यान** है ।

क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों से अतिरंजित जीव के क्रूर भाव रौद्र है और इनसे सम्बन्धित तथा इनमें हर्षित होने वाली चित्त की वृत्ति **रौद्रध्यान** कहलाती है ।

चित्त (मन) की जिस वृत्ति में शुद्ध धर्म की भावना का विच्छेद न पाय जाय, वह **धर्मध्यान** है ।

जिस चित्तवृत्ति के द्वारा कषायों का, कर्मों की क्षय हो, संसार का नाश हो, चतुर्गति मे परिभ्रमण समाप्त हो ऐसी आत्मपरिणति **शुक्ल ध्यान** है ।

आगम वचन –

धम्मुसुक्काइं झाणाइं झाणं तं तु बुहा वए । – उत्तरा, ३०/३५

(धर्म और शुक्ल ध्यान को बुद्धों ने ध्यान कहा है।)

प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यान –

परे मोक्षहेतु : ।३०।

पर अर्थात् अन्त के दो ध्यान मोक्ष के कारण है।

विवेचन –अन्त के दो ध्यान है– धर्मध्यान और शुक्लध्यान । यह दोनों ध्यान मोक्ष के कारण है ।

इस सूत्र से यह स्वयमेव फलित होता है कि प्रारम्भ के दो ध्यान आर्त और रौद्रध्यान संसार के हेतु–संसार बढ़ाने वाले हैं ।

आगम वचन–

अट्टे झाणे चउविव्हे पण्णत्ते, तं जहा–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अमणुन्नसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओग सति ,समन्नागए यावि भवइ।

– भगवती, श. २५, उ. ७, सूत्र २३८

(आर्तध्यान चार प्रकार का कहा गया है, यथा–

(१) अनिष्ट अथवा अप्रिय (व्यक्ति वस्तु आदि) से संयोग होने पर उसके वियोग के लिए बार–बार चिन्ता करना ।

(२) इष्ट का संयोग होने पर उसका वियोग न होने की बार–बार चिन्ता करना ।

(३) दुःख या कष्ट आनेपर उसके दूर होने की बार–बार चिन्ता करना।

(४) अनुभव किये अथवा भोगे हुए काम–भोगों के वियोग न होने की वांछा करना और उसका विचार करते रहना ।

उत्तम समाधि की प्राप्ति सातवें (अप्रमत्तसंयत) गुणस्थान में होती है। अतः यह स्वयं ही सिद्ध हो गया कि आर्तध्यान सातवें गुणस्थान से पहले–पहले अर्थात् छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होता है। ●

आर्तध्यान के भेद और उनकी संभाव्यता–

आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ।३१।

वेदनायाश्च ।३२।

विपरीतं मनोज्ञानाम् ।३३।

निदानं च ।३४।

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ।३५।

(१) अमनोज्ञ (अप्रिय–अनिष्ट वस्तु/व्यक्ति आदि) का संयोग हो जाने पर उसके दूर करने का सतत विचार करते रहना ।

(२) वेदना, पीड़ा, कष्ट, आदि होनेपर 'यह कैसे दूर हो' ऐसी सतत चिन्ता ।

(३) प्रिय अथवा इष्ट पदार्थों/व्यक्तियों का वियोग न हो ऐसी सतत चिन्ता ।

(४) अप्राप्त (काम–भोगों) की संकल्पपूर्वक चिन्ता (निदान) कि यह मुझे प्राप्त हों ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह आर्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत गुणस्थान वालों के होता है।

विवेचन –प्रस्तुत सूत्र ३१ से ३४ तक के चार सूत्रों में आर्तध्यान के चार प्रकार बताये हैं और सूत्र ३५ में यह बताया गया है कि आर्तध्यान किन जीवों (प्राणियों) को होता है।

अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत का अर्थ – अविरत का अर्थ यहाँ अविरत सम्यग्दृष्टि मात्र नहीं है, अपितु मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र और अविरत सम्यग्दृष्टि – इन चार गुणस्थानवाले जीवों से है। देशविरत का अभिप्राय अणुव्रती (गृहस्थ) और प्रमत्तसंयत (छठवें गुणस्थानधारी सर्वविरत श्रमण साधु-साध्वी होते हैं ।

इसका अभिप्राय यह है सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से पूर्व के सभी जीवों को तो आर्तध्यान ही रहता है और आगे के गुणस्थानों में यानी अविरत सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती, गृहस्थ तथा सर्वव्रती साधु को भी यह हो सकता है।

'हो सकता है' अथवा 'संभव है' यह कहने का हमारा अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के साथ ही जीव में धर्मध्यान का स्पर्श हो जाता है।

मान लीजिए एक गृहस्थ श्रावक सामायिक में बैठा है, या माला जप रहा है अथवा कोई अन्य धार्मिक क्रिया कर रहा है, उस समय यद्यपि उसका चौथा अथवा पाँचवाँ गुणस्थान ही है फिर भी वहाँ आर्तध्यान नहीं है, धर्मध्यान ही है ।

इसी प्रकार प्रमत्तसंयत सर्वविरत साधु यतनापूर्वक मार्ग शोधकर गमन आदि क्रिया कर रहा है तो उसे भी धर्मध्यान है।

हाँ, जब कभी इन तीनों गुणस्थान (सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत) वाले जीवों की चित्तवृत्ति अमनोज्ञ को दूर करने आदि की ओर चली जाय तो इनको आर्तध्यान भी होता है।

यहाँ इतना अवश्य है कि सम्यग्दृष्टि और अणुव्रती साधक को सांसारिक-पारिवारिक कर्तव्यों को पूरा करते रहने के कारण तथा देहासक्ति से पूर्णतया विरक्ति एवं परिग्रह का संपूर्ण त्याग न होने के कारण आर्तध्यान अधिक होता है; जबकि संपूर्ण त्यागी श्रमण को बहुत कम ।

इनमें भी अणुव्रती और सर्वव्रती साधक को 'निदान' के अतिरिक्त तीन प्रकार का आर्तध्यान ही संभव है। इसका कराण यह है कि 'निदान' (आगामी जन्म में काम-भोगों का अथवा किसी से बदला लेने का दृढ़

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संकल्प आदि) करते ही साधु के अहिंसा, परिग्रह आदि पाँचों या एक-दो महाव्रत दूषित हो जाते हैं ।

फिर सातवें अध्ययन के सूत्र १३ के विवेचन में स्पष्ट कह दिया है कि माया, मिथ्या और निदान-इन तीन शल्यों वाला जीव व्रती हो ही नहीं सकता (निःशल्यो व्रती) । इससे स्पष्ट है कि निदान आर्तध्यान व्रती श्रावक को भी संभव नहीं है ।

आर्तध्यान के चार भेदों का संक्षिप्त सार यह है -

(१) **अनिष्टसंयोग** -अप्रिय वस्तु-व्यक्ति का संयोग होने पर उसके वियोग की चिन्ता करते रहना और वर्तनाम में अनिष्ट का संयोग न हो तो भी यह सोचते रहना कि कहीं मुझे अनिष्ट का संयोग न हो जाय ।

(२) **इष्टवियोग** - इष्ट-प्रिय का वियोग होने पर दुखी होना, चिन्ता करना तथा इष्ट वियोग की संभावना की ही चिन्ता करते रहना कि मेरी प्रिय स्त्री, धन आदि का या प्रिय शिष्य आदि का वियोग न हो जाए ।

(३) **वेदना** -मानसिक अथवा शारीरिक पीड़ा होने पर उसके उपशमन की चिन्ता करते रहना अथवा किसी प्रकार की पीड़ा न हो जाय ऐसी चिन्ता करना ।

(४) **निदान** - आगामी जन्म में अथवा भविष्य में काम-भोगों की तीव्र लालसा मन में रखकर उनकी प्राप्ति की संकल्पपूर्ण चिन्ता ।

अतः आर्तध्यान वर्तमान सम्बन्धी तो होता ही; किन्तु भविष्य की आशंका-कुशंकाओं के अनवरत विचार के रूप में भी होता है।

शरीर और सांसारिक भोगों आदि के विषय में होने से यह संसार बढ़ाने वाला है, अतः इसे दुर्ध्यान कहा गया है ।

आगम वचन -

रोद्दज्झाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-

हिंसाणुबंधी मोसाणुबंधी तेयाणुबंधी सारक्खणाणुबंधी ।

- भगवती, श. २५, उ. ७, सूत्र २४०

झाणाणं च दुयं तहा जे भिक्खू वज्जई निच्चं । -उत्तरा. ३१/६

(रौद्रध्यान चार प्रकार का कहा गया है- (१) हिंसानुबंधी (२) मृषानुबंधी (३) स्तेयानुबंधी (४) संरक्षणानुबन्धी ।

(इन दोनों ध्यानों (आर्त और रौद्रध्यान) को साधु सदा छोड़ता है, वर्जित करता है ।)

((इससे यह प्रगट है कि यह ध्यान (रौद्रध्यान) साधु को नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होता । अतः यह स्वयं सिद्ध हो गया कि रौद्रध्यान पाँचवें देशविरत गुणस्थान वाले जीवों तक ही होता है ।)

रौद्रध्यान के भेद और उसकी संभाव्यता –

हिंसाऽनृततस्तेयाविषयसंरक्षणेभ्यों रौद्रमविरतदेशविरतयोः । ३६ ।

(१) हिंसा (२) अनृत (३) स्तेय और (४) (विषय) संरक्षण – इन चार की अपेक्षा से रौद्रध्यान चार प्रकार का है तथा यह अविरत और देशविरत (जीवों) में होता है ।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में रौद्रध्यान के भेद और यह ध्यान किन गुणस्थान वाले जीवों को हो सकता है, यह बताया है ।

रौद्र ध्यान के चार भेदों के नाम और लक्षण इस प्रकार है–

(१) **हिंसानुबन्धी** – प्राणियों को मारने–पीटने, त्रास देने, वध करने, बन्धन में डालने आदि का विचार करना ।

(२) **मृषानुबन्धी** – झूठ बोलने, वाग्जाल में फँसाकर ठगी करने, अप्रिय–कठोर और पर को संतापित करने वाले मिथ्यावचनों का प्रयोग और वैसा विचार करना ।

(३) **चौर्यानुबन्धी** – चौरी, लूट–खसोट आदि के संबंध में विचार करना ।

(४) **संरक्षणानुबन्धी** – धन–धान्यादि परिग्रह की सुरक्षा के लिए व्याकुल रहना, उनकी सुरक्षा की चिन्ता करते रहना ।

'अनुबन्धन शब्द जो रौद्रध्यान के चारों भेदों में आया है, इसका अभिप्राय है– आत्म–परिणामों की हिंसा आदि पापों में अतिशय लवलीनता, एक प्रकार का विशेष गठबन्धन जो सदा ही जीव के भावों को साथ लगा रहे।

रौद्रध्यानी जीव के लक्षण – रौद्रध्यानी जीव को न पाप से डर लगता है और नही उसे परलोक की चिन्ता होती है, वह तो हिंसा आदि पापों में हर्ष मानता, है, अनुकम्पा का तो उसके हृदय में स्थान ही नहीं होता। ऐसा व्यक्ति घोर स्वार्थी होता है और पापों में–परिग्रह में रचा–पचा रहता है।

सूत्र में जो रौद्रध्यान की संभाव्यता पाँचवें देशविरत गुणस्थान तक बताई है तो देशविरत गुणस्थान वाले जीव को यह कदाचित् होता है, अविरत सम्यक्त्वी को भी कभी–कभी ही संभव है । इसका कारण यह है कि रौद्रध्यान नरकायु का कारण है। और क्योंकि चौथे–पांचवें गुणस्थान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वाले जीव नरकायु बाँधते ही नहीं, इसलिए रौद्रध्यान ऐसे जीवों को होता भी है तो अधिक तीव्र नहीं होता और अधिक समय तक ठहरता भी नहीं । ऐसे जीव अपने परिणामों को शीघ्र ही सम्भाल लेते हैं ।

पहले से तीसरे गुणस्थान तक के जीवों को तो यह होता ही रहता है।

विशेष – यहाँ तप का वर्णन चल रहा है और आर्त तथा रौद्र दोनों ही ध्यान अप्रशस्त है, त्याज्य हैं, हेय हैं, ये तप तो त्रिकाल में भी नहीं है। किन्तु फिर भी इनका वर्णन सूत्रकार ने इस दृष्टि से किया प्रतीत होता है कि इन्हें जानना चाहिए और जानकर त्याग देना चाहिए, इनका आचरण (आर्त-रौद्र ध्यान का) तो कभी भी नहीं करना चाहिए । यह बात उत्तराध्ययन के उद्धरण से स्पष्ट संकेतित है ।

आगम वचन-

धम्मेझाणे चउव्विहे (चउप्पडोवयारे) पण्णत्ते तं जहा- आणाविजए अवायविजए विवागविजए संठाणविजए ।

– भगवती, शु. २५, उ. ७ सूत्र

(धर्मध्यान चार प्रकार का तथा चतुष्प्रत्यवतार[1] कहा गया है – (१) आज्ञाविचय (२) अपायविचय (३) विपाकविचय और (४) संस्थानविचय ।

यह धर्मध्यान चौथे असंयत, पाँचवें देशसंयत, छठे प्रमत्तसंयत और सातवें अप्रमतसंयत – इन चार गुणस्थानों में होता है।)

धर्मध्यान के भेद और संभाव्यता –

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य ।३७।

उपशान्तक्षीणकषाययोश्च ।३८।

(१) आज्ञा (२) अपाय (३) विपाक और (४) संस्थान-इनके विचार करने के लिए चित्त को एकाग्र – स्थिर करना धर्मध्यान है । यह धर्मध्यान अप्रमत्तसंयत को होता है।

(यह धर्मध्यान) उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थान वाले जीवों को भी सम्भव है ।

विवेचन – विचय का अर्थ विचारणा, गहरी विचारणा, सतत विचारणा है, यह चिन्तन भी है। सूत्र में आये हुए आज्ञा आदि शब्दों के साथ विचय का योजन करने पर धर्मध्यान के चारों भेदों के नाम बनते हैं – (१)

---

१. चतुष्प्रत्यवतार का अर्थ है, भेद, लक्षण, आलम्बन और अनप्रेक्षा से चार पद वाला जिसका वर्णन आगे किया गया है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आज्ञाविचय (२) अपायविचय (३) विपाकविचय और (५) संस्थानविचय । इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार समझा जा सकता है-

(१) **आज्ञाविचय** - किसी सूक्ष्म विषय में अपनी मतिमन्दता तथा योग्य उपदेशदाता के अभाव में स्पष्ट निर्णय की स्थिति न बन सके, उस समय वीतराग भगवान की आज्ञा को प्रमाण मानकर वह कैसी और किस प्रकार की हो सकती है, इस विषय में चिन्तन करना **आज्ञाविचय धर्मध्यान** है।

(२) दोषों के स्वरूप और उनसे त्राण पाने हेतु चिन्तन **अपायविचय धर्मध्यान** है। अपाय दोषो को कहा जाता है।

(३) **विपाक**- कर्मों की अनुभाव शक्ति का विचार, किस कर्म का कैसा शुभ या अशुभ विपाक होता है, उन कर्मों की फलदायिनी शक्ति का चिन्तन **विपाकविचय धर्मध्यान** है ।

(४) संस्थान का अभिप्राय आकार है। **संस्थानविचयधर्मध्यान** में जीव लोक के आकार, उसकी रचना आदि विषय का चिन्तन करता है।

यह धर्मध्यान अप्रमत्तसंयत सातवें गुणस्थान वाले साधुओं को होता है और उपशान्तकषाय तथा क्षीणकषाय-ग्यारहवे-बारहवें गुणस्थान वालों को भी सम्भव है, अर्थात् इन गुणस्थानों में भी हो सकता है ।

स्थिति यह है कि धर्मध्यान की भूमिका चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से बनती है, उससे ऊपर के सातवें गुणस्थान तक तो धर्मध्यान है ही (यद्यपि पाँचवे गुणस्थान तक रौद्र ध्यान की और छठवें तक आर्तध्यान की सम्भावना है, किन्तु सातवें गुणस्थान में सिर्फ धर्मध्यान ही है, दोनों अप्रशस्त ध्यानों में से एक भी नहीं है) और ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में भी धर्मध्यान सम्भव है, वहाँ भी यह ध्यान हो सकता है।

किन्तु सम्यक्त्व से नीचे अर्थात् पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर तीसेर मिश्रदृष्टि गुणस्थान तक धर्मध्यान स्वीकार नहीं किया गया है, इसका कारण यह है कि शास्त्रों में धर्मध्यान उसी को माना गया है, जो जीव को मुक्ति-प्राप्ति में सहायक हो , और मुक्ति की ओर जीव के कदम सम्यक्त्व प्राप्त होने पर ही बढ़ सकते है । अतः सम्यक्त्वी ही धर्मध्यान का अधिकारी है।

मिथ्यादृष्टि आदि के जो कषाय-अल्पता, तप-जप आदि होते हैं, वे पुण्य के- स्वर्ग-प्राप्ति के, शरीर और सांसारिक सुखों के कारण तो बनते हैं, किन्तु मुक्ति के-आत्मिक सुख के कारण नहीं बनते है।

धर्मध्यान के चार लक्षण है - (१) आज्ञारुचि (२) सूत्र रुचि (निसर्ग)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रुचि और (४) अवगाढ़ (उपदेश) रुचि । (इनका विवेचन सम्यक्त्व के प्रसंग में हो चुका है।

धर्मध्यान के चार अवलम्बन है – (१) वाचना (२) प्रच्छना (३) परिवर्तना और (४) धर्मकथा । (इनका स्वरूप स्वाध्याय तप के भेदों में समझाया जा चुका है ।)

धर्मध्यान की चार भावनाए हैं – (१) एकत्वानुप्रेक्षा (२) अनित्यानुप्रेक्षा (३) अशरणानुप्रेक्षा और (४) संसारानुपेक्षा । (इनका विवेचन इसी अध्याय के सूत्र संख्या ७ के अन्तर्गत किया जा चुका है ।

इन आलम्बनों, अनुप्रेक्षाओं आदि से धर्मध्यान में स्थिरता और दृढ़ता का समावेश होता है।

आगम वचन–

सहमसंपरायसरागचरित्तारिया य जाव ... खीणकसायवीयराय–चरित्तारिया य ।

सूक्ष्मसंपराय सराग चारित्र वाले आर्य, बादरसंपराय सरागचारित्र वाले आर्य, उपशांतकषाय वीतराग चरित्र वाले आर्य और क्षीणकषाय वीतरागचारित्र वाले आर्य (इनके पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क नाम के दो शुक्ल ध्यान होते हैं ।)

सजोगिकेवलिखीणकसायचरित्तारिया य अजीगिकेवलिखीणकसाय वीयरायचरित्तारिया य । – प्रज्ञापना पद १, चारित्रार्यविषय

(सयोगिकेवलिवीतरागचारित्र वाले आर्यों के और अयोगि केवलि–क्षीण कषायवीतरागचारित्र वाले आर्यों के (सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरत क्रियानिवृत्ति नाम के दो शुक्लध्यान होते हैं ।)

सुक्केजाणे चउव्विहे चउप्पडोवयारे पण्णत्ते; तं जहा–

पुहुत्तवितवके सवियारी १, एगत्तवितवके अवियारी २, सुहुमकिरिते अणियट्टी ३, समुच्छिन्नकिरिए अप्पडिवाती ४।

– भगवती, श. २५, उ. ७, सूत्र २४६

(शुक्लध्यान के चार भेद (तथा चार पद) होते हैं – (१) पृथक्त्व वितर्क सविचारी , (२) एकत्ववितर्क अविचारी, (३) सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति अथवा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और (४) समुच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाती अथवा व्युपरतक्रियानिवृत्ति ।)

(जो एक द्रव्य में पूर्वगतश्रुत के अनुसार अनेक नयों के द्वारा उत्पाद, व्यव, ध्रौव्य आदि पर्यायों का विचार सहित अर्थ, व्यंजन और योग का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्तर (पलटना अथवा संक्रांति) है उसे पृथक्त्ववितर्क सविचार नाम का प्रथम शुक्लध्यान कहते हैं । यह राग रहित भाव वाले मुनियों के होता है॥१-२॥

जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य आदि भंगों में से एक पर्याय मं अर्थ, व्यंजन और योग के अन्तर के विचाररहित निर्वात स्थान में दीपक के समान निष्कंप रहता है वह पूर्वगत श्रुतालम्बन रूप एकत्ववितर्क अविचार नाम का द्वितीय शुक्लध्यान है ॥३-४॥

– स्थानांगसूत्रवृत्ति, स्था. ४, उ. १, सूत्र २४७

शुक्लध्यान – स्वरूप, लक्षण, भेद और अधिकारी–

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ।३९।

परे केवलिनः ।४०।

पृथक्त्वैकत्ववितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि ।४१।

तत्त्र्येककाययोगायोगानाम् ।४२।

एकाश्रये सवितर्के पूर्वे ।४३।

अविचारं द्वितीयम् ।४४।

वितर्कः श्रुतम् ।४५।

विचारोऽर्थव्यंजन योगसंक्रांतिः । ४६।

प्रारम्भ के दो (पृथक्त्ववितर्क सविचार और एकत्ववितर्क अविचार) शुक्लध्यान पूर्व के ज्ञाता को होते हैं ।

अगले दो (सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती और व्युपरतक्रिया निवृत्ति) शुक्ल ध्यान केवली भगवान (सयोगिकेवली और अयोगिकेवली) को होते है।

शुक्लध्यान के चार प्रकार हैं – (१) पृथक्त्ववितर्क सविचार (२) एकत्ववितर्क अविचार (३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और (४) व्युत्परतक्रिया निवृत्ति।

वह शुक्लध्यान (भेदों के अनुसार क्रम से) तीन योग वाले, तीन में से किसी एक योग वाले, काययोग वाले और अयोगि (योग रहित) को होता है।

पहले के दो (शुक्लध्यान) एकाश्रित और सवितर्क होते है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा ध्यान अविचार है ।

वितर्क श्रुत होता है।

अर्थ, व्यंजन और योगों की संक्रांति (संक्रमण-पलटना) विचार है ।

विवेचन- उक्त सूत्र ३९ से ४६ तक में शुक्लध्यान के स्वामी (अधिकारी), भेद, लक्षण और स्वरूप का कथन किया गया है।

पूर्वविद शब्द का अभिप्राय - जैन परम्परा में १४ पूर्व माने गये हैं और ये सभी पूर्व १२वें अंग दृष्टिवाद के अन्तर्गत है तथा इनमें विशाल ज्ञानराशि संचित है ।

'पूर्वविद्' से अभिप्राय इन पूर्वों के ज्ञाता से माना जाता है । किन्तु सभी साधक ऐसे विशिष्ट मेधावी नहीं होते कि वे पूर्वों में संचित सम्पूर्ण ज्ञानराशि को हृदयगंम कर सकें । तब प्रश्न यह उठता है कि जो पूर्व के ज्ञाता नहीं है, उनको शुक्लध्यान हो सकता है या नहीं ?

सामान्यतः यह माना जाता है कि जो पूर्वविद् नहीं है और अंगों के ज्ञाता हैं, उन्हें ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में भी धर्मध्यान ही होता है।

किन्तु इस सामान्य नियम के अपवाद मरुदेवी माता आदि है, जिन्हे पूर्वों का ज्ञान तो क्या, अंगों का भी ज्ञान नहीं था, फिर भी वे मुक्त हुए और क्योंकि कैवल्य तथा मुक्ति प्राप्ति के लिए शुक्लध्यान अनिवार्य है, अतः उन्हे शुक्लध्यान भी अवश्य हुआ ।

अतः सूत्रोक्त 'पूर्वविद्' शब्द का प्रसंगोपात्त अर्थ पूर्व के ज्ञाता' अथवा 'पूर्वाश्रित श्रुत के ज्ञाता' या 'पूर्वानुसारी श्रुत के ज्ञाता' किया जाना उचित प्रतीत होता है । स्थानांग सूत्रवृत्ति के उद्धरण में **'पुव्वगयसुयाणुसारेणं'** आगत इन शब्दों से भी यही भाव ध्वनित हो रहा है ।

'एकाश्रये' शब्द का अर्थ - सूत्र ४३ में आये हुए 'एकाश्रये' शब्द का अभिप्राय आगम उद्धृत गाथा (१) में प्रयुक्त **'जमेगदव्वंमि'** शब्द के सन्दर्भ में ग्रहण करना चाहिए कि एक (किसी) द्रव्य के आश्रय से अथवा आलम्बन से पहला और दूसरा शुक्लध्यान होता है।

गुणस्थानों की दृष्टि से पहले दो शुक्लद्यान सूक्ष्मसंपराय, बादर संपराय, उपशांतकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थान वालों के होते हैं । शुक्ल ध्यान की तीसरा और चौथा भेद केवली भगवान को होते हैं ।

योगों की दृष्टि से प्रथम शुक्लध्यान पृथक्त्ववितर्क सविचार में तीनों योगों (मन-वचन-काययोग) का अवलम्बन होता है, दूसरे एकत्व वितर्क अविचार में तीनों योगों मे से किसी एक योग का, तीसरे सूक्ष्म

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रियाऽप्रतिपाति में काययोग का अवलम्बन होता है और चौथा शुक्लध्यान व्युपरतक्रियाऽनिवृत्ति में किसी भी योग का अवलम्बन नहीं होता, यह अयोगिकेवलि जिन को होता है।

शुक्लध्यान के चारों भेदों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है-

(१) **पृथक्त्ववितर्कसविचार** - पूर्वानुसारी श्रुत का अवलम्बन लेकर तथा किसी एक द्रव्य को ध्यान का विषय बनाकर उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवरूप भगों को तथा मूर्तत्व अमूर्तत्व पर्यायों पर अनेक नयों की अपेक्षा भेदप्रधान चिन्तन करता हुआ एक पर्याय से दूसरी पर्याय पर, एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, मनोयगो से वचन योग पर, वचनयोग से मनोयोग अथवा काययोग पर, इस प्रकार चित्तवृत्ति का परिवर्तन, पलटना, बदलना आदि रूप ध्यान प्रथम शुक्लध्यान है ।

एक पर्याय से दूसरी पर्याय पर चित्तवृत्ति का गमन **अर्थसंक्रांति** है। श्रुत के किसी भी एक शब्द से दूसरे शब्द पर चित्तवृत्ति का परिवर्तन **व्यंजनसंक्रांति** है । मन-वचन-काय के योगों पर परस्पर एक-दूसरे-तीसरे पर चित्त की वृत्ति का गमन अथवा परिवर्तन **योगसंक्रांति** है। इस प्रकार से मन की वृत्ति का बदलते रहना, **विचार** कहलाता है।

वितर्क श्रुत ज्ञान को कहा जाता है।

प्रथम शुक्लध्यान में वितर्क और विचार दोनों ही होते हैं और इनमें चित्तवृत्ति परिवर्तित होती रहती है।

(२) **एकत्ववितर्क अविचार** - शुक्लध्यान के इस दूसरे भेद में वितर्क यानी श्रुत का आलम्बन तो होता है; किन्तु विचार यानि चित्तवृत्ति में परिवर्तन (पलटना) नहीं होता । किसी भी एक पर्याय पर चित्तवृत्ति निष्कंप दीपशिखा के समान स्थिर हो जाती है। (अतः मन निश्चल और शांत बन जाता है। परिणामस्वरूप कर्मों के आवरण शीघ्र ही दूर होकर अरिहंतदशा प्रगट होती है।

एक ही ध्येय पर चित्तवृत्ति के स्थिर रहने के कारण इसे एकत्व वितर्क शुक्लध्यान कहा गया है । इसमें चित्त की वृत्ति अभेदप्रधान होती है।

(३) **सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति** - जब केवली भगवान सूक्ष्मकाययोग का अवलम्बन लेकर शेष योगों का निरोध कर देते है, तब श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्मक्रिया ही शेष रह जाती है। उस समय की आत्म-परिणति का नाम सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती दिया गया है। अप्रतिपाति इसलिए कि वहां से फिर पतन नहीं होता ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर यह ध्यान होता है।

(४) **व्युपरत क्रियाऽनिवृत्ति** – जब सर्वज्ञ भगवान श्वासोच्छ्वास का भी निरोध करके अयोगि बन जाते हैं, तब उनके आत्म–परिणाम निष्कम्प हो जाते हैं, यानी योगजन्य चंचलता नहीं रहती, वे शैलेशी दशा को प्राप्त हो जाते हैं । उस समय की आत्म–प्रदेशों तथा आत्म–परिणति को व्युपरत क्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान कहा गया है।

इस ध्यान की दशा में कर्मों का समूल नाश हो जाता है और परम शुद्ध आत्मा सिद्धालय पर जा विराजती है। अरिहंत भगवान सिद्ध बन जाते है।

शुक्लध्यानके इस तीसरे और चौथे भेद में वितर्क यानी श्रुत के आलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती; सिर्फ पहले और दूसरे शुक्लध्यान में ही श्रुत का आलम्बन आवश्यक हैं ।

शुक्लध्यान के चार लिंग –

लिंग, चिन्ह अथवा लक्षण – यह तीनों शब्द एकार्थवाची है । जिन चिन्हों के आधार पर शुक्लद्यानी जीव को पहचाना जा सकता है, वे चार यह है –

(१) **अव्यथ** – उपसर्गों–घोरातिघोर उपसर्गों में भी आत्मस्थिति स्वात्मभाव से विचलित न होना ।

(२) **असम्मोह** – सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों मे भी भ्रांतचित्त न होना और देवादिकृत माया, इन्द्रजाल आदि से भी सम्मोहित न होना ।

(३) **विवेक** – आत्मा और शरीर आदि का दृढ़ भेदविज्ञान, सर्वसंयोगों को आत्मा से भिन्न समझना, हेय–ज्ञेय–उपादेय का वास्तविक और विवेकपूर्ण निश्चल ज्ञान होना ।

(४) **व्युतर्स्ग** – व्युत्सर्ग का अर्थ निःसंगता अथवा असंगता है । देह और अन्य सभी प्रकार की उपधि, उपकरण आदि का निस्स्गंता रूप त्याग ।

शुक्लध्यान के चार अवलंबन –

शुक्लध्यान मोहक्षमहल का अन्तिम सोपान है । इस सोपान तक पहुंचने के लिए चार अवलम्बन बताये गये है–

(१) **क्षमा** – *क्रोध के निमित्त मिलने पर भी क्रोध न करना तथा उदय* में आये हुए क्रोध के आवेग को भी निष्फल कर देना, चित्त मे तनिक भी क्षोभ का प्रवेश न होने देना, उत्तम क्षमा से सराबोर रहना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(२) **मार्दव** – मानविजेता बन जाना, उदय में आये मान को निष्फल कर देना, मन-मस्तिष्क में मान सम्बन्धी विचार भी न आने देना ।

(३) **आर्जव** – आर्जव का अर्थ ऋतुजा अथवा सरलता है । शुक्लध्यानी जीव के मन-वचन-काय तीनों योग अत्यन्त सरल होते है।

(४) **मुक्ति**– मुक्ति का अर्थ यहाँ लोभ का अभाव है । शुक्लध्यानी जीव लोभविजेता होता है। उसके मन में लोभ के विचार नहीं होते ।

इन चार अवलम्बनों से शुक्लध्यान में जीव प्रगति करता है।

शुक्लध्यान की चार भावनाएँ –

भावना अथवा अनुप्रेक्षा एक ही अर्थ को द्योतित करती हैं । अपने चंचल मन को स्थिर करने के लिए शुक्लध्यान का साधक चार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन-मनन करता है–

(१) **अनन्तवर्तित-अनुप्रेक्षा** – अनन्तभव परम्परा का चिन्तन-मनन । अर्थात् यह चिन्तन करना कि मैनें इस संसार मे अनन्त बार जन्मर-मरण किया है, अनन्त बार परिभ्रमण किया है ।

(२) **विपरिणामानुप्रेक्षा** – वस्तुओं के परिणमनशील स्वभाव पर चिन्तन करना कि सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं, शुभ अशुभ में परिणत हो जाती हैं और अशुभ शुभ में । सभी वस्तुएँ न ग्रहण करने योग्य हैं, न छोड़ने योग्य अर्थात् अहेयोपादेय है ।

इस भावना के प्रभाव से साधक में अनासक्ति भाव दृढ़ हो जाता है।

(३) **अशुभानुप्रेक्षा**– संसार के अशुभ स्वभाव पर चिन्तन-मनन करना ।

इस भावना के प्रभाव से निर्वेद भाव दृढ़ होता है।

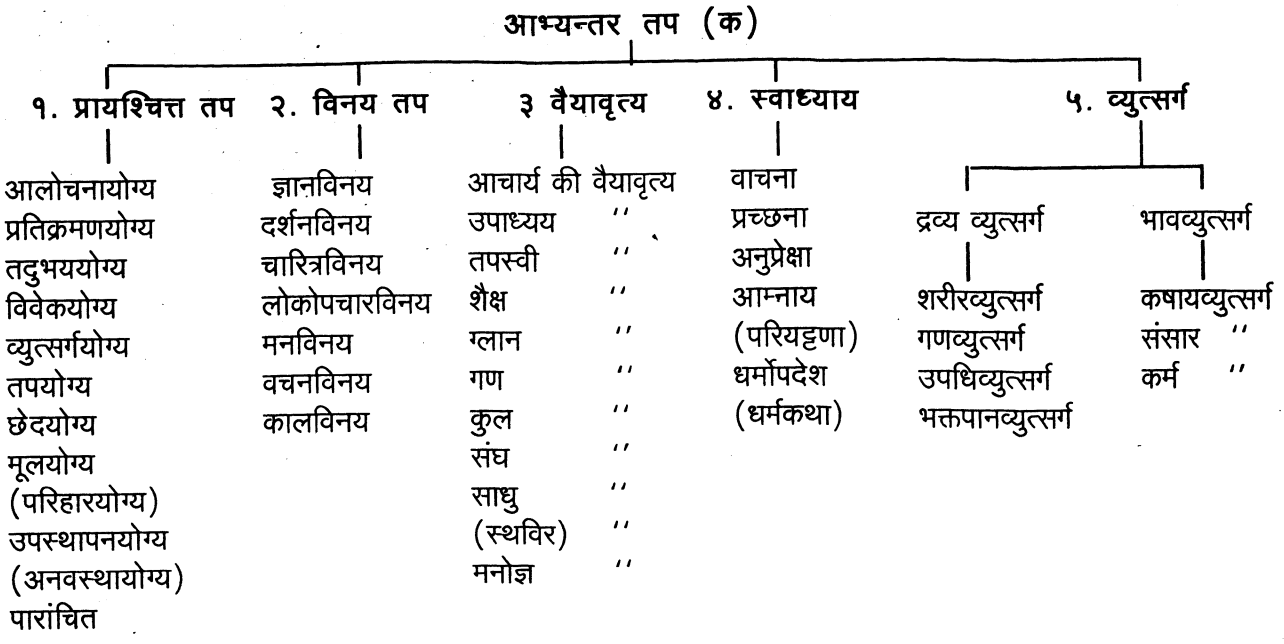
(४) **अपायानुप्रेक्षा** – अपाय दोष को कहा जाता है । कर्मबंधन के दुःखदायी स्वभाव पर गहराई से चिन्तन करना ।

इस भावना के प्रभाव से साधक आत्मभाव में तल्लीन होता है ।

इन चारों अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन-मनन से साधक का चंचल मन स्थिर हो जाता है, उसकी चित्तवृत्तियाँ अन्तर्मुखी बन जाती है, मन में वैराग्य दृढ़ हो जाता है, आत्मलीनता बढ़ जाती है।

इस सभी तपों (बाह्य और आभ्यन्तर तप) से संवर भी होता है। और निर्जरा भी होता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चार अवलम्बन –
पाचना
प्रच्छना
परिवर्तना
धर्मकथा

चार अनुप्रेक्षा–
एकत्व अनुप्रेक्षा
अनित्य ''
अशरण ''
संसार ''

चार अवलम्बन –
क्षमा
मार्दव
आर्जव
मुक्ति

चार अनुप्रेक्षा–
अनन्तवर्तित अनुप्रेक्षा
विपरिणामानुप्रेक्षा
अशुभानुप्रेक्षा
अपायानुप्रेक्षा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आभ्यन्तर तपो का साक्षात् फल संवर और निर्जरा है तथा यह निर्वाण प्राप्ति में प्रमुख सहायक हैं– इनका फल निर्वाण अथवा मोक्ष है ।

(तालिका ४५१, ४५२, ४५३ देखें)

आगम वचन–

कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउदस जीवट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा– मिच्छदिट्ठी, सासायणसम्मदिट्ठी, सम्मामिच्छदिट्टी अविरयसम्मद्दिट्टी, विरयाविरए, पमत्तसंजए, अप्पमत्तसंजए, निअट्टीबायरे, अनिअट्टिबायरे, सुहुमसंपराए, उवसामए वा खवए वा उवसंतमोहे खीणमोहे सजोगी केवली अजोगीकेवली ।

– समवायांग, समवाय १४

(कर्म विशुद्धिमार्गणा (कर्मनिर्जरा) की दृष्टि से चौदह जीवस्थान होते हैं – (१) मिथ्यादृष्टि (२) सास्वादनसम्यग्दृष्टि (३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि (४) अविरतसम्यग्दृष्टि (५) विरताविरत (देशव्रत के धारक–श्रावक) (६) प्रमत्तसंयत (मुनि) (७) अप्रमत्तसंयत (मुनि) (८) निवृत्तिबादर (९) अनिवृत्तिबादर (१०) सूक्ष्मसंपराय उपशमक अथवा क्षपक (११) उपशांतमोह ९१२) क्षीणमोह (१३) सयोगिकेवली (जिन) और (१४) अयोगिकेवली (जिन) इनके क्रम से असंख्यात गुणी निर्जरा होती है)।

कर्मनिर्जरा का क्रमः

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांत–मोहक्षपकक्षीणमोहजिना : क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ।४७।

(१) (अविरत) सम्यग्दृष्टि (२) श्रावक (अणुव्रती गृहस्थ), (३) विरत (सर्वत्यागी साधु–श्रमण) (४) अनन्तवियोजक (अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन करने वाले (५) दर्शनमोह का क्षय करने वाले (६) दर्शन मोहनीय का उपशमन करने वाले (७) उपशान्त मोह वाले (८) क्षपक (मोह को क्षय करने वाले) (९) क्षीणमोह (जिनका मोहनीयकर्म क्षय हो गया है) (१०) जिन (सर्वज्ञ केवली भगवान) इन दस के क्रमशः असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

विवेचन – प्रस्तुत अध्याय के सूत्र संख्या ३ में कहा था कि तप से निर्जरा होती है अब तप के वर्णन के बाद प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि किसको कितनी निर्जरा होती है।

प्रस्तुत सूत्र अपेक्षाभेद के आधार पर निर्मित है, इसमें यह बताया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गया है कि अमुक की अपेक्षा अमुक को यानी अविरतसम्यग्दृष्टि साधक की अपेक्षा देशविरत यानी अणुव्रती श्रावक को असंख्यातगुणी निर्जरा होती है और यह क्रम जिन अर्थात् सर्वज्ञ केवली भगवान तक बताया गया है कि इनको परिणाम-विशुद्धि की अपेक्षा क्रमशः निर्जरा भी असंख्यातगुणी बढ़ती जाती है।

सूत्रोक्त इन दस अवस्थाओं को प्राप्त जीवों का स्वरूप इस प्रकार है

(१) **सम्यग्दृष्टि** – सम्यग्दर्शन प्राप्त जीव।

(२) **श्रावक** – अणुव्रती साधक । इनमें अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से आंशिक विरति उत्पन्न हो जाती है।

(३) **विरत** –सर्वविरत साधु । प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के क्षयोपशम से इनमें सर्वविरति प्रगट हो जाती है।

(४) **अनन्तवियोजक** – अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ के विसंयोजन में संलग्न साधक

(५) **दर्शनमोहक्षपक** – दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय में संलग्न साधक

(६) **उपशमक** – मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियों के उपशमन करने में संलग्न श्रमण साधु ।

(७) **उपशांतमोह** – ऐसा साधक, जिसका मोहनीय कर्म उपशांत हो चुका है।

(८) **क्षपक** – मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियों को क्षय करने संलग्न साधक

(९) **क्षीणमोह** – जिस साधक का मोहकर्म क्षय हो चुका है।

(१०) **जिन** – सर्वज्ञ केवली भगवान ।

आगम वचन –

पंच णियट्ठा पण्णत्ता, तं जहा-

पुलाए बउसे कुसीले णियंठे सिणाए ।

(निर्ग्रन्थ पाँच प्रकार के कहे गये है –

(१) पुलाक (२) बकुश (३) कुशील (४) निर्ग्रन्थ और (५) स्नातक।

पडिसेवणा णाणे तित्थे लिंग खेत्ते कालगइ संजम ... लेसा।

– भगवती, स. २५, उ. ५, सूत्र ७५१

((परिसेवना (प्रतिसेवना), ज्ञान (श्रुत), तीर्थ, लिंग, क्षेत्र (स्थान), काल, गति (उपपाद), संयम और लेश्या (के भेदों से भी विचार करें ।))

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रमणों के भेद और भिन्नता विषयक विकल्प –

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ।४८।

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपातस्थानविकल्पतः साध्या ।४९।

पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थ श्रमण हैं – (१) पुलाक (२) बकुश (३) कुशील (४) निर्ग्रन्थ और (५) स्नातक ।

संयम, श्रुत ,प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपात और स्थान के विकल्प से इन निर्ग्रन्थों का व्याख्यान करना चाहिए ।

विवेचन –प्रस्तुत सूत्र ४८ में निर्ग्रन्थों के ५ प्रकार बताये हैं और सूत्र ४९ में इन निर्ग्रन्थों से सम्बन्धित अन्य बातों का उल्लेख किया गया है।

निर्ग्रन्थ शब्द का निर्वचन – 'निर्ग्रन्थ' शब्द का अर्थ होता है– ग्रन्थि रहित । ग्रन्थि गाँठ को कहते हैं । आध्यात्मिक क्षेत्र में ग्रंथि अथवा गाँठ होती है– राग की, द्वेष की, मोह की, परिग्रह आदि की । अतः निर्ग्रन्थ का अर्थ हुआ – ऐसा साधक जिस में राग–द्वेष की ग्रन्थि न हो ।

यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से निर्ग्रन्थ का यही अर्थ है, किन्तु यह आदर्श स्थिति है । व्यावहारिक दृष्टि से वह साधक निर्ग्रन्थ कहलाता है जो राग द्वेष की ग्रन्थियों को तोड़ने के लिए तत्पर हो, उस आदर्श स्थिति तक पहुंचने के लिए सतत प्रयत्नशील हो ।

प्रस्तुत सूत्र ४८ में जो पाँच प्रकार के श्रमण बताये गये हैं, उनमे से प्रथम तीन की गणना व्यवहार निर्ग्रन्थों में की जा सकती है और अंतिम दो की गणना आदर्श निर्ग्रन्थों में संक्षेप में, इस सूत्र में व्यावहारिक और आदर्श दोनों ही प्रकार के श्रमणों का उल्लेख किया गया है।

इन पाँचो प्रकार के निर्ग्रन्थों को स्वरूप इस प्रकार है–

(१) **पुलाक** – पुलाक एक प्रकार के तुच्छ धान्य को कहा जाता है। जो निर्ग्रन्थ मूलगुण और उत्तरगुणों में परिपूर्ण नहीं है; किन्तु वीतरागप्रणीत धर्म से विचलित नहीं होता है, वह पुलाक निर्ग्रन्थ कहा जाता है।

(२) **बकुश** – यह निर्ग्रन्थ व्रतों का तो भली प्रकार पालन करते हैं, किन्तु इनके मन में सिद्धि तथा कीर्ति की अभिलाषा रहती है, सुखशील होते हैं, साता और गौरव को धारण करते, ससंग होते हैं, तथा छेद

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चारित्र की शबलता से युक्त होते हैं ।इनकी विशेषता शरीर और उपकरणों का संस्कार है । इस आधारपर इनके दो भेद हैं –(क) उपकरण बकुश और (ख) शरीर बकुश ।

(क) **उपकरण बकुश** – जो निर्ग्रन्थ अपने उपकरणों को विभूषित करते है और (ख) **शरीर बकुश** –जो निर्ग्रन्थ अपने शरीर का संस्कार शोभा, आदि करते हैं ।

वास्तव में यहाँ बकुश शब्द शबल का पर्यायवाची है, जिसका अर्थ है– चित्र–विचित्र । बकुश निर्ग्रन्थ का चारित्र भी चित्र–विचित्र होता है ।

(३) **कुशील** – यह निर्ग्रन्थ दो प्रकार के होते हैं – (१) प्रतिसेवना कुशील (२) कषाय कुशील ।

(क) **प्रतिसेवना कुशील** – यद्यपि यह निर्ग्रन्थता का पालन तो अखण्ड रूप से करते हैं, मूलगुणों में दोष नहीं लगाते; किन्तु इनकी इन्द्रिया अनियत अर्थात् पूर्णरूप से वशवर्ती न होने से उत्तरगुणों में दोष लगा लेते है ।

(ख) **कषाय सुशील** – यह निर्ग्रन्थ यद्यपि कषायों पर विजय प्राप्त कर चुके होते है; किन्तु फिर भी इन्हें संज्वलन कषाय का कभी–कभी तीव्र आवेग आ जाता है। वैसे यह श्रमणाचार का अखण्ड रूप से पालन करने वाले होते हैं ।

(४) **निर्ग्रन्थ** – इनकी राग–द्वेष की ग्रन्थियाँ समाप्तप्राय होती है, कषायों का अत्यन्त अभाव होता है और अन्तर्मुहूर्त में इन्हें सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है।

(५) **स्नातक** – सर्वज्ञ केवली भगवान को स्नातक निर्ग्रन्थ कहा गया है।

यद्यपि इन पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थों में चारित्र की तरतमता की अपेक्षा भेद है किन्तु फिर भी नैगम, संग्रह नय की अपेक्षा ये सभी निर्ग्रन्थ कहलाते है । इन सभी की सामान्य संज्ञा 'निर्ग्रन्थ' है ।

अब इन पाँचों प्रकार के निर्ग्रन्थो की संयम, श्रुत आदि आठ विवक्षाओं से विशेषताओं का वर्णन किया जा रहा है–

(१) **संयम** – पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील निर्ग्रन्थ सामायिक और छेदोपस्थापना–इन दो संयमों में रहते हैं । इन दो संयमों के अतिरिक्त कषायकुशील को परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय–यह दो संयम और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं, यानी इनके चार संयम होते हैं । निर्ग्रन्थ और स्नातक सिर्फ एक यथाख्यात संयम वाले होते हैं ।

विशेष – यहाँ 'संयम' को चारित्र का पर्याय मान लिया गया है । क्योंकि सूत्रकार स्वयं इसी अध्याय के सूत्र १८ में सामायिक आदि को चारित्र कह चुके हैं ।

(२) **श्रुत** – श्रुत का अभिप्राय ज्ञान है। इसके लक्षण और भेद प्रथम अध्याय में बताये जा चुके हैं ।

पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील अधिक से अधिक अभिन्नाक्षर दशपूर्व के ज्ञाता होते हैं और कषाय कुशील तथा निर्ग्रन्थ चौदह पूर्व के ।

पुलाक कम से कम आचार प्रकल्प पूर्व (नवें पूर्व) के तीसरे प्रकरण आचार वस्तु के ज्ञाता होते हैं तथा बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थ कम से कम आठ प्रवचन माता (तीन गुप्ति और पाँच समिति) के ज्ञाता होते हैं ।

स्नातक तो श्रुतातीत होते ही है; क्योंकि वे सर्वज्ञ होते है।

(३) **प्रतिसेवना** – प्रतिसेवना का अभिप्राय विराधना अथवा दोषसेवन है । इसका यहाँ अभिप्राय व्रतो में दोष लगाने से है ।

यद्यपि साधु को अहिंसा आदि पाँच मूल गुण और छठा रात्रिभोजनविरमण व्रत अखण्डित रखना चाहिए किन्तु किसी अन्य के अभियोग या दबाव से पुलाक उनमें भी दोष लगा लेता है, यथा–मूल गुणों में दोषसेवन कर ले अथवा रात्रि भोजन कर ले ।

उपकरण–बकुश उपकरणों के संस्कार–सज्जा तथा शरीर–बकुश शरीर के संस्कार के कारण प्रतिसेवना या दोष लगा लेता है।

प्रतिसेवना – कुशली मूलगुणों को तो अखण्डित –निर्दोष रखता है, किन्तु उत्तरगुणों में दोष लगा लेता है।

कषाय–कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक बिलकुल भी दोष–सेवन नहीं करते । वे मूल और उत्तरगुणों की विराधना नहीं करते ।

(४) **तीर्थ** – **तीर्थ** का अभिप्राय तीर्थंकरों द्वारा धर्म–तीर्थ का प्रवर्तन है ।

यह पाँचों प्रकार के निर्ग्रन्थ सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में होते हैं । किन्तु कुछ आचार्यों का अभिमत है कि पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील तो तीर्थ में ही होते हैं और कषाय–कुशील, निर्ग्रन्थ तथा स्नातक तीर्थ में भी होते हैं और अतीर्थ में भी होते हैं ।

(५) **लिंग** – लिंग का अभिप्राय है चिन्ह, लक्षण । यह द्रव्य और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भाव के भेद से दो प्रकार का है । चारित्रगुण भावलिंग है और द्रव्यलिंग बाह्य वेश आदि है ।

पाँचों प्रकार के निर्ग्रन्थों में भावलिंग अर्थात् चारित्रगुण तो अवश्य होता है; किन्तु द्रव्यलिंग की भजना है –होता भी है, नहीं भी होता है और विभिन्न प्रकार का भी होता है।

(६) **लेश्या** – कषायोदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति लेश्या है । यह छह प्रकार की है – (१) कृष्ण (२) नील (३) कापोत (४) तेजो (५) पद्म और (६) शुक्ल ।

पुलाक के अन्तिम तीन (तेजो, पद्म और शुक्ल) लेश्या होती है। बकुश और प्रतिसेवना–कुशील में सभी लेश्या होती है। परिहारविशुद्धि संयम वाले कषाय–कुशील को अन्तिम तीन और सूक्ष्मसंपराय संयम वाले कषाय–कुशील को सिर्फ एक शुक्ललेश्या ही होती है। निर्ग्रन्थ और संयोगी केवली–स्नातक को सिर्फ शुक्ललेश्या तथा अयोगी केवली जिन अलेश्यलेश्या रहित होते हैं।

(७) **उपपात** – उपपात का अर्थ उत्पत्ति अथवा जन्म है । यहाँ यह बताया गया है कि आयु पूर्ण होने पर निर्ग्रन्थ कहाँ–कहाँ उत्पन्न होते हैं ।

उत्कृष्टता की अपेक्षा से पुलाक सहस्रार कल्प में २० सागर की आयु वाले देव बनते हैं, बकुश और प्रतिसेवना–कुशील आरण और अच्युत कल्प में २२ सागर की स्थिति वाले, कषाय–कुशील और निर्ग्रन्थ सर्वार्थसिद्ध में ३३ सागर की स्थिति वाले देव बनते हैं ।

जघन्यता की अपेक्षा पुलाक, बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थ यह चारों ही पल्योपमपृथक्त्व स्थिति वाले देवों में सौधर्म कल्प में देव बनते हैं ।

स्नातकों का उपपात नहीं होता, क्योंकि वे जन्म–मरण की परम्परा को समाप्त कर चुके होते हैं, उनका निर्वाण होता है, वे सिद्ध हो जाते हैं।

(८) **स्थान** – 'स्थान' का अभिप्राय यहाँ संयम के स्थान–कोटियाँ अथवा दर्जे है । वस्तुतः कषाय और योगो का निग्रह ही संयम है । कषायों तथा योगों की तरतमता चूँकि असंख्यात प्रकार की है अतः स्थान (संयम–स्थान) भी असंख्यात प्रकार के हैं, इनके असंख्यात भेद–प्रभेद हैं ।

इनमें जहाँ तक कषाय का आत्मा के साथ सम्बन्ध रहता है, वहाँ तक के संयमस्थान कषायनिमित्तक कहलाते हैं और जहाँ सिर्फ योग का ही सम्बन्ध रह जाता है, वे संयमस्थान योगनिमित्तक कहलाते हैं। और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जब योग का निमित्त भी नहीं रहता तब वह संयमस्थान अंतिम संयमस्थान होता है।

इन संयमस्थानों में से सबसे जघन्य संयम स्थान (जहाँ कषाय और योग दोनों ही निमित्त अधिक मात्रा में उपस्थित हैं) पुलाक और कषायकुशल के होता है । ये दोनों ही जघन्य संयमस्थान से असंख्यात संयमस्थानों तक आगे बढ़ते रहते हैं । किन्तु आगे चलकर पुलाक रुक जाता है । और कषायकुशील असंख्यात संयमस्थानों तक आगे बढ़ता चला जाता है।

इसके आगे असंख्यात संमयस्थानों पर कषायकुशील, प्रतिसेवना कुशील और बकुश तीनों प्रकार के निर्ग्रन्थ बढ़ते रहते हैं ।

इससे ऊपर कुछ संयम-स्थान चलने पर बकुश की गति रुक जाती है, उससे भी उपर असंख्यात संयमस्थान चलने के बाद प्रतिसेवना कुशील भी रुक जाता है और उससे भी उपर असंख्यात संयमस्थानों पर आरोहण करने के बाद कषायकुशील की गति भी अवरुद्ध हो जाती है।

यहाँ से ऊपर अकषाय संयम-स्थान ही है । इन पर केवल निर्ग्रन्थ ही आरोहण करने ने सक्षम होते हैं, लेकिन वह भी असंख्यात स्थानों तक ही चढ़ पाते हैं, आगे उनकी गति भी अवरुद्ध हो जाती है।

इसके आगे एक मात्र विशुद्धतम संयमस्थान आता है। यह संयमस्थान स्थिर है, अप्रतिपाती है, अन्तिम है और सर्वोपरि है । इस संयम स्थान पर केवल स्नातक ही आरोहण करते हैं । और यहीं उनका संयम परिपूर्ण हो जाता है, वे सर्वज्ञ और तदुपरान्त सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं ।

यद्यपि संयमस्थान असंख्यात हैं, किन्तु पूर्व-पूर्व के संयमस्थान की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के संयमस्थान की विशुद्धि (आत्म-विशुद्धि) अनन्त गुणी होती है। कर्म-ग्रन्थों की भाषा में अनन्तगुणी कर्म-निर्जरा होती है।

इस प्रकार प्रस्तुत नौवें अध्याय में संवर और निर्जरा का वर्णन पूर्ण हुआ ।

* * *

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दशवां अध्याय

मोक्ष

(SALVATION)

उपोद्घात–

प्रस्तुत दशवां अध्याय इस ग्रन्थ का अन्तिमौ अध्याय है अर आकार में पूर्व सभी अध्यायों से छोटा है। इसमें कुल सात सूत्र ही हैं ।

पिछले नौ अध्यायों में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर और निर्जरा–इन छह तत्त्वों का वर्णन किया जा चुका है।

इस अन्तिम अध्याय में सूत्रकार ने अन्तिम– सातवें तत्त्व मोक्ष का विवेचन किया है और इसके साथ ही ग्रन्थ सम्पूर्ण कर दिया है ।

सर्वप्रथम मोक्ष तत्त्व का स्वरूप, मोक्षप्राप्ति के आधारभूत केवलज्ञान उसके प्रगट होने के कारण, मोक्षप्राप्ति में बाधक अन्य कारण, सभी बाधक कारणों के विनाश होने पर मुक्ति–प्राप्ति में बाधक अन्य कारण, सभी बाधक कारणों के विनाश होनेपर मुक्ति–प्राप्ति, मुक्त जीवों का ऊर्ध्वगमन निवास–स्थान सिद्धशिला आदि का विवेचन प्रस्तुत हुआ है।

अन्तिम सूत्र में विभिन्न अपेक्षाओं मे सिद्ध जीवों के भेद भी गिनाये है ।

प्रस्तुत अध्याय का प्रारम्भ मोक्ष–प्राप्ति के आधारभूत केवलज्ञान प्रगटीकरण के क्रम से हुआ है।

आगम वचन–

खीणमोहस्स णं अरहओ ततो कम्मंसा जुगवं खिज्जंति, तं जहा–णाणावरणिज्जं दंसणावरणिज्जं अतंरातियं ।

– स्थानांग, स्थान ३, उ. ४, सू. २२६

तप्पढमयाए जाहुणुपुव्वीए अट्ठवीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविहं नाणावरणिज्जं नवविहं दंसणावरणिज्जं पंचविहं अन्तराइयं एण तिन्निवि कम्मं से जुगवं खवेइ । –उत्तरा. २९/७१

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(मोहनीय कर्म को नष्ट करने वाले अर्हन्त के इसके पश्चात् निम्नलिखित कर्मों के अंश एक साथ नष्ट होते हैं –ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय।

सबसे प्रथम पूर्व आनुपूर्वी के अनुसार अट्ठाईस प्रकार के मोहनीय कर्म को नष्ट करता है। (इसके पश्चात्) पाँच प्रकार के ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय और पाँच प्रकार के अन्तराय – इन तीनों ही कर्मों को एक साथ नष्ट करता है।

केवलज्ञान–दर्शन उपलब्धि की प्रक्रिया –

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तराय क्षयाच्चकेवलं ।१।

मोहनीय कर्म के क्षय होने क पश्चात् ज्ञानावरण–दर्शनावरण–अन्तराय कर्म के क्षय होने पर कैवल्य की प्राप्ति होती है।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में केवल्य–प्राप्ति की प्रक्रिया बताई गई है। कैवल्य का अर्थ है केवलज्ञान और केवलदर्शन । 'केवल' विशेषण का अर्थ है जो अकेला ही हो, निरालम्ब हो, किसी की सहायता की जिसें अपेक्षा न हो । तथा साथ ही जो तीनों लोकों और तीन्नों कालों के समस्त द्रव्य और पर्यायों को जानता हो, जिस ज्ञान से कुछ भी छिपा न रहे। सामान्य भाषा में इसे सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता कहा जाता है ।

प्रस्तुत सूत्र में कैवल्य–प्राप्ति का क्रम बताते हुए कहा है कि पहले मोहनीयकर्म का सम्पूर्ण नाश होता है और फिर उसके उपरान्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीनों कर्मों का युगपत–एक साथ नाश होता है। और इन चारों कर्मों के सम्पूर्ण क्षय होनेपर कैवल्य दशा प्रकट होती है।

यह चारों कर्म घातीकर्म है । घाती कर्म का अभिप्राय है जो आत्मा के निज गुणों का घात करे, उन्हे आवरित करे ।

मोहनीयकर्म आत्मा की सम्यक्त्व और चारित्र शक्ति का घात करता है । ज्ञानावरण ज्ञान शक्ति का, दर्शनावरण दर्शन शक्ति का और अन्तरायकर्म आत्मा की वीर्यशक्ति को बाधित करता है।

मोहनीयकर्म के क्षय से आत्मा को अनन्त सुख और क्षायिक सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है। ज्ञानावरण–दर्शनावरण के क्षय से सर्वज्ञता और सर्वदर्शित्व की तथा वीर्यान्तराय के क्षय से अनन्तवीर्य की उपलब्धि होती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्त्व, सुख, ज्ञान, दर्शन, वीर्य की उपलब्धि का यह अर्थ नहीं है कि आत्मा को यह उपलब्धियाँ कही बाहर से प्राप्त होती है; अपितु तथ्य यह है कि सभी शक्तियां आत्मा की स्वयं की हैं, यह इन कर्मों से आवरित हो रही थीं, कर्मों का आवरण दूर होते ही निरावरण होकर अपने सहज स्वाभाविक रूप में प्रगट हो जाती हैं, उद्घाटित हो जाती है।

यही सर्वज्ञ-सर्वदर्शी दशा है और अरिहन्त दशा है।

आगम वचन -

अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अनियट्टिसुक्कझाणं झियायमाणे वेयणिज्जं आउयं नामं गोत्तं च एए चत्तारिकम्मं से जुगवं खवेइ।

- उत्तरा. २९/७२

((इसके पश्चात् वह) मुनि समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति अथवा व्युपरत क्रियानिवृत्ति नाम के चतुर्थ शुक्लध्यान का ध्यान करते हुए वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र-इन चार कर्मों के अंशों अथवा प्रकृतियों को एक साथ नष्ट करते हैं ।)

मोक्ष का स्वरूप -

बंधहेत्वभावनिर्जराभ्याम् ।२।

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष। ३।

बन्ध के कारणों का अभाव हो जाने और निर्जरा होने से ।

कर्मों का अत्यन्त अभाव हो जाना, संपूर्णतः नष्ट हो जाना, मोक्ष है।

विवेचन -प्रस्तुत सूत्र में मोक्ष का स्वरूप समझाया गया है कि मोक्ष (आत्मा की मुक्ति) किसे कहना चाहिए ?

मोक्ष का अभिप्राय है -आत्मा की कर्मबन्धनों से सम्पूर्णतः मुक्ति। आत्मा को इस संसार में रोके रखने वाले दो कारण है- (१) कर्म-बन्धन के हेतु और (२) पूर्वबद्ध कर्म जो आत्मा के साथ संलग्न रहते हैं ।

कर्म-बन्ध के हेतू मिथ्यात्व आदि हैं, इनका अभाव होने से बन्ध की प्रक्रिया रुक जाती है, संवर हो जाता है, और निर्जरा द्वार पूर्वबद्ध कर्म आत्मा से पृथक होकर जड़ जाते हैं। तब (सम्पूर्ण कर्मों का अभाव होने से (क्षय होने से) जो आत्मा की विशुद्धतम निर्मल दशा प्रगट होती है, वह मोक्ष है)

कर्म आठ हैं । उनमें से चार घाती हैं-मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय । इन चारों का नाश तो अर्हन्त दशा प्राप्त होने से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पहले ही हो जाता है । शेष चार वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन अघाती कर्मों का सद्भाव अरिहन्तों को रहता है। इन चारों के नाश होते ही सम्पूर्ण कर्मो का क्षय हो जाता है और आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है ।

इन चारों ही अघाती कर्मों का नाश भी युगपत्-एक साथ ही होता है, आगे-पीछे नहीं ।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आयु कर्म की स्थिति तो कम होती है और शेष तीन अघाती कर्मों की स्थिति अधिक । ऐसी दशा में शेष कर्मो की स्थिति आयु कर्म के समान करने के लिए केवली भगवान समुद्घात करते हैं। वास्तव में तो केवली समुद्घात करते नहीं, ऐसी स्थिति में सहज ही समुद्घात होता है; किन्तु व्यवहार में समुद्घात करना कहा जाता है । समुद्घात की प्रक्रिया इस प्रकार है -

प्रथम समय में केवली भगवान अपने आत्म-प्रदेशों को दण्ड के समान लम्बाकार करते हैं, दूसरे समय में चौड़ाई में फैलाते हैं, तीसरे समय में मथानी के आकार के बनाते हे और चौथे समय में लोक में व्याप्त कर देते हैं ।

फिर विपरीत क्रिया शुरू होती हैं । पाँचवे समय में मथानी के आकार के छठे समय में चोड़ाई के, सातवें समय में दण्डाकार और आठवें समय में आत्म-प्रदेशों को अपने शरीर के मूलाकार रूप में बना लेते है।

जिस प्रकार प्रसारण और संकुचन की क्रिया से वस्त्र में लगे रज-कण गिर जाते हैं, अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार इस समुद्घात क्रिया से आत्मप्रदेशों से सम्बद्ध कर्म-पुद्गल भी झड़ जाते हैं, पृथक् हो जाते हैं ।

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया मे सिर्फ आठ समय लगते हैं और सभी कर्मों की स्थिति आयुकर्म के बराबर हो जाती है ।

केवली भगवान द्वारा किये जाने के कारण यह समुद्घात केवली समुद्घात कहलाता है।

जब सयोगी केवली भगवान की आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है तब वे समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाती अथवा व्युपरतक्रियाऽनिवृत्ति नामक चौथे शुक्लध्यान में प्रवेश करते हैं और योग-निरोध करते हैं ।

योग-निरोध का क्रम इस प्रकार है -

सर्वज्ञ भगवान (संयोगी केवली जिन) सर्वप्रथम स्थूल काय योग के सहारे से स्थूल मन को सूक्ष्म बनाते हैं । फिर सूक्ष्म मनोयोग के आश्रय से स्थूलकाययोग को सूक्ष्मकाययोग में परिणत करते हैं । तत्पश्चात् सूक्ष्मकाय-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

योग का आश्रय लेकर मन और वचन का निरोध करते हैं तथा अन्त में सूक्ष्मकाययोग का निरोध करके अयोगी बन जाते है ।

उनकी यह दशा 'शैलेशी दशा' कहलाती है ? क्योंकि इसमें श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्मक्रिया भी शेष नहीं रहती ।

फिर 'अ' 'इ' 'उ' 'ऋ' 'लृ' इन पांच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने काल में ही चतुर्दश गुणस्थानवर्ती बनकर सर्वकर्मों का क्षय कर देते हैं और मुक्त हो जाते हैं ।

यह सम्पूर्ण कर्मों (अघाती कर्मों) की क्षय प्रक्रिया है।

आगम वचन–

नोभवसिद्धिए नोअभवसिद्धिए । – प्रज्ञापना, पद १८

खीणमोहे (केवलसम्मत्तं) केवलनाणी केवलदंसणी सिद्धे।

– अनुयोगद्वार सूत्र, षण्णामाधिकार सू. १२६

सिद्धा सम्मादिट्ठी । –प्रज्ञापना १९, सम्यक्त्व पद

(उस समय न भव्यत्वभाव रहता है और न अभव्यत्वभाव रहता है।)

(औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तथा भव्यत्व (तथा अभव्यत्व) भावों का और पुद्गल कर्मों की समस्त प्रकृतियों का नाश होने पर मोक्ष होता है।)

क्षीण मोह वाले (केवलसम्यक्त्व वाले) केवलज्ञान वाले और केवलदर्शनवाले सिद्ध होते है ।

(केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और केवलसिद्धत्व भावों के सिवाय अन्य भावों का मुक्त जीवों के अभाव है। अनन्तवीर्य आदि भावों का उपरोक्त भावों के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होने से उनका अभाव न समझना चाहिए ।

सिद्ध सम्यग्दृष्टि होते हैं ।

मुक्त जीवों के भावों का अभाव और सद्भाव–

औपशमिकादि भव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवल–

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य : ।४।

मुक्त जीव के औपशमिक आदि तथा भव्यत्व भाव का अभाव होता है और केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन तथा केवलसिद्धत्व–इन चार भावों के अलावा अन्य भावों का अभाव होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन – इस सूत्र का सामान्य अभिप्राय यह है कि मुक्त जीव में केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और केवलसिद्धत्व– इन चार भावों के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के भाव नहीं रहते । इस बात का संकेत सूत्र में 'औपशमिकादि' शब्द से किया गया है।

अध्याय २ के प्रथम सूत्र में जो औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक–यह पाँच प्रकार के भाव बताये हैं; मुक्त जीव में इनमें से औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा औदयिक भाव तो रहते ही नहीं, क्षायिक भाव (यद्यपि यह संज्ञा कर्मों के क्षय सापेक्ष है) फिर भी मुक्त दशा में इन भावों का अभाव नहीं होता, जैसे क्षायिक सम्यक्त्व .। सूत्र मे कहा गया केवलसम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व एक ही अर्थ को द्योतित करते हैं।

पारिणामिक भावों में अभव्यत्व तो इसलिए असंभव है कि अभव्य को तो मुक्ति ही नहीं होती, भव्यत्वभाव इसलिए नहीं रहता कि उसका कार्य पूर्ण हो चुका होता है। इनके अतिरिक्त प्रदेशत्व, वस्तुत्व, अस्तित्व आदि भी पारिणामिक गुण हैं, वे मुक्त जीवों में रहते हैं; किन्तु उनकी गणना इसलिये नहीं की गई कि यह गुण तो सभी द्रव्यों में सामान्य है ।

अब यहाँ यह सहज जिज्ञासा उठ सकती है कि अन्यत्र तो मुक्त जीवों (सिद्धों) में आठ गुण (और कहीं अपेक्षा से ३१ गुण तथा सामान्य विवक्षा से अनन्त गुण कहे गये है– क्योंकि आत्मा में अनन्तगुण माने गए हैं) और सूत्र में सिर्फ चार का (केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और केवलसिद्धत्व) ही उल्लेख हुआ है । इस भेद का कारण क्या है? क्या अन्य गुण मुक्त जीवों में नहीं होते ?

इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि सूत्र में सक्षिप्त शैली का अनुगमन किया जाता है, अतः यहाँ चार प्रमुख गुण ही गिना दिये गये हैं । वैसे अनन्तवीर्य आदि गुणों का इन गुणों के साथ अविनाभावी संबंध होने से वे गुण भी मुक्त जीव में रहते हैं, उनका निषेध नहीं समझना चाहिए।

मुक्त जीवों (सिद्धों) के आठ प्रमुख गुण यह है–

(१) **अनन्तज्ञान** – यह ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से प्रगट होता है। इससे वे सर्व द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव को जानते हैं ।

(२) **अनन्तदर्शन** – यह दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से प्रगट होता है। इससे वे सम्पूर्ण द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव को देखते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(३) **अव्याबाध सुख** – इसकी उत्पत्ति वेदनीय कर्म के क्षय से होती है।

(४) **क्षायिक सम्यक्त्व**– इसकी उत्पत्ति मोहनीय कर्म के नष्ट होने से होती है।

(५) **अव्ययत्व** – यह आयुष्य कर्म के नष्ट होने से प्रगट होता है।

(६) **अमूर्तित्व** – यह नाम कर्म के क्षय से प्रगट होता है।

(७) **अगुरुलघुत्व** – इसका प्रगटीकरण गोत्र कर्म के क्षय से होता है।

(८) **अनन्तवीर्य** – यह अन्तराय कर्म के नाश से उत्पन्न होता है।

वस्तुतः यह सभी गुण आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं, कहीं बाहर से प्रक्षिप्त नहीं होते, नये उत्पन्न नहीं होते; सिर्फ बात इतनी–सी है कि आठ कर्मों द्वारा यह आठ प्रमुख गुण आवरित हो जाते हैं; ढक जाते हैं और कर्मों के नष्ट होते ही यह गुण अनावरित होकर अपने सहज–स्वभाविक रूप में चमक उठते हैं, प्रगट हो जाते हैं, उसी तरह जैसे काले–कजराले मेघ पटलों के छिन्न–भिन्न होते ही सहस्रत्ररश्मि सूर्य अपनी स्वभाविक प्रभा से चमक उठता है।

आगम वचन–

अणुपुव्वेणं अट्ठ कम्पगडीओं खवेत्ता गगणतलमुप्पइत्ता उप्पिं लोयग्गपतिट्ठाणा भवन्ति । -- ज्ञाताधर्मकथांग, अ. ६, सू. ६२

(इस प्रकार क्रम से आठों कर्मों की प्रकृतियों को नष्ट करके आकाश में ऊर्ध्वगति द्वारा लोक के अग्र भाग में प्रतिष्ठित होते हैं ।)

अत्थि णं भंते ! अकम्मस्स गती पन्नायति ?

हंता अत्थि ।

कहन्नं भंते । अकम्मस्स गति पन्नंयति ?

गोयमा ! निस्संगयाए ।। गतिपरिणामेणं बंधणछेयणयाए।. पुव्व पयोगेणं अकम्मस्स गती पन्नत्ता – भगवती, श. ७, उ. १, सू. २६५

(भगवन् ! क्या कर्म रहित जीव के गति होती है?

हाँ, होती है ।

उनके गति किस प्रकार होती है ?

है गौतम ! संग रहित होने से, स्वभाविक ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला होने से, कर्मबन्ध के नष्ट हो जाने से, पूर्वप्रयोग से कर्मरहित जीव की गति होती है।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुक्तजीव का ऊर्ध्वगमन और गतिक्रिया के हेतु-

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ।५।

पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बंधच्छेदात्तथागति परिणामाच्च तद्गतिः।६।

तदनन्तर अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों का क्षय अथवा नाश हो जाने पर (उसी समय) मुक्त जीव लोकान्त तक ऊपर जाता है।

उसकी वैसी गति (ऊपर जाने की गतिक्रिया अथवा ऊर्ध्वगमन क्रिया) पूर्वप्रयोग से, असंगता अथवा संगरहितता से, बन्धन (कर्म-बन्धनः नष्ट हो जाने से, और वैसी गति क परिणाम से होती है ।

विवेचन -प्रस्तुत सूत्र सं. ५ में बताया है कि कर्मों का क्षय होते ही जीव ऊर्ध्वगति करता हुआ लोक के अन्त तक जाता है और छठे सूत्र में जीवं की ऊर्ध्वगति के चार कारण बताये हैं (१) पूर्वप्रयोग (२) संगरहितता (३) बन्धननाश (४) वैसी गति का परिणाम

लोकान्त का अभिप्राय - लोक का अन्तिम भाग, वह बिन्दु जहाँ से अलोकाकाश का प्रारम्भ होता है। लोक के उस अन्तिम भाग के स्थान का नाम सिद्धालय है । इस स्थान पर जीव ऊर्ध्वगति से गमन करता हुआ, बिना मोड़ लिए, सरल-सीधी रेखा में गमन करता हुआ, अपने देह-त्याग के स्थान के एक समय मात्र में सिद्धशिला से भी ऊपर पहुँचकर अवस्थित हो जाता है। जीव की वह सर्वकर्मविमुक्त दशा सिद्ध दशा अथवा सिद्ध गति कहलाती है।

सर्वकर्मबन्धन टूटते ही जीव में चार बाते घटित होती है- (१) औपशमिक आदि भावों का व्युच्छन्न अथवा नाश होना, (२) शरीर का छूट जाना (३) एक समय मात्र मे सिद्धशिला से ऊपर तक उर्ध्वगति से गमन और (४) लोकान्त में अवस्थिति।

अब प्रश्न यह है कि मुक्त जीव ऊर्ध्व दिशा में ही गमन क्यों करता हैं तथा उस गमनक्रिया के हेतु क्या हैं ? इस जिज्ञासा का समाधान सूत्र संख्या ६ के द्वारा किया गया है।

(१) **पूर्वप्रयोगात्** - पूर्व यानी पहेल के प्रयोग से. प्रयोग का यहाँ अभिप्राय आवेश है। जिस प्रकार कुम्हार का चाक (पहिला या चक्र) दण्ड को हटाने के बाद भी कुछ देर तक स्वयं ही घूमता रहता है, उसी प्रकार मुक्त जीव भी पूर्वबद्ध कर्म-उन कर्मों केछूट जाने के बाद भी उनके निमित्त से प्राप्त आवेग द्वारा गति करता है उसी प्रकार जैसे कुम्हार का चाक ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ इस बात की तुलना Newton (प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन) के गति नियम (Law of motion) से की जा सकती है– उसने कहा है, एक बार आवेशित होने के बाद कोई भी वस्तु तब तक गतिमान रहेगी, जब तक कोई अवरोध न आ जाय, चाहे वह आवेश हटा ही लिया जाय ।

इसी प्रकार पूर्व–प्रयोग के निमित्त (सही शब्दों में अभावात्मक निमित्त) से मुक्त आत्मा गति करता है।

(२) **संगरहितता** – संग का अभिप्राय सम्बन्ध है। जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है; किन्तु कर्मों के संग अथवा सम्बन्ध के कारण उसे नीची अथवा तिरछी गति भी करनी पड़ती है। कर्मों का संग अथवा सम्बन्ध टूटते ही वह अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्व गति करता है।

(३) **बन्धन का टूटना** – संसारी अवस्था में जीव कर्मों के बन्धन में जकड़ा रहता है, उस बन्धन के टूटते ही जीव अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्व गति से गमन करता है।

(४) **तथागतिपरिणाम** – इसका अभिप्राय है – जीव की स्वाभाविक गति ही ऊर्ध्व है; अर्थात् ऊर्ध्वगमन जीव का स्वभाव ही है।

जीव के उर्ध्व गमन स्वभाव को समझाने के लिए तुम्बे का दृष्टान्त दिया जाता है। जिस प्रकार सूखे तुम्बे को कुशा से लपेट कर और इस पर आठ बार मिट्टी का लेप कर सागर में छोड़ा जाय तो वह भारी होने के कारण सागर के तल में पहुँच जाता है और जब मिट्टी घुल जाने से तुम्बा हल्का हो जाता है तब वह सागर तल से सीधी उठकर सतह पर आजाता है, उसी प्रकार कर्ममुक्त आत्मा भी कर्मबन्धन टूटते ही ऊर्ध्व गमन करता है।

दूसरा दृष्टान्त अग्निशिखा का दिया जाता है। अग्निशिखा जिस प्रकार ऊर्ध्वगमन स्वभावी है, उसी प्रकार मुक्त आत्मा भी है।

तीसरा दृष्टान्त अण्डी (एरण्ड) बीज का है । जैसे ही एरण्ड के बीज पर लगा हुआ फल का आवरण सूखने पर फट जाता है तो बीज तुरन्त ही चिटककर ऊपर को जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी ऊपर को जाता है।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि आत्मा (मुक्त आत्मा) का ऊर्ध्व गमन स्वभाव ही है तो वह लोकान्त पर जाकर ही क्यों रुक जाता है ? आगे अलोक में गमन क्यों नहीं करता ?

इस जिज्ञासा का समाधान सूत्रकार ने तो नहीं किया; किन्तु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ठाणांग में अलोक में गति न करने के हेतु बताये हैं । वहाँ कहा गया है-

चउहिं ठाणेहिं जीवा य पोग्गला य णो संचातेतिं बहिया लोगंता गमणाताते, तं जहा-गति अभावेणं णिरुव्वगहताते लुक्खाते लोगाणुभावेणं। - स्थानांग ४, उ. २, सू. ३३७

(चार कारणों से जीव और पुद्गल लोक के बाहर नहीं जा सकते यथा (१) आगे गति का अभाव होने से, (२) उपग्रह (धर्मास्तिकाय) का अभाव होने से, (३) लोक के अन्त भाग के परमाणुओं के रूक्ष होने से और (४) अनादि काल का स्वभाव होने से।

इस प्रकार इन चार कारणों से मुक्त जीव लोकान्त (सिद्ध स्थान) में ही जाकर ठहर जाता है।

विशेष - दिगम्बर परम्परामान्य तत्वार्थसूत्र में **'धर्मास्तिकायाभावात्'** (धर्मास्तिकाय का अभाव होने से मुक्त जीव लोकान्त में अवस्थित हो जाते हैं) इस स्वतन्त्र सूत्र की रचना द्वारा इसी तथ्य को व्यक्त किया गया है।

आगम वचन -

खेत्त काल गई लिंग तित्थे चरित्तें

- भगवती, श. २५, उ. ६, सू. ७५१

पत्तेयबुद्धसिद्धा बुद्धबोहियसिद्धा - नन्दीसूत्र, केवलज्ञानाधिकार

नाणेखेत्त अन्तर अप्पाबहुयं - भगवती श.२५, उ.६,सू. ७५१

सिद्धाणोगाहणा संखा - उत्तरा. ३६/५३

(क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धसिद्ध, बुद्धबोधित सिद्ध, ज्ञान, क्षेत्र, अन्तर, अल्पबहुत्व, अवगाहना और संख्या-इन अनुयोगों से सिद्धों में भी भेद साधने चाहिए ।

सिद्धों के विकल्प अथवा भेद-

क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाह-

नान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः । ७।

(१) क्षेत्र (२) काल (३) गति (४) लिंग (५) तीर्थ (६) चारित्र (७) प्रत्येकबुद्धबोधित (८) ज्ञान (९) अवगाहना (१०) अन्तर (११) संख्या और (१२) अल्पबहुत्व - इन बारह विकल्पों से सिद्धों में भी भेद साधने चाहिए अर्थात् इन विकल्पों या कारणों से सिद्धों में भी भेद किये जा सकते है ।

विवेचन -यदि सामान्य दृष्टि से विचार किया जाय तथा सिद्धों के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुण को दृष्टि में रखा जाय तो उनमें कोई भेद नहीं, सभी समान हैं, सभी समान रूप से अव्याबाध सुख भोग रहे हैं । उनमें गति आदि लेकर किसी भी भेद का अस्तित्व ही नहीं है तथापि भूतकाल की अपेक्षा उनमें भेद किया जा सकता है यानि भेद की कल्पना की जा सकती है ।

प्रस्तुत सूत्र की रचना इसी भेद दृष्टि को लेकर की गई है।

(१) **क्षेत्र** – वर्तमान में तो सभी सिद्धों का एक ही क्षेत्र है सिद्धस्थान। सभी सिद्ध भगवन्त वही विराजित हैं । किन्तु भूतकाल की अपेक्षा उनका क्षेत्र ढाई द्वीप में अवस्थित १५ कर्मभूमियाँ है ।

ढाई द्वीप हैं – जंबूद्वीप, धातकीखण्डद्वीप और पुष्करवरार्धद्वीप । ढाई द्वीप में अवस्थित पन्द्रह कर्मभूमियाँ है – ५ भरत, ५ एरवत और ५ विदेह क्षेत्र ।

यह ढाई द्वीप सम्पूर्ण मनुष्य क्षेत्र है । इसका सम्पूर्ण विस्तार ४५ लाख योजन है। अतः सिद्धशिला का विस्तार भी ४५ लाख योजन है । यानी सिद्धशिला ४५ लाख योजन लम्बी चौड़ी है । वह मध्य में ८ योजन मोटी है और घटते-घटते दोनों किनारों पर मक्खी के पाँख के समानपतली हो गई है।

वह श्वेत वर्णी, स्वभाव से निर्मल और उत्तान (उलटे) छाते के आकार की है । सिद्धशिला के एक योजन ऊपर, लोक के अग्रभाग में ४५ लाख योजन लम्बे-चौड़े और ३३३ धनुष ३२ अंगुल ऊँचे क्षेत्र में अनन्त सिद्ध भगवान विराजमान है। यानि इस एक योजन का जो ऊपरी कोस है, उसके छठेभाग में सिद्ध भगवान अवस्थित है ।

यह क्षेत्र की अपेक्षा विचार (विकल्प) है ।

(२) **काल**– वर्तमान की दृष्टि से सिद्ध होने का कोई काल नहीं है, क्योंकि सिद्ध होते ही रहते है। किन्तु काल के लौकिक दृष्टि से अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, आरा आदि भेद किये जा सकते है । जैसे भरतक्षेत्र में चौथे काल में ही सिद्ध हो सकते हैं । विदेह क्षेत्र में मुक्ति का अनवरत क्रम है।

(३) **गति** – वर्तमान की अपेक्षा ती सभी मुक्त जीवों की एक ही गति है -सिद्ध गति और भूतकाल की अपेक्षा विचार करने पर सभी मनुष्य गति से ही सिद्ध होते हैं ।

(४) **लिंग** – लिंग के दो आशय है-(१) वेद और (२) लक्षण या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चिह्न । वर्तमान की अपेक्षा तो सिद्ध वेदातीत हैं ही और उनका कोई लक्षण भी नहीं है। अतः वे अलिंगी ही हैं ।

आसन्नभूत की अपेक्षा भी अवेदी ही मुक्त हो सकते है। यदि और भी विस्तार से विचार करें तो स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, नपुंसकवेदी ये तीनों भी सिद्ध हो सकते हैं ।

लिंग (बाह्य वेश) की अपेक्षा जैनलिगं (साधु-लिंग), पर-लिंग जैनेतर पंथ का लिंग और गृहस्थ लिंग-ये तीनों लिंगों के धारी भी सिद्ध हो सकते हैं; किन्तु भावलिंग सम्यग्दर्शन सहित वीतरागता सभी में आवश्यक है।

(५) **तीर्थ** - तीर्थ का अभिप्राय है-तीर्थंकर द्वारा प्रचलित सद्धर्मजिस समय चल रहा हो । ऐसे समय में सिद्ध होने वाले जीव तीर्थसिद्ध कहे जाते है।

मरुदेवी माता जैसे विशुद्ध परिणामी जीव ऐसे भी होते हैं जो तीर्थ प्रवर्तन से पहले भी हो सिद्ध जाते हैं । ऐसे मुक्त जीव अतीर्थसिद्ध हैं ।

इसका दूसरा अभिप्राय तीर्थंकर भी लिया जा सकता है। भरतक्षेत्र की अपेक्षा प्रत्येक अवसर्पिणी काल में २४ तीर्थंकर ही होते हैं, ये तीर्थंकर सिद्ध कहलाते हैं और शेष जितने मनुष्य मुक्त होते है व अतीर्थंकर-सिद्ध कहलाते है ।

(६) **चारित्र** - सिद्ध जीव अपनी वर्तमान पर्याय में तो चारित्र से ऊपर उठे हुए है । आसन्न भूतकाल की दृष्टि से यथाख्यात चारित्री ही मुक्त होते हैं । यदि और भी पीछे की ओर दृष्टि डाली जाय तो पाँचों चारित्र वाले भी मुक्ति का कारण होते हैं ।

(७) **प्रत्येकबुद्ध बुद्धबोधित** - ये दो प्रकार के हैं - (१) प्रत्येकबुद्ध और (२) बुद्धबोधित - दूसरे के उपदेश को ग्रहण करके सिद्ध होने वाले।

प्रत्येकबद्ध किसी के उपदेश की अपेक्षा नहीं रखते, इनकी आत्मा स्वयं जागृत होती है। इसी कारण तीर्थंकर भगवान स्वयंबुद्ध होते है । वे स्वयं ही अपनी आत्म-जागरणा से मुक्ति प्राप्त करते हैं । दूसरे, प्रत्येकबुद्ध किसी निमित्त को पाकर जाग उठते हैं और मुक्ति प्राप्त करते है ।

बुद्धबोधित देव, गुरुदेव आदि के उपदेश से आत्म कल्याण करके सिद्धि प्राप्त करते हैं ।

(८) **ज्ञान** -वर्तमान और भूतकाल की दृष्टि से सिद्धों में केवलज्ञान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ही होता है और केवलज्ञानी ही मुक्त होते है, किन्तु भूतकाल की अपेक्षा से विचार किया जाय तो दो ज्ञान (मति-श्रुत), तीन ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि,) चार ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव) वाले भी सिद्ध होते हैं ।

(९) **अवगाहना** – अवगाहना की दृष्टि से सिद्ध जीवों में भी भेद है। अवगाहना ऊँचाई को कहा जाता है । सिद्ध जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना ३३३ धनुष और ३२ अंगुल तथा जघन्य अवगाहना १ हाथ ८ अंगुल होती है। इसके मध्य में अनेक प्रकार की अवगाहना हो सकती है। यह आत्म प्रदेशों की दृष्टि से है ।

(१०) **अन्तर** – अन्तर का अभिप्राय है –व्यवधान, अवकाश । जब प्रति समय सिद्ध होते रहते हैं तो वे निरन्तर सिद्ध कहलाते है। इस निरन्तरता में बाधा ही अन्तर कहलाती है। यह अन्तर छह माह से अधिक का नहीं पड़ता । यानी एक जीव के सिद्ध होने के छह महिने के अन्दर-अन्दर दूसरा जीव सिद्ध हो ही जायेगा, ऐसा निमय है । ऐसे सिद्ध जीव सान्तर सिद्ध कहलाते है।

(११) **संख्या**– एक समय में कम से कम एक जीव और अधिक से अधिक १०८ जीव सिद्ध हो सकते है ।

उत्तराध्यायन सूत्र (३६/५१-५४) में एक समय में विभिन्न अपेक्षा से कितने सिद्ध हो सकते हैं, इसका गणना (संख्या) दी गई है, वह इस प्रकार है–

(१) तीर्थ की विद्यमानता में १ समय में १०८ तक सिद्ध हो सकते है ।

(२) तीर्थ का विच्छेद होनेपर १ समय में १० तक सिद्ध हो सकते है ।

(३) तीर्थकर १ समय में एक साथ २० तक ''
(४) स्वयंबुद्ध १ समय में १०८ तक ''
(५) अतीर्थकर (सामान्य केवली) १ समय में १०८ तक ''
(६) प्रत्येकबुद्ध १ समय में ६ तक ''
(७) स्वलिंगी १ समय में १०८ तक ''
(८) स्वलिंग १ समय में १०८ तक ''
(९) अन्यलिंगी १ समय में १० तक ''
(१०) गृहस्थलिंगी १ समय में ४ तक ''
(११) स्त्रलिंगी १ समय में २० तक ''
(१२) पुरुषलिंगी १ समय में १०८ तक ''

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१३) नपुंसकलिंगी १ समय में १० तक सिद्ध हो सकते है।

(१४) जघन्य २ हाथ ही अवगाहना वाले १ समय में ४, मध्यम अवगाहना वाले १०८ और उत्कृष्ट ५०० हाथ को अवगाहना वाले २ जीव सिद्ध होते हैं ।

सिद्धगति में इन जीवों (मनुष्यों) की अवगाहना २/३ रह जाती है।

(१२) **अल्प-बहुत्व** – जघन्य और उत्कृष्ट तथा मध्य की स्थितियों पर विचार करना अल्प-बहुत्व है । जैसे-पुरुषलिंगी एक समय में कितने सिद्ध होते हैं और स्त्रीलिंगी कितने ? इसी प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा विचार करना कि भरतक्षेत्र से कितने जीव सिद्ध होते हैं और विदेहक्षेत्र से कितने ?

संक्षेप में ऊपर कही गई ११ विकल्पों तथा शास्त्रोक्त अन्य विकल्पों की अपेक्षा न्यूनाधिकता का विचार करना अल्प-बहुत्व है ।

उदाहरण के लिए क्षेत्र-सिद्धों में जन्म-सिद्ध और संहरण-सिद्ध-दो प्रकार के सिद्ध होते हैं । जन्म-सिद्ध का अभिप्राय है, जिन जीवों (मनुष्यों) का जन्म १५ कर्मभूमियों में से किसी एक में हो और वे साधना करके सिद्धि प्राप्त करें ।

संहरण-सिद्ध का अभिप्राय है -कोई देव आदि किसी मनुष्य को उसके जन्म-स्थान (जन्म भूमि) से संहरण कर किसी अन्य क्षेत्र में पहुँचा दे और वह मनुष्य वहीं (संहरण-क्षेत्र में ही) मुक्ति प्राप्त करे ।

इस प्रकार अनेक अपेक्षाओं से हीनाधिकता का विचार करना ही अल्प-बहुत्व द्वार अथवा विकल्प है।

उपसंहार – इस प्रकार शास्त्र में मोक्षमार्ग का वर्णन हुआ है। नव तत्त्वों, छह द्रव्यों, जीव के विभिन्न भावों का इसमें विवेचन है । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप का विवरणात्मक विश्लेषण है । तत्त्वों तथा अर्थों का विवेचन करने वाले और संपूर्ण मोक्षमार्ग को प्रदर्शित करने वाले, सूत्रबद्ध रचनास्वरूप वाले (इस शास्त्र का तत्त्वार्थसूत्र नाम सार्थक और सटीक है ।)

॥ दशवां अध्याय समाप्त ॥

॥ वाचक उमास्वाति विरचित तत्त्वार्थसूत्र संपूर्ण ॥

* * *

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दो शब्द...

'तत्त्वार्थ सूत्र' की महता को शब्दों में विशद् करना सूर्य को दीया बताने जैसा है । फिर परम श्रद्धेय जैन दिवाकर पूज्य श्री चोथमलजी महाराज सा. के विद्वान शिष्य पूज्य केवलमुनिजी द्वारा व्याख्यायित इस ग्रंथ का पुनर्मुद्रन का गुरुतर कार्य ग्रंथ की अनुपलब्धता को दूर करने के महान उद्देश को रखकर की जा रही है। मूल व्याख्या को 'जस का तस' रखकर पूज्य उपाध्याय केवलमुनिज़ी की मौलिक व्याख्या को अबधित रखा गया है ।

'तत्त्वार्थ सूत्र' पर आधारित प्रतियोगिता के माध्यम से इस सूत्र की गहराई, तन्मयता और एकाग्रता से पठन होगा और ज्ञान की पीपासा शांत होगी । इस शुभकांक्षा के साथ !

श्री कमला साधनोदय ट्रस्ट
द्वारा : अभिजीत सतिशजी देसरडा बंगला नं. १३,
राजनगर सोसायटी प्रेमनगर (गणपति मन्दिर के बाजू में)
पुना - ४११ ०३७. मो. ९८५०८१०१०१

ॲड. सुभाष संकलेचा (जालना)
फोन : ९४२२२१५७३३

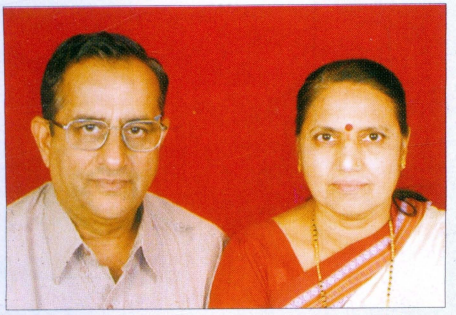
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसूत्र

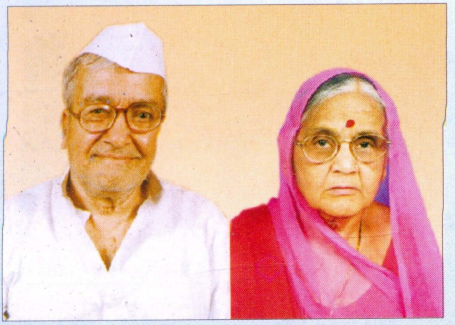
इस द्वितीय संस्करण के लिए धर्मानुरागी दाता



श्री. नेमीचंदजी डुंगरवाल (मद्रान्तकम्, चेन्नई)



श्री. ताराचंदजी - सौ. पुष्पाबाई बाफना (औरंगाबाद)



श्री. उत्तमचंदजी - सौ. कमलाबाई खिंवसरा (औरंगाबाद)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसूत्र

इस द्वितीय संस्करण के लिए धर्मानुरागी दाता



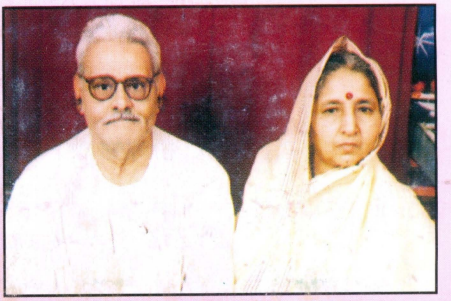
बसंताबाई लालचंद सकलेचा (जालना)



सौ. गीताबाई दगडूलालजी टाटिया
(साक्री)



सौ. बिंदूबेन चौधरी (जैन)
(मुंबई)



श्रीमान सुखलालजी जैन, कुंकूलोळ (स्वतंत्रता सेनानी, जालना.)
सौ. नवलबाई जैन, कुंकूलोळ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसूत्र

इस द्वितीय संस्करण के लिए धर्मानुरागी दाता



श्री. मोहनलालजी चोरडिया (चेन्नई)



श्री. सुरेशकुमारजी किंमती (हैदराबाद)



श्री. प्रदिप प्रकाशचंदजी जैन (खेडा)



श्री. सुवालालजी छल्लानी, औ.बाद.
(मंत्री: अ.भा. श्वे. स्थानकवासी जैन कॉन्फरन्स)

---

१. गुप्तदान

२. विशेष – विमलराणी प्रकाशचंदजी बाफना इनका सहयोग प्राप्त हुआ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



प. पू. उपाध्याय श्री केवलमुनिजी म. सा.

॥ परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥



मालव सिंहनी श्रमणी रत्ना

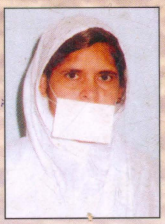
प. पू. महासतीजी श्री कमलावतीजी म. सा.

चातुर्मासार्थ २००५ औरंगाबाद नगरी में विराजित

प. पू. मालव सिंहनी श्री कमलावती म.सा. की सुशिष्या

प. पू. उपप्रवर्तिनी महासतीजी श्री सत्यसाधनाजी म.सा आदि ठाणा ७















Patrika DTP, A'bad. 0240-2340257

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org